सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली

॥ ओ३म् ॥

(आर्य समाज के सिद्धान्त, कार्य एवं विस्तार का अद्भुत संग्रह)

आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध कर्मण्य सन्यासी—

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज

की

८० वीं वर्षगांठ के उपलक्ष में

सम्पादक:—

श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०
(प्रिन्सिपल, डी. ए. वी. कालेज, लखनऊ)

श्री धर्मदेव जी, विद्यावाचस्पति,
(सहायक मन्त्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली)

श्री विश्वम्भर सहाय जी, 'प्रेमी' पत्रकार मेरठ
(मन्त्री अ० भारतवर्षीय आर्य कुमार परिषद्)

प्रकाशक:—

मन्त्री, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
बलिदान भवन देहली

प्रथमवार] [मूल्य ५) ६०

सृष्टि संवत् १९७२९४९०४५
विक्रमाब्द २००२
दयानन्दाब्द १२१
ईसवी सन् जून १९४५.

मुद्रक:—
भगवत प्रसाद
अध्यक्ष नवजीवन प्रेस, मेरठ
विश्वम्भर सहाय प्रेमी
अध्यक्ष प्रेमी प्रेस, मेरठ।

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज

* ओ३म् *

समर्पण

श्रद्धेय स्वामिन् ,

आपकी आयु के ८० वर्ष पूर्ण हो जाने पर समस्त आर्य जगत् सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के द्वारा आपको बधाई देते हुए 'नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ' भेंट करता है। हम किन शब्दों में जगन्नियन्ता प्रभु को धन्यवाद दें जिसकी असीम कृपा से लोक सेवा के उद्यान को सुवासित करने वाला आप जैसा मनोरम पुष्प मिला जिसने ऋषि दयानन्द के कार्य की पूर्ति और आर्य समाज की उदात्त सेवा में लगभग ६० वर्ष से अपने को मिटाया हुआ है। सचमुच आर्यसमाज आपको पाकर अपने को धन्य मानता है। निश्चय ही आर्यसमाज की वर्तमान और आने वाली सन्तति आपके उच्च व्यक्तित्व एवं निस्पृह समाज सेवा के महान् आदर्शों, कार्यों और परम्पराओं से जो आपने स्थापित की हैं, आनन्द विभोर हो कृतज्ञ भाव से चिरकाल पर्यन्त प्रकाश ग्रहण करेगी। प्रभू से प्रार्थना है कि वह आर्य समाज की सेवा और हमारा नेतृत्व करने के लिये आपको और भी दीर्घ जीवन प्रदान करें।

सन्यासिन् ,

आप आर्य समाज के गण्य मान्य व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने आर्य समाज की सेवा में ऊंचे से ऊंचा भाग लिया है। आर्य समाज का गौरव है कि उसमें आप जैसे दयानन्द के सच्चे भिक्षु विद्यमान हैं। आपका विशुद्ध उन्नत चरित्र, संयमयुक्त आर्य जीवन, विद्वत्ता, दृढ़ अध्यवसाय, आत्म स्वाध्याय, शान्तियुक्त कर्मण्यता अनुकरणीय हैं। आर्य जगत् आपके इन गुणों पर मुग्ध है। आपके सार्वजनिक जीवन की विशुद्धता और सामाजिक कार्यों की उज्ज्वलता, सफलताओं का रहस्य, आपके इन्हीं विशिष्ट गुणों में सन्निहित है।

आपकी आर्य सामाजिक सेवायें इतनी अधिक और विविध हैं कि यहां उन सबका उल्लेख नहीं किया जा सकता। जिस भूमि में भगवान् दयानन्द ने अपने कर्तव्य मार्ग पर जाने की पुकार सुनी थी, संयुक्त प्रान्त की उसी पुण्य भूमि में आपकी सामाजिक सेवाओं का सूत्रपात हुआ। संयुक्तप्रांत की आर्य प्रतिनिधि सभा और गुरुकुल वृन्दावन को नव अंकुरित पौधों की अवस्था से हरे भरे पुष्प पल्लवित वृक्षों की अवस्था तक पहुंचा देना आप ही के सदुद्योग का फल था। संयुक्त प्रान्त से ही आप आर्य समाज के इतिहास का निर्माण करते आ रहे हैं और आज बड़े से बड़ा सम्मान देने और आपत्ति का निराकरण करने के लिये आप ही पर दृष्टि जाती है।

कर्मवीर,

श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा भूमण्डल के आर्यों का सब से बड़ा महोत्सव था। इस यज्ञ के ब्रह्मा आप ही बनाये गये थे। ७-८ लाख व्यक्तियों के उस महोत्सव का सुप्रबन्ध आज भी आर्य जगत् की प्रशंसा का विषय बना हुआ है। हैदराबाद का धर्मयुद्ध आपके ही नेतृत्व में प्रारम्भ हुआ था और आपके ही नेतृत्व में उसमें विजय श्री प्राप्त हुई।

श्रीमान् जी ने निरन्तर १५ वर्ष पर्यन्त सार्वदेशिक सभा के प्रधान पद पर रह कर आर्यसमाज का नेतृत्व किया है। बीच २ में भी आड़े समय में आपने इस पद को स्वीकार करके सार्वदेशिक सभा के प्रति अपने प्रेम और हित चिन्ता की उज्ज्वल भावना प्रकट की है।

श्रीमान् ने जिस परिश्रम, मनोयोग, लग्न और तत्परता से सभा का कार्य संचालन और उसका भाग्य निर्माण किया है वह आर्य जगत् को विदित है। यदि कहा जाये कि सभा के जिस पौधे को अमर शहीद स्व० श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने लगाया था उसको आपने हरा भरा और पल्लवित किया है तो कोई अत्युक्ति न होगी। सभा में श्रीमान् की सेवा उसके प्रधान पद पर आरूढ़ होने से ही नहीं होती किन्तु इस पद को ग्रहण करने से पूर्व भी सभा के मन्त्री अथवा सदस्य रूप से आपने उसकी अनेक सेवायें की हैं और इसे दृढ़ करने में उत्तम योग दिया है। आज सभा की जो उन्नत दशा है, उसकी जो आर्थिक अवस्था है, उसकी प्रगतियों का जो विस्तार है एवं आर्य जगत् के संगठन में उसे जो सर्वोच्च स्थान प्राप्त है इस सब का श्रेय, पूज्य स्वामिन! सब से अधिक आप को है, जिस पर आप उचित रीति से अभिमान कर सकते हैं।

यद्यपि आपने अपनी इच्छा से और अपने निश्चय के अनुसार सभा का प्रधान पद छोड़ा था तथापि श्रद्धेय स्वामी जी आर्य जगत् का नेतृत्व आप के ही हाथों में सुरक्षित रहा है और आज भी सुरक्षित है। परमात्मा आपको और भी दीर्घायु प्रदान करें जिससे आप आर्य समाज की और भी अधिक और बहुमूल्य सेवा करने में समर्थ हों। इसी शुभ कामना के साथ यह तुच्छ भेंट श्रीमान् की सेवा में सादर समर्पित करते हैं।

हम हैं आपके धर्मबन्धु—

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सदस्य

भूमिका

८० वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के उपलक्ष में नारायण आश्रम के रजत जयन्ती महोत्सव के अवसर पर आर्य जगत् के प्रसिद्ध नेता और आदर्श सन्यासी श्री महात्मा नारायण स्वामी जी की सेवा में श्री महेन्द्र प्रताप जी शास्त्री के प्रस्ताव पर एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट करने का सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने निश्चय किया था।

इस निश्चय के अनुसार इस ग्रंथ के सम्पादन का भार श्री प्रो० महेन्द्र प्रताप जी शास्त्री एम० ए० के ऊपर डाला गया था। उन्होंने अपनी सहायता के लिये श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति और श्री विश्वम्भर सहाय जी प्रेमी मेरठ निवासी को भी अपने साथ लेकर एक सम्पादक मण्डल बना दिया था। मैं सम्पादक मण्डल को हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि उसने इस थोड़े से समय में इस बड़े ग्रंथ को तैयार कर दिया। सचमुच श्री विश्वम्भरसहाय जी प्रेमी के अनवरत उद्योग का ही यह फल है कि यह ग्रंथ इतनी जल्दी न केवल तैयार ही अपितु प्रकाशित भी हो गया। वे रात्रि दिवस इस कार्य में जुटे रहे और उत्तम से उत्तम उपादेय सामग्री एकत्रित करने का यत्न किया।

सार्वदेशिक सभा ने "आर्य समाज क्या है और उसने क्या किया" नामक पुस्तक के लिये कुछ सामग्री एकत्रित की थी। सभा के निश्चयानुसार इस ग्रंथ में वह सब सामग्री भी दे दी गई है। इस प्रकार इस ग्रंथ के दो भाग बन गये हैं। एक में श्री पूज्य स्वामी जी के प्रति श्रद्धाञ्जलियां और दूसरे में आर्यसमाज का परिचय और उसके सिद्धान्तों तथा अब तक के कार्यों का दिग्दर्शन है। इससे इस पुस्तक का महत्व और उपयोगिता बहुत बढ़ जायगी!

हमारा विचार इस ग्रंथ को और भी आकर्षक बनाने और अधिक संख्या में छपवाने का था परन्तु कागज इत्यादि की अलभ्यता के कारण हम ऐसा न कर सके। इसके लिये पाठक हमें क्षमा करेंगे।

इस ग्रन्थ के लिये जिन महानुभावों से लेखों की याचना की गई उन्होंने हमें सहर्ष सहयोग प्रदान किया। श्री स्वामी जी महाराज के व्यक्तित्व का ऐसा प्रभाव है कि लब्ध कीर्ति

सज्जनों ने ऐसा करने में बड़ी तत्परता दिखलाई। इसके लिये सभा इस ग्रंथ के आदरणीय लेखकों को उनकी रचनाओं के लिये विनम्र धन्यवाद देती है। जो रचनायें स्थानाभाव से इस ग्रंथ में नहीं जा सकी हैं उनके लिये उनके लेखकों से हम क्षमा प्रार्थी हैं।

यदि नवजीवन प्रेस मेरठ तथा प्रेमी प्रिन्टिङ्ग प्रेस मेरठ का हमें क्रियात्मक सहयोग न मिलता तो सचमुच हम इतने शीघ्र इस ग्रंथ को प्रकाशित न कर सकते। इसके लिये उनके संचालकों को भी हम धन्यवाद देते हैं।

समय की कमी के कारण प्रूफ सम्बन्धी तथा और कई प्रकार की अनेक त्रुटियां रह गई होंगी। हमारा विश्वास है कि लेखक तथा पाठक समुदाय उसके लिये हमारी कठिनाइयों का अनुभव करते हुये हमें उदारता पूर्वक क्षमा करेंगे।

परम पिता प्रभु से हमारी नम्र प्रार्थना है कि उनके सच्चे और आदर्श भक्त श्री महात्मा नारायण स्वामी के अभिनन्दन का यह आयोजन चिरकाल पर्यन्त आर्य नर-नारियों में प्रकाश फैलाने का कारण बना रहे।

सुधाकर
मन्त्री—
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली।

दो शब्द

अपनी निर्बलताओं का परिचय होते हुए भी और यह जानते हुए भी कि आजकल युद्ध-जनित विषम परिस्थितियों में किसी ग्रंथ का प्रकाशन एक दुःसाध्य समस्या है, मैंने "नारायण अभिनन्दन ग्रंथ" के सम्पादकत्व का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया था। कारण यही था कि कार्य के साथ श्री पूज्यपाद महात्मा नारायण स्वामी जी का सुगृहीत नाम जुड़ा हुआ था। स्वामी जी महाराज ने आर्यसमाज के लिये जो त्याग और कार्य किया है वह विरले ही सज्जनों ने किया होगा। जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ही आर्यसमाज की सेवा का असिधार व्रत ग्रहण कर जिस सफलता के साथ श्री स्वामी जी उस पर चले हैं उस प्रकार चलना हर एक का कार्य नहीं हो सकता। आर्यसमाज की शिक्षाओं के अनुसार श्री स्वामी जी की तरह जीवन को नियमित, संयत एवं कष्ट सहिष्णु बनाने वाले सज्जन गिने चुने ही हो सकते हैं। संक्षेप में अपनी यह धारणा है कि श्री स्वामी जी आर्यसमाज की शिक्षा-दीक्षा के मूर्त रूप हैं। इस प्रकार के संमान्य व्यक्ति का आदर करना अपना कर्तव्य है- यह 'वीर-पूजा' के अन्तर्गत है। उसका करना कर्तव्य है; उसके साथ जिसका भी सम्बन्ध होगा वह पवित्रता का पात्र होगा। स्वामी जी सदृश नर-पुष्प हर एक जगह विकसित नहीं होते- पर जहां वे रहते हैं वहां के वायुमण्डल को सुवासित कर देते हैं और जो उनके सम्पर्क में आते हैं उन पर भी उनके सौरभ का प्रभाव होता है। पूजा के लिये ऐसा पुष्प मिल जाना सौभाग्य की बात है। इस प्रकार, कर्तव्य पालन एवं श्री स्वामी जी के जीवन पुष्प की सुगन्ध को अधिक से अधिक दूर तक फैलाने के लिये ही यह बोझ अपने कन्धों पर लिया है।

यह भी एक प्रश्न है कि इस ग्रंथ से श्री स्वामी जी को आदर मिलेगा अथवा श्री स्वामी जी का नाम इसके साथ जुड़ने से ग्रंथ की उपादेयता बढ़ जायगी। स्थिति कुछ कांच और काञ्चन के संयोग जैसी है- दोनों का अपना २ महत्त्व है, परन्तु कांचन के नैसर्गिक महत्त्व में कोई सन्देह नहीं कर सकता। यह ग्रंथ भी श्री स्वामी जी के स्वर्ण-सदृश खरे नाम से जुड़कर मरकती द्युति को धारण करेगा।

ग्रंथ की उपादेयता को बढ़ाने की चेष्टा स्वाभाविक थी। सोचा गया कि यदि ग्रंथ में प्रसिद्ध २ विद्वानों के आर्यसमाज के सिद्धान्त, कार्य एवं विस्तार सम्बन्धी लेख रक्खे जावें तो यह उद्देश्य पूरा हो जावेगा। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली ने इस प्रकार के लेखों का एक संग्रह कर रक्खा था उन्हें भी ले लिया गया। लेखकों ने प्रार्थना स्वीकार की, अपनी कृतियां भेजीं। वे धन्यवाद के पात्र हैं। हम यह तो नहीं कह सकते कि इसमें हमारे चाहे हुए सभी लेख आ गये हैं अथवा उनको एकदम ठीक रूप में रख दिया गया है परन्तु इतना अवश्य है कि ये भावनायें बहुत अंश तक पूरी होगई हैं

ग्रंथ को छपवाना एक समस्या थी, जिसने मस्तिष्क को चिन्तित कर रक्खा था। ग्रंथ निर्माण का समाचार सुनते ही अपने मित्र एवं सहयोगी श्री विश्वम्भरसहाय जी प्रेमी मेरठ ने लिख भेजा कि इस पुनीत कार्य के लिये वे अपना पूरा सहयोग देने को उद्यत हैं। प्रेमी जी ने ग्रंथ के सम्पादन, प्रकाशन आदि कार्य में पूर्ण सहयोग दिया। वे कठिनताओं की परवाह न करते हुए कार्य में जुट गए। उनके प्रयत्न का परिणाम यह ग्रंथ है। उनके बिना यह कार्य इस समय इस सरलता से हो सकता था इसमें सन्देह है। वे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

यद्यपि ग्रन्थ में अनेक त्रुटियां हैं, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में उन सब को दूर कर सकना असम्भव था। यही सोच कर पाठक महोदय उनके लिये क्षमा करें। भविष्य में उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जावेगा।

—महेन्द्रप्रताप शास्त्री

विषय-सूची

प्रस्तावना

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी का श्रीमती सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस सभा की स्थापना ३१-८-१९०९ ई० को हुई। उसके एक वर्ष पश्चात् से लगातार ८ वर्ष तक श्री स्वामी जी उसके मन्त्री रहे। सन् १९२३ ई० से सन् १९३६ ई० तक श्री स्वामी जी १४ वर्ष निरन्तर सभा के प्रधान पद का कार्य बड़ी योग्यता और सच्ची लग्न से करते रहे। इस वर्ष जबकि मुझको अपने स्वास्थ की हीन दशा के कारण यह कार्य छोड़ना आवश्यक हुआ तो पूज्य स्वामी जी ने सभा की प्रार्थना को स्वीकार करके उक्त कार्य कृपापूर्वक पुनः अंगीकार किया।

आपसे पूर्व सभा की बहुत हीन दशा थी। १२ मार्च १९२२ को यह प्रस्ताव अन्तरङ्ग सभा में किया गया कि प्रान्तीय सभा न पञ्चमांश भेजती हैं और न उसके प्रतिनिधि ही सभा में आते हैं। इसलिए इस बात पर विचार किया जावे कि यह सभा कायम रक्खी जावे या नहीं।

सन् १९२३ में केवल एक ही उपदेशक था, जिसको कि स्वामी श्रद्धानन्द जी ने जो उस समय प्रधान थे, धनाभाव के कारण आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब में भेज दिया था। सन् १९२५ तक जबकि मथुरा में ऋषि दयानन्द की जन्म शताब्दी मनाई गई, इस सभा की यही दशा रही। उक्त महोत्सव में लगभग ४ लाख जनता एकत्रित हुई थी। जिसका सब प्रबन्ध श्री स्वामी जी के ही हाथ में था और इसका अत्युत्तम प्रबन्ध जो स्वामी जी के द्वारा हुआ आर्य समाज के इतिहास में सदा स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। उस अवसर पर देश देशान्तर द्वीप द्वीपान्तर के सुधार के लिये लगभग एक लक्ष रुपया चन्दा इकट्ठा हुआ। जिसमें से ५० हज़ार रुपये उक्त कार्य के लिये सार्वदेशिक आ० प्र० सभा को दिया गया और वह अब तक सभा के कोष में पूर्वोक्त कार्य के लिये स्थिर निधि के रूप में जमा है। सभा की आर्थिक दशा की उन्नति का आरम्भ इसी निधि से हुआ है और अब सभा के कोष में कतिपय निधियां लगभग २॥ लक्ष रु० की हैं जिनका केवल ब्याज उपयोग में लाया जा सकता है।

आर्थिक दशा सुधरने से सभा की सब प्रकार से उन्नति होती गई। सन् १९२६ ई० में रजिस्ट्री नवीन उद्देश्य व नियमों के साथ कराई गई जिनके अनुसार भारतवर्ष की आर्य समाजों व आर्य प्रतिनिधि सभा के अतिरिक्त बाहर की अर्थात् समस्त भूगोल की सभायें भी सम्मिलित हो सकती हैं। तभी से इस सभा का सार्वदेशिक नाम सार्थक हुआ, और यह सभा International Aryan league कहलाने लगी।

सभा के कार्यालय की सुव्यवस्था का श्रेय भी श्री स्वामी जी को ही है। सन् १९२६ के दिसम्बर मास में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान हुआ, उसके पश्चात् श्री महात्मा नारायण

स्वामी जी स्वयं सभा भवन में रहने लगे और वहां निवास करते हुये सब प्रकार से सभा के कार्य की देख रेख और संचालन का कार्य स्वयं करते रहे ।

स्वामी जी का सारा जीवन एक आदर्श आर्य का जीवन रहा है—और उन्होंने आश्रम धर्म का पालन दृढ़संकल्प के साथ नियमानुकूल किया । उनका विवाह २३ वर्ष की आयु में हुआ । यद्यपि उस समय आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार नाम मात्र को ही हो पाया था । विवाह के पीछे भी वे ५ वर्ष तक गृहस्थ से पृथक् रहे–उनका आरम्भ से ही संकल्प था कि २० वर्ष तक गृहस्थ आश्रम में रहकर वानप्रस्थ आश्रम का पालन करेंगे । ऐसे दृढ़ संकल्प और व्रती मनुष्यों के ईश्वर भी सहायक होते हैं । सन् १९११ में जबकि स्वामी जी की आयु ४३ वर्ष की हुई उनकी पत्नी का देहान्त हो गया और इस प्रकार उनके गृहस्थाश्रम की समाप्ति अनायास ही हो गई । सन् १९११ ई० में युक्तप्रान्त का गुरुकुल फरुखाबाद से वृन्दावन लाया गया और स्वामी जी ने उसके मुख्याधिष्ठाता एवं आचार्य पद का कार्य अपने हाथ में लिया और गुरुकुल वृन्दावन में रहने लगे । एक प्रकार से उनका वानप्रस्थ आश्रम उसी समय आरम्भ हो गया । जिसमें १० वर्ष रहने का उनका संकल्प हो चुका था । सन् १९१९ में स्वामी जी ने गुरुकुल के अधिष्ठाता पद से त्याग पत्र देकर नैनीताल ज़िले के अन्तर्गत रामगढ़ में एक स्थान एकान्त वास के लिए चुना जिसमें वे पूर्णरूप से तप और त्याग के साथ वानप्रस्थ आश्रम के धर्म का पालन कर सकें ।

मई सन् १९२० में रामगढ़ में नदी के किनारे एक रम्य स्थान पर उस कुटी के निर्माण का कार्य आरम्भ किया गया जिसमें स्वामी जी अब तक निवास करते हैं । ९–१२–२० को स्वामी जी ने कुटी में प्रवेश किया । इस स्थान पर रहते हुये स्वामी जी ने स्वाध्याय के साथ जो तप किया उससे केवल उनकी ही आत्मिक उन्नति न हुई किन्तु उसका प्रभाव उस प्रान्त पर भी पड़ा और वहां की जनता में विशेष जागृति हुई । और कई प्रकार की कुप्रथायें (जैसा कि नायकों में अपनी २ कन्याओं का विवाह न करना आदि) दूर हो गई । अपने पूर्व संकल्प के अनुसार २ वर्ष पीछे १० मई १९२२ को स्वामी जी ने सन्यास आश्रम में प्रवेश किया । उनके स्वाध्याय एवं तपस्या का जीवन वैसा ही जारी रहा किन्तु प्रचार के कार्य में वृद्धि हो गई ।

स्वामी जी भारतवर्ष के सब भागों में आर्य सभाओं में प्रचार के लिये जाया करते थे । कभी कभी महीनों तक लगातार भ्रमण किया । मौखिक प्रचार के अतिरिक्त स्वामी जी का लिखने का कार्य और भी अधिक महत्व का रहा । उन्होंने अब तक २२ ग्रंथ लिखे, जिसमें ईश आदि दश उपनिषदों का भाष्य और "योग्य रहस्य" पुस्तक विशेष महत्व के हैं ।

आर्य समाज पर जब कोई आपत्ति पड़ी तो स्वामी जी से उस अवसर पर विशेष सहायता प्राप्त होती रही । उदाहरण के लिये "बहादुराबाद ज़िला सहारनपुर" की उस दुर्घटना को लीजिये जिसमें कि एक फौज़ी अफ़सर की उपस्थिति में कुछ सिपाहियों ने आर्य समाज के ओ३म् के झण्डे को उतार कर फेंक दिया और कुछ कागज़ जला दिये थे । स्वामी जी के उद्योग से युक्तप्रान्त की सरकार

और कमाण्डर इन चीफ ने शोक प्रगट किया और उक्त मिलिट्री ऑफीसर ने क्षमा प्रार्थना की और एक नया झगडा दिया। सबसे बड़ा ऐसा अवसर हैदराबाद सत्याग्रह का था जिसके लिये आर्यसमाज के इतिहास में सदा विशेष स्थान रहेगा।

हैदराबाद रियासत में केवल आर्यों पर ही नहीं किन्तु सिक्खों और हिन्दुओं पर, भी जिनकी संख्या रियासत में ८६ प्रतिशत तक है वर्षों से घोर अन्याय और अत्याचार हो रहा था। सार्वदेशिक सभा के प्रधान होते हुये कई वर्ष तक स्वामी जी ने उक्त अन्याय को दूर करने के लिये सब प्रकार के वैधानिक उपाय किये। जब उनमें कोई सफलता न हुई तो अन्त को सत्याग्रह आरम्भ किया गया जिसके लिये स्वामी जी को इस सभा तथा समस्त आर्य जनता की ओर से सर्वाधिकार दिया गया था। जिस कार्य कुशलता एवं साहस के साथ स्वामी जी ने उस कार्य का संचालन किया उसका वर्णन उक्त सत्याग्रह के इतिहास में विस्तार से दिया गया है। यहां केवल यह कहना पर्याप्त होगा कि सत्याग्रह आरम्भ होने से पहिले बहुत से आर्यों को भी इस बात में सन्देह था कि उक्त सत्याग्रह सफल होगा या नहीं परन्तु स्वामी जी ने सब बातों को पूर्ण रूप से जांच खोज करके सत्याग्रह का संकल्प किया था और उनके दृढ़ और सत्य संकल्प के अनुसार सत्याग्रह पूर्ण रूप से सफल हुआ जिसमें, हैदराबाद में जो आर्यसमाज के विरुद्ध धार्मिक और सामाजिक प्रतिबन्ध थे केवल वही दूर नहीं हो गये किन्तु आर्य समाज में एक विशेष जागृति और नवीन जीवन की स्फूर्ति हो गई।

सार्वदेशिक आर्य प्र० सभा के प्रति श्री स्वामी जी की ऊपर लिखित अपूर्व सेवाओं को दृष्टि में रखकर और उनके सामाजिक धार्मिक और वैज्ञानिक उच्च जीवन को ध्यान में रखते हुये इस सभा का यह परम कर्तव्य है कि स्वामी जी ८० वर्ष की आयु होने के इस शुभ अवसर पर इस अभिनन्दन ग्रंथ के रूप में श्री स्वामी जी को यह तुच्छ भेंट अर्पण करें।

वास्तव में वे एक आदर्श सन्यासी हैं जिनके लिये आर्य समाज को सच्चा अभिमान हो सकता है। ईश्वर उनको चिरायु करे जिससे वे दीर्घ समय तक आर्य तथा हिन्दू जाति को सत्य सनातन वैदिक धर्म का उपदेश और मार्ग प्रदर्शन करते रहें।

रामगढ़
ता० २२-५-४५

गङ्गाप्रसाद
(भूतपूर्व प्रधान सार्वदेशिक सभा)

आर्यों के बलिदान

	नाम	स्थान	किस प्रकार
१	महर्षि दयानन्द	जोधपुर	विष से
२	पं० लेखराम	लाहौर	छुरे से
३	पं० तुलसीराम	फरीद कोट	,,
४	म० रामचन्द्र	बुटहरा जंभू	लाठियों से
५	स्वामी श्रद्धानन्द	देहली	पिस्तौल से
६	म० राजपाल	लाहौर	छुरे से
७	पं० नाथूराम	कराची	,,
८	म० मेघराज	इन्दौर	,,
९	सेठ जयराम	जोधपुर	,,
१०	खण्डेराव	भड़ौंच	लाठियों से
११	बद्रीशाह	बहराइच	छुरे से
१२	सरदार धन्नसिंह	लुधियाना	लाठियों से
१३	ला० पालामल	कसूर	छुरे से
१४	म० नानकचन्द	देहली	,,
१५	ला० लुणिदाराम	कैम्बलपुर	पिस्तौल से
१६	आयाराम कालूर	मियांवाली	छुरे से
१७	,, धर्मपत्नि	,,	,,
१८	,, कन्या	,,	,,
१९	देवकी नन्दन जी	कैम्बलपुर	,,
२०	भैरों सिंह	आबू रोड	पिस्तौल से
२१	पुरुषोत्तम शाह	गोधरा	छुरे से
२२	नारायणसिंह	पटना	छुरे भाले से
२३	ब्रजलाल जी	चिचौली	छुरे से
२४	नौबत सिंह	मीरपुर खास	,,
२५	वीरूमल	कराची	,,
२६	नेवंदराम	सक्खर (सिन्ध)	,,
२७	भक्त फूलसिंह	रोहतक	पिस्तौल से
२८	परमानन्द	लाहौर	छुरे से
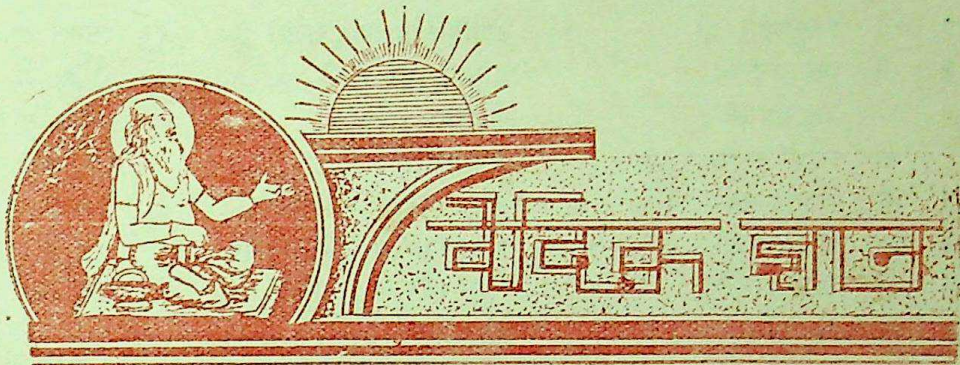
ओ३म्

ॐ स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् । मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥

(अथर्ववेद १९।७१।१)

ॐ यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥

(यजु० अ० २६।२)

हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के

हुतात्मा (शहीद)

		हुतात्मा	स्थान	तारीख मृत्यु
१	श्री	श्यामलाल जी	उदगीर (हैदराबाद राज्य)	१६ दिसम्बर १६३८
२	श्री	परमानन्द जी	हरिद्वार (यू० पी०)	१ अप्रैल ३६
३	श्री	वेंकटराव जी	हैदराबाद राज्य	८ अप्रैल ३६
४	श्री	स्वामी सत्यानन्द जी	बंगलौर (मैसूर)	२७ अप्रैल ३६
५	श्री	विष्णु भगवन्त जी	तांडूर (हैदराबाद राज्य)	१ मई ३६
६	श्री	छोटेलाल जी	अलालपुर (मैनपुरी) यू०पी०	३ मई ३६
७	श्री	माधोराव जी	लातूर (हैदराबाद राज्य)	२६ मई ३६
८	श्री	पांडु रंग जी	उस्मानाबाद (हैदराबाद राज्य)	२७ मई ३६
६	श्री	नन्नू सिंह जी	अमरावती (बरार)	२६ मई ३६
१०	श्री	सुनहरा सिंह जी	बुटाना (रोहतक) पंजाब	८ जून ३६
११	श्री	बैजनाथ जी	नरकटियागंज (बिहार)	२५ जून ३६
१२	श्री	फ़कीरचन्द जी	सेरधा (करनाल) पंजाब	१ जुलाई ३६
१३	श्री	मलखान सिंह जी	रुड़की (यू०पी०)	१ जुलाई ३६
१४	श्री	स्वा० कल्याणानन्द जी	मुज़फ़्फ़रनगर (यू०पी०)	८ जुलाई ३६
१५	श्री	शान्ति प्रकाश जी	कलानोर अकबरी	२७ जुलाई ३६
१६	श्री	मातूराम जी	मिलकपुर (हिसार)	२८ जुलाई ३६
१७	श्री	भक्त अरूढ़ा मल जी	सरगोधा (पंजाब)	२६ जुलाई ३६
१८	श्री	राधाकृष्ण जी	मारवाड़ (राजस्थान)	२ अगस्त ३६
१६	श्री	लक्ष्मणराव जी		२ अगस्त ३६
२०	श्री	सदाशिव जी पाठक	तड़वल (शोलापुर)	१३ अगस्त ३६
२१	श्री	बदन सिंह जी	मुज़फ़्फ़राबाद (सहारनपुर)	२४ अगस्त ३६
२२	श्री	रतिराम जी	सांपला (रोहतक)	२५ अगस्त ३६
२३	श्री	पुरुषोत्तम जी ज्ञानी	बुरहानपुर (सी०पी०)	२६ अगस्त ३६
२४	श्री	अशर्फीलाल जी	नरकटियागंज (बिहार)	२६ अगस्त ३६
२५	श्री	ताराचन्द जी	लुम्ब (मेरठ) यू०पी०	२ सितम्बर ३६
२६	श्री	रामनाथ जी	अहमदाबाद	८ सितम्बर ३६
२७	श्री	गोविन्द राव जी	नलगीर निज़ाम राज्य	
२८	श्री	ब्रह्मचारी दयानन्द जी	सिरसा (हरदोई) यू०पी०	१० मार्च ४०
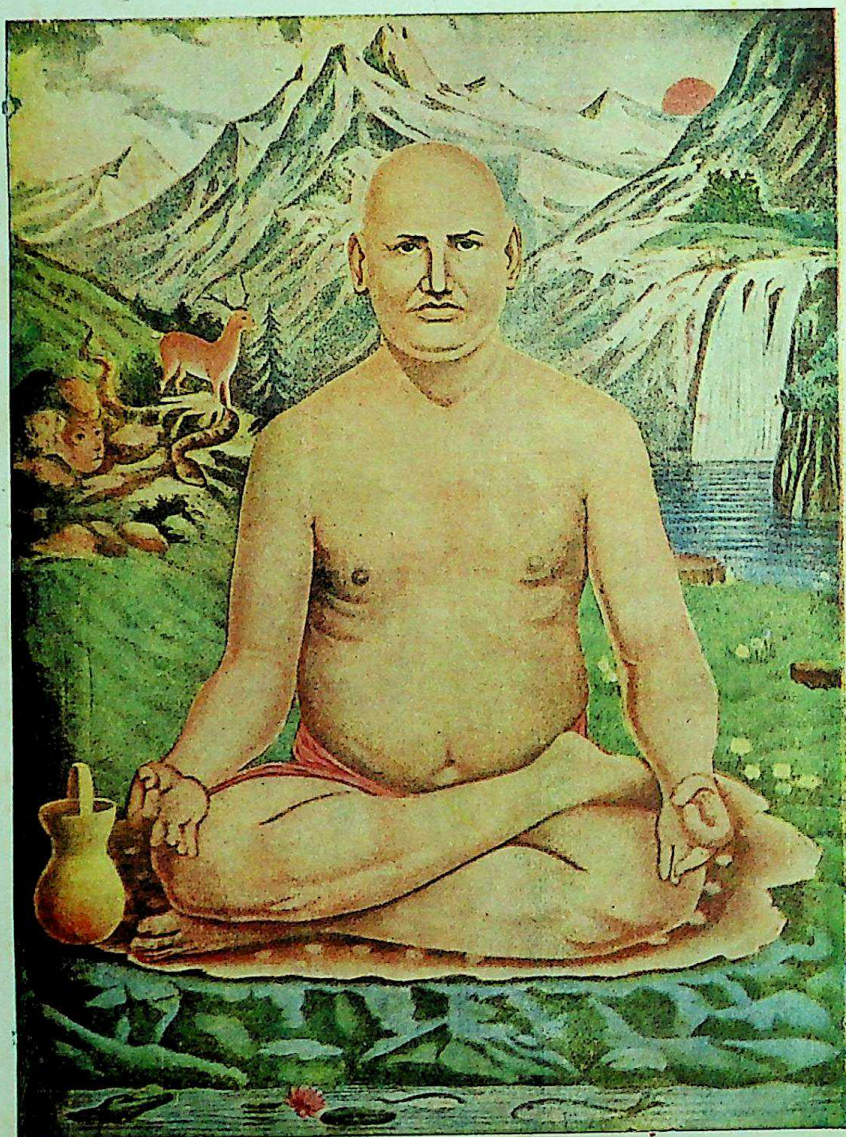
महर्षि दयानन्द सरस्वती

(ब्लाक श्री गोविन्दराम हासानन्द के सौजन्य से प्राप्त)

'जगज्ज्योति'

[कविरत्न श्री पं० हरिशङ्कर जी शर्मा, आगरा]

सौराष्ट्र देश महिमा-मण्डित,
गुजरात-भूमि गौरवशाली।
अति उज्ज्वल ज्योति जगी जग में,
बन गया विश्व वैभव शाली ॥१

वह बाल ब्रह्मचारी जागा,
जग गयी सुप्त जनता सारी।
अधिकार जगे, व्यवहार जगे,
जग उठे भाव मंगलकारी ॥२

दो दुखद मृत्यु-घटनाओं ने,
सोते मानस को जगा दिया।
विज्ञान-विभाकर उदय हुआ,
अज्ञान-महातम भगा दिया ॥३

'शिवरात्रि' धन्य शिवरात्रि हुई,
जब 'अक्षत-आखु'-प्रसंग हुआ।
उद्बुद्ध, कर्म्म सन्नद्ध हुए,
तम-तोम तुम्हारा भंग हुआ ॥४

क्षण भंगुर जीवन है-जग है,
यह विश्व-विलास विनश्वर है।
ध्रुव ध्येय विनश्वर जीवन का—
अखिलेश्वर है, अज अक्षर है ॥५

यह भ्रान्ति-भावमय भौतिकता,
अस्थिर मोहकता-ममता है।
जीवन निष्काम कर्म्म-साधन—
जीवन समता-निर्ममता है ॥६

जीवन का लक्ष्य लोक सेवा,
तप, त्याग आत्म-निर्भरता है।
संघर्ष-विजय, उत्कट विराग,
मृत्युंजय उच्च अमरता है ॥७

संकीर्ण साधना नष्ट हुई,
निजता-परता का भाव गया।
परिवार, ग्राम, गृह त्याग दिये,
वसुधा कुटुम्ब बन गया नया ॥८

तुम सत्य-साधना साथ लिए,
चल दिये ईश-आराधन को।
उस परम तत्व के दर्शन को,
परलोक-लोक-हित साधन को ॥९

तप-तप कर कंचन-सी काया, उज्ज्वल, सतेज, सम्पुष्ट हुई।
मन दृढ़ता से सम्पन्न हुआ, सद् हृदय भावना पुष्ट हुई ॥१०

अत्याचारों की उग्र आग,
पापों की प्रबल प्रहारकता।
छल-छद्म, दम्भ का नग्न नृत्य,
अन्याय, प्रपंच, प्रतारकता ॥११

पीड़ित-पुकार, व्याकुल-विलाप,
सुन, सब आशान्वित अभय किये।
कल्याण पंथ के पथिक बने,
कल्याणपूर्ण उपदेश दिये ॥१२

मस्तिष्क तर्क का प्रेरक है,
श्रद्धा हृदयों की रानी है।
दोनों का शुद्ध समन्वय ही—
गौरव की अमर कहानी है ॥१३

मन, वचन, कर्म की समता में—
निश्चय सन्निहित सफलता है।
तीनों की भिन्न अवस्था ही,
जीवन की व्यक्त विफलता है ॥१४

सद् शिक्षा तन, मन, आत्माको,
सम्पुष्ट-बलिष्ठ बनाती है।
जीवन को उच्च उठाती है,
वर ब्रह्म-विवेक जगाती है ॥१५

सम्मान पूर्ण जीवन-जग में,
अमरत्व, गर्वमय, गौरव है।
अपकीर्ति मृत्यु का रुद्र रूप,
अभिशाप, पाप, रुज, रौरव है ॥१६

सद्धर्म्म उसी का रक्षक है,
जो धर्म्म कर्म्म कर जाता है।
आदर्श युक्त जीवन-जहाज,
भवसागर को तर जाता है ॥१७

मानव-मानव में भेद भाव,
विष-रूप दुःख का दाता है।
सब एक पिता की सन्तति हैं,
जो त्राता-विश्व-विधाता है ॥१८

गुण, कर्म्म-कसौटी पर कसकर,
जो जैसा व्यक्ति उतरता है।
वह वैसा ही कर वर्ण ग्रहण,
जीवन-सरिता को तरता है ॥१९

कर्म्मों के बन्धन में बंधकर,
नर-नारी जन्म बिताते हैं।
मरने पर निज-निज कर्म-रूप,
फिर जन्म यथा विधि पाते हैं ॥२०

सर्वज्ञ स्वयम्भू रूप हीन,
सच्चिदानन्द परमेश्वर है।
वह जन्म मरण बाधा-विमुक्त,
विभु, विश्वनाथ-विश्वम्भर है ॥२१

जीवन में मरण सन्निहित है, उत्थान पतन में रहता है।
उन्नति में अवनति छिपी हुई, संसृति-प्रवाह नित बहता है ॥२२

ऋषि, वीतराग, तप-तेज-पुंज,
आलोक अलौकिक दान दिया।
सत्तर्क समन्वित श्रद्धा दे—
निगमागम-ज्ञान प्रदान किया ॥२३

वेदों की विश्रुत वाणी का—
वसुधा भर में विस्तार किया।
मृत जाति-जननि के पिंजर में,
फिर नवजीवन संचार किया ॥२४

निस्पृह, निरीह, अविचल अकाम,
निस्वार्थ निडर ध्रुव ध्यानी थे।
बल, ब्रह्मचर्य्य अक्षय्य कोष,
तुम धर्म-जाति-अभिमानी थे ॥२५

तुम भीष्म रूप तुम भीमनाद,
तुम ब्रह्म ज्ञान-गुण आकर थे।
तुम परिव्राट वैभव विराट,
वर वैदिक धर्म-दिवाकर थे ॥२६

दुर्दम्भ दुर्ग पर वज्र रूप,
निर्भय प्रतिवाद-भयङ्कर थे।
पीड़ित, प्रताड़ितों, दलितों को,
तुम दयानन्द, शिव, शङ्कर थे ॥२७

हे आप्त काम, हे धैर्य्य-धाम,
अपकारी का उपकार किया।
तुमने विषदाता दानव को,
कुछ दंड न दे, उपहार दिया ॥२८

जनता को जीवन दान दिया,
पर स्वयम् घोर विष पान किया।
तुम अमर हुये मरकर स्वामिन्,
सब जीवों का कल्याण किया ॥२९

पत्थर-ईंटों की वर्षा तुम,
अति शान्त भाव से सहते थे।
नित निर्भय भाषण करते थे,
सर्वत्र स्वतन्त्र विचरते थे ॥३०

उस क्रूर कुचाली कायर ने,
तुम पर खर खड्ग उठाया था।
तप तेज-प्रकम्पित रुष्ट-दुष्ट,
गिर चरणों में पछताया था ॥३१

तुम थे 'स्वराज्य' के सूत्रधार,
'सत्याग्रह' में प्रिय प्राण दिये।
तुम मरे धर्म की वेदी पर,
निज देश जाति के लिये जिये ॥३२

तुम भारतीय सभ्यता-स्रोत,
संरक्षक पुण्य-पुजारी थे।
तुम आर्ष सभ्यता सुप्रतीक,
आदर्श उच्च अधिकारी थे ॥३३

तुमने गुरु चरणों को छूकर, जो असिधारा-व्रतधारा था।
जीवों का सुदृढ़ सहारा था, यह जीवन लक्ष्य तुम्हारा था ॥३४

ओ टंकारा की ज्वलित ज्योति !
तू कभी नहीं बुझने वाली,
तुझ से जगमग यह जगतीतल;
तुम से भारत गौरवशाली ॥३५

तू दमक रही दुनिया भर में,
तू चमक रही रन में-बन में।
अभ्युदय और निःश्रेयस बन,
तू रमी हुई जग जीवन में ॥३६
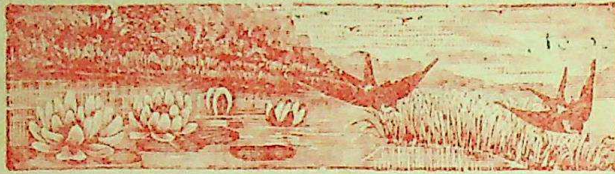
उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥
(अथर्व० १६।६३।१)

यज्ञ

[लेखक– दीवान बहादुर श्री हर विलास जी शारदा; अजमेर]

आर्य धर्म या आजकल जो हिन्दू धर्म के नाम से विख्यात है उसके इतिहास में यज्ञ के सिद्धान्त और उनके व्यवहारिक रूप का महत्व पूर्ण भाग है। वेदों ने यज्ञ करना मनुष्य मात्र का धार्मिक कर्म निश्चित किया है। कालान्तर में यज्ञों का इतना महत्व बढ़ गया कि अन्य इतने ही या इससे भी अधिक महत्वपूर्ण धार्मिक कर्तव्यों का प्रारम्भ हुआ। और उसके दुरुपयोगों की प्रतिक्रिया हिन्दू धर्म के लिये एक महान् घातक शक्ति बन गई। यज्ञ के इस दुरुपयोग ने चार्वाक मत की उत्पत्ति की। इसी दुरुपयोग के कारण जैन धर्म और आगे चलकर बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हुई। इसी दुरुपयोग ने श्री शंकराचार्य तक के मन में भी प्रतिक्रियायें उत्पन्न कीं। यदि यज्ञ, यज्ञों के सुखद व्यवहारिक रूप में पुरातन शुद्धि बनाये रखता तो कदाचित्त बौद्ध तथा जैन धर्म का जन्म ही नहीं होता।

पाणिनी के धातु पदानुसार 'यज्ञ' शब्द 'यज्ञा' धातु से बना है जिसके कई अर्थ हैं जैसे विद्वानों के प्रति श्रद्धा, दान और वस्तुओं का सम्मिश्रण। शतपथ ब्राह्मणों में कहा है, "यज्ञ वै श्रेष्ठतमं कर्म" अर्थात् यज्ञ निश्चय ही श्रेष्ठ कर्म हैं। शतपथ में 'यज्ञ' के बहुत विस्तृत अर्थ किये हैं। तथापि साधारण भाषा में 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग केवल अग्नि होत्र के लिये होता है।

यज्ञ का आधार भूत सिद्धान्त बहुत सरल है, परन्तु वह ऐसा है कि जिसे अध्यात्म-मना स्पष्टदर्शी पुरुष ही विचार तथा जान सकते हैं। युग बीत जाने पर ऋषि दयानन्द ने उसे पुनः समझा और मानव जीवन में उसको वही उचित स्थान दिया। जो उसे (यज्ञ को) वेदों की शिक्षा में दिया गया है। वह सिद्धान्त यह है कि मनुष्य मात्र अपने जीवन में अनिवार्य रूप से, शौच, नासिका, मल, थूक तथा स्वेद द्वारा पृथ्वी और आकाश मंडल को विकृत तथा अशुद्ध करता है और इस प्रकार मनुष्य जाति को हानि पहुँचाता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य अपने उपयोग, हित के लिये गौ, घोड़े, कुत्ते, हाथी, गधे, बैल आदि पशुओं को पालता है, ये भी मल मूत्र और श्वास आदि द्वारा पृथ्वी और वायु को अशुद्ध करते हैं। इसलिये मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि वह पृथ्वी, जल,

वायु आदि को पवित्र रखने तथा उनकी अशुद्धि और विषैलेपन को दूर करने के लिये जो कुछ कर सकता है करे। यह एक ऐसा कर्तव्य है कि जो प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के तथा स्वयं अपने लाभार्थ करना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक स्त्री और पुरुष प्रति दिन अपने जीवन में, श्वास में प्रवेश करने वाली वायु को दूषित तथा मलिन करते हैं, उनका यह कर्तव्य है कि उसे शुद्ध और पवित्र करने में अपना सहयोग दें। हवन अर्थात् अग्नि होत्र एक ऐसा उपाय है कि जिसे प्रत्येक स्त्री, पुरुष कर सकता है। इसलिये अग्नि होत्र प्रत्येक मनुष्य का दैनिक कर्तव्य है। यह ऐसा कर्तव्य है कि जिसे प्रत्येक मनुष्य को अपने साथियों के प्रति करना चाहिये, और यह ऐसा ऋण है, कि जिसे प्रत्येक धार्मिक प्राणी को अवश्य चुकाना चाहिये। अग्नि होत्र भौतिक (पदार्थ विज्ञान) कर्म है, उसका उद्देश्य भी भौतिक है, और इसका परिणाम भी भौतिक होगा। ऋषि दयानन्द ने अग्नि होत्र के विषय की चर्चा सत्यार्थ प्रकाश (दयानन्द ग्रंथ माला प्रथम भाग पृष्ठ १२५-१२७) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (दयानन्द ग्रंथ माला द्वितीय भाग पृष्ठ ३१४-३३१) और पंच महायज्ञ विधि (द्वितीय ग्रंथ प्रथम भाग पृष्ठ ८७२-८७६) में की है। अपने वेद भाष्य की भूमिका में ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि यज्ञ से उत्पन्न हुआ वाष्प, वायु और वर्षाजल के रूप में होकर संसार के कल्याण में सहायक होता है। यज्ञ दूसरों के हित के लिये किया जाता है। यज्ञ से सुपरिणाम तभी होता है, जब इसे पवित्र द्रव्यों से विधिवत करते हैं। यज्ञ समस्त संसार के लिये सुखजनक हैं।

शतपथ ब्राह्मण में कहा है "अग्ने ...... इति" अर्थात् जब अग्नि वृक्ष औषधि जल तथा अन्य द्रव्यों में प्रवेश करती है तो उनको अणुओं में विभाजित करके उनके रस को उनसे अलग कर देती है जिससे वाष्प तथा धूम्र उत्पन्न होते हैं। ये परमाणु अति तरल होकर वायु द्वारा उर्ध्व लोक में प्रवेश करते हैं।

ऋषि दयानन्द ने हवन की वाष्प के पवित्रकारी प्रभाव को चित्रित करते हुये एक उदाहरण दिया है, वे कहते हैं जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्धित द्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा के छौंक देने से वे सुगन्धित पौष्टिक और रुचिकर हो जाते हैं वैसे ही यज्ञ से जो भाप उड़ती है वह वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत को सुख पहुंचाती है।

एक बार जब सर सैयद अहमद खां ने हवन के वाष्प द्वारा मनुष्य को आवृत करने वाले वायु मण्डल की शुद्धि पर आशंका की तो स्वामी जी ने उनसे पूछा कि आपके यहां रसोई में नित्य बनने वाली ८५ सेर दाल में कितने हींग का प्रयोग होता है और जब उन्होंने उत्तर दिया कि कुछ माशे, तब स्वामी जी ने कहा कि जिस प्रकार हींग के थोड़े से कण बहुत परिमाण में दाल को सुगन्धित और स्वादिष्ट बना देते हैं इसी प्रकार हवन का धूम्र वायु को शुद्ध करता है।

गोपथ ब्राह्मण में कहा है "अथो भैषज्य यज्ञा वा एते चातुर्मास्यनि, ...
तस्मात् ऋतु सन्धिषु प्रयुज्यते, ऋतु सन्धिषु वै व्याधिजीत्रते।

चातुर्मास यज्ञ औषधि द्वारा ऋतु परिवर्तन काल में किये जाते हैं क्योंकि उन अवसरों पर रोगों का प्रकोप होता है।

इस आपत्ति पर कि कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्य अग्नि में डालने से नष्ट हो जाते हैं, स्वामी जी ने उत्तर दिया कि किसी भी वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं होता, जिसे नाश कहा जाता है वह दृश्य से अदृश्य अवस्था में परिवर्तन मात्र है।

इस शंका का कि यदि यज्ञ का उद्देश्य केवल वायु और वृष्टि जलको पवित्र करना है तो वह सुगन्धित द्रव्यों को घर में देखने से प्राप्त हो जावेगा, स्वामी जी ने उत्तर दिया कि जब तब वायु तरल नहीं होगा आकाश में नहीं पहुचेगा। जब घर में वस्तुयें जलाई जाती हैं तो उनकी गर्मी से वायु विस्तीर्ण होकर ऊंची उठती है। हवन के द्वारा सुगंधित द्रव्यों के परमाणुओं से भरी हुई वायु आकाश में पहुंचकर वृष्टि जल को शुद्ध करती है और उसको परिमाण बढ़ाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वृष्टि जल से शुद्ध वनस्पति उत्पन्न होती है।

अग्नि होत्र एक भौतिक कार्य है और मनुष्यों को भौतिक लाभ प्रदान करता है। अग्नि होत्र के पवित्र कर्तव्य का एक मात्र यही उद्देश्य है। २५ अप्रैल सन् १८७७ में लाहौर में व्याख्यान देते हुये स्वामी जी ने घोषित किया था कि हवन का एक मात्र उद्देश्य वायु और जल को शुद्ध करना है।

अग्नि होत्र (होम) के समय मंत्र पाठ के सम्बन्ध में स्वामीजी ने कहा था कि उनके पढ़ने का कुछ विशेष प्रयोजन है, जैसे हाथ से होम करने से त्वचा द्वारा तप स्पन्दन का अनुभव करते हैं वैसे हो से वेद मंत्रों के उच्चारण से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना होती है, मंत्रों से हमें हवन के लाभ तथा ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान होता है।

वेदों में अनेक यज्ञों का केवल वर्णन मात्र है, परन्तु उनकी विधि नहीं है। ब्राह्मणों में यज्ञों की विधि का वर्णन है, उनमें यज्ञ विधि का पूर्ण व्यौरा मिलता है।

जब वेदों का पठन पाठन बन्द हो गया और उनकी भाषा का दुरुपयोग होने लगा तब ब्राह्मणों ने (पुरोहित वर्ग ने) वैदिक परिभाषाओं का लौकिक अथवा रूढि अर्थ करना आरम्भ किया और उन्होंने इस लाभदायी संस्कार का दुरुपयोग किया। वैदिक शब्दों का (यथा "अश्वमेध" जिसका अर्थ है कि राजा प्रजा की रक्षा करते हुये उनके साथ न्याय का व्यवहार करे, "गौमेध" जिसका अर्थ है कि इन्द्रियों, पृथ्वी आदि को शुद्ध रक्खे, और नरमेध जिसका अर्थ है मृत्यु हो जाने पर मनुष्य का विधिवत दाह संस्कार करे) दुरुपयोग किया जाने लगा और उसका लौकिक अर्थ जीव से घोड़ा, गाय मनुष्य आदि की बलि

देना किया जाने लगा। इस प्रकार पशुओं का बलिदान आरम्भ हुआ। क्योंकि यज्ञों में पुरोहित वर्ग की ही प्रधानता रही यहां तक कि इस प्रकार के बलिदानों को अत्यन्त प्रोत्साहन हुआ कि यज्ञों में हजारों पशुओं का वध होने लगा। इस घृणित प्रथा ने सर्व साधारण के मनों में प्रतिघात उत्पन्न किया, उन लोगों ने मूक पशुओं पर दया दर्शाना आरम्भ किया और वे जीवमात्र को पवित्र समझने लगे और ऐसे बलिदानों का समर्थन करने वाले धर्मों की अवहेलना की। इस प्रकार जैन धर्म का उत्थान हुआ। भगवान बुद्ध ने देखा कि वैदिक धर्म का इतना पतन होगया है कि उसमें केवल बलिदान और संस्कार मात्र रह गये हैं। जन साधारण निर्जीव मंत्र पाठ, थोथे संस्कार और पुरोहित वर्ग के निरन्तर शासन से ऊब गये। बुद्ध ने इन हत्यारों की निन्दा की और पुरोहितवर्ग के ज्ञान व उनके जाति अभिमान का व्यंगापक कटाक्षों से तिरस्कार किया।

ऐसे मनुष्य भी हैं जो अपने को नाना विधि प्रायश्चितों द्वारा शुद्ध करने की खोज में रहते हैं, कुछ गौ, हिरण, अश्व, वराह, वानर, हस्ति आदि की पूजा करते हैं। कुछ एक स्थान पर (आसन लगाये) मौन धारण किये बड़प्पन का ढोंग रचते हैं, कुछ अग्नि अथवा धूम्र पानकर, सूर्य की ओर देखते रहकर, पञ्चाग्नि तपकर, एक पांव पर खड़े रहकर, एक हाथ ऊंचा करके, अथवा घुटनों के बल चलते रहकर प्रायश्चित पूर्ण करने में संलग्न रहते हैं। जन साधारण उन संस्कारों और व्रतों को धर्म समझते थे जैसा कि भिक्षा वृति पुरोहित वर्ग उन्हें बतलाता था। इस पुरोहित वर्ग को बुद्ध ने पाखण्डी, दम्भी, शोषक, अति लोभी आदि शब्दों से सम्बोधित किया है।

राज्य द्वारा अंगीकृत होने पर बुद्ध धर्म प्रज्ज्वलित अग्नि के समान फैल गया। क्योंकि सर्व साधारण थोथे क्रिया अलापों से ऊब गये थे और इस प्रकार ब्राह्मणत्व भारत से लोप हो गया। यह सब यज्ञ के सिद्धान्त का दुरुपयोग करने का परिणाम था। कालांतर में बौद्धों के सृष्टि रचना के अस्तित्व, जीव और प्रकृति सम्बन्धी मौलिक प्रश्नों के उत्तर देने में असमर्थ होने पर संस्कृत ब्राह्मणत्व ने बौद्ध शिक्षण के अनीश्वरवाद के विरुद्ध सिर उठाया, परन्तु वेदों के बोध का अभाव होने से कर्म काण्ड का कुछ मंद रूप पुनः प्रयोग होने लगा। और श्री शंकराचार्य ने इन कर्म कांडों का विरोध किया। इस प्रकार यज्ञ के विपरीत ज्ञान और दुरुपयोग ने हिन्दुत्व के विरुद्ध नाशक प्रतिक्रिया उत्पन्न की।

सौभाग्यवश देशोद्धारक दयानन्द ने वेदों का सम्यक् प्रकार से अध्ययन कर और उनके वास्तविक तात्पर्य को हृदयङ्गम कर और समझकर यज्ञ को उसका उचित स्थान प्रदान किया। और उसके वास्तविक उद्देश्य की व्याख्या की। उन्होंने बतलाया है कि यज्ञ वेद प्रति-पादित कर्मों में से केवल एक कर्म है और प्रत्येक मनुष्य का उसका पालन करना अन्य मनुष्यों के प्रति कर्तव्य है। केवल अग्नि होत्र अर्थात अग्नि में सुगन्धित

द्रव्यों की आहुती देना कोई आध्यात्मिक महत्व नहीं रखता। वह आरोग्य सम्बन्धी उत्तम कार्य है और प्राणिमात्र का हितकारी है।

यूरोपवासी भी म्यूनिसिपैलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड द्वारा सफाई इत्यादि कर्मों से यज्ञों के उद्देश्यों की पूर्ति करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनको इसमें सफलता नहीं मिलती। यदि प्रत्येक मनुष्य जल-वायु को विकृत करता रहता है, तो वह परिणाम स्वरूप जितना उससे हो सके जलवायु को शुद्ध करने के लिये अग्नि होत्र किया करे, जैसा कि उसका कर्तव्य है। और इस प्रकार, वृष्टि तथा स्वास्थ्यवर्धक और पौष्टिक वनस्पति उत्पादन में सहायक हो। इसपर वह न केवल अपने ही संतोष का कार्य कर अपने विवेक को शुद्ध रक्खेगा अपितु म्यूनिसिपैलिटियों और दूसरों के सफाई के कार्य को सहायता पहुंचावेगा, जो कि मलेरिया, विशूचिका, प्लेग आदि संक्रामक रोगों को रोकने में सहायक होगा। संभवतः पाश्चात्य मस्तिष्क इतनी उन्नति नहीं कर पाया कि वह प्राचीन ग्रंथों में वर्णित तथा ऋषियों के बनाये यज्ञों के लाभों को हृदयङ्गम कर सके।

वेदविद्यास्तवः

[रचयिता—सप्ततीर्थ श्री हरिदत्त शास्त्री, एम० ए०]

हे देवि! वेदविद्ये! भवतीं वयं नमामः १
मातः! प्रसूतिरेषा, जगतो विचित्रवेषा।
जाता भवत्सकाशादिति ते पदे श्रयामः ॥ हे देवि०
असवश्चिरन्तनानां, वसवः पुराभवानाम्।
अमरर्षिमानुषाणां, भवतीमिति स्मरामः ॥ हे देवि०
जगतां त्वमेव सारं, हततुङ्गपङ्कभारम्।
दधतीं महोपकारं, शरणं वयं प्रयामः ॥ हे देवि०
मुनिमूलशङ्करं तं, तव मूलकूलहेतोः।
विषमं विषं निपीय, त्रिदिवं गतं भजामः ॥ हे देवि०
तव चित्रमृक्चयानामविकल्पिताश्रयाणाम्।
पारे गिरां महत्वं, बहुशो वयं गृणामः ॥ हे देवि०
जगती तमोमयी स्यात्, भवती न भामती चेत्।
अयि वेदवाणि! वाणीं किमु ते नु वर्णयामः ॥ हे देवि०
शिवविष्णुवेधसां त्वं प्रभवः सवः सवानाम्।
सकलार्थसार्थवाहं, भवतीं वयं नमामः ॥ हे देवि०
श्रुतिसंस्तुतौ नुता त्वं, तनुजेन सत्यवत्याः।
स कुमारिलो भवत्याः, चरणौ मुहुर्ननाम ॥ हे देवि०

वैदिक वर्ण व्यवस्था और आधुनिक समाजवाद

[ले० श्री पं० गंगा प्रसाद जी रिटायर्ड चीफ़ जस्टिस टीहरी]

भाग १–वैदिक वर्णव्यवस्था

१–वर्ण आश्रम धर्म–

वैदिक धर्म कभी कभी 'वर्णाश्रम धर्म के नाम से भी पुकारा जाता है, और उसे यह नाम देना ठीक भी है, क्योंकि वर्ण और आश्रम वैदिक धर्म के विशेष और परिचायक अंग हैं। वर्ण और आश्रमों के रूप में हमें मानव जीवन की एक ऐसी संगठित और पूर्ण योजना मिलती है जिसमें व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही प्रकार के जीवन की सम्मिलित और पूर्ण व्यवस्था है। वर्ण व्यवस्था द्वारा मानव समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्गों या वर्णों में बांटा गया है। ये विभाग गुण कर्मानुसार मनुष्यों के उद्योग धन्धों की दृष्टि से किये गये हैं। इसी प्रकार आश्रम व्यवस्था द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है जिनके नाम–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम हैं। किन्तु पुरोहितों की स्वार्थ भावना और जनता के अज्ञान के कारण जब वैदिक धर्म का ह्रास होने लगा तो वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था भी बिगड़ गई और यही कारण है कि आज वर्ण आश्रम का वह स्वरूप दिखाई नहीं देता जो कि वैदिक काल में था।

पहले हम इस आश्रम व्यवस्था के विषय में संक्षेप से जो कुछ कहेंगे। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का पहिला भाग अर्थात् स्त्रियों के लिये कम से कम १६ वर्ष और पुरुषों को २५ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्यपूर्वक वीर्य रक्षा करते हुये अपने शरीर और मन का ठीक ठीक विकास करने में और वेद अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति में लगना चाहिये। इसके पश्चात ही मनुष्य गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है या कर सकता है। इस आश्रम का उद्देश्य शास्त्रोक्त मर्यादानुसार सन्तानोत्पत्ति करना तथा अपने और अपने परिवार के निर्वाह एवं पुण्य कार्यों की उन्नति के लिये धनोपार्जन करना है। जब एक गृहस्थी के बेटे और पोते हो जायें तब उसे वानप्रस्थ हो जाना चाहिये, अर्थात् तब उसे नगर जीवन के कोलाहल और विघ्न बाधाओं से दूर किसी एकान्त स्थान में जाकर अपना समय ईश्वराराधना और स्वाध्याय द्वारा अपनी आत्मिक उन्नति और सामर्थ्यानुसार समाज सेवा में व्यतीत करना चाहिये। इस आश्रम का मुख्य उद्देश्य अपने आपको चतुर्थ आश्रम अर्थात् सन्यास आश्रम के लिये तैयार करना है जिसमें मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरता हुआ लोगों को सचाई सद्गुणों का उपदेश करता हुआ और इस प्रकार अपने परिपक्व अनुभव और ज्ञान से उन्हें लाभ पहुँचाता है।

इसका महत्व–

किसी एक व्यक्ति के जीवन को नियमित बनाने के लिए इस आश्रम व्यवस्था से और अधिक अच्छी किसी अन्य योजना विचार में नहीं आ सकती, क्योंकि इस व्यवस्था का लक्ष्य यह है कि मनुष्य अपने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास के लिये उत्तमोत्तम अवसर प्राप्त करता हुआ आत्मा, परमात्मा और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन करने के योग्य बने।

इसकी वर्तमान अवनत दशा–

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है हमारे समाज की वर्तमान दशा ऊपर लिखी व्यवस्था से बहुत भिन्न और अत्यन्त खेदजनक है। ब्रह्मचर्य जीवन की जगह बाल-विवाह का प्रचार है जिसमें जाति का शारीरिक और मानसिक ह्रास हो रहा है। गृहस्थ जीवन प्रायः बाल्यावस्था में ही प्रारम्भ होकर मृत्युपर्यन्त चलता रहता है। वानप्रस्थ आश्रम का तो केवल नाम ही शेष है, आर्य समाज ने हाल में ही दो एक वानप्रस्थाश्रम स्थापित करके इस आश्रम को पुनर्जीवित करने का उद्योग किया है। रहा सन्यास सो संन्यास वेषधारी लाखों मनुष्य अपने आपको साधु (जिस शब्द का अर्थ सदाचारी है) कहते हुये देश भर में घूमते और भीख मांगते अवश्य दिखाई देते हैं। इनमें से एक प्रति सहस्र भी ऐसे नहीं हैं जिन्हें साधु कहा जा सके। इस इनके समुदाय में सब प्रकार के दुराचारी यहां तक कि घोषित अपराधी तक भी पाये जाते हैं, क्योंकि अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाने के लिये 'साधु' हो जाने से अधिक सरल और दूसरा कोई उपाय ही नहीं हो सकता। इनमें से अधिकांश अगर बुरे भी नहीं तो निकम्मे या केवल पेट पालक अवश्य हैं, और इसलिये समाज के लिये भाररूप हैं। दूसरे किसी भी सभ्य देश में ऐसी अवस्था नहीं मिलेगी। प्रत्येक सभ्य देश में जीविका करने योग्य मनुष्यों को भिक्षा वृत्ति से रोकने के लिये कानून बने हुये हैं। भारत में एक 'यूरोपीयन वैगरैंसी एक्ट' (यूरोपीय आवारागर्द कानून) है जिसका उद्देश्य यूरोपीय लोगों को भिक्षावृत्ति से रोकना है यद्यपि भारत में यूरोपियनों की संख्या बहुत थोड़ी है और उनके लिये भिक्षा मांगने की सम्भावना भी बहुत कम ही है। किन्तु भारतीय भिखमंगों को दण्ड देने अथवा उनमें भिक्षावृत्ति को रोकने के लिये कोई कानून नहीं है, जिसका कारण यह है कि यहां धर्म के नाम पर ऐसे लोगों को शरण दी जाती है और एक विदेशी राज सत्ता के लिये यह स्वाभाविक है कि वह ऐसे मामलों में हस्तक्षेप करने का साहस नहीं करती जिनका धर्म से सम्बन्ध माना जाता है।

वर्ण व्यवस्था की दुर्दशा: जन्मकारक जाति भेद--

हमने संक्षेप में यह बताया कि आश्रम धर्म का वर्ण धर्म के साथ जो कि हमारे इस निबन्ध का मुख्य विषय है, क्या सम्बन्ध है। अब हम वर्ण धर्म पर आते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वैदिक वर्ण व्यवस्था वर्तमान जाति भेद से बिल्कुल भिन्न है। वर्ण व्यवस्था द्वारा समाज को चार ऐसे व्यावसायिक वर्गों में विभक्त किया गया था जो कि उनकी योग्यता, गुणों और रुचि के अनुसार होते थे। किन्तु जाति भेद ने समाज को ऐसी अनेक जन्म मूलक जाति-उपजातियों में विभक्त कर दिया है कि जिसमें परस्पर सहभोज और विवाह नहीं हो सकते। वर्तमान जाति भेद से होने वाले दुष्परिणाम आज समाज के प्रत्येक विचारशील व्यक्ति पर प्रकट ही हैं*। एक प्रत्यक्ष हानि तो यह है कि प्रत्येक जाति छोटी २ इतनी अधिक उपजातियों में विभक्त हो गई है कि लड़के लड़कियों के लिये योग्य वर मिलना भी बड़ा कठिन हो गया है। यह तो एक छोटी सी बुराई है। अब हम इस हानिकारक प्रथा से उत्पन्न होने वाले कुछ भयंकर दुष्परिणामों का वर्णन करेंगे।

शूद्रों की अधोगति–

राष्ट्र के बहुत बड़े भाग शूद्रों की सामाजिक और आर्थिक हीनावस्था उनमें से एक बड़ी बुराई है। पौराणिक काल में शूद्रों की बड़ी दुःखदायी अवस्था थी।

उस समय प्रत्येक मुख्य मुख्य जाति के लिये भिन्न २ प्रकार के कानून थे। ब्राह्मणों के साथ बहुत नर्मी का और शूद्रों के साथ अत्यन्त कठोरता का बर्ताव किया जाता था। ऋषि दयानन्द और महात्मा गान्धी की शिक्षा और प्रचार का धन्यवाद है कि हिन्दू लोग अब उस अन्याय को अनुभव करने लगे हैं जो हिन्दू समाज ने इन नीच कहे जाने वाली जातियों पर किया है; किन्तु अभी तो इस समस्या को केवल छुआ ही गया है और इस प्रकार के उदार विचार केवल शहरों के रहने वाले कुछ शिक्षित लोगों में ही पाए जाते हैं। ग्रामों में जहां कि भारत की ६० प्रतिशत जनता निवास करती है, शूद्रों के प्रति जो बर्ताव किया जाता है वह कदापि सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

अस्पृश्यता–

इन शूद्रों में से भी लगभग ७ करोड़ को अस्पृश्य समझा जाता है। उन्हें उन कुओं से पानी भरने की भी आज्ञा नहीं जो उच्च जाति वालों के लिये बने हुये हैं। ग्रामों में उनके बालकों को सार्वजनिक स्कूलों में स्थान नहीं दिया जाता। यद्यपि अधिकारियों की ओर से स्पष्ट आज्ञायें इसके विपरीत दी जा चुकी हैं। कुछ स्थानों में तो अनेक ऐसे मूर्खता

*विस्तृत व्याख्या के लिये लेखक की 'जाति भेद' पुस्तक अध्याय ३ पढ़िये।

पूर्ण प्रतिबन्ध उन लोगों पर लगाये जाते हैं कि जिन पर यदि वे बातें यथार्थ न होतीं तो किसी को विश्वास भी नहीं हो सकता था। उदाहरणार्थ कुमायूं पर्वत के कुछ स्थानों में वे लोग अपना भोजन बनाने में घी या मक्खन का व्यवहार नहीं कर सकते; वे सोने या चांदी के भूषण नहीं पहन सकते; राजपूताने के कुछ स्थानों में उन्हें अपने मकानों के दरवाजों पर चौखटे चढ़ाने की भी आज्ञा नहीं है।

दक्षिण भारत के कुछ स्थानों में नीच जातियों का केवल स्पर्श ही नहीं किन्तु इनका दर्शन भी अपवित्र करने वाला समझा जाता है। भिन्न भिन्न नीच जाति के मनुष्यों के लिये वहां ऐसे २ सूक्ष्म और बारीक नियम बनाये गये हैं जिनमें बताया गया है कि यदि वे किसी उच्च जाति के मनुष्य के पास जावें या पहुंचें तो उन्हें कितने कितने फासले पर रहना चाहिए, और इन नियमों का उन्हें पालन करना पड़ता है।

शूद्रों का मुसलमान और ईसाई हो जाना—

यदि इन अमानुषिक अत्याचारों से तंग होकर ये लोग लाखों की संख्या में मुसलमानी मत की शरण में चले गये और हजारों की संख्या में ईसाई हो गये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि आठ नौ करोड़ मुसलमानों में से ६० प्रतिशत ऐसे हैं जो या तो हिन्दू से मुसलमान हुए हैं या मुसलमान बने हुये हिन्दुओं को सन्तान हैं। वे भी प्रायः अधिकांश शूद्रों और नीच जातियों में से ही मुसलमान बने हैं और यह स्वाभाविक है, क्योंकि हम देखते हैं कि ज्यों ही इन नीच जातियों में से कोई मुसलमान या ईसाई हो जाता है तो वह विचारी नीच हिन्दु जातियों पर होने वाले सामाजिक अत्याचारों से छुटकारा पा जाता है।

शिल्प और व्यवसाय की हानि—

जन्मपरक जात पांत से उत्पन्न हुई दूसरी बड़ी बुराई यह है कि इससे कला उद्योग और धन्धों को बड़ी भारी हानि पहुंची है। भारत में लगभग सारा शिल्प और व्यवसाय नीच समझी जाने वाली जातियों के ही हाथ में है, जैसे कि बढ़ई, लुहार, सुनार, संगतराश जुलाहा, रंगरेज, धोबी, तेली, मोची इत्यादि इत्यादि। दुर्भाग्य से पौराणिक काल के बने हुये स्मृति ग्रन्थों में इन सभी पेशों को नीच और अपवित्र बतलाया गया है और यह आश्चर्य है कि इस प्रकार के कुछ श्लोकों ने वर्त्तमान मनुस्मृतियों में भी स्थान पा लिया है। फिर भला यह कब सम्भव है कि शिल्प और कला ऐसे में जहां उन्हें अशुद्ध और उच्च जाति वालों के लिये नीच और अपवित्र समझा जाय, उन्नति कर सकें। श्री रमेश-चन्द्र दत्त ने अपनी 'प्राचीन भारत की सभ्यता' (Civilisation in Ancient India) नामक पुस्तक के पृष्ठ ५६० पर ठीक ही लिखा है—'जहां तक कला का सम्बन्ध है, इस

(जाति भेद के) परिणाम बहुत दुःखदायी हुए। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त दूसरे लोगों में प्रतिभा का मिलना असम्भव हो गया। लगातार नैतिक बन्धन, और दासता में बंधे रहने के कारण लोगों ने महत्वाकांक्षी और गौरवशाली बनना कभी सीखा ही नहीं।" अस्तु आर्थिक दृष्टि से होने वाली बुराईयों को यहां विस्तार पूर्वक दिखाने की आवश्यकता नहीं है। कृषि के अतिरिक्त कला उद्योग धन्धे और व्यापार ही ऐसे साधन हैं जिनसे कोई देश धनी हो सकता है। वेदों में इन सभी व्यवसायों को बड़े ऊंचे प्रशंसात्मक शब्दों में वर्णन किया गया है और वैदिक वर्ण व्यवस्था के अनुसार इन व्यवसायों को करने वाले सभी मनुष्य विशाल और व्यापक वैश्य वर्ण के अन्तर्गत माने जाने चाहियें। इस विषय पर हम पीछे से फिर लिखेंगे।

महापुरुषों का अभाव–

उपर्युक्त लेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतवर्ष की नीच जातियों में उत्पन्न हुए महापुरुषों की संख्या इतनी न्यून क्यों है। मिस्टर स्माइल (Mr. Smil) ने अपनी पुस्तक 'Self Helf' (सैल्फ हैल्फ) में ब्रिटेन के ऐसे प्रसिद्ध पुरुषों की एक लम्बी सूची दी है जो निम्नलिखित नीची जातियों में उत्पन्न हुये थे। नाई, मजदूर, पजागिर, जुलाहे, मोची, दर्जी, कसाई आदि। भारत में ऐसा क्यों नहीं, इसका प्रधान कारण यह है कि जन्ममूलक जाति भेद में केवल उच्च जाति के मनुष्यों को ही मानसिक विकास और उन्नति का अवसर दिया जाता है, इससे अधिक अन्याय और क्या हो सकता है कि एक मनुष्य को उन शक्तियों का विकास करने से भी रोका जाय जो उसे परमात्मा की ओर से दी गई हैं और उस प्रथा से अधिक हानिकर और प्रकृति विरुद्ध कौन कुप्रथा होगी जो लाखों करोड़ों मनुष्यों को ऐसे अवसर देने से रोकती है।

जाति भेद ब्राह्मणों के लिये भी हानिकर है–

जाति भेद ब्राह्मणों के लिये भी उतना ही हानिकर है जितना शूद्रों के लिये जैसा कि श्री रमेश चन्द्रदत्त ने लिखा है "सर्वाधिकार सत्ता-धारियों के लिये भी उतना ही हानिकारक होता है जितना कि उनके लिये जिन्हें उससे वंचित किया जाता है और विद्या का सर्वाधिकार तो मानव जाति के एक तन्त्राधिकारों में सबसे बुरा है।"

हिन्दू जाति का विच्छेद–

इस अप्राकृतिक जाति भेद की सबसे अधिक भयंकर बुराई यह है कि इसने हिन्दू जाति को अन्तर्जातीय विवाहों और खान-पान आदि व्यवहारों पर बन्धन लगाकर असंख्य विभागों में टुकड़े टुकड़े कर दिया है, मर्दुमशुमारी की रिपोर्टों में बताया गया है कि हिन्दुओं में छोटी बड़ी जाति उपजातियों की संख्या ४००० से अधिक है। एक

साधारण हिन्दू अपनी जाति से बाहर के लोगों के साथ अपना बहुत कम सम्बन्ध रखता है। उसकी रुचि और सहानुभूति और उसकी देशभक्ति और परोपकार वृति भी प्रायः उसकी अपनी निजी जाति की संकुचित परिधि तक ही सीमित रहती है, जहां इतना संकुचित जातीय पक्षपात हो वहां सच्ची राष्ट्रीय एकता किस प्रकार हो सकती है। श्री रमेश चन्द्र दत्त ने सत्य कहा है:—

"भारतवर्ष का जाति भेद वहुत सी बातों के लिये उत्तरदायी है किन्तु इसका सबसे बुरा और दुःखदायी परिणाम प्रेम और एकता के स्थान में फूट और विरोध तथा राष्ट्रीय शक्ति और राष्ट्रीय जीवन के बजाय राष्ट्रीय निर्बलता और राष्ट्रीय मृत्यु है।"

(सिविलिजेशन इन एंशेएट इण्डिया पृष्ठ ६८४)

अन्तर्जातीय विवाहों की आवश्यकता और 'आर्य मैरिज ऐक्ट'

हिन्दू धर्म की वर्तमान अवनत, अधोगति के लिये जाति भेद कहां तक उत्तरदायी है यह पर्याप्त रूप से दर्शाया जा चुका है। अस्पृश्यता के विषय में महात्मा गांधी जी अनेक बार यह कह चुके हैं कि यदि अस्पृश्यता जीवित रहेगी तो हिन्दुत्व मर जायगा और अस्पृश्यता का जन्मपरक जाति भेद के साथ घनिष्ठ संबंध है- वह उस पर ही अवलम्बित है। अतएव इसमें कोई अत्युक्ति नहीं यदि अस्पृश्यता रही तो हिन्दू धर्म नष्ट हुये बिना नहीं रह सकता। हिन्दू धर्म पर यह एक कलंक है और हमारी राष्ट्रीयता के लिए अपमानजनक है। गत ५० अथवा ६० वर्षों से आर्य समाज इसके विरुद्ध जोरदार लड़ाई लड़ रहा है। किन्तु अभी तक हिन्दुओं के मन पर इसका पूर्ण अधिकार है यह सत्य है कि अब भिन्न जातियों में परस्पर खान-पान पर अधिक विरोध नहीं किया जाता किन्तु इस समस्या की विकटता तो अन्तर्जातीय विवाहों में है और बहुत थोड़े ऐसे आदमी हैं जो अपनी जाति से बाहर बिवाह करने का साहस कर सके जो केवल विवाह के लिये मानी जाती हैं। अन्तर्जातीय विवाहों की एक कठिनाई इस प्रकार के विवाह करने वालों और उनकी सन्तानों की कानूनी स्थिति के संबंध में थी। यह कठिनाई सन् १९३६ ई० में इण्डियन लेजिस्लेचर द्वारा पास हुये 'आर्य मैरिज वेलिडेशन ऐक्ट' अर्थात् आर्य विवाह विधान से दूर हो गई हैं। इसके अनुसार केवल अन्तर्जातीय विवाह ही नहीं अपितु शुद्ध के विवाह भी जायज माने जायेंगे और आर्य समाज के केवल रजिस्टर्ड सभासद् ही नहीं बल्कि वे सभी जो विवाह के समय अपने आपको आर्य समाजी मानें और कहें इस एक्ट से लाभ उठा सकते हैं। अब आर्य समाज के सभासदों के और सहायकों का कर्तव्य है कि वे इस प्रकार के विवाहों को यथाशक्ति प्रोत्साहन और समादर देवें।

वैदिक वर्ण व्यवस्था

वर्तमान जाति भेद से उत्पन्न हुई बुराइयों का वर्णन किया जा चुका। अब हम

यह दर्शायेंगे कि वेद और शास्त्रों में जाति भेद की कहीं भी आज्ञा नहीं पाई जाती। वेदों की वर्णव्यवस्था उससे बिल्कुल भिन्न है।

इसकी पुष्टि में वेद मन्त्र और उसका सनातन धर्मियों का किया अशुद्ध अर्थ–

वेद का एक मात्र मन्त्र जिसे हमारे सनातन भाई जन्मपरक जाति भेद की पुष्टि में उपस्थित करते हैं और जो वास्तव में वैदिक वर्ण व्यवस्था का प्रतिपादन करता है निम्नलिखित है :–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो ऽजायत ॥
ऋ० १०/९०/११

पौराणिक भाष्यकारों ने इस मन्त्र का अनुवाद इस प्रकार किया है :–

'ब्राह्मण ब्रह्म (ईश्वर) के मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय उसकी भुजाओं से, वैश्य उसके पेट से और शूद्र उसके पैरों से।'

इस मन्त्र का शुद्ध अर्थ–

संस्कृत का थोड़ा सा ज्ञान रखने वाला मनुष्य भी समझ लेगा कि यह अनुवाद बिलकुल गलत है। इसका शुद्ध शब्दानुवाद इस प्रकार होगा:–

'ब्राह्मण उसका सिर है (अथवा 'था') क्षत्रिय उसकी भुजाएं बनीं, वैश्य उसके उदर के समान है, और शूद्र उसके पैरों के समान बने।"

इसका प्रकरण–

इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये कि इस मन्त्र का शुद्ध अर्थ यही है और इसका वास्तविक भाव दर्शाने के लिये इसका प्रकरण भी देना ठीक होगा। यह मन्त्र पुरुष सूक्त में आता है जो कि ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्व तीनों वेदों में आया है। इस सूक्त में सृष्टि का वर्णन एक विराट् पुरुष के रूप में किया गया है। मानव समाज को भी इसमें एकएक पुरुष के रूप में उत्पन्न हुआ बतलाया गया है। तब स्वभावतः ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि तो फिर उस पुरुष रूप मानव समाज के भिन्न २ अंग कौन कौनसे हैं, और यही प्रश्न निम्नलिखित मन्त्र में पूछा गया है जो ऊपर लिखे मन्त्र से पूर्व का है—

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥
ऋग्० १०।९०।१०

"यहां जिसे पुरुष रूप में वर्णन किया गया है उनके कितने ही अंगों की भी कल्पना की गई है। उसका सिर क्या था, उसकी भुजाएं क्या थीं, और उसका उदर और पांव किसे बताया गया है।"

इस प्रश्न में यह नहीं पूछा गया कि उसके अनेक अंगों से कौन २ उत्पन्न हुये ऋग्वेद का पूर्वोक्त मन्त्र (मं० १० सू० ९० मन्त्र ११) इसी प्रश्न का उत्तर है। अर्थात्—"ब्राह्मण उसका मूर्द्धा था, क्षत्रिय उसके भुजा बनाये गये, वैश्य उदर है और शूद्र उसके पैर बनाए गये।"

इस मन्त्र में इस बात का आभास तक भी नहीं पाया जाता कि अनेक वर्ण भिन्न २ रूप में उत्पन्न हुए हैं और न ही इस मन्त्र के द्वारा वर्तमान जन्म मूलक जाति भेद की ही किसी प्रकार पुष्टि होती है।

इस मन्त्र की व्याख्या—

ऊपर के उद्धृत मन्त्र का भावार्थ यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समष्टि या समाज में वही कार्य करते हैं जो एक मनुष्य के शरीर में सिर, बाहु, पेट और पैर करते हैं। मनुष्य शरीर में विचार करने वाला मन और ज्ञानेन्द्रियां सिर में स्थित हैं। इसी प्रकार मानव समाज में ब्राह्मण अथवा ज्ञानी मनुष्य, (ब्रह्मन् शब्द का अर्थ ईश्वर और ज्ञान है) जिनमें कि अध्यापक धर्म प्रचारक, वैज्ञानिक अन्वेषक, चिकित्सक, कानून बनाने वाले न्यायाधीश वकील, इंजीनियर, कलाकर इत्यादि हैं– इन सबको हम समाज का मस्तिष्क अथवा मूर्द्धा कह सकते हैं। क्षत्रिय अथवा बलवान् वा शक्तिशाली मनुष्य जो समाज की रक्षा करते हैं (क्योंकि क्षत्रिय शब्द का अर्थ है हानि, चोट से बचाने वाला क्षतात्त्रायत इति क्षत्रियः)—जिनके अन्तर्गत सिपाही. फौजी मनुष्य, पुलिस, मैजिस्ट्रेट और अन्य समस्त उच्च राजकर्मचारी आजाते हैं. उन्हें इस समाज की रक्षक भुजाएं कह सकते हैं। वैश्य शब्द विश् धातु से बना है जिसका अर्थ व्यापना या फैलना है और 'प्रजा' अर्थ में वेदों में प्रायः प्रयुक्त हुये 'विशः' अथवा 'विट्' शब्द से मिलता हुआ है। यथा 'राजा विशाम्पति (The King the protector of his subjects) इस शब्द विश का प्रधान अर्थ सर्व साधारण प्रजा है और गौण अर्थ में यह ज्ञानियों फौजी और राज-प्रबन्धकों तथा मजदूरों को छोड़कर शेष समस्त जन समाज वा प्रजा के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार पशुपालक, कृषक, लेन देन करने वाले और सब प्रकार का वाणिज्य व्यवसाय करने वाले, कारखानों के मालिक, आयात निर्यात आदि के प्रबन्ध और समस्त शिल्पी, कारीगर और शिक्षित श्रमजीवी लोग वैश्यों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिये वैश्यों की तुलना मनुष्य के उदर भाग से की गई है। अर्थात सिर भुजा और पांवों को छोड़कर मनुष्य शरीर के शेष भाग व धड़ के समान वैश्य हैं इस धड़ में केवल पेट, आंतें, जिगर, अथवा केवल पांच अङ्ग ही नहीं आते अपितु फेफड़े आदि श्वास संस्थान, हृदय आदि रक्त संचार संस्थान, गुर्दे, गुदा और प्रजनन इन्द्रियां आदि सब इस उदर के ही अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार वैश्यों के अन्तर्गत केवल पशु पालक किसान लेन देन करने

वाले और व्यापारी ही नहीं आते अपितु सभी कला, शिल्प और व्यवसायों के करने वाले आ जाते हैं जिनमें से कुछ के नाम ऊपर गिनाये गये हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि सब कारीगर, कलाकार और शिक्षित वा दक्ष मजदूर जैसे कि बढ़ई, राज, लुहार, सुनार, जुलाहे, रंगरेज और चमड़ा कमाने वाले वैश्यों में गिने जाने चाहियें, जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं। अन्तिम शूद्र, वे श्रमजीवी लोग हैं, जिनके अन्तर्गत घरेलू नौकर चाकर और समस्त अशिक्षित मजदूर आ जाते हैं जो समाज के सब अन्य लोगों की सेवा करते हैं और वे शूद्र मनुष्य शरीर के उन पावों के समान हैं जो कि समस्त देह को सम्हाले हुए उसको एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाते हैं।

डाक्टर भगवानदास की योजना की, जिसका वर्णन बाद में किया जायगा, आलोचना करते हुये श्री सम्पूर्णानन्द जी ने अपनी पुस्तक 'समाजवाद' के पृष्ठ ५५ और ५६ में यह प्रश्न उठाया है कि बहुत से मनुष्य ऐसे हैं कि जिनके पेशों से उनके वर्ण निश्चित करना कठिन होगा, और साथ ही कुछ उदाहरण भी उन्होंने दिये हैं, किन्तु वास्तव में यह प्रश्न उठता ही नहीं और उठता भी है तो इसका उत्तर सरलता से दिया जा सकता है। लेन देन करने वाले, पूंजीपति और कारखानों के प्रबन्धक जिन्हें उन्होंने उदाहरण रूप में उपस्थित किया है वे सब ऊपर लिखे अनुसार 'वैश्य' वर्ग में हैं, 'क्षत्रिय' वर्ग में नहीं। रेलवे कम्पनियों के कर्मचारी, चाहे वे उच्च श्रेणी के हों अथवा नीच श्रेणी के, वे सब भी वैश्य हैं। जमींदार भी स्पष्ट रूप से वैश्य हैं, मिलों के कर्मचारियों में से जो शिक्षित मजदूर नहीं हैं वे शूद्र और शेष सब वैश्य हैं। वास्तविक बात यह है कि वे सभी मनुष्य जो स्पष्ट रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्रों के अन्तर्गत नहीं आते वे सभी वैश्य नामक व्यापक वर्ग में गिने जाने चाहियें, 'सर्व' अर्थ वाला 'विश्व' शब्द भी उसी धातु से बना है जिससे कि वैश्य बना है। कोई मनुष्य अपने अनेक पेशों के कारण एक मुख्य वर्ग से अधिक वर्गों वा वर्णों में भी गिना जाय तो कोई हानि नहीं है। ऐसे मनुष्यों का ठीक ठीक वर्ण वही माना जायगा तो उनमें सर्वोच्च होगा और उस दशा में जबकि वर्ण पेशों के आधार पर होंगे तो जन्म मूलक जाति भेद का प्रश्न ही नहीं उठ सकेगा।

जन्म परक जाति भेद का कोई आधार ही नहीं है—

यदि उपर्युक्त मन्त्र को ठीक ठीक समझ लिया जाय तो वास्तव में उसमें ऐसी कोई भी बात नहीं है जो कि यह आज्ञा देती हो कि पूर्वोक्त वर्ण और पेशों में कोई भी जन्म परम्परा के आधार पर हो। यह हो सकता है, जैसा कि प्रायः होता भी है कि कोई लोग अपने पिता के ही पेशे को ग्रहण कर लेवे। किन्तु उसे ऐसा करने के लिये न तो युक्ति और न वेद शास्त्र ही वाधित करते हैं कि वह अपने पिता का ही पेशा करे। वास्तव

में वह अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार चाहे जो पेशा करने के लिये स्वतन्त्र है। वर्ण शब्द ही वरण या पसन्द करने अर्थ वाली 'वृ' धातु से बना है।

वर्ण व्यवस्था केवल गृहस्थों पर लागू होती है—

यह स्मरण रखना चाहिए कि वर्णों का यह वर्गीकरण केवल गृहस्थों पर ही लागू होता है क्योंकि धनोपार्जन केवल गृहस्थाश्रम में ही किया जाता है। ब्रह्मचारी अथवा विद्यार्थी और वानप्रस्थी तथा सन्यासी कोई धनोपार्जन का कार्य नहीं कर सकते उनका पालन पोषण गृहस्थियों द्वारा ही होता है। उन प्रथम तीन आश्रमों के मनुष्यों की वृत्ति अथवा आजीविका के लिये कोई प्रथक पेशा नहीं है। अतः उनका कोई वर्ण भी नहीं है। मनु जी ने कहा है:—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः प्रृथगाश्रमाः ॥६॥८७॥
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्त्ति हि ॥६॥८६॥

"ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी, ये प्रथक २ चारों ही आकाम गृहस्थ पर अवलम्बित हैं। इन सभी वेद शास्त्र विहित आकामों में गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि शेष तीनों आश्रमों का भरण वही करता है।

ज्ञान, बल और धन का तुलनात्मक महत्व—

उपर्युक्त वैदिक वर्ण व्यवस्था में प्रथम और सर्वोच्च स्थान ज्ञान और सदाचार को दिया गया है, द्वितीय स्थान शक्ति अथवा शारीरिक बल को, और धन अथवा ऐश्वर्य को केवल तीसरा दर्जा दिया गया है। यही सबसे अधिक युक्तियुक्त और स्वाभाविकता है। क्या इस मनुष्य शरीर में ही नहीं देखते कि सिर अथवा मस्तिष्क को जिसमें ज्ञान की इन्द्रियां हैं उसे शरीर के सबसे ऊपर स्थान दिया गया, उसके पश्चात् बल व शक्ति के प्रतीक रूप बाहु आते हैं और फिर धड़ का स्थान है जो धन का प्रतिनिधि है, और सबसे अन्त में पांव आते हैं जो समस्त शरीर को चलाते हैं और सेवा के चिन्ह स्वरूप हैं। और भी स्पष्ट यूं कहा जा सकता है कि ज्ञान मन से सम्बन्ध रखता है, बल शरीर से, और धन शरीर से भी बाहर की वस्तु है।

धन को प्रधानता देने के दुष्परिणाम—

न केवल भारत में अपितु समस्त संसार में मानव समाज जिन बुराइयों में फंसा हुआ है उनका एक मुख्य कारण यह है कि धन ने मनुष्य समाज का सब बातों में अनुचित रूप से सर्वोच्च स्थान ले लिया, और यह एक बड़ी खेदजनक बात है, किसी देश में शासन का चाहे जो भी स्वरूप हो, चाहे राजतन्त्र, अथवा सभाधीन राजतन्त्र हो, चाहे

गणतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र हो, सर्वत्र सब मामलों में धन अथवा शैली का ही साम्राज्य है। प्रजातन्त्र राज्यों तक में भी पार्लियामेंटरी सभाओं के लिये सम्मति देने वालों पर धनी लोगों का नियन्त्रण रहता है और वे ही उन्हें नचाते हैं, इस प्रकार शासन का वास्तविक सूत्र धनियों व पूंजीपतियों के हाथ में रहता है, इन्हीं कारणों से समाजवादी लोग पूंजीवाद और पूंजीपतियों के इतने विरोधी हैं।

अन्य शास्त्र भी जन्म मूलक जाति भेद का विरोध करता है–

वेद जाति भेद की आज्ञा नहीं देते यह दर्शाने के लिये हमने अभी तक केवल एक वेद मन्त्र (ऋग्वेद १०।६।११) ही प्रमाण रूप से दिया है अब इस दूसरे धर्म शास्त्रों से भी कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं। मनु जी स्पष्ट कहते हैं:—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जात मेवन्तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च ।। मनु।।१०।६५

"एक शूद्र ब्राह्मणपने तक उठ सकता है और एक ब्राह्मण शूद्रपने तक गिर सकता है और इसी प्रकार क्षत्रिय माता पिता अथवा वैश्य माता-पिता से उत्पन्न हुआ भी (अपने कर्मानुसार) ऊंचा उठ सकता है। अथवा नीचे गिराया जा सकता है"
मनु० १०।६५।।

नीचे महाभारत और अन्य ग्रन्थों के भी कुछ प्रमाण दिये जाते हैं:—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्व सृष्टं हि कर्मणा वर्णतां गतम् ।। (महाभारत शान्तिपर्व)

"जातियों का कोई भेद नहीं, यह सारा जगत् परमात्मा का बनाया हुआ है। प्रथम परमात्मा से बनाये जा चुकने के बाद फिर अपने अपने कर्मानुसार वर्णों और वर्गों में यह विभक्त हो गया।" (महाभारत, शान्तिपर्व)

न कुलेन न जात्या वा क्रियाभि र्ब्राह्मणो भवेत् ।
चाण्डालोऽपि हि वृत्तस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर५।।

"कुल अथवा जन्म से नहीं बल्कि कर्मों से ही कोई मनुष्य ब्राह्मण बनता है। हे युधिष्ठिर एक चाण्डाल भी यदि वह अच्छी चाल चलन वाला है तो ब्राह्मण है।"

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव वा ।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः ।। (शुक्र नीति)

"जन्म से कोई मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शुद्र और म्लेच्छ नहीं होता। बल्कि गुण और कर्मों से ये विभाग होते हैं।" (शुक्र नीति)

इस विषय की विस्तृत विवेचना के लिये पाठकगण लेखक की पुस्तक 'जाति भेद' के प्रथम अध्याय को पढ़ें।

डाक्टर भगवानदास कृत "Ancient verses Modern Scientific Socialism" (अर्थात् प्राचीन तथा वर्तमान सामाजिक विज्ञानवाद)

डाक्टर भगवानदास जी ने जो संस्कृत के एक सुप्रसिद्ध और गंभीर विद्वान हैं और जिन्होंने मनुस्मृति का विशेष रूप से आलोचनात्मक अध्ययन किया है, अपनी अत्युत्तम ग्रन्थ "Ancient verses Modren Scientific Socialism" में यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि मनु ने जिस वर्णाश्रम की शिक्षा दी है "वह सारी मनुष्य जाति के लिये वैयत्मिक और सामाजिक जीवन का उत्तम आधार हो सकता है।" उनकी सम्मति है कि वर्तमान समाजवाद और साम्यवाद वा वालशविज्म में भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जो मनु के सिद्धान्तों के बिल्कुल अनुकूल हैं, उसमें से निकाली जा सकती हैं और यहां तक कि कुछ बातें स्थायी रूप से मनु के सिद्धान्तों के आधार पर ही होना संभव है जैसा कि, "नियमत कृषि तथा उद्योग का उत्पादन, लाभ का विचार छोड़कर उपयोग और विभाग के लिये उत्पादन, नियमित सन्तान का उत्पादन, और सन्तान तथा प्रसूता की रक्षा का सुप्रबन्ध, नियमित देश रक्षा, मनुष्य संख्या का नियमित विभाग, नियमित चिकित्सा का प्रबन्ध इत्यादि २" (पृष्ठ ६) परन्तु उक्त ग्रन्थ कर्त्ता ने वालशविज्म में कुछ बड़े भयंकर दोष दिखलाये हैं जिनका हम आगे वर्णन करेंगे।

वर्णों के पृथक् अधिकार—

डा० भगवानदास जी ने अपने ग्रन्थ में मनु की वर्ण व्यवस्था के अनुसार समाज के प्रबन्ध के लिये एक अच्छी पूर्ण योजना दिखलायी है। उनका कहना है कि न्याय तथा कानून बनाने का कार्य "ब्राह्मण योग्यता के मनुष्य को सौंपना चाहिये और वह शासक वर्ग अर्थात् क्षत्रिय के आधीन नहीं होना चाहिये" उनकी सम्मति में ब्राह्मण वा क्षत्रिय को अधिक वेतन नहीं मिलना चाहिये और न उसको धन जोड़ना चाहिये। ब्राह्मण को उच्चतम प्रतिष्ठा से ही सन्तुष्ट रहना चाहिये और क्षत्रिय को राज्य अधिकार वा शासन अधिकार से ही सन्तुष्ट रहना चाहिये। यह ठीक है कि दोनों ही को जीवन की सामग्री उदार मात्रा में मिलनी चाहिये। धन जोड़ने का अधिकार केवल वैश्य को है। वैश्य के लिये भी कुछ परिमाण नियत होना चाहिये और उससे ऊपर जो कुछ वह बचावे या जोड़े, वह यदि सरकारी खजाने में दाखिल न किया जावे तो यह समझना चाहिये कि "वह सार्वजनिक कार्यों में नियमानुकूल खर्च किये जाने के लिये धरोहर रूप है। उसको यह बड़ा सन्तोष होना चाहिये कि वह एक सर्वोपकारी कार्य में एक साधन रूप बना और उसके कारण तथा उसके बदले में उसे सरकार तथा जनता से सम्मान और प्रतिष्ठा की प्राप्ति हुई।" (पृष्ठ १२२)

डा० भगवानदास जी ने इस प्रकार केवल ब्राह्मण के लिये पूर्ण प्रतिष्ठा, केवल

क्षत्रिय के लिये पूर्ण राज्य शक्ति या शासनाधिकार, केवल वैश्य के लिये अधिकतम धन और शूद्रों के लिये हार्दिक आमोद प्रमोद। उन्होंने इसे विलासिल का बटवारा बतलाया है और लिखा है कि जहां तक संभव हो, ये विलासितायें एक दूसरे से अलग रहनी चाहियें।

ये विचार मनु तथा प्राचीन वैदिक संस्कृति के सर्वथा अनुकूल है जिनके अनुसार ब्राह्मण को तपस्या और त्याग का जीवन धारण करना पड़ता था जिससे वह विद्या और ज्ञान की अधिक प्राप्ति कर सके और क्षत्रिय को शासन का अधिकार होते हुये भी ब्राह्मण का विरोध करने का साहस नहीं होता था।

इस युग में जैसा हम कह चुके हैं धन को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है और बल तथा विद्या भी उसकी दासी समझी जाती है इसलिये पूर्व लिखित विचार बहुत से लोगों को आश्चर्यजनक अव्यवहारिक और अयुक्त प्रतीत होंगे। डा० भगवानदास जी ने ठीक ही लिखा है कि 'एक ही मनुष्य से पूर्ण प्रतिष्ठा अधिकार और धन को इकट्ठा होने से उसमें अहंकार और दुराग्रह बढ़ेगा और शासक वर्ग में इन सबके इकट्ठा होने से उनमें एकाधिकार, अन्याय और जनता की मांगों के प्रति तिरस्कार बढ़ेगा।

वेतन की मात्रा का सुझाव–

यह उल्लेखनीय बात है कि डा० भगवानदास जी ने उक्त चार वर्णों या समुदायों (Guilds) के लिये परीक्षा रूप से एक वेतन की सूची भी सुझाई है जो इस प्रकार है:—

(१) शूद्र अर्थात् अशिक्षित श्रमियों (Unskilled labourers) के लिये दस से पच्चीस रुपये मासिक तक मजदूरी (wages) शिक्षित शिल्पी या हाथ से काम करने वाले (skilled manual workers) के लिये एक सौ रुपये मासिक तक मजदूरी (wages)

(२) ब्राह्मण अर्थात् विद्या सम्पन्न मनुष्यों के लिये २५०) रुपये मासिक तथा पुरस्कार (Honoraria)

(३) क्षत्रिय अर्थात् शासक वर्ग के लिये ५००) रुपये मासिक तक वेतन (Salaries)

(४) वैश्यों अर्थात् व्यापारी तथा व्यवसायी मनुष्यों के लिये ५०००) से १००००) रुपये मासिक तक लाभ (Profits)

भाग २–'वर्तमान समाजवाद'

समाजवाद और साम्यवाद का लक्षण–

Encyclopaedia Britanica (ब्रिटिश विश्व कोष) में (Socialism) समाज वाद का लक्षण इस प्रकार किया गया है कि एक ऐसी नीति या योजना जिसका उद्देश्य (Democratic Authority) प्रजातन्त्र शासक के कार्य द्वारा वर्तमान अवस्था की

अपेक्षा अधिक मात्रा में धन का उत्पादन तथा उसका विभाजन हो"। लेखक ने इस बात को स्वीकार किया है कि इस लक्षण के अन्तर्गत ये सारी योजनायें नहीं आ सकतीं जो समाजवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। वर्तमान समय में लाखों मनुष्यों के विचार समाजवाद जैसे हैं यद्यपि वे उसका लक्षण नहीं जानते और न अपने मत को ही निश्चय रूप से बतला सकते हैं। बहुत से लोग समाजवाद को इसलिये अच्छा समझते हैं कि उन्हें दीनों से सहानुभूति है। साम्यवाद (Communism) समाजवाद की पराकाष्ठा को कहते हैं। उसका लक्षण इस प्रकार किया गया है कि सामाजिक संगठन की ऐसी योजना जिसका आधार यह हो कि किसी भी मनुष्य के पास निजी सम्पत्ति न हो और सारी सम्पत्ति समाज की ही समझी जावे। समाजवाद के अन्य रूपों की अपेक्षा यह अधिकतर काल्पनिक है। बीसवीं शताब्दी के समाजवादियों में बहुत कम ऐसे हैं जिनकी यह मांग हो कि सारी सम्पत्ति समाज को दे दी जावे। उनकी मांग यह है कि केवल भूमि, बड़े २ कारखाने और अधिक मात्रा में उत्पादन करने के साधन और सामग्री राष्ट्र की सम्पत्ति होनी चाहिये। मुख्य उद्देश्य यह है कि जो संपत्ति अब केवल थोड़े से मनुष्यों के उपयोग में आती है वह सार्वजनिक लाभ में परिवर्तित की जावे। दीनों की अति दीन दशा और पूंजीपतियों की अति विलासता और धनाढ्यता में जो बहुत अन्तर आजकल पाया जाता है, वही इस समाजवादी विचारों का आधार तथा मूल है।

Marx and Engels मार्क्स और एञ्जिल्स का वैज्ञानिक समाजवाद–

आजकल जो "वर्तमान वैज्ञानिक समाजवाद" कहलाता है उसका आरम्भ कार्ल मार्क्स और एञ्जिल्स से हुआ, जो एक ही समय में हुये और मिलकर ही कार्य करते थे। वे दोनों ही जन्म से जर्मन जाति के थे और १९ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुये। उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे जिनमें डासकेपिटल (Daskapital by Marx) मार्क्स कृत और (Joint Manifesto) जौइंट मैनिफैस्टो मार्क्स तथा एञ्जिल्स लिखित अधिक प्रसिद्ध हैं। समाजवाद को अन्तर्जातीय रूप मार्क्स ने दिया और यह शिक्षा भी उसने दी कि वर्ग संघर्ष अथवा हिंसात्मक क्रान्ति इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये आवश्यक है।

रूस का बॉलशेविज़्म (साम्यवाद)–

जहां तक नीति व योजना का संबंध है समाजवाद के लिये मार्क्स और एञ्जिल्स अधिक प्रमाण माने जाते हैं। परन्तु उक्त नीति को बड़े पैमाने पर व्यवहार में लाने का कार्य रूस में सन् १९१७ ई० की क्रान्ति के पश्चात् समाजवादी लोकतन्त्र राज्यों के संगठन The Union of Soviet Socialist Republics अथवा U. S. S. R. की स्थापना होने पर Lenin लेनिन की अध्यक्षता में हुआ। जैसा कि स्वाभाविक तथा अनुभव से

पूर्वोक्त योजना में कई दोष व त्रुटियां पाई गईं और कुछ अंश तक स्वयं लेनिन को और मुख्यतः उसके उत्तराधिकारी अर्थात् रूस के वर्तमान शासक स्टालिन को बहुत से परिवर्तन करने पड़े जो वास्तविक व्यवहार में उपयोगी वा आवश्यक पाये गये। हम इनका वर्णन यथा स्थान आगे चलकर करेंगे। लेनिन Lenin ट्राट्स्की Trotsky क्यूरोपैटकिन Kuropatkin ने कई ग्रन्थ लिखे हैं वस्तुतः इस विषय पर एक बड़ा साहित्य बन गया है। बहुत से विद्वानों ने स्वयं रूस जाकर वहां के हाल लिखे हैं। उनमें बहुत बड़ा मतभेद और विरोध भी पाया जाता है। कुछ लेखकों ने रूस की दशा की बड़ी प्रशंसा की है और दूसरों ने उसकी कड़े शब्दों में निन्दा की है। इस बात में कुछ बड़ा आश्चर्य नहीं। डा० भगवानदास जी ने M. I. Cole की सम्पादित (Twelve Studies in Russia by Twelve Specialist Investigators) अर्थात् बारह विशेषज्ञों द्वारा इसका अध्ययन नामक पुस्तक से (जो सन् १६३३ ई० में छपी) बहुत उदाहरण दिये हैं और लिखा है कि यह पुस्तक देखने मात्र से विश्वास के योग्य पाई जाती है"। दूसरी पुस्तक जिसमें से उन्होंने बहुधा उद्धरण दिये हैं (Maurice Hindus) मारिस हिण्डस कृत (The Great Offensive) दी ग्रेट आफैन्सिव है, जो सन् १६३३ ई० में छपी और उसकी लिखी दूसरी पुस्तक (Humanity Uprooted) ह्यूमैनिटी अपरूटिड भी है। हिन्दी भाषा में इस विषय पर एक उत्तम पुस्तक "समाजवाद" नामक श्री सम्पूर्णानन्दजी ने लिखी है जो गत कांग्रेसी मंत्री मंडल में युक्त प्रान्त आगरा व अवध के शिक्षा मंत्री थे। यह पुस्तक सन् १६३६ ई० में प्रकाशित हुई है।

वैदिक समाजवाद–

डा० भगवानदास का उद्धरण देते हुये यह लिखा जा चुका है कि "समाजवाद" और बालशेविज्म में कई अच्छी बातें मनु के बिल्कुल अनुकूल हैं और मनु के आधार पर भी हैं। हम ऋग्वेद के एक मंत्र का भी प्रमाण देते हैं:—

"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सम्भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वयां रुद्र एषाम सुदुधाः पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः"॥ ऋग ५।६०।५॥

अर्थ सब मनुष्य परस्पर भाई हैं उनमें कोई बड़ा या छोटा नहीं वे सौभाग्य के लिये परस्पर मिलकर बढ़े उनका पिता रुद्र अर्थात् जो दुष्टों को दण्ड देने वाला और संसार का शासक है, उनकी माता प्रकृति या पृथ्वी है जो उनको सब प्रकार के भोज्य पदार्थ तथा सुख की सामग्री देने वाली है।

किसी और धर्म के साहित्य में सारी मनुष्य जाति के भ्रातृ-भाव और समानता का सूचक वचन इससे अधिक स्पष्ट और ओजस्वी शब्दों में नहीं मिलेगा और यह मनुष्य जाति का भ्रातृ-भाव ही सच्चे समाजवाद का आधार हो सकता है।

बालशेविज्म के तीन बड़े दोष–

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है बालशेविज्म या वर्तमान् साम्यवाद में कुछ बड़े दोष हैं। डाक्टर भगवानदास जी ने Hindus कृत (The Great Offensive) 'दि ग्रेट औफेन्सिव' का नीचे लिखा हुआ उद्धरण देते हुये बालशेविज्म साम्यवाद के तीन भारी दोषों का वर्णन किया है :—

"धर्म, निज, सम्पत्ति, व्यापार और परिवार, जो अब तक मनुष्य जगत् की आधारभूत संस्थायें रही हैं — वे वर्तमान रूस में तीन मुख्य धूर्त्त वा विदुषक हैं — सोवियट रूस ऐसे आश्चर्यकारी और भयंकर मनुष्यों को उत्पन्न कर रहा है जिनके लिये धर्म, अर्थ (वा सम्पत्ति) स्वतन्त्रता, घर और परिवार आदि प्राचीन परिचित शब्द निरर्थक होते जाते हैं और जिनके शरीर और मन का केवल एक ही ध्येय है कि नवीन समाज के उद्देश्यों और आदेशों की सेवा करें।"

वैदिक धर्म के अनुसार मनुष्य जीवन के चार मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। इनमें से तीन अर्थात् धर्म, अर्थ (वा सम्पत्ति) और काम वा विवाह) को ऊपर लिखे अनुसार निन्दित ठहराया गया है। इसलिये यह विषय बड़े महत्त्व का हो जाता है और हम ऊपर लिखे तीन दोषों में से प्रत्येक का अलग अलग विवेचन करेंगे।

धर्म से विरोध–

मनुष्य की आत्मा के लिये धर्म उतना ही आवश्यक है जितना कि भोजन उसके शरीर के लिये। धर्म का भाव मनुष्य में स्वाभाविक है और किसी प्रकार उन्मूलन नहीं किया जा सकता। धर्म के विकृत रूप या दुरुपयोग, रूढ़ीवाद, पुरोहितवाद आदि की चाहे जितनी निन्दा की जावे परन्तु धर्म को उनके साथ नहीं लपेटना चाहिये। महात्मा बुद्ध और ईसा से लेकर जितने बड़े धार्मिक सुधारक हुये हैं वे सब सच्चे समाजवादी थे, जिन्होंने धन के अत्यधिक अनुचित संग्रह की निन्दा की। डा० भगवानदासजी ने ठीक लिखा है "सच्चे समाजवाद का आधार अवश्य सच्चा धर्म ही है।

.... मनुष्य जाति के भ्रातृ-भाव के बिना समाजवाद संभव नहीं और सारी मनुष्य जाति के एक पिता परमेश्वर के माने बिना मनुष्य जाति का भ्रातृभाव संभव नहीं" (पृष्ठ २६) ऋग्वेद ५।६०।५) का जो मंत्र दिया गया है उसमें भी यही कहा गया है कि ईश्वर को पिता रूप से मानना ही मनुष्य जाति के भ्रातृ-भाव और समानता का सच्चा आधार है।

रूस में धर्म से विरोध के विशेष कारण—

बालशेविक रूस में जो धर्म से घोर विरोध किया गया उसके कुछ विशेष कारण थे। सन १९०७ ई० की क्रान्ति से पहिले रूस योरुप में सब से अधिक पिछड़ा हुआ

और दलित राज्य था और प्रजा के राजनैतिक अधिकार वास्तव में कुछ नहीं थे। रूस का सम्राट ज़ार जिससे प्रजा घोर असन्तुष्ट थी, केवल राष्ट्र का स्वामी ही नहीं था किन्तु रूस के धर्म का भी मुख्य अध्यक्ष था, जो पोप से सर्वथा स्वतन्त्र था। इसलिये ज़ार के शासन से जितनी प्रजा असन्तुष्ट थी उतनी ही वह रूस के धर्म से भी असन्तुष्ट हो गई। अतः क्रान्ति की सफलता के बाद जब क्रान्तिकारी नेताओं ने ज़ार और उसके छोटे बालकों सहित उसके सारे परिवार की क्रूरता के साथ हत्या की तो उन्होंने पादरियों और गिरजाओं के साथ भी बुरा व्यवहार किया। समय के बीतने से और अनुभव के बढ़ जाने से यह कटुता धीरे धीरे कम होती गयी। सोवियट रूस में अब भी कोई राष्ट्र का धर्म नहीं माना जाता, न कोई सहायता दी जाती है, न राज्य के वा अन्य सार्वजनिक स्कूलों में कोई धार्मिक शिक्षा दी जाती है। परन्तु उसकी वर्तमान नीति यह है कि किसी धर्म के साथ हस्तक्षेप न किया जावे और जनता अपनी श्रद्धा और विश्वास के साथ जिस प्रकार चाहे पूजा करे। एक ऐसे राष्ट्र के लिये जो बहुत से धर्मों के मानने वालों पर शासन करता हो, यही उचित और न्याययुक्त मार्ग हो सकता है। सोवियट संगठन (Soviet Union) में लगभग १५ प्रजातन्त्र (Republic) राज्य सम्मिलित हैं उनमें से ५ या ६ ऐसे हैं जिनमें मुसलमानों की संख्या अधिक है। परन्तु उनमें से किसी को अथवा किसी अन्य राज्य को जिसमें कोई दूसरा मत माना जाता है, धर्म में हस्तक्षेप की कोई शिकायत नहीं। वर्त्तमान विश्व युद्ध में रूस की सब प्रकार के धर्मों की मानने वाली प्रजा ने जर्मन सेनाओं के विरुद्ध जो अनुपम आदर्श रूप वीरता दिखलायी और अब भी दिखला रही है इस से यह बात भली प्रकार सिद्ध है कि रूस की प्रजा में कोई असन्तोष नहीं।

विवाह से विरोध—

परिवार और विवाह की प्रथा सभ्य जीवन के मूल आधार पर है। डा० भगवान दास जी ने जो शब्द इस विषय में लिखे हैं वे ऐसे सुन्दर हैं कि हम उनका अनुवाद नीचे विस्तार सहित लिखते हैं :—

"प्रत्येक घर एक धार्मिक रसायनशाला है और प्रत्येक बालक उसका एक शक्तिशाली मन्त्र है। इनका उद्देश्य है कि एक स्वार्थलीन पशु समान पुरुष को तथा एक पशुसमान स्त्री को स्वार्थ त्यागी पिता तथा माता के रूप में परिवर्त्तित किया जावे, जो सर्वोत्तम तथा सर्वोच्च समाजवाद के भाव से परस्पर सहायता करते हुये नवीन सन्तति और उसके द्वारा सारे मनुष्य समाज को लाभकारी सिद्ध हो। ....

.... स्त्री की प्रतिष्ठा इसलिये नहीं करनी चाहिये कि वह स्त्री और पत्नी है, पुरुष की प्रतिष्ठा इसलिये नहीं होनी चाहिये कि वह पुरुष और पति है, किन्तु उन दोनों की

प्रतिष्ठा इसलिये है कि वे माता और पिता हैं। ... ...

... ... ईश्वर जगत का पिता है प्रकृति जगत की माता है। मनुष्य उनका पुत्र है इससे जगत का परिवार बनता है। जो मनुष्य के हृदय के लिये सबसे अधिक प्यारा और निकटतम है। ... ...

... ... परिवार समाज का मूल आधार है। परिवार गृह सच्चे समाजवाद का प्रथम और सर्वोत्तम शिक्षालय है। बिना परिवार की शिक्षा के यह संभव नहीं कि कोई मनुष्य अपने आराम, स्वास्थ्य तथा आवश्यकता पड़ने पर जीवन तक का किसी दूसरे के लिये त्याग या बलिदान करे।" समाजवाद का सिद्धान्त है—

"प्रत्येक मनुष्य को उसकी आवश्यकता के अनुसार देना चाहिये और प्रत्येक मनुष्य से उसकी सामर्थ्य के अनुसार काम लेना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति समाज के लिये है और समाज प्रत्येक व्यक्ति के लिये है। To all according to their needs; from all according to their capacities. Eeah for all, All for each." संयुक्त परिवार में समाजवाद के ये मुख्य सिद्धान्त निहित हैं और इन्हीं के आधार पर संयुक्त परिवार में व्यवहार होता है। विवाह व परिवार की प्रथा को उन्मूलन करना या निर्बल करना मनुष्य जाति और समाजवाद को ही उन्मूलन करना या निर्बल करना है।

"पृष्ठ ५८ से ६० तक"

विवाह के विषय में भी रूस के वालशेविक समाजवादियों ने अनुभव से बहुत कुछ सीखा है। कहा जाता है कि क्रान्ति के थोड़े समय पीछे ही लैनिन को वालशविक युवकों के कामचार के कुत्सित दृश्यों से ऐसी घृणा हुई कि उनको तलाक के नियमों में कुछ रोक लगानी पड़ी। श्री सम्पूर्णानन्द ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ २४८—२४६ पर इस विषय का हवाला देते हुये लिखा है कि रूस में अब भी ऐसे यत्न किये जा रहे हैं कि जिनसे रूस में गृह और परिवार के सम्बन्ध दृढ़ हो सकें और तलाकों की संख्या कम हो जाये।' वे यह भी लिखते हैं कि समाजवाद के असली उद्देश्य स्त्री को पुरुष के बन्धन से मुक्त करना है और बालकों की शिक्षा को माता पिताओं से छुड़ाकर राष्ट्र के हाथ में सुपुर्द करना है। ये दोनों उद्देश्य उस वर्णाश्रम धर्म के बिल्कुल अनुकूल हैं जिसकी शिक्षा मनु और वेदों में दी गई है।

निजी सम्पत्ति—

पिछले पैरा से यह सिद्ध है कि सभ्यता के जीवन और सच्चे समाजवाद के लिये विवाह और परिवार का होना नितान्त आवश्यक है। परिवारिक जीवन के लिये उचित मात्रा में निजी सम्पत्ति का होना भी बहुत आवश्यक है। समाज की वर्त्तमान दशा में जो बात वास्तव में निन्दनीय है वह है दीनों और धनिकों के बीच का अत्यन्त ऐसा महान्

अन्तर और यही कारण है कि उग्र समाजवादी ऐसी असम्भव और महा अयुक्त मांग करते हैं कि निजी सम्पत्ति का बिल्कुल बहिष्कार किया जाय और सब मनुष्यों के बीच जीवन की आवश्यक सामग्री और काम बांटने में पूरी समानता रखी जावे। ठीक उपाय तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताओं का और जो काम उसको करना है उसके स्वरूप का विचार करके समाज तथा राष्ट्र की सम्पत्ति का ऐसा विभाग किया जावे जो उचित और न्याययुक्त हो, न कि पूरी समानता का विभाग कि जो संभव ही नहीं। ऐसे प्रजातन्त्र राष्ट्र भी जो समाजवाद को नहीं मानते, ऐसे न्याययुक्त विभाग की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं और उसको कार्य में लाने का यत्न कर रहे हैं। दृष्टान्त के लिये उन मृत्यु कर तथा उत्तराधिकार कर (Death duties and Succession duties) को देखिये कि जो बहुत से देशों में लग चुके हैं जिनसे एक धनिक या पूंजीपति के मरने पर छोड़े हुये धन का अच्छा भाग सरकारी खजाने में चला जाता है और एक समुचित भाग उसके पुत्रों वा उत्तराधिकारियों के लिये रह जाता है। दीनों और धनिकों के बीच इस समय जो महान् अन्तर है वह इतना है कि उसकी विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं, तो भी भारत के सम्बन्ध में कुछ मोटी मोटी बातों का लिखना उचित ही है। भारत में एक मनुष्य की औसत आय (जिसमें अधिक से अधिक दीन और धनिक दोनों सम्मिलित हैं) इस समय ७ या ८ पाई प्रतिदिन अर्थात् लगभग चार आना मासिक कही जाती है। इसीलिये अधिकतर दीनों की आय और भी कम हो गई है। यह बात सुप्रसिद्ध है कि भारतवर्ष में करोड़ों मनुष्यों को प्रतिदिन एक समय भर पेट भोजन भी नहीं मिलता न पहनने को कपड़े वा रहने को घर ही नसीब है। इसके विपरीत ऐसे मनुष्य भी हैं जो १०००) एक हजार रुपये से ५०००) पांच हजार रुपये मासिक तक वेतन पाते हैं, ऐसे वकील और डाक्टर हैं जिनकी आय ऐसी ही अधिक है और व्यापारी लोग हैं जिनकी आमदनी लाखों रुपये तक पहुँचती है। धन का इतना असमान विभाजन अन्याय युक्त ही है और उसमें अवश्य सुधार होने की आवश्यकता है।

पूर्ण समानता असम्भव है—

यदि कोई समाजवादी सब मनुष्यों के लिये धन और कार्य की पूर्ण समानता की मांग करे तो वह मांग बिल्कुल न्यायहीन, अस्वाभाविक और बहुत ही अनुचित और असम्भव ही होगी। ऐसी मांगें न्यायहीन और अस्वाभाविक इसलिये हैं कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को एक जैसा नहीं बनाया। जब मनुष्य उत्पन्न होते हैं तो उनकी आत्माएं नयी नहीं पड़ जातीं। वे अपने पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार अपने पूर्व संस्कारों को साथ लाते हैं जिनके कारण उनके गुण, स्वभाव और योग्यता में बहुत भेद होता है। एक

बालक की जन्म से ही जड़ बुद्धि हो वह परिश्रम और उद्योग से कुछ अंश तक अवश्य अपनी उन्नति कर सकता है परन्तु ऐसे मनुष्य की समानता कभी नहीं कर सकता कि जो जन्म से ही तीव्र बुद्धि है। मनुष्यों के गुण और कर्मों के भेद का एक मुख्य कारण उनकी आदतें व अभ्यास भी हैं। कुछ मनुष्य आलसी होते हैं। दूसरे परिश्रमी होते हैं, कोई कोई फिजूल खर्च होते हैं दूसरे मितव्ययी होते हैं। इन भेदों की उपेक्षा करके सब मनुष्यों के साथ एक सा व्यवहार करना और उनकी जीवन की आवश्यकता और आमोद प्रमोद की सामग्री बिल्कुल समान मात्रा में देना महान् अन्याय करना होगा।

पूर्वोक्त पूर्ण समानता अनुचित भी होगी क्योंकि यदि सब अच्छे बुरे और मध्यम योग्यता के मनुष्यों के साथ एक समान व्यवहार किया जावे तो किसी मनुष्य के लिये अच्छा काम करके दिखलाने अथवा अधिक मात्रा में काम करके दिखलाने का कोई प्रोत्साहन नहीं रहेगा और इससे समाज की उन्नति में विशेष बाधा पड़ेगी।

पूर्ण समानता असम्भव भी है जैसा कि रूस के बालशेविस्ट ने वास्तविक अनुभव से मालूम कर लिया है। उन्होंने पहिले ऐसी समानता रखने का यत्न किया पर कर नहीं सके। हिण्डस (Hindus) ने अपने 'दि ग्रेट आफैन्सिव' के पृष्ठ २८० पर लिखा है कि "रूस के क्रान्तिकारी अब वेतन की समानता पर बल नहीं देते किन्तु असमान वेतन अथवा असमान रहन सहन को स्वीकार करते हैं" रूसी सोवियट समय समय पर प्रजा से कर्जा लेती है। (समाचार पत्रों की रिपोर्टों से ज्ञात हुआ कि ३½ मिलियर्ड रुबल ... . का कर्जा अप्रैल १९३४ ई० में लिया गया) । इससे स्पष्ट है कि रूस के नागरिक अपने जोड़े हुये निजी धन में से कर्जा देते हैं और राष्ट्र से ब्याज पाते हैं। Twelve Studies in Russia (के पृष्ठ ७१, ७२, ९०, ९१ और २३१ से २७० तक) का हवाला देते हुये डा० भगवान दास जी लिखते हैं 'बालशेविज्म में भी यद्यपि वह अपने आर्थिक समानता के सिद्धान्त की ढौंडी पीटता है परन्तु आय और वेतनों में भेद रखना पड़ा है जो कम्यूनिस्ट (communists) और प्रोलिटेरियन (Proletarian) की श्रेणियों में ४५ से १५०० रुबल मासिक तक है।' (पृष्ठ १२, १३) यह लगभग उतना ही भेद है कि जितना डा० भगवान दास जी की सुझाई हुई वेतन की सूची में है।

रूस में अब कुछ अंश तक निजी सम्पत्ति रखने की आज्ञा है। श्री, सम्पूर्णानन्द ने अपने पुस्तक "समाजवाद" के अध्याय १२ में इस पर बहस की है और नीचे लिखी वस्तुओं को निजी सम्पत्ति के रूप में रखे जाने की आज्ञा होनी बतलाई है। भोजन, वस्त्र पढ़ने की पुस्तकें, वाद्य यंत्र, पलंग, बिस्तर, कुरसी व मेज, लैम्पादि बाईसिकल, मोटर और घोड़ा। घर के विषय में उन्होंने कुछ मत-भेद होना लिखा है। नकद के विषय में उतना रखने की आज्ञा है जो आवश्यक वस्तुएं खरीदने के लिये चाहिये परन्तु पूंजी के रूप में रखने की या लगाने की आज्ञा नहीं।

साम्यवाद के कुछ अन्य दोष—

एक वर्ग विहीन राष्ट्र (A classless state) समाजवाद और साम्यवाद में कुछ और त्रुटियां हैं जिनका वर्णन किया जाता है। संसार में किसी न किसी रूप में वर्ग संघर्ष सदा से चला आया है। समाजवादी कहते हैं कि उनका उद्देश्य है एक जाति विहीन राष्ट्र अर्थात् प्रोलिटेरियन्स (Proletarians) का राष्ट्र उत्पन्न करके इस वर्ग संघर्ष का अन्त कर देवें, क्योंकि वर्ग संघर्ष कई वर्गों के होने से ही होता है। उनको वालशेविक रूस में इस विषय में सफलता नहीं हुई क्योंकि वहां इस समय कम से कम तीन वर्ग हैं। (१) कम्युनिस्ट जिनके नाम रजिस्टरों में दर्ज हैं जो शासक वर्ग (क्षत्रिय) मरते जाते हैं और जिनकी संख्या लगभग २% प्रतिशतक है। (२) प्रोलिटेरियन्स जिनमें हाथ से काम करने वाले और बुद्धि से काम करने वाले शामिल हैं (वैश्य और ब्राह्मण) जिनकी संख्या लगभग १०% प्रतिशतक है। (३) मुजहिक या किसान जिनमें कृषक, पशुपालक और अन्न के व्यापारी शामिल हैं (वैश्य और शूद्र) जिनकी संख्या लगभग ८५% प्रतिशतक है। थोड़ा समय हुआ उससे पूर्व मुजहिक वर्ग के सोवियट राष्ट्रों में बहुत कम प्रतिनिधि थे और कर लगाने में उनका कोई हाथ न था। डा० भगवानदास जी ने ठीक लिखा है जबकि रूस की सारी जनता प्रोलिटेरियन बन जायेगी तो यह स्वाभाविक ही है कि उनमें ये वर्ग पाये जायेंगे— (१) विद्या, कला और विज्ञापन सम्पन्न प्रोलिटेरियन। (२) प्रबन्ध और शासन की योग्यता रखने वाले प्रोलिटेरियन (३) अर्थ सम्बन्धी और व्यापार संबंधी योग्यता रखने वाले प्रोलिटेरियन। (४) हाथ से काम करने वाले प्रोलिटेरियन"।

विद्या, बल, धन और सेवा कार्य के प्रतिनिधि रूपी चार वर्ग या वर्ण वास्तव में हरएक समाज या देश के लिये ऐसे ही आवश्यक हैं जैसे कि सिर, बाहू, धड़ और पैर एक शरीर में आवश्यक हैं। ये हरएक देश में और हरएक समय में पाये जायेंगे। प्राचीन इंगलैंड में इनको पादरी (Clergy), भूस्वामी (Nobility), साधारण प्रजा (Yeomen) और दास वर्ग (Serfs) नामों से पुकारते हैं।

व्यक्तित्व का दमन—

वालशेविक रूस में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सर्वथा नहीं है और इस बात में वहां की दशा ऐसी ही है जैसे फासिस्ट देश की। फासिस्ट नेता व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विरोध का कोई छिपाव नहीं करते। मुसोलिनो का सिद्धान्त है (Everything within the State nothing outside the State, nothing against the State) अर्थात प्रत्येक वस्तु राष्ट्र के भीतर होनी चाहिये। राष्ट्र के बाहर तथा राष्ट्र के विरुद्ध कुछ नहीं।" इसी प्रकार लैनिन का सिद्धान्त था "The whole of society will become one

office and one factory" अर्थात् "सारा समाज एक कार्यालय और एक कारखाना हो जायगा।" इसमें यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस एक कार्यालय और एक कारखाने का एक ही मनुष्य अध्यक्ष या सर्वाधिकारी होगा, चाहे लैनिन या स्टालिन या कोई अन्य। यदि समाज या राष्ट्र एक पवित्र संस्था है तो व्यक्ति की पवित्रता भी कुछ कम नहीं और उसको भी नष्ट नहीं करना चाहिये। व्यक्तियों से ही समाज बनता है। यदि व्यक्तित्व का दमन किया जाये तो समाज को भी अवश्य हानि पहुंचेगी।

राष्ट्र की आवश्यकता—

मार्क्स और एञ्जेल्स की शिक्षा के अनुसार "जब वर्ग नहीं रहेंगे तो राष्ट्र भी नहीं रहेगा क्योंकि उस अस्तित्व का मूल कारण जाता रहेगा और वह सूख जायेगा।" (लस्की कृत "कम्यूनिज्म" पृष्ठ १४५)। यदि तुम किसी बालशेविक से कहो कि उसका शासन विधान पृथ्वी पर सब से अधिक कठोर शासन सत्ता है तो वह बड़े उद्वेग से उत्तर देगा कि यह तो केवल एक अस्थायी अवस्था है ... ... अन्त में कोई शासक वर्ग नहीं रहेगा। बल्कि कोई वर्ग ही नहीं रहेंगे। एक वर्ग हीन समाज होगा। मानव समाज में उस समय केवल उत्पन्न करने वाले मनुष्य होंगे और असली सत्ता इन उत्पन्न करने वालों के समुदाय में रहेगी। उनके ऊपर कोई न रहेगा, न तो कोई ईश्वर न फरिश्ते या धार्मिक संस्था (Church) होगी जो उनको दासता की दशा में रखे। (हिण्डस कृत The Great Offensive पृष्ठ १६७)

यहां पर यह बात भुला दी गई है कि जिस किसी के हाथों में शासन का कार्य रक्खा जावे चाहे वह उत्पन्न करने वाले मनुष्य हों या कोई हों वही मनुष्य या समुदाय वास्तव में राष्ट्र बन जाता है। श्री सम्पूर्णानन्द ने अपनी पुस्तक के १६ वें अध्याय में भूतल पर स्वर्लोक का शीर्षक देकर मनुष्य समाज की उस अवस्था का जो उनके विचार के अनुसार समाजवाद और साम्यवाद के पृथ्वी पर पूर्ण और अन्तिम रूप में स्थापित होने पर होगी, एक बड़ा मनमोहक चित्र खींचा है। हम आशा कर सकते हैं कि किसी समय मनुष्य समाज की ऐसी दशा होवे परन्तु वर्त्तमान समय में ऐसे विचार कुछ काल्पनिक और अव्यवहारिक ही प्रतीत होते हैं।

उपसंहार

जाति भेद और समाजवाद का परस्पर अत्यन्त विरोध—

पहले भाग में हमने यह दिखलाया है कि वैदिक वर्ण व्यवस्था वास्तव में क्या थी, उसका किस प्रकार पतन होकर वर्तमान जाति भेद चला और इस जाति भेद के कुछ मुख्य दुष्परिणाम भी दिखलाये हैं। दूसरे भाग में हमने वर्तमान समाजवाद और साम्यवाद का वर्णन किया है। उसमें हमने विशेष रूप में रूस के बालशेविज्म का

हवाला दिया है क्योंकि उसी के द्वारा साम्यवाद और समाजवाद के सिद्धान्त व्यवहारिक प्रयोग में लाये गये जिससे उनकी परीक्षा हो सकती है।

जाति भेद में यह घोर अन्याय है कि वह मनुष्यों के गुण, कर्म, स्वभाव पर ध्यान न देकर केवल जन्म के आधार पर उनको ऊंचा या नीचा स्थान देता है। इसके विरुद्ध समाजवाद भी मनुष्यों के योग्यता और गुणों का तिरस्कार करता हुआ उनके बीच एक असम्भव और अन्याय युक्त समानता स्थापित करना चाहता है। दोनों ही अन्याययुक्त हैं।

वैदिक वर्ण व्यवस्था मध्यम का मार्ग है–

वैदिक वर्ण व्यवस्था एक दूसरे के विरुद्ध इन दोनों मार्गों को छोड़कर एक मध्य मार्ग की शिक्षा देती है। परमेश्वर ने मनुष्यों को उनके पूर्व कर्मों के अनुसार जो जो योग्यता व गुण दिये हैं और जो उनके कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न ही हैं वैदिक वर्ण व्यवस्था उन सबको अपनी शक्ति के अनुसार उन्नति करने का पूरा और समान अवसर देती है। इसमें यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्यों में अपनी स्वाभाविक योग्यता और आदतों के अनुसार जैसा कि आलस्य वा परिश्रम, मितव्ययता या अपव्यय आदि बहुत भेद होते हैं। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था समाज का प्रबन्ध करने के लिये सबसे अधिक उपयुक्त योजना है जैसा कि आश्रम धर्म जिसका वर्णन आरम्भ में किया गया है वैयक्तिक उन्नति के लिये सबसे अच्छी योजना है।

सारी मनुष्य जाति के लिये उसकी उपयोगिता–

डा० भगवानदास जी ने जिनके ग्रन्थ से हम ने बहुत बार उद्धरण दिये यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि किसी देश वा समस्त मनुष्य जाति के सब कार्यों का प्रबन्ध वर्णाश्रम धर्म के अनुसार चार वर्गों द्वारा उत्तम प्रकार हो सकता है। इन चार वर्ण या चार मुख्य व्यवसाय वर्गों के साथ उनके अन्य विभाग होने चाहियें और वे सब एक मुख्य व्यवसाय स्थापक सभा की देखरेख में रहें। इस केन्द्रीय सभा में चार वर्णों या चार वर्गों के प्रतिनिधि होने चाहियें और विशेषकर वानप्रस्थ हों जो अपने जीवन के तीसरे आश्रम में होते हुए श्रद्धा और विश्वास के पात्र हों और अच्छे कानून बनाने तथा अपने नैतिक बल और प्रभाव से शासक लोगों को मार्ग प्रदर्शन करने के योग्य हों" (पृष्ठ १५३)। दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं "चाहे संसार में अलग २ अनेक राष्ट्र हों परंतु सब राष्ट्रों के लिये एक सार्वभौम संस्था होनी चाहिये। जिसका प्रबन्ध चार व्यवसायिक वर्गों द्वारा होवे"। (पृष्ठ ४४)

युद्ध के पश्चात् का नया युग–

इस समय संसार एक कठिन अवस्था में है। विश्व व्यापी महायुद्ध बड़े घोर रूप

में फैला हुआ है कोई नहीं कह सकता कि उसका अन्तिम परिणाम क्या होगा। परन्तु अन्तिम परिणाम कुछ भी हो इस युद्ध के पश्चात् और इसके कारण संसार में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन होंगे। एक नया युग अवश्य आने वाला है। इस युद्ध में इतनी महान् हानि हुई है और अब भी हो रही है कि समस्त जातियां चाहे जीतने वाली हों या हारने वाली अन्त में पहिले की अपेक्षा बहुत दीन दशा को प्राप्त हो जायेंगी। यह बहुत संभव है कि समाजवाद उस समय स्वभावतः हर देश के साधारण लोगों को बहुत रुचिकर होगा। रूस के वालशेविस्ट ने लगातार तीन वर्ष तक जो नाज़ी सेनाओं के उग्र धावों को सफलता के साथ हटाया और जिस अनुपम वीरता के साथ उनको बहुत स्थानों में परास्त किया है उसके लिये संसार उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करता है। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रजातन्त्र और पूंजीपति देशों में रूस और साम्यवाद के विरुद्ध जो घृणा के विचार थे वे जाते रहे। ब्रिटेन और अमरीका ने रूस के साथ मित्रता की संधि करली है जो केवल युद्ध के समय तक ही नहीं किन्तु बीस वर्ष तक रहेगी। इससे संसार में समाजवाद के प्रचार का मार्ग सरल हो गया है।

वैदिक समाजवाद—

परन्तु युद्ध के बाद जो नया युग आवेगा उसका निर्माण करने में जिस समाजवाद का हाथ होगा वह मार्क्स और एञ्जिलस के समाजवाद से भिन्न ही होगा। वह उन दोषों से रहित होगा जिनकी हमने विस्तार के साथ व्याख्या की। रूस के बालशेविज्म को भी बहुत अंश तक उन दोषों को छोड़ना पड़ा है। हमने ऊपर उसकी कुछ और त्रुटियों का भी उल्लेख किया है। जब ये सब दोष दूर कर दिये जायें तो समाजवाद वैदिक धर्म के सर्वथा अनुकूल है और वैदिक वर्णाश्रम धर्म जिसकी ऊपर सविस्तार व्याख्या की गई समाजवाद का सबसे अच्छा रूप समझा जा सकता है। यह आशा करना युक्त है कि युद्ध के पश्चात् नये युग के निर्माण और स्थापित करने में वैदिक समाजवाद और आर्य संस्कृति का महत्त्वपूर्ण भाग होगा। आर्य समाज का जो कि वैदिक संस्कृति का संरक्षक है कर्तव्य है कि उस समय के लिये तैयार रहे। ईश्वर उसका सहायक हो।

योग दर्शन समाधिपाद

(श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ प्रणेता योग प्रदीप)

पूज्य श्री नारायण स्वामी जी महाराज के नारायण आश्रम रामगढ़ की रजत जयन्ती पर भेंट किये जाने वाले नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ के लिये योग सम्बन्धी एक लेख भेजने के लिये श्री विश्वम्भर सहाय जी प्रेमी सहायक सम्पादक का विशेष आग्रह हुआ। इस कारण इस छोटे से लेख में योग के सम्बन्ध में कुछ विचार किया गया है। महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज का सारा जीवन त्याग, तपस्या, आत्म-चिन्तन, समाज सेवा, और वैदिक धर्म के प्रचार में व्यतीत हुआ है। आपका पवित्र, उच्च और तपमय जीवन सारे समाज के कार्य कर्ताओं के लिये पथदर्शक बन रहा है। रामगढ़ आश्रम जहां यह रजत जयन्ती मनाई जा रही है पूज्य स्वामी जी महाराज के योग अभ्यास का मुख्य स्थान रहा है। इसी पवित्र भूमि में लेखक को भी कई सत्संगियों श्रीमान् बाबू गंगाप्रसादजी रिटायर्ड चीफ़ जस्टिस टेहरी स्टेट, बाबू प्यारेलाल जी रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट एण्ड सैशन जज, बाबू देवकीनन्दनजी वानप्रस्थी (वर्तमान् स्वामी दिव्यानन्दजी) बाबू रघुबरदयालजी रिटायर्ड मैजिस्ट्रेट पटियाला व ब्रह्मचारी शिवचरनजी के साथ सन् १६३६ में साधन करने और पातंजल योग प्रदीप की आरम्भिक भूमि के तैय्यार करने का शुभ अवसर मिला है। पूज्य स्वामीजी महाराज को योग दर्शन समाधिपाद का सूत्र ३३ अति प्रिय है और बहुधा इस सूत्र को अपने उपदेशों में उद्धृत करते हैं इसलिये इस पवित्र अवसर पर इस सूत्र की ही व्याख्या अधिक उपयुक्त रहेगी।

मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःख।
पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित प्रसादनम् ॥३३॥

शब्दार्थ—मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाणाम् = मित्रता, दया, हर्ष और उदासीनता इन धर्मों की। सुख-दुःख-पुण्य-अपुण्य-विषयाणाम् = सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय में (यथाक्रम)। भावनातः = भावना के अनुष्ठान से। चित्तप्रसादनम् = चित्त की निर्मलता और प्रसन्नता होती है।

अन्वयार्थ—सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय में यथाक्रम मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षा की भावना के अनुष्ठान से चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है।

व्याख्या—राग, ईर्ष्या, परापकार-चिकीर्षा, असूया, द्वेष और आमर्ष-संज्ञक राजस तामस-रूप ये छः धर्म चित्त को विक्षिप्त करके कलुषित (मलिन) कर देते हैं। अतः ये छः चित्त के मल कहे जाते हैं।

इन छः प्रकार के मलों के होने से चित्त में छः प्रकार का कालुष्य (मल) उत्पन्न होता है। जो क्रम से राग-कालुष्य, ईर्ष्या-कालुष्य, परापकारचिकीर्षा-कालुष्य, असूया कालुष्य, द्वेष कालुष्य और आमर्ष-कालुष्य कहलाते हैं।

राग-कालुष्य—स्नेह पूर्वक अनुभव किये हुए सुख के अनन्तर जो 'यह सुख मुझ को सर्वदा ही प्राप्त होवे' इत्याकारक (ऐसे आकार वाली) जो राजस वृत्ति-विशेष है वह राग-कालुष्य है, क्योंकि यह राग सब सुख-साधन विषयों की प्राप्ति के न होने से चित्त को विक्षिप्त करके कलुषित (मलिन) कर देता है।

ईर्ष्या-कालुष्य—दूसरों का गुणादि वा सम्पत्ति आदि देखकर जो चित्त में क्षोभ (एक प्रकार की जलन अर्थात् दाह) उत्पन्न होना है वह ईर्ष्या-कालुष्य कहलाता है, क्योंकि यह भी चित्त को विक्षिप्त करके कलुषित कर देता है।

परापकार-चिकीर्षा कालुष्य— किसी के अपकार (बुराई करने, दुःख पहुंचाने) करने की इच्छा चित्त को विह्वल करके कलुषित कर देती है।

असूया कालुष्य—दूसरों के गुणों में दोष आरोप करना असूया पद का अर्थ है। जैसे किसी वृतशील को दम्भी जानना और आचार वाले को पाखण्डी जानना अर्थात् सदाचारी पर झूठे कलंक लगाना असूया-कालुष्य है।

द्वेष कालुष्य—क्षमा का विरोधी कोप-कालुष्य (द्वेष-कालुष्य) भी चित्त को विक्षिप्त करके कलुषित कर देता है।

आमर्ष-कालुष्य-किसी से कठोर वचन सुनकर व अन्य किसी प्रकार से अपमानित होकर जो उसको न सहन करके बदला लेने की चेष्टा है वह आमर्ष-कालुष्य कहलाता है।

इन उपरोक्त कालुष्य (मलों) से चित्त मलिन होकर विक्षिप्त हो जाता है और स्थिति के साधन में प्रवृत होने पर भी एकाग्र नहीं हो सकता। अतः इन मलों को निवृत करके चित्त को प्रसन्न और एकाग्र करने का सूत्र में निम्न प्रकार उपाय बतलाया गया है।

(१) सुखी मनुष्यों को देखकर उन पर मित्रता की भावना करने से राग तथा ईर्ष्या—कालुष्य (मल) की निवृति होती है अर्थात् ऐसा समझने से कि 'यह सब सुख मेरे मित्र को हैं तो मुझे भी हैं, तब जैसे अपने राज्य के न होने पर भी अपने पुत्र के राज्य लाभ को अपना जान कर उस राज्य में ईर्ष्या तथा राग की निवृत्ति हो जाती है वैसे ही मित्र के सुख को भी अपना सुख मानकर उसमें राग निवृत्ति हो जावेगी। एवं जब उसके सुख को अपना ही सुख समझेगा तो उसके ऐश्वर्य को देखकर चित्त में जलन न होने से ईर्ष्या भी निवृत्त हो जावेगी।

(२) दुःखी जनों पर करुणा अर्थात् दया की भावना करने से घृणा अर्थात् परापकारचिकीर्षा-रूप (दूसरे का अपकार अर्थात् बुराई करने की इच्छा) मल का अभाव होता है अर्थात् जब किसी दुःखी पुरुष को देखें तो इस वाक्य के अनुसार —

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधवः॥

अर्थ—जैसे हमें अपने प्राण परम प्रिय हैं वैसे ही अन्य प्राणियों को भी अपने प्राण प्रिय हैं इस विचार से साधु जन अपने प्राणों के समान सबके ऊपर दया करते हैं।

अपने मन में यह विचार करे कि 'इस दुखिया को बड़ा कष्ट होता होगा क्योंकि जब हमारे ऊपर कोई संकट आ जाता है तो हम को कितना दुःख भोगना पड़ता है' उसके दुःख दूर करने की चेष्टा करे। ऐसा न समझे कि हमें उसके सुख दुःख से कोई प्रयोजन नहीं है। जब इस प्रकार करुणामयी भावना चित्त में उत्पन्न हो जावेगी तब अपने समान सबके सुख की चाहना से घृणा और परापकारचिकीर्षा (बुराई करने की इच्छा) की निवृत्ति हो जावेगी।

(३) पुण्यात्मा अर्थात् धर्म-मार्ग में जो पुरुष प्रवृत्त हैं उन पुण्यशील पुरुषों के प्रति हर्ष की भावना करने से असूया मल की निवृति होती है। अर्थात जब पुण्यजनों को देखे तो चित्त में 'अहोभाग्य इसके माता पिता के, जिन्होंने ऐसा पुण्यात्मा पुत्र उत्पन्न किया और धन्य है इसको जो तन-मन-धन से धर्म-मार्ग में प्रवृत हो रहा है' इस प्रकार आनन्द को प्राप्त होवे। जब इस प्रकार मुदिता-भावना चित्त में उत्पन्न होगी तब असूया रूप चित्त का मल निवृत हो जावेगा।

(४) पाप-मार्ग में प्रवृत्त जो पापशील मनुष्य हैं उनमें उपेक्षा (उदासीनता) की भावना करने से द्वेष तथा अमर्षक (बदला लेने की चेष्टा) वा घृणा रूप मल की निवृत्ति होती है। अर्थात् जब पापी पुरुष कठोर वचन बोले अथवा किसी अन्य प्रकार से अपमान करे तो चित्त में ऐसा विचारे कि 'यह पुरुष स्वयं अपनी हानि कर रहा है, इसके ऐसे व्यवहार से मेरा कोई प्रयोजन नहीं, मैं इसके प्रति द्वेष वा घृणा करके अपने को क्यों दूषित करूं, इसको तो स्वयं अपने पापों का दुःख भोगना है इत्यादि,' इस प्रकार उन पर उपेक्षा की भावना करे। इस उपेक्षा की भावना से द्वेष तथा अमर्ष-रूप चित्त-मल की निवृत्ति हो जाती है।

इस प्रकार जब इन चारों भावनाओं के अनुष्ठान से चित्त के मल धुल जाते हैं तब निर्मल चित्त प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

श्री भोज महाराज इस सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं:—

मैत्री, मित्रता (प्रेम) करुणा, दया (पराये दुःखों को निवृत करने की इच्छा), मुदिता, हर्ष उपेक्षा, उदासीनता, इन चारों को क्रम से सुखियों में, दुखियों में, पुण्य वालों

में और पापियों में व्यवहार करना चाहिये। जैसे सुखी जनों में 'ये सुखी हैं' ऐसा समझ कर उनके साथ प्रेम करे, न कि ईर्ष्या, अर्थात् उनकी बड़ाई का असहन न करे। दुःखियों को देखकर 'इनके दुःख की कैसे निवृत्ति हो" इस प्रकार दया ही करे, न कि घृणा और तिरस्कार। पुण्यात्माओं में उनके पुण्य की बड़ाई करके अपनी प्रसन्नता ही प्रकट करे, न कि 'यह पुण्यात्मा क्यों है?' ऐसा विरोध करे। पापियों में उदासीनता को धारण करे अर्थात् न उनके पाप में सम्मति प्रकट करे न विरोध।

सूत्र में सुखादि शब्दों से सुख-दुःख वाले का प्रतिपादन किया है। जब ऐसे मैत्री आदि करने से चित्त प्रसन्न होता है तब सुख से समाधि प्रकट होती है। यह परिकर्म ऊपर का कर्म है, जैसे मिश्रकादि व्यवहार, गणित सिद्धि के लिये, और सङ्कलित आदि (जोड़ आदि) कर्म उपकारक रूप से प्रधान क्रिया की सिद्धि के लिये होता है। ऐसे ही राग, द्वेष आदि के विरोधी मैत्री आदि करने से प्रसन्नता को प्राप्त हुआ चित्त संप्रज्ञात समाधि के योग्य हो जाता है। प्रधानता से राग (विषयों में इच्छा), द्वेष (वैर, अनिष्टों में रोष) ये दो ही चित्त के विक्षेपक हैं। यदि ये दोनों ही जड़ से उखाड़ दिये जावें तो चित्त की प्रसन्नता होने से एकाग्रता होती है।

इन भावनाओं के संयम का फल विभूति पाद के सूत्र २३ में बतलाया गया है।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥२३॥

शब्दार्थ—मैत्री-आदिषु = मैत्री आदि में (संयम करने से)। बलानि = मैत्री आदि बल प्राप्त होते हैं।

अन्वयार्थ—मैत्री आदि में संयम करने से मैत्री आदि बल प्राप्त होता है।

व्याख्या—पहले पाद के तैंतीसवें सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, चार भावनायें बतलाई गई हैं। इनमें से पहली तीन भावनाओं में साक्षात-पर्यन्त संयम करने से योगी का क्रमानुसार मैत्री, करुणा, मुदिता बल बढ़ जाता है अर्थात् योगी को मैत्री आदि ऐसी उत्कृष्ट हो जाती है कि सबकी मित्रता आदि को प्राप्त होता है। जब मैत्री में संयम करता है तो सर्व प्राणियों का सुखकारी मित्र बन जाता है। करुणा में संयम करने से दुःखियों के दुःख दूर करने की शक्ति आजाती है। मुदिता में संयम करने से पक्षपाती नहीं होता। चौथा उपेक्षा-अर्थात् उदासीनता अभावात्मक पदार्थ है इस कारण वह संयम का विषय नहीं बन सकता।

हम सब मिलकर शुद्ध हृदय से ईश्वर से प्रार्थना करें कि आर्य समाज के सभी कार्यकर्ता पूज्य स्वामी जी महाराज के उच्च आदर्श को समक्ष रखकर परस्पर प्रेम, आदर और सन्मान के साथ संगठित रूप में अपने धार्मिक और सामाजिक कर्तव्यों को निःस्वार्थभाव से पूरे लगन अनथक उत्साह, दृढ़ संकल्प, निर्भय पुरुषार्थ और आत्म-विश्वास के साथ ईश्वर के समर्पण करके करते रहें।

वलासुर (आवरण)

(लेखक—श्री० पं० भगवद्दत्त वेदालंकार गुरुकुल कांगड़ी)

'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह पिण्ड में भी है। ब्रह्माण्ड को मुख्यतया तीन लोकों में विभक्त किया जाता है। इसी प्रकार पिण्ड भी तीन लोकों में विभक्त है। इन तीनों लोकों में देवासुर संग्राम छिड़ा हुआ है। कौन असुर किस लोक को आक्रान्त किये हुए है अथवा किस लोक पर आक्रमण कर रहा है। यह एक विचारणीय विषय है। असुर कौन है ? वेद में आये वृत्र, नमुचि तथा बल आदि असुरों का क्या स्वरूप है ? तथा उनमें परस्पर क्या भेद है ? इत्यादि विस्तृत विवेचन तो "वैदिक आसुर सम्प्रदाय" नामक ग्रन्थ में पाठकों के समक्ष रक्खा जायेगा। परन्तु यहां हम केवल एक वलासुर के सम्बन्ध में कुछ अति संक्षिप्त विवेचन ही आपके समक्ष रखने का प्रयत्न करते हैं।

ताण्ड्य महाब्राह्मण १६।७ में वलासुर के सम्बन्ध में एक कथानक आता है। वह इस प्रकार है :—

असुराणां वै वलस्तमसा प्रावृतोऽश्मापिधानश्चासीत्। तस्मिन् गव्यं वस्वन्तरासीत्। तं देवा नाशक्नुवत् भेत्तुं ते बृहस्पतिमब्रुवन् इमान् न उत्सृजेति स उद्भिदैव वलं व्यच्यावयद् वलभिदाभिनत् तानुत्सेधे नैवोदसृजन्निषेधेन पर्यगृह्णात्। तां० १६।७।१

असुरों के मध्य में एक बल नामक असुर था। देवता मुझे ढूंढ न सकें—यह सोचकर गहन अन्धकार से घिरे हुए तथा पाषाणों से आच्छादित किसी बिल में वह रहता था। उस बिल में देवताओं का गोधन उसने छिपाया हुआ था। जब देवता उस बिल को भेदन न कर सके, तब उन्होंने बृहस्पति से प्रार्थना की कि हे बृहस्पति ! तू हमारी इन गौओं को बिल से बाहिर निकाल। बृहस्पति ने उन देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर 'उद्भिद्' नामक योग द्वारा वलासुर को बिल से च्युत अर्थात् शिथिल कर दिया और 'बलभिद्' नामक योग द्वारा उस वलासुर का भेदन कर दिया। इसके अनन्तर 'उत्सेध' नामक साम द्वारा उन पशुओं को वहां से निकाला और निषेध साम द्वारा उनको चारों ओर से पकड़ लिया।

यह एक कथानक है। इसी वलासुर के सम्बन्ध में और भी कथानक आते हैं और मन्त्रों के आधार पर कई कथानक बनाये भी जा सकते हैं परन्तु सब में एक बात सामान्य (Common) है और वह यह है कि 'बल' ने गौओं को घेरा हुआ है और उससे वे गौवें छुड़ानी हैं बल शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है, उनमें एक (बल संवरणे संचरणे च) संवरणात्मक तथा संचरणात्मक 'बल' धातु से भी की गई है।

इस आधार पर इसको चाहे गौवों का बाड़ा कहें या असुर कहें बात एक ही है। इसको भेदन कर गौवों को बाहिर निकालना है।

सामान्य रूप से इस कथानक का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से हो सकता है—गर्भावस्था में कान चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों तथा उनके गोलकों (Sense-organs) की सामान्य उत्पत्ति, और इन्हीं इन्द्रियों की दिव्य शक्ति की उत्पत्ति दोनों में इस कथानक का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

वृहस्पति ज्ञान–विज्ञान का अधिपति है। मानव शरीर में इसका स्थान मस्तिष्क है, और चक्षु आदि देवों का स्थान भी मस्तिष्क है। गर्भावस्था में देवों (इन्द्रियों, की गौवों (रश्मियों)—को 'वल' ने घेरा हुआ था। अभी वे शिर में अपने २ स्थानों में प्रकट नहीं हुई थीं। देवों ने शिर में वृहस्पति रूप में विद्यमान आत्मा से प्रार्थना की कि ये हमारी गौवें वल (आवरण) से बाहिर निकाल दीजिये। वृहस्पति ने उद्भिद् (उत्+भेदन) अर्थात् ऊपर की ओर को भेदन कर 'वल' को अपने स्थान से शिथिल कर दिया और फिर 'वलभिद्' (वल+भेदन) उस वल नामक आवरण को भेदन छेदन द्वारा हटा दिया। नाक, कान, चक्षु आदि इन्द्रियों तथा इन्द्रिय गोलकों का निर्माण इसी प्रकार हुआ है। जब इन्द्रिय–गोलकों का निर्माण होगया और उन पर विद्यमान वल नामक आवरण दूर होगया, तब 'उत्सेध' (उत्+विश्रगतो) प्रक्रिया द्वारा इन्द्रिय सम्बन्धी रश्मियों को बाहिर की ओर निकाला, परन्तु वे रश्मियें बाहिर न रह जायें इसलिये 'निषेध' साम (साम = प्राण) द्वारा उन्हें पकड़े रक्खा।

गर्भावस्था में विद्यमान देवों (इन्द्रियों) की गौ रूपो रश्मियें आवरण को हटाकर बाहिर की ओर कैसे आती हैं उसका यह एक आलंकारिक वर्णन है। परन्तु वलासुर के आवरण का यह बाह्य घेरा ही दूर हुआ है, अभी असली घेरा तो बचा ही हुआ है उस आवरण को मनुष्य अध्यात्म में पहुँच कर ही दूर कर सकता है। इस उपर्युक्त कथानक द्वारा अध्यात्म का वर्णन करना ही हमारा मुख्य प्रयोजन है। अध्यात्म क्षेत्र में यह 'वल' नाम का आवरण दो स्थानों पर हो सकता है। एक मस्तिष्क में दूसरा हृदय में। मुख्य रूप से मस्तिष्क के 'वल' नामक आवरण को आत्मा या परमात्मा बृहस्पति रूप में दूर करता है और हृदय के आवरण को इन्द्र रूप में दूर करता है। बृहस्पति के सम्बन्ध में ऊपर कथानक दिया ही जा चुका है। इन्द्र के सम्बन्ध में कथानक न देकर हम मन्त्र ही उदाहरण रूप में लेते हैं। मन्त्र इस प्रकार है।

व्यन्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना। इन्द्रो यदभिनद्वलम्। ऋग ८। १४। ७

(इन्द्रः) इन्द्र ने (यत्) जब, हृदय रूपी अन्तरिक्ष में विद्यमान (वलम्) वलासुर का (अभिनत्) भेदन कर दिया। तब (सोमस्य भेद) सोमपान के आनन्द में (रोचना अन्तरिक्षम्) देदीप्यमान हृदय रूपी अन्तरिक्ष को (व्यतिरित्) उसने खूब बढ़ाया।

इस मानव-पिण्ड में हृदय अन्तरिक्ष लोक है। आत्मा या परमात्मा हृदय में इन्द्र रूप से रहता है। इन्द्र क्षत्रिय देवता है। हमारे शरीर में क्षत्रिय-स्थान बाहु तथा हृदय आदि हैं। इसलिये हृदय रूपी अन्तरिक्ष के 'वल' को वह आत्मा इन्द्र रूप में दूर करता है।

जब तक मनुष्य अध्यात्म में पहुंच कर हृदय तथा मस्तिष्क के 'वल' नामक आवरण को हटा नहीं देता तब तक इन्द्रिय-सम्बन्धी दिव्य शक्तियां प्रस्फुटित नहीं हो सकतीं। इसलिये दिव्य शक्ति रूप में विद्यमान गौवों को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को ये 'वल' नाम के आवरण दूर करने चाहियें।

वल नाम के ये आवरण कई प्रकार के हो सकते हैं। एक प्रकार के ये 'वल' नामक आवरण भगवान् कृष्ण ने श्री भगवद्गीता के अ० ३। ३७-४० श्लोकों में वर्णन किये हैं।

काम, क्रोध इत्यादि ये महापाप्मा हैं, जिस प्रकार धूआं अग्नि को घेर लेता है, दर्पण को मल घेर लेता है और गर्भ को जिस प्रकार उल्व (जरायु) घेरे रहता है, उसी प्रकार मनुष्य को ये काम, क्रोध इत्यादि घेरे रहते हैं। ज्ञानी के ज्ञान को ये घेरने वाले हैं। इनका स्थान शरीर में मन, बुद्धि तथा इन्द्रियां हैं।

टिप्पणी — काम एव क्रोध एव रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च। यथोल्वेना वृतो गर्भस्तथातेनेदमावृतम्।
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा। कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।

बल ऐसा आवरण या घेरा है कि जो इन्द्रिय रश्मियों को घेरे भी रहता है और यदि वे अपने विषयों में जाती हैं तो उनके आगे २ चलता है। कामी मनुष्य काम की दृष्टि से परस्त्रियों को देखेगा। द्वेष बुद्धि वाले को प्रतिद्वन्दी के सब काम द्वेष वाले दिखाई देंगे। पक्षपात वाले पुरुष को अपनी सीमा से बाहर की वस्तु व सिद्धांत सत्य नहीं प्रतीत होते और वह सत्य को जानने का प्रयत्न ही नहीं करता। ये सब 'बल' है। सभी इन्द्रियां सम्बन्धी 'वल' हो सकते हैं। जो मनुष्य अध्यात्म में प्रवेश करना चाहता है, उसे सब प्रकार के 'बल' दूर कर देने चाहियें। इस प्रकार गौवों दिव्य शक्तियों का आविर्भाव होने देना चाहिये। 'वल' सम्बन्धी अन्य कथानक व मन्त्र जो कि इस लेख में नहीं आ सके हैं उनके विवेचन से हम अभी तक इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि 'बल' मुख्यतया इन्द्रिय-सम्बन्धी आध्यात्मिक दिव्य शक्तियों का घेरा है। अब हम 'वल' से सम्बन्ध रखने वाले कुछ मन्त्र आपके सामने रखते हैं और यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि वेद मंत्र 'बल' को दूर करने का क्या उपाय बताते हैं।

उषा-देवताः—

यत्त्वा पृच्छादीजातः कुहया कुहयाकृते।
एषो अपश्रितो वलो गोमतीमवतिष्ठति ॥ ऋ० ८।२४।३०

हे दिव्य उषा ! (यत्) जब (कुहया कुहयाकृते) कहां चली गई ? कहां चली गई ? ऐसी अवस्था तेरे द्वारा बना दिये जाने पर वह (ईजात) आध्यात्मिक यज्ञ करने वाला व्यक्ति (त्वा पृच्छात्) तुम से प्रार्थना कर रहा है कि (एष) यह (अपश्रित वलः) आश्रय से भगाया हुआ वलासुर फिर गोमतीमवतिष्ठति) दिव्य किरणों के प्रवाह में आ बैठा है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में मनुष्य की क्या २ अवस्थायें हो सकती हैं ? उनमें से एक अवस्था का यहां चित्र खींचा गया है। प्रभु के भक्त को जब दिव्य-उषा का दर्शन हो जाता है, आध्यात्मिक ज्योति की कुछ हलकी सी झलक दिखाई दे जाती है, तब वह वलासुर जिसने गौवों अर्थात् दिव्य किरणों को घेरा हुआ था भिन्न भिन्न हो जाता है। परन्तु उन्नति की ओर पग बढ़ाने वाले मनुष्य की सदा यही अवस्था नहीं बनी रहती। जब तक वह उन्नति की किसी विशेष सीमा तक नहीं पहुंच जाता तब तक उसके उत्थान व पतन दोनों ही होते रहते हैं। जो मनुष्य उन्नति की उस सीमा तक अभी नहीं पहुंच पाया है जहां से कि उसका पतन न हो— उन्नति और पतन जिसके दोनों होते रहते हैं, ऐसे मनुष्य का यहां चित्र खींचा गया है। आध्यात्मिक ज्योति की कुछ हलकी सी किरण दिखाई दी, पाप रूपी वलासुर क्षीय हुआ। परन्तु कालान्तर में जब मनुष्य उस सीमा पर न ठहर सका, कुछ नीचे हुआ तो वलासुर ने उसे फिर आक्रान्त कर लिया। दिव्य किरणें उसने फिर आ घेरीं। इस अवस्था में मनुष्य उस दिव्य उषा में प्रार्थना कर रहा है कि हे दिव्य उषा ! तुम कहां चली गईं ? तुम कहां चली गईं ? यह वलासुर तो फिर दिव्य किरणों की धार (गोमती) में आ बैठा है।

इन्द्र द्वारा वलासुर का भेदन—

अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार।
सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः प्रावन् वाणीः पुरूहूतं धमन्तीः ॥ ऋग्० ३/३०/१०

हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् प्रभो। (अलातृणः- अलं सामर्थ्यना-तृणत्ति) आत्मिक सामर्थ्य का विनाश करने वाला यह (वल) वलासुर (गोः व्रजः) गौओं का बाड़ा बना हुआ है अथवा (गोः पुरा व्रजः) गौओं के आगे आगे चलने वाला है। (हन्तोः) तुझ हनन करने वाले से (भयमानः) भय करता हुआ (व्यार) शिक्षित हो जाता है। हे इन्द्र (वाणीः) ये मेरी वाणियां (पुरूहूतं) तुझ पुरूहूत को (धमन्तीः) धोंकती हुई (प्रावन्) तेरी रक्षा करती है। तुम (गाः निरजे) गौओं के निकलने के लिये (पथः) मार्गों को (सुगान् अकृणोत्) सुगम बनादो।

इस मन्त्र के पूर्वार्ध में तीन बातें कही गई हैं:

१-वह बलासुर आत्मिक सामर्थ्य का विनाश करने वाला है।

२-दिव्य किरणों को वह घेरने वाला है और जब वे बाहिर को चलती भी हैं तो उनके आगे आगे वह चलता है।

३-इन्द्र को देखते ही वह छिन्न भिन्न हो जाता है।

अब हम इनका स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करते हैं। इस मन्त्र में बलासुर को 'अलातृणः' कहा गया है। अलातृणः' का भाव यह है कि वह बलासुर मनुष्य के आत्मिक सामर्थ्य का विनाश करने वाला है। वेद की परिभाषा में बल को पैदा करने वाले अथवा बल नाम से कहे जाने वाले काम, क्रोध, मोह, शोक, अज्ञान आदि जब मनुष्य को आ घेरते हैं तब आत्मिक शक्ति प्रकट नहीं हो सकती। दिव्य प्रकाश तो दूर रहा सामान्य प्रकाश भी उसमें नहीं रहता। वह इनके आक्रमण से अन्धा होजाता है। यह बलासुर तो बहुत गहराई तक पहुंचा हुआ होता है। जितना मनुष्य सूक्ष्म निरीक्षण करता जाता है उतना ही वह यह देखकर आश्चर्य करता है कि बलासुर अब भी सूक्ष्म रूप में विराजमान है। स्थूल रूप में तो प्रत्येक मनुष्य इस बलासुर के प्रभाव को अनुभव कर सकता है। काम, क्रोध आदि का आवेग हो तो मनुष्य को कुछ नहीं सूझता। उस आवेग के समय वह जो कुछ कर बैठता है उस समय तो उसे वह ठीक समझता है। परन्तु आवेग के समाप्त होते ही वह पश्चात्ताप करता है कि क्या कर बैठा परंतु बलासुर के सूक्ष्म रूप में भी मनुष्य यह समझता है कि जो कुछ मैं कर रहा हूं वही ठीक है। परंतु पता नहीं कि वह ठीक होता है कि नहीं। उन्नति करते २ जब सूक्ष्म रूप से भी वह बलासुर का विनाश कर देता है असल में सत्यासत्य का तभी निर्णय होता है। इसलिये मनुष्य में जब तक बलासुर विद्यमान है तब तक वह आत्मिक सामर्थ्य का विनाश करता रहेगा और दिव्य प्रकाश की दिव्य किरणों को वह घेरे रहेगा। अब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस बलासुर को नष्ट कैसे करें? इसके लिये मन्त्र में कहा गया है कि वह परमैश्वर्य सम्पन्न शक्तिशाली इन्द्र ही इसको नष्ट कर सकता है, उस इन्द्र से प्रार्थना करो कि वह इस बलासुर से युद्ध करे और गौवों को उसके फन्दे से बाहर निकाले। परंतु केवल मात्र इतना जान लेने से कि इन्द्र इस बलासुर से लड़े। समस्या का हल नहीं होता। असली समस्या तो यह है कि इन्द्र को उस बलासुर से लड़ने के लिये कैसे प्रेरणा करें? इस समस्या का हल मन्त्र के उत्तरार्ध से हो जाता है। वहां कहा गया है कि "ग्रावन् वाणी पुरुहूतं धमन्ती" जिस प्रकार अग्नि को धौंकनी देने से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार इन्द्र को धौंकनी दो जिससे कि वह प्रज्वलित होकर उस बलासुर को भस्म कर दे।

परन्तु अब फिर प्रश्न यह है कि इन्द्र को प्रज्वलित करने के लिये धौंकनी क्या है, और कैसे धौंकनी दे। इसका स्पष्टीकरण "वाणी और पुरुहूत" इन दो शब्दों से हो जाता है अर्थात् यह वाणी ही धौंकनी है। जिस प्रकार बार २ धौंकने से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है उसी प्रकार वाणी द्वारा उसे (पुरुहूत) बार २ आह्वान करना चाहिये। बार २ आह्वान करना ही उस इन्द्र को धौंकनी देना है। जब वाणी द्वारा बार २ आह्वान करने पर इन्द्र को हम प्रज्वलित कर लेंगे तब गौवों अर्थात् दिव्य किरणों के सब मार्ग स्वयं सुगम हो जायेंगे। केवल इस इन्द्र को धौंकनी देने की आवश्यकता है। 'जप' में भी वाणी द्वारा इन्द्र को धौंकनी दी जाती है। इसलिये वहां भी यही सिद्धान्त काम करता है।

इन्द्र द्वारा अङ्गिरा पुरुषों की गौवों को बल के पाश से छुड़ाना :—

उद्गाआजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः। अर्वाञ्चं नुनुदे वलम्। ऋ० ८।१४।८

अर्थात् वह इन्द्र (अङ्गिरोभ्य) अङ्गिरापुरुषों के लिये (गुहा सती) वलासुर की गुफा में विद्यमान (गा) गौवों को (आविष्कृण्वन्) प्रकाश में लाता हुआ (उत् आजत) गुफा से बाहिर निकालता है और (वलम्) वलासुर को (अर्वाञ्चनुनुदे) नीचे पटक देता है।

इस मन्त्र से यह पता चलता है कि अंगिरा पुरुष गौ अर्थात् दिव्य शक्तियों को प्राप्त कर सकते हैं। अंगिरा पुरुष वे हैं जो कि अंगारे के समान तप रहे होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में आता है कि अंगारा एवं अंगिर सोऽभवन। अंगारे ही अंगिरस बन गये। यहां तपने से वहां तपस्या का भाव नहीं है। दिव्य शक्तियों की प्राप्ति में शारीरिक तपस्या कोई विशेष मूल्य नहीं रखतीं। यह आन्तरिक तपस्या है। आन्तरिक अग्नि है। जिन मनुष्यों के मन में सतत रूप से अग्नि प्रज्वलित रहती है, जो अंगारे के समान सतत रूप में दहक रहे होते हैं वे अवश्य ही सफलता को प्राप्त करते हैं।

अब दो एक मंत्र हम बृहस्पति के सम्बन्ध में भी दिखा देते हैं। मंत्र इस प्रकार हैं-

हिमेवपर्णा मुषितावनानि बृहस्पतिना कृपयद्वलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात् सूर्यामासा मिथ उच्चरातः॥ ऋ० १०।६८।१०

(बृहस्पतिना) बृहस्पति ने (हिमेवपर्णा) हिम जिस प्रकार वृक्षों पर से पत्तों को चुरा लेता है उसी प्रकार (वनानिमुषिता) वलासुर के वनों को चुरा लिया। इस प्रकार गौवों के भूखी मरने से (वलः) वलासुर ने (गाः अकृपयत्) गौवों को बन्धन से खोल दिया। (कृपदौर्बल्ये) (अनानुकृत्यम्) जो अनुकरणीय नहीं है उसे (अपुनश्चकार) फिर न हो ऐसा बना दिया (यत्) जिससे कि (सूर्यामास) सूर्य और चन्द्रमा दोनों (मिथः) परस्पर मिलकर (उच्चरातः) ऊपर की ओर को गति करते हैं।

इस मन्त्र का भाव यह है कि जिस प्रकार बर्फ व पाला पड़कर वृक्षों के पत्तों को चुरा लेता है अर्थात् नष्ट कर देता है उसी प्रकार बृहस्पति ने उस वन को चुरा लिया जिसमें वलासुर गौवों को चराया करता था। अर्थात् वलासुर इन्द्रियों द्वारा जिस क्षेत्र में

विहार करता था जिन भोगविलासों में फंसा हुआ था वे सब विहार के स्थान बृहस्पति ने चुरा लिये। इसका परिणाम यह हुआ कि वह बलासुर भूखा मरने लगा। वह दुर्बल होगया। इस कारण उसने सब गौवों को बन्धनों से खोल दिया। वे गौवें अब बृहस्पति के पास आगयीं। उसने पहला कार्य यह किया कि जो अनुकरणीय नहीं है, उनको इन्द्रियां दुबारा न कर सकें, ऐसा उपाय कर दिया। इस से सूर्य और चन्द्रमा, मस्तिष्क (सूर्य) मन, हृदय (चन्द्रमा) दोनों इकट्ठे होकर ऊपर की ओर गति करने लगे।

२ य मन्त्र :—आप्रुषायन् मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः।

बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गाभूम्या उन्देव वित्वचं विभेद ॥ अ० १० । ६८ । ४

(अर्कः) वह अर्चनीय बृहस्पति (मधुना आप्रुषायन्) मधुज्ञान से शिष्यों को सींचता हुआ। (उल्कामिव द्योः) द्युलोक से जिस प्रकार चमकती हुई किरण के रूप में उल्काएं गिरती हैं उसी प्रकार (ऋतस्य योनिम्) ऋत ज्ञान के उत्पन्न करने वाली उल्का रूप में ज्ञान किरण (Flashes) को समय २ पर वह (अवक्षिपन्) शिष्यों के प्रति फैंकता है। वह बृहस्पति (गाः उद्धरन्) शिष्यों की दिव्य शक्तियों को बलासुर से उद्धार करता हुआ (अश्मनः त्वचं विभेद) ज्ञान को — आवरण रूपी पत्थर को फोड़ देता है। जिस प्रकार (भूम्या उन्देव) जल पृथ्वी के आवरण को फोड़कर निकल आता है।

इस मन्त्र में बृहस्पति का यह गुण बतलाया कि वह शिष्यों को मधु ज्ञान का पान कराता हुआ बीच में कुछ ऐसी दिव्य ज्ञान सम्बन्धी किरणें (Flashes) भी शिष्यों की तरफ फैंकता जाता है जो कि उल्का के समान होती हैं। उल्का से उपमा इनको इसलिये दी गई कि जिस प्रकार उल्का एक दम चमकती है और सम्पूर्ण आकाश को प्रकाशित कर देती है उसी प्रकार ये किरणें भी शिष्य के अन्दर विद्यमान बल की गुफा को एक दम प्रकाशित कर देती हैं। और आगे मन्त्र के उत्तरार्द्ध में उन दिव्य किरणों के उद्गम का तरीका यह बताया कि जिस प्रकार पानी पृथ्वी के आवरण को फोड़ कर निकल आता है उसी प्रकार ये दिव्य किरणें उस बलासुर के आवरण को फोड़कर बाहिर निकल आती हैं।

इसलिये जो मनुष्य दिव्य शक्तियों का आविर्भाव चाहता है उसे अपने बलासुर को दूर करना चाहिये। दिव्य शक्तियों के आधार पर ही अन्तःकरण शुद्ध, आवरण रहित होता है। और जितना ही अन्तःकरण निर्मल होगा, उतना ही मनुष्य भगवान की महान विभूति को अपने अन्दर धारण करने योग्य बन सकेगा।

वैदिक धर्म का व्यापक रूप

(लेखक — पं० धर्म देव सिद्धान्तालङ्कार विद्यावाचस्पति स० मन्त्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली।)

आर्य समाज के प्रवर्तक स्वनाम धन्य आदित्य ब्रह्मचारी वैदिक धर्मोद्धारक शिरोमणि महर्षि दयानन्द ने अपनी अमर कृति 'सत्यार्थप्रकाश' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा दूसरे सब ग्रन्थों और भाषणों में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि 'मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना, मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।" (सत्यार्थप्रकाश स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश) "आर्य समाज की स्थापना उन्होंने सत्य-सनातन सार्वभौम वैदिक धर्म के प्रचार और उसके द्वारा संसार के उपकार के लिये की जैसे कि आर्य समाज के नियम सं० ३ और ६ से स्पष्ट है, जिनमें महर्षि ने लिखा है कि "वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" (नियम ३) "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।" (नियम ६)

इस लेख द्वारा मैं वैदिक धर्म का व्यापक रूप पाठक महानुभावों के सन्मुख रखना चाहता हूं जिस से इस विषयक भ्रमों का निराकरण हो सके।

सब से पहली बात जो वैदिक धर्म का यथार्थ व्यापक रूप समझने के लिये अत्यावश्यक है वह यह है कि इसका मुख्य तत्त्व सर्वतोमुख विकास वा Harmonious development का उपदेश देना और उसके साधनों का प्रतिपादन है। वेद जिस धर्म का प्रतिपादन करते हैं वह केवल प्रकृति जीव और ब्रह्म के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्ध, परलोक और पुनर्जन्मादि कुछ सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं है उसमें उन सब गुणों और कर्तव्यों का समावेश होता है जिनसे ऐहलौकिक उन्नति (अभ्युदय) और आध्यात्मिक शान्ति तथा मुक्ति की प्राप्ति हो। महर्षि वेद व्यास ने महाभारत में धर्म का धात्वर्थ लेकर जो लक्षण किया है वह इस प्रसङ्ग में विशेष तथा स्मरणीय है। उन्होंने कहा है :—

धारणाद् धर्म इत्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं, स धर्म इति निश्चयः॥

अर्थात् धृञ्-धारणे इस धातु से धर्म शब्द बनता है जिसका अर्थ व्यक्ति, समाज, राष्ट्र वा जगत् को धारण करने वाला है। जिस से भी सब प्रजाओं का धारण हो, उन्नति हो वह धर्म है। वैशेषिक शास्त्रकार कणाद मुनि ने धर्म का जो सुप्रसिद्ध लक्षण

"यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सधर्मः।"

अर्थात् जिससे अभ्युदय— इस लोक की उन्नति और मोक्ष की सिद्धि हो वह धर्म है यह किया है उसका स्पष्ट आधार स्वयं वेद मन्त्रों पर ही है उदाहरणार्थ साम-वेद में निम्न मन्त्र वैदिक पवमान सूक्तादि विषयक आये हैं।

पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम्।
कामान्त्समर्धयन्तुनो देवीर्देवैः समाहृताः॥
पावमानीः स्वस्त्ययमीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम्।
पुण्यांश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति॥
(सामवेद उत्तरार्चिक प्रपाठक ५ मन्त्र ८)

इन मन्त्रों का भावार्थ यह है कि ये पवमानादि विषयक वैदिक ऋचायें हमारे लिये इस लोक और परलोक की उन्नति के लिये पथदर्शिका होती हुई उन्हें धारण कराएं तथा विद्वानों द्वारा उपदिष्ट होकर हमारी सब शुभ कामनाओं को पूर्ण करने वाली हों। ये वैदिक ऋचाएं सब को पवित्र करने वाली और कल्याण तथा आरोग्य (स्वस्थता) के मार्ग की ओर लेजाने वाली हैं। उनके ज्ञान तथा तदनुसार आचरण से मनुष्य आनन्द को प्राप्त करता है। वह इस लोक के पुण्य सुख का उचित भोग करता है और अमरता को प्राप्त होता है।

यजुर्वेद के १८ वें अध्याय में यज्ञ के द्वारा जिन शक्तियों और गुणों के विकास की प्रार्थना 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' इत्यादि रूप में की गई है वे भी वैदिक धर्म के उपर्युक्त, समविकासमय व्यापक रूप की स्पष्ट घोषणा करते हैं।

"प्राणश्च मे ऽपानश्च मे व्यानश्च मे ऽसुश्च मे चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च में बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ यजु० १८।२

"ओजश्च मे सहश्च म आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मे·······आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ (१८।३)

ज्यैठस्यं च म आधिपत्यं च मे मन्युश्च मे·······महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे ·······वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।४)

"सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीड़ा च मे मोदश्च मे·······सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ (यजु० १८।५)

"ऋतं च मे ऽमृतं च च मे ऽयक्ष्मं च मेऽनामश्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे ·····सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् (यजु० १८।७)

इत्यादि मन्त्रों में यज्ञ अर्थात् ईश्वर और विद्वानों की पूजा, सङ्गति करण, दानादि शुभ कर्मों द्वारा शरीर, इन्द्रिय, प्राण, वाणी, मन।की शक्ति, कार्य कुशलता, बल, सत्य, श्रद्धा, ज्ञान, दीर्घायु, नीरोगता, स्वस्थता, शत्रुरहितता, धन, निर्भयता, सुख, प्रसन्नता, उत्तम भाषण, उत्तम क्रिया इत्यादि के विकास का प्रार्थना तथा दृढ़ संकल्प रूप में उपदेश

है। अगले मंत्रों में भी शान्ति (शम्) सुख (मयः) प्रिय, ऐश्वर्य (रयिः) पुष्टि, भद्र, यश, सूनृता (सत्य और प्रिय वाणी) रस, घृत, मधु, कृषि, वृष्टि, बुद्धि (मतिः) अत्यन्त उत्तम पवित्र बुद्धि (सुमति) धन धान्य (व्रीहयश्च यवाश्चमाषाश्च) इत्यादि सब की प्राप्ति और वृद्धि की कामना यज्ञादि शुभ कर्मों द्वारा की गई है, जिससे स्पष्ट है कि वैदिक धर्म व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और सारे जगत् को प्रत्येक दृष्टि से उन्नत करना चाहता है। उसमें मनुष्य के सर्वतोमुख सम विकास को प्राप्त कराकर निरन्तर सुख शान्ति, आनन्द तथा अमरता की प्राप्ति को मनुष्य जीवन का ध्येय माना गया है। इस समविकास के सम्बन्ध में निम्न मन्त्र कितने स्पष्ट हैं जिनमें शारीरिक, वाचिक, मानसिक, आत्मिक सब प्रकार की शक्तियों की वृद्धि के लिए दृढ़ संकल्प रूप में उपदेश है:--

वाङ् म आसन् नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोरपलिताः केशा अशोक दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्। जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा अरिष्टानि में सर्वाऽऽत्माऽनिभृष्टः ॥

अथर्व १६।६०।१-२

वर्च आ धेहि में तन्वां सह ओजो वयो बलम्। इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय ॥

आयुर्मे पाहि, प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ ॥ (यजु० १४।१७)

मनस्त आप्यायतां वाक् त आप्यायतां, प्राणस्त आप्यायतां, चक्षुस्त आप्यायतां श्रोत्रं त आप्यायताम् ॥ (यजु० ६।१५)

इन मन्त्रों में प्रार्थना तथा दृढ़ भावना है कि मेरी वाणी में उत्तम शक्ति रहे, नासिका, आंख, कान, दांत, बाहु, जांघ, पैर इत्यादि मेरे सब अङ्ग बलवान् बने रहें और मेरी आत्मा अत्यन्त बल शाली तथा किसी से दबने वाला न हो। हे सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभो! तुम हमारे शरीर में वर्च (तेज) धारण कराओ, सहन शक्ति, मानसिक आत्मिक शक्ति, दीर्घ जीवन और बल हमें प्राप्त कराओ। इन्द्रियों की उत्तम शक्ति, कर्म और वीर्य की प्राप्ति के लिये ही हम भक्त सौ वर्षों तक तुम्हारा आराधन करते हैं। हे भगवन्! (परमात्मा व आचार्य) मेरी आयु (जीवन) की रक्षा करो। मेरे प्राण, अपानादि की रक्षा करो। मेरी आंख, कान, वाणी आदि की रक्षा करो। मेरे मन को तृप्त करो। मेरी आत्मिकशक्ति की रक्षा करो और मुझे ज्ञान की ज्योति प्रदान करो।

आचार्य शिष्य को सम्बोधन करते हुए कहता है कि हे शिष्य! तेरे मन की शक्ति बढ़े, तेरी वाणी की शक्ति बढ़े, तेरे प्राण की शक्ति बढ़े, तेरी आंख और कान आदि इन्द्रियों की शक्ति बढ़े। इस समविकास को ही वैदिक शिक्षा का आदर्श और मुख्य ध्येय माना गया है। यह सम विकास ब्रह्मचर्य के भली भांति पालन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिये वेदों में उसकी इतनी महिमा गाई गई है।

वैदिक धर्म की अन्य मतों से दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मनुष्य के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय सब प्रकार के कर्तव्यों का बड़ी उत्तमता से प्रतिपादन किया गया है। इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की गई। वैयक्तिक कर्तव्यों में से मुख्य सर्वतोमुख समविकास के अतिरिक्त पूर्ण पवित्रता और आत्म संयम है। शारीरिक, वाचिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों का विकास समाज और राष्ट्र के लिये हानिकारक हो सकता है यदि इन शक्तियों को पवित्र बनाकर उनका सदुपयोग न किया जाए। वेद भगवान् इसीलिये वाणी, चित्त आदि की पवित्रता पर बहुत अधिक बल देते हैं:—

(१) चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।

तस्यते पवित्र पते पवित्र पूतस्य यत्कामः पुनेतच्छकेयम्॥ यजु० ४।४

(२) पवमानः सो अद्यनः पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता स पुनातु नः॥ ऋग्वेद ६।६७।२२

(३) 'वयं घत्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परिस्तोतार आसते॥ साम पू-३।७।६

(४) पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो आरिष्टतातये॥ अथर्व ६।१६

इत्यादि मन्त्रों में जो यहां चारों वेदों से उद्धृत किये गये हैं चित्त, वाणी आदि सबकी पवित्रता की प्रार्थना है यथा चित्त का स्वामी मुझे पवित्र करे, वाणी का स्वामी मुझे पवित्र करे। सर्वोत्पादक सर्वप्रकाशक भगवान् सूर्य की किरणों के साथ मुझे पवित्र करे। हे पवित्रता के स्वामिन्! तेरी पवित्रता से अपने को पवित्र करता हुआ मैं शुभ कामनाओं की पूर्ति में समर्थ हो सकूं।

(२) जो सर्वज्ञ परमेश्वर सबको पवित्र करने वाला है वह अपने पवित्र तेज से हमें पवित्र बनाये।

(३) हे पापनाशक प्रभो! हम उपासक जल के समान शान्त और पवित्र बनकर पवित्रता के तेरे स्रोत में स्नान करते और तुझ पवित्र की गोद में बैठते हैं।

(४) सबको पवित्र करने वाला परमेश्वर उत्तम ज्ञान और कर्म के लिये, बल के लिये, उत्तम जीवन के लिये तथा नीरोगता (स्वस्थता) के प्रसार के लिये हमें सदा पवित्र बनाए।

वैदिक सन्ध्या में प्रतिदिन "भू पुनातु शिरसि" इत्यादि द्वारा सब अङ्गों की पवित्रता के लिये प्रार्थना की जाती है। वेद में धन को बुरा नहीं माना गया किन्तु उसको भी शुद्ध होकर कमाने और भोगने का उपदेश

"शुद्धोरयिंनिधारय शुद्धोममद्धि सोम्यः"॥ ऋग्वेद ५।६।५

इत्यादि मन्त्रों द्वारा दिया गया है जिनका अर्थ स्पष्ट है कि तू शुद्ध पवित्र बनकर ही ऐश्वर्य को धारण कर, धन कमा और शुद्ध और शान्त होकर आनन्द भोग कर। पाप युक्त धन अथवा पाप साधनों से उपार्जित धन की वेद में घोर निन्दा की गई है।

प्रपतेतः पापिलक्ष्मि, नश्येतः प्रामुतः पत ॥ अ० ७।११५।१

रमन्तां पुण्यालक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥ अ० ७।११५।४

इत्यादि में पुण्य-धर्म युक्त साधनों से प्राप्त ऐश्वर्य के भोगने किन्तु पापयुक्त लक्ष्मी के नाश करने का उपदेश और वैसा ही दृढ़ संकल्प है।

पारिवारिक कर्तव्य :—

पारिवारिक कर्तव्यों का भी वेदों में बड़ा सुन्दर और स्पष्ट उपदेश है ऋ० १०।८५ सम्पूर्ण सूक्त विवाह विषयक है जिसमें गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हुए वर वधू की ईश्वर को साक्षी जानकर की हुई गम्भीर प्रतिज्ञाओं का वर्णन है।

"समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापोहृदयानि नौ। संमातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री दधातु नौ ॥

ऋ० १०।८५।४७

इत्यादि मन्त्र इस विषय में उल्लेखनीय हैं जिनका भाव यह है कि यज्ञ मण्डप में उपस्थित सब विद्वानों के सन्मुख इस बात की घोषणा करते हैं कि हमारे हृदय जल के समान पवित्र, शान्त और परस्पर मिले हुए रहेंगे। जिस प्रकार प्राण वायु हमें प्रिय है ऐसे हमारा परस्पर प्रेम रहेगा। परमात्मा ऐसी ही कृपा करें जिससे हमारा प्रेम सदा स्थिर रहे, इत्यादि।

यजुर्वेद के १२ वें अध्याय के निम्न २ मन्त्र पति पत्नी कर्तव्य को बड़े ही स्पष्ट और उत्तम शब्दों में प्रतिपादन करते हैं:—

'समित ꣳ संकल्पेथा ꣳ संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। इषमूर्जमभि संवसानौ ॥

यजु० १२।५७

'संवां मनांसि संव्रता समुचित्तान्याकरम् ॥ यजु० १२।५८

अर्थात् तुम दोनों मिलकर एक हो जाओ, अपनी इच्छाओं को मिला दो (इषम्—इच्छाम् सम् इतम्), एकीभावं प्राप्नुतम् इति दयानन्दर्षिः) दोनों का संकल्प समान हो तो दोनों अपनी शक्ति को बढ़ाओ (ऊर्ज-पराक्रमम् समर्थयतामिति दयानन्दर्षिः) (संप्रियौ) परस्पर सदा प्रेम रक्खो (रोचिष्णू) विषयासक्ति रहित होकर तेजस्वी बनो (सुमनस्यमानौ) मन को उत्तम विचारयुक्त और प्रसन्न रखकर मित्रवत् परस्पर व्यवहार करो (सुमनसौ सखायौ विद्वांसा विवाचरन्तौ—दयानन्दर्षिः) उत्तम वस्त्रालङ्कारादि से सुभूषित हो।

मैं (आचार्य) दोनों पति पत्नी के मनों सत्य भाषण आदि व्रतों और चित्तों अथवा वेदोपदिष्ट धर्मकार्यों को (संज्ञप्तानि धर्म्माणि कर्माणीति दयानन्दर्षिः) मिलाता हूं तुम दोनों सदा प्रेम से अपने कर्तव्यों का पालन करते रहो ऐसा उपदेश करता हूं।

अथर्ववेद ३। ३० में भी इन पारिवारिक कर्तव्यों का बड़ा गम्भीर और सुन्दर उपदेश है जिसमें से निम्न २ मन्त्रों का उल्लेख पर्याप्त है :—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
अ० ३।३०।१

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवान्॥
अ० ३।३०।२

अर्थात् मैं (ईश्वर अथवा आचार्य) तुम सब परिवार के सदस्यों के हृदय और मन को मिलाकर द्वेष भाव को सर्वथा दूर करता हूं। तुम आपस में ऐसे प्रेम करो जैसे गाय नये उत्पन्न बछड़े से करती है।

पिता पुत्र के शुभ संकल्प के अनुसार कार्य करने वाला हो और माता के साथ उसका मन मिला हुआ हो। पत्नी पति के साथ ऐसी वाणी का प्रयोग करे जो मधुर और शान्ति देने वाली हो॥ इत्यादि

सामाजिक कर्तव्यः—

(१) संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्॥ ऋ० १०।१९१।२

(२) समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ऋ० १०।१९१।४

(३) समानं चेतो अभिसंविशध्वम्॥ अथर्व० ६।६४।२

इत्यादि मन्त्रों में वेद भगवान् हमारे सामाजिक धर्मों व कर्तव्यों का बड़ा सुन्दर और स्पष्ट उपदेश देते हैं जिनमें बताया गया है कि हे मनुष्यो! तुम सब मिलकर एक लक्ष्य की ओर जाओ। मिलकर प्रेम से परस्पर संवाद करो और अपने मन को सुसंस्कृत तथा ज्ञान सम्पन्न करो।

तुम सबके संकल्प समान हों। तुम्हारे हृदय और मन समान हों जिससे तुम परस्पर मिलकर बैठ सको तथा तुम्हारा परस्पर सहयोग हो सके।

तुम समान चित्त में प्रवेश कर जाओ। तुम्हारे अन्दर किसी प्रकार का विरोध भाव वा वैमनस्य न रहे।

वैदिक धर्म में मनुष्यों की भिन्न २ प्रवृत्तियों और शक्तियों को ध्यान में रखते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन गुणकर्म स्वभाव पर आश्रित चार वर्णों का विधान सारे समाज के कल्याणार्थ अवश्य किया गया है किन्तु साथ ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इनमें से जन्म से कोई छोटा बड़ा नहीं है। सब मनुष्य भाई हैं क्योंकि परमेश्वर उन सबका पिता और पृथ्वी माता है।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥ ऋ० ५।६०।५

प्रत्येक मनुष्य को सब वर्णस्थ मनुष्यों के हितकारक कार्य करके उनका प्रिय (प्रेम पात्र) बनना चाहिये तथा सबके तेज की वृद्धि के लिये प्रार्थना करनी चाहिये यह बात वेदों के

प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु । प्रियं सर्वस्य पश्यत उत आ शूद्र उतार्य्ये ॥ अथर्व० १६।६२।१

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु, रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम् ॥

इत्यादि मन्त्रों द्वारा स्पष्ट है जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र सबको प्रेम की दृष्टि से देखने तथा उनके प्रिय बनने का स्पष्ट उपदेश है ।

"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।" यजु० ३६।१८

इत्यादि मन्त्र भी इस विषय में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं, जिनमें सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने का प्रार्थना रूप से उपदेश है ।

राष्ट्रीय कर्तव्य—

मातृ भूमि और राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों का भी वेदों में अत्युत्तम प्रतिपादन किया गया है ।

ऋग्वेद १०।१८।१० में कहा है 'उपसर्प मातरं भूमिमेताम् ।'

अर्थात् हे मनुष्य तू इस मातृ भूमि की सेवा कर ।

यजुर्वेद अ० ६ में कहा है—"नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै ।"

अर्थात् मातृ भूमि को हमारा नमस्कार हो हमारा बार २ नमस्कार हो ।

अथर्व० का १२ वां सम्पूर्ण काण्ड ही राष्ट्रीय कर्तव्यों का द्योतक है जिसमें कहा है कि— " माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः "

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को सदा यह भावना अपने मन में रखनी चाहिये कि यह भूमि हमारी माता है और हम इसके पुत्र हैं ।

आगे इस सूक्त में प्रार्थना की गई है कि— 'ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अभि-भूम्याम् । ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेमते । अ० १२।५६

अर्थात् हे मातृ भूमि ! जो तेरे ग्राम हैं, जो जंगल हैं, जो सभा, समिति (कौन्सिल) तथा संग्राम स्थल हैं हम उनमें से किसी भी स्थान पर क्यों न हों सदा तेरे विषय में उत्तम ही विचार तथा भाषणादि करें—तेरे हित का विचार हमारे मन में सदा बना रहे ।

मातृ भूमि अथवा राष्ट्र के लिये प्राणों तक की बलि देने को उद्यत रहना चाहिए यह बात 'उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः । दीर्घं न आयुः प्रति बुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ अथर्व १२।६२ में कही गई है जिसका तात्पर्य यह

है कि हे मातृ भूमे ! हम सर्व रोग रहित और स्वस्थ होकर तेरी सेवा में सदा उपस्थित रहें। तेरे अन्दर उत्पन्न और तैयार किये हुये (स्वदेशी) पदार्थ ही हमारे उपयोग में सदा आते रहें। हमारी आयु दीर्घ हो। ज्ञान सम्पन्न होकर हम (आवश्यकता पड़ने पर) तेरे लिये अपने प्राणों तक की बलि को लाने वाले हों। इससे उत्तम राष्ट्रीय धर्म का उपदेश क्या हो सकता है? राष्ट्र के ऐश्वर्य को भी खूब बढ़ाने का यत्न करना चाहिए इस बात का वैदिक धर्म उपदेश देता है। जहां भगवान् से वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक कल्याण के लिये प्रार्थना की जाती है वहां प्रत्येक देश भक्त को यह भी प्रार्थना प्रतिदिन करनी चाहिए और इसके लिये प्रयत्न करना चाहिए कि –

स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्र जूतं तस्यते रातौ यशसः स्याम ॥ (अथर्व ६।३६।२)

अर्थात् हे परमेश्वर ! आप हमें परमेश्वर्य सम्पन्न राष्ट्र को प्रदान करें। हम आपके शुभ दान में सदा यशस्वी होकर रहें।

राष्ट्र की उन्नति किन गुणों के धारण करने से हो सकती है इस बात को वेद भगवान् "सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति' (अथर्व १२।१) "ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्" (अथर्व १२।१७) इत्यादि शब्दों द्वारा बताते हैं कि सत्य, विस्तृत अथवा विशाल ज्ञान, क्षात्र बल, ब्रह्मचर्यादि व्रत, सुख, दुःख, सर्दी गर्मी, मान अपमानादि द्वन्द्वों को सहन करना, धन और अन्न, स्वार्थत्याग सेवा और परोपकार की भावना ये गुण हैं जो पृथिवी को धारण करने वाले हैं। इन सबको एक शब्द 'धर्म' के अन्दर रखते हुए आगे कहा है कि यह पृथिवी धर्म द्वारा धारण की जाती है।

इनके अतिरिक्त मातृ भाषा, मातृ संस्कृति और मातृभूमि इन तीन को इड़ा, सरस्वती, मही नाम से पुकारते हुए वेद इनको हृदय में सदा स्थान देने का उपदेश करते हैं जैसे कि 'इड़ा सरस्वती मही, तिस्रो देवीर्मयो भुवः। बर्हिः सीदन्त्व स्रिधः ॥ (ऋग्वेद)

इस मन्त्र में उन्हें कल्याणकारिणी देवी बताते हुए यह प्रार्थना है कि वे हमारे हृदय में सदा विराजमान रहें अर्थात् अपनी भाषा, अपनी उत्तम संस्कृति और मातृभूमि की उन्नति का विचार हमारे मन में सदा बना रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्य समाज जिस वैदिक धर्म का देश देशान्तर में प्रचार करना चाहता है वह कोई संकुचित, अनुदार सम्प्रदाय नहीं है किन्तु उसके अन्दर व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति में सहायक सभी गुणों और कर्तव्यों का समावेश है। ज्ञान कर्म और उपासना (भक्ति) का वैदिक धर्म में सुन्दर मेल है। केवल ज्ञान, केवल कर्म और केवल भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। तीनों के समुच्चय से ही मोक्ष वा परमानन्द प्राप्त होता है। यह वैदिक धर्म की शिक्षा है। श्रद्धा और मेधा (शुद्ध बुद्धि वा तर्क) का सुन्दर मेल वैदिक धर्म सिखाता है। जहां वेद हमें —

"श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि । श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचिश्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥"
(ऋग्वेद १०/१५१/५)

इत्यादि मन्त्रों द्वारा प्रातः, मध्यान्ह और सूर्यास्त के समय श्रद्धा को धारण करने और अपने जीवन को श्रद्धामय बनाने का उपदेश करते हैं वहां साथ ही वे हमें मेधा व शुद्ध बुद्धि को भी हर समय धारण करने का ही उपदेश देते हैं 'मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि । मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसावेशयामहे ।"
अथर्व वेद

इत्यादि मन्त्र इस विषय में स्पष्ट हैं जहां प्रातः मध्यान्ह सायं, सूर्य की किरणों के साथ मेधा अथवा शुद्ध बुद्धि वा तर्क को हम अपने अन्दर धारण करें। हमारे सब विचार और कर्म शुद्ध बुद्धि द्वारा प्रेरित हों यह भाव है। वैदिक धर्म की श्रद्धा अन्ध विश्वास नहीं है किन्तु उस का शब्दार्थ ही श्रत्+धा अर्थात् सत्य का धारण करना है। शुद्ध बुद्धि वा तर्क द्वारा सत्य के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उसे सम्पूर्णतया अपने अन्दर धारण करना कठिन से कठिन आपत्तियों के आने पर भी उसे न छोड़ना यही श्रद्धा है। वैदिक धर्म इस प्रकार श्रद्धा और मेधा (शुद्ध बुद्धि वा तर्क) के मेल का उपदेश देता तथा इसी के लिये प्रार्थना करना सिखाता है।

"अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जात वेदसे । स मे श्रद्धां च मेधां च जात वेदाः प्रयच्छतु ॥" (अथर्व १६।६४।१) इत्यादि मन्त्रों का यही तात्पर्य है। "मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं चयत्।" (अथर्व २०।२।२६) इत्यादि मन्त्रों द्वारा ज्ञानी के लिये मस्तिष्क (दिमाग) और हृदय (दिल) को सीकर काम करने का उपदेश देते हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अन्य मत मतान्तरों में प्रायः यह कहा जाता है कि मजहब की बातों में अक़्ल का दखल नहीं। धर्म के विषय में तर्क करने को नास्तिकता का चिन्ह समझा जाता है और इसे बुरा माना जाता है। केवल विश्वास पर जोर दिया जाता है जिसका परिणाम मरियम कुमारी से ईसा की उत्पत्ति, चार रोटी के टुकड़ों से हज़ारों आदमियों का पेट भरना, पानी को शराब बना देना, मुर्दों को जीवित कर देना, कबर में से निकल पड़ना जैसी प्रकृति नियम विरुद्ध असम्भव बातों को मानना हो जाता है किन्तु वैदिक धर्म इस प्रकार की बातों को नहीं मानता। इसकी विशेषता यह है कि यह प्रत्येक बात में बुद्धि और तर्क को काम में लाने का उपदेश देता है। यह तर्क को बुरा नहीं किन्तु ऋषि मानता है। (तर्को वै ऋषिः—तस्मै तर्कमृषिं प्रायच्छन् निरुक्तः) इस के सिद्धान्त युक्तियुक्त और दार्शनिक हैं। पश्चात्य विद्वानों में से भी जिन्होंने निष्पक्षपात होकर वैदिक धर्म का समझने का यत्न किया है उन्होंने इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया है और उनमें से कइयों ने इस पर अत्यन्त आश्चर्य भी प्रकट किया है उदाहरणार्थ—मि० ब्राउन (W. D. Brown) नामक अंग्रेज विद्वान ने The Superiority of the

Vedic Religion (वैदिक धर्म की श्रेष्ठता) नाम की पुस्तक में वैदिक धर्म के विषय में स्पष्ट लिखा है कि—

"It (Vedic religion) recognises but one God. It is a *thoroughly scientific religion where religion and science meet hand in hand.* Here theology is based upon Science and Philosophy."

अर्थात् वैदिक धर्म एकेश्वरवाद का प्रतिपादक है। यह एक सम्पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म है जिसमें धर्म और विज्ञान हाथ में हाथ मिला कर चलते हैं। यहां धार्मिक सिद्धान्त विज्ञान और तत्वज्ञान पर अवलम्बित हैं। सुप्रसिद्ध फ्रान्सीसी विद्वान् जैकोलियट् (Jacolliot) ने अपनी विख्यात पुस्तक "The Bible in India" में भिन्न २ मतग्रन्थों के संसार की उत्पत्ति विषयक विचारों को देते हुए बड़े आश्चर्य के साथ लिखा है—

"Astonishing fact! The Hindu Revelation (Veda) is of all Revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern Science, as it proclaims the slow and gradual formation of the World."

अर्थात् एक बड़ी आश्चर्यजनक सच्चाई है वह यह कि ईश्वरीय ज्ञान समझे जाने वाले सब ग्रन्थों में से हिन्दुओं का ईश्वरीय ज्ञान (वेद) ही केवल ऐसा है जिसके विचार वर्तमान विज्ञान के पूर्णतया अनुकूल हैं क्योंकि यह जगत् की धीरे धीरे क्रमिक रचना का प्रतिपादन करता है।

श्रीमती ह्वीलर विल्लाक्स (Mrs. Wheeler Willox) नामक अमेरिकन विदुषी ने इस विषय में निम्न महत्त्वपूर्ण वाक्य कहे हैं जो सर्वथा यथार्थ हैं जैसे कि अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है—

"We have all heard and read about the ancient religion of the Vedas. It is the land of the great Vedas— the most remarkable works containing not only religious ideas for a perfect life, but also facts which all the science has since proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seemed to be known to the seers who found the Vedas."

अर्थात् हम सबने वेदों के प्राचीन धर्म के विषय में सुना या पढ़ा है। यह (भारत) उन वेदों की भूमि है जिन में न केवल पूर्ण जीवन विषयक धार्मिक विचार पाये जाते हैं बल्कि ऐसी सच्चाइयां पाई जाती हैं जिन्हें अब विज्ञान ने सत्य प्रमाणित कर दिया है। वैदिक ऋषियों को बिजली, रेडियम्, ऐलक्ट्रान्स, विमान आदि के विषय में ज्ञान था ऐसे प्रतीत होता है।

विस्तार भय से इस विषयक इतने ही उद्धरण यहां पर्याप्त हैं। ऋषि दयानन्द, पं० सत्यव्रतजी सामाश्रमी, M. R. A. S. सुप्रसिद्ध विचारक और योगी श्री अरविन्द,

जस्टिस परम शिव ऐयद्, श्री पावगी सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वानों के वेदों के वैज्ञानिक तत्त्व प्रतिपादक वाक्यों को यहां उद्धृत नहीं किया जा सकता ताकि लेख अत्यधिक विशालकाय न बन जाए।

अब तक जिस वैदिक धर्म के व्यापक रूप का हमने उपर्युक्त पंक्तियों में दिग्दर्शन किया है उसके मुख्य सिद्धान्तों को पाठक महोदयों के सम्मुख रखना अप्रासङ्गिक न न होगा जो संक्षेप में निम्न हैं—

(१) ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान् , न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

इस प्रकार, अनेकेश्वर वाद, अवतार वाद, अद्वैतवाद, मूर्ति पूजा, बहु देवता पूजा आदि वैदिक धर्म के विरुद्ध हैं इस बात को स्पष्ट समझ लेना चाहिये। "य एकइत् तमुष्टुहि, कृष्टीनां विचर्षणिः। पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः॥" (ऋग्वेद अ० ४/७/२४) एक एव नमस्यो विद्वीड्यः (अथर्व २/१/२) न द्वितीयो न तृतीय श्चतुर्थो नाप्युच्यते ... ... स एष एक एक वृदेक एव (अथर्व वेद ... .) इत्यादि सैंकड़ों मन्त्रों में यह बात स्पष्ट की गई है कि वेद एक सर्वव्यापक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान भगवान् की ही मानसिक पूजा का उपदेश देते हैं अन्य किसी की नहीं। इन्द्र मित्र वरुण अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग मुख्यतया उसी एक परमात्मा के अनेक गुणों को सूचित करने के लिये वेदों में किया गया है यह 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः ससुपर्णोगरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋ० १/१६४/४६) "योदेवानां नामधा एक एव" (ऋ० १०/८२/३) इत्यादि मन्त्रों से स्पष्ट है जहां साफ कहा गया है कि ज्ञानी लोग एक ही परमेश्वर को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक गुण सूचक नामों से पुकारते हैं। इस तत्त्व को न समझ कर ईसाईमत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिये कई पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों की जो Polytheistic (अनेकेश्वरवादी) वा Henotheistic (समकक्षवादी) सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह सर्वथा निन्दनीय है। यह प्रसन्नता की बात है कि बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने भी निष्पक्षपात होकर इस बात को स्वीकार किया है कि वेदों में एक ही ईश्वर की पूजा का विधान है। मि० ब्राऊन की पुस्तक से उद्धरण पहले दिया जा चुका है। Count Bjornsjerne ने वेदों के कई मंत्रों को उद्धृत करते हुए लिखा है:—

"These truly sublime ideas cannot fail to convince us that the *Vedas recognise only one God*, who is Almighty, Infinite, Eternal, Self-existant, the Light and Lord of the universe."

अर्थात् इन सचमुच उच्च विचारों से हम इस बात पर विश्वास किये बिना नहीं रह सकते कि वेद केवल एक ईश्वर को स्वीकार करते हैं जो सर्व शक्तिमान् , अनन्त, नित्य, स्वयम्भू और जगत् का प्रकाशक और स्वामी है।

ऐसे ही अर्नेस्ट वुड् (Ernest Wood) नामक पाश्चात्य विद्वान् ने 'An Englishman defends Mother India' नामक पुस्तक में स्पष्ट लिखा है:—

'In the eyes of the Hindus, there is but one God. This was stated long ago in the Rigveda in the following words "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति "which may be translated as "The sages name the one being variously" अर्थात् हिन्दुओं की दृष्टि में केवल एक ही ईश्वर है इस बात को बहुत प्राचीन काल में वेदों में इस प्रकार बताया गया था कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् ईश्वर एक है उसको विद्वान् लोग अनेक नामों से पुकारते हैं।

ऐसे ही जर्मन दार्शनिक श्लीगल, चार्ल्स कोलमैम, कोलब्रुक और यहां तक कि अपने अंतिम ग्रन्थ 'Six Systems of Philosophy' में जो ऋषिदयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के पढ़ने के पश्चात् लिखा गया प्रो० मैक्स मूलर ने स्वीकार किया है कि वेदों में वस्तुतः एकेश्वर का प्रतिपादन किया गया है और अग्नि, इन्द्र, मातरिश्वा, प्रजापति आदि उस एक ईश्वर के ही अनेक गुण सूचक नाम हैं।

कर्म नियम—वैदिक धर्म का द्वितीय मुख्य सिद्धांत कर्म नियम का है जिसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसे अच्छे या बुरे कर्म करता है उसके अनुसार ही वह सर्वज्ञ न्यायकारी भगवान् के न्याय से अच्छा या बुरा फल पाता है हम किसी भी अवस्था में और किसी की भी सिफारिश से अपने किये हुये कर्मों के फल से छुटकारा नहीं पा सकते। काशी हरिद्वार, जगन्नाथपुरी, द्वारका, रामेश्वरम्, प्रयाग इत्यादि 'तीर्थ स्थानों' की यात्रा और गङ्गा, यमुना, कावेरी, गोदावरी, सरस्वती आदि 'तीर्थ नदियों' में स्नान से पाप नाश हो जाता है यह पौराणिक भाइयों तथा मक्का-मदीना, जेरुसलम आदि की यात्रा अथवा ईसामसीह, मुहम्मद पैगम्बर इत्यादि में विश्वास रखने से किये हुये कर्मों के फल से हम बच जाते हैं या स्वर्ग पा सकते हैं इत्यादि मत मतान्तरों के विश्वास बुद्धि विरुद्ध और पापवर्धक होने के कारण अमान्य हैं। कर्मों का फल भोगने और अनेक प्रकार का अनुभव लेने के लिये एक जन्म ही पर्याप्त नहीं है अतः अनेक जन्म लेने पड़ते हैं जब तक सत्यज्ञान, शुभकर्म और सच्ची उपासना के द्वारा मनुष्य मुक्ति के योग्य नहीं हो जाता यह वैदिक धर्म का सिद्धान्त है जो सर्वथा न्याय और तर्क सम्मत है और जिसके द्वारा ही जगत् में दिखाई देने वाली विषमता की सन्तोषजनक व्याख्या हो सकती है अन्यथा ईश्वर को पक्षपाती और स्वेच्छाचारी शासक के रूप में मानना पड़ता है जो अनुचित है। विस्तार भय से इस विषय पर अधिक प्रकाश यहां नहीं डाला जा सकता। पूर्व जन्म की स्मृति के सैंकड़ों उदाहरण (देहली की शान्ति देवी नामक बालिका आदि के) जिनकी निष्पक्षपात परीक्षा की जा चुकी है पुनर्जन्म सिद्धान्त की सत्यता को स्पष्ट प्रमाणित करते हैं।

(३) वैदिक धर्म का तीसरा मुख्यतत्त्व वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को उन्नत तथा विकसित करना है। वैदिक धर्म मनुष्य जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार गुणकर्म स्वभाव पर आश्रित वर्णों में बांटता है जिस से प्रत्येक व्यक्ति अपनी सब शक्तियों का विकास करके उसे समाज सेवा में लगा सके। जैसे किसी दूर स्थान पर पहुँचने के लिये कुछ पड़ाव करने पड़ते हैं वैसे ही ब्रह्मप्राप्ति रूप लक्ष्य की पूर्ति के लिये इन चार आश्रमों की साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकता है जिसके कई अत्युच्च व्यक्ति ही अपवाद हो सकते हैं जो ब्रह्मचर्य से ही सन्यास ग्रहण के लिये योग्य हो सकें। वर्तमान जन्मसिद्ध जाति भेद जिसने हिन्दू समाज को कई हजार जातियों, उपजातियों में बांट रखा है और अस्पृश्यता (अछूतपन) की प्रथा जिसने लगभग ६ करोड़ व्यक्तियों को हमसे अलग कर रखा है वैदिक धर्म की शिक्षा सर्वथा विरुद्ध है जो विश्व बन्धुत्व की अत्यन्त उदात्त शिक्षा देती है जैसे कि पहले दिखाया जा चुका है।

(४) वैदिक धर्म का चतुर्थ मुख्य तत्व यज्ञ भावना को जागृत और विकसित करने का है। वैदिक यज्ञ के अन्तर्गत भावना स्वार्थत्याग और सेवा की भावना है। यह अपने अन्दर विद्यमान पशुता का विनाश करना सिखाता है न कि गरीब पशुओं पर छुरी फेरना जैसे कि अज्ञान और स्वार्थवश लोगों ने अन्धकार युग में समझ लिया। यज्ञ शब्द जिस यज धातु से बना है उसके अर्थ देव पूजा, सङ्गतिकरण और दान के हैं। भगवान् को सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ मानकर हृदय में उसकी पूजा, ध्यान तथा सत्यनिष्ठ विद्वानों का सत्कार, सबके साथ मिलकर समाज और देश की उन्नति के लिये निरन्तर प्रयत्न और देशकाल पात्र का विचार करके दान देना, ये सब यज्ञ के अङ्ग हैं। इस प्रकार वस्तुतः मनुष्य को उन्नत करने वाले परोपकारार्थ किये हुये सभी शुभ कर्मों का यज्ञ शब्द में समावेश हो जाता है। अतः हमें अपने जीवन को यज्ञमय बनाने का यत्न करना चाहिये।

१९ वीं शती के धार्मिक आन्दोलन व आर्य समाज

[ले० पं० हरिदत्त वेदालंकार गुरुकुल कांगड़ी]

---

१९ वीं शती की धार्मिक सुधारणा प्रवृत्तियों के भेद तीन स्थूल भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। १-बीजवपन या तैयारी का काल। २-उग्र सुधार आन्दोलनों का काल। ३-कट्टर सुधार आन्दोलनों का काल। पहला काल सुधार आन्दोलनों के कारण उपस्थित करने वाला तथा उनके अनुकूल भूमि तैयार करने वाला था। अङ्गरेजी शिक्षा और मिशनरियों के प्रचार से भारतीय धर्मों के लिये एक भयंकर भय उत्पन्न हो गया था। अधिकांश शिक्षितों की नास्तिकता, संदेहवाद तथा आचार शैथिल्य समझदार शिक्षितों के मनों को संतप्त कर रहा था। विषैला मिशनरी प्रचार हिन्दु धर्म व इस्लाम

की मज़ाक उड़ाकर साधारण जनता में उन धर्मों की आस्था घटाने का प्रयत्न कर रहा था। इन परिस्थितियों में यह अनिवार्य हो गया कि पुराने धर्मों की रक्षा की जाय। १६ वीं शती के पहले ८८ वर्ष इन धार्मिक आन्दोलनों की तैयारी का समय था। १८०८—१८७० तक उग्र सुधार आन्दोलनों का काल था। इस समय के सुधारक हिन्दु धर्म में आमूल चूल परिवर्तन करना चाहते थे। इनमें ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज प्रमुख हैं। ब्रह्म समाज ने हिन्दू धर्म में बहुत जबर्दस्त सुधार करने चाहे और तर्कवाद (Rationalism) के नाम पर उसने धीरे धीरे सभी मौलिक या आधारभूत हिन्दु सिद्धान्तों का त्याग किया। मूर्ति पूजा और जाति भेद की कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार करते हुए, ब्रह्म समाज ने शीघ्र ही वेदों की निर्भ्रान्तता और कर्मवाद आदि प्रमुख हिन्दु सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि दे दी। १८७२ के स्पेशल मैरिज एक्ट से ब्रह्म समाज ने कानूनी दृष्टि से भी अपने को शेष हिन्दुसमाज से पृथक् कर लिया। प्रार्थना समाज के सुधार ब्रह्म समाज से बहुत मिलते-जुलते थे, किन्तु हिन्दु समाज के साथ उनका सम्बन्ध कभी विच्छिन्न नहीं हुआ।

किन्तु उन्नीसवीं शती का अन्तिम चरण उग्र सुधार आन्दोलनों की प्रतिक्रिया का काल था। हिन्दू धर्म के समर्थक उस समय तक सचेत हो चुके थे और उन्होंने न केवल ईसाइयों के खतरे को अनुभव किया किन्तु उग्र सुधार आन्दोलनों को सुधारों द्वारा हिन्दु धर्म के मौलिक सिद्धांतों की उपेक्षा एवं तिरस्कार को भी भली भांति अनुभव किया। ५० वर्ष पहले जहां हिन्दु धर्म शिक्षित समाज निरादर एवं निन्दा की दृष्टि से देखा जाता था उसके अनुष्ठानों और क्रिया कलाप की हंसी उड़ायी जाती थी। अब उसी हिन्दु धर्म का तथा उसके सभी तत्वों का समर्थन एवं सुन्दर व्याख्या की जाने लगी और प्रत्येक हिन्दु प्रथा और रूढ़ि का चाहे वह कितनी दूषित और सामाजिक दृष्टि से हानिकर ही क्यों न हो— आलंकारिक ढंग से इस प्रकार वर्णन किया जाने लगा कि वह प्रथा स्पृहणीय और आदर्श समझी जाय। इस प्रकार के आन्दोलनों में श्रीरामकृष्ण परमहंस व स्वा० विवेकानन्द का प्रचार और थियोसोफी मुख्य थे।

इसी समय ऋषि दयानन्द के नेतृत्व में आर्य समाज का आन्दोलन शुरू हुआ यह आन्दोलन १६ वीं शती के धार्मिक आन्दोलनों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। न तो यह आन्दोलन ब्रह्म समाज के आन्दोलन की तरह उग्र था और न मौलिक हिन्दु सिद्धान्तों का परित्याग करने वाला था और न ही थियोसोफी आदि कट्टर हिन्दु आन्दोलनों की तरह समाज में प्रचलित प्रत्येक प्रथा और रूढ़ि का समर्थक था। हिन्दु धर्म के मूल तत्वों- वेद ईश्वर और कर्म आदि को सुरक्षित रखते हुए, प्रचलित कुरीतियों

एवं बुराइयों को दूर कर हिन्दु जाति को सबल एवं संघटित तथा भारतीय राष्ट्र को उन्नत एवं स्वतन्त्र बनाना इस आन्दोलन का परम लक्ष्य था। कालक्रम से इन आन्दोलनों के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा तथा उनमें आर्य समाज के विशिष्ट महत्व का ज्ञान उपयोगी एवं शिक्षाप्रद है।

उग्र सुधार आन्दोलन–

ब्रिटिश शासन की नींव सबसे पहले बंगाल में पड़ी। अतः इन धार्मिक सुधार आन्दोलनों का प्रारम्भ भी बंगाल से ही हुआ। बंगाल में इस आन्दोलन के जन्मदाता राजा राममोहनराय (१७७२–१८३३) थे। इनकी जाति ब्राह्मण और पैतृक व्यवसाय मुसलमान शासकों की सेवा थी। बचपन में श्री राममोहनराय ने अरबी फारसी पढ़ी। वे सूफी और मौसजली सम्प्रदायों की विचारधारा से प्रभावित हुए। बाद में उन्होंने बनारस में संस्कृत का अध्ययन किया और सहज तत्वान्वेषिणी बुद्धि से शीघ्र ही यह अनुभव किया कि सब धर्म एक ईश्वर को मानते हैं और धर्मों के झगड़े व्यर्थ हैं। घर लौट कर १६ वर्ष की अवस्था में, मूर्ति पूजा के विरुद्ध एक पुस्तिका लिखकर आपने बंगला भाषा में सर्व प्रथम गद्य रचना की। उनके पिता रमाकान्त मूर्त्ति पूजा के विरोध से, उन पर कुपित होगये और उन्होंने पुत्र को घर से निकाल दिया। राममोहनराय घर से निकल कर सत्य की खोज में इधर उधर भटकते रहे। कुछ लोगों का विचार है कि वे बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिये तिब्बत चले गये। कुछ समय बाद, पिता का रोष शान्त होगया और विद्रोही पुत्र को उन्होंने घर बुला लिया।

१७६६ से ही उन्होंने अंग्रेजी का अभ्यास शुरू कर दिया था और १८०४ में रंगपुर की कलक्टरी में वे मुहर्रिर नियत हुए। अपने कार्य में उन्नति करते हुए वे सरिश्तेदार के पद तक पहुंचे और १० वर्ष माल विभाग में सेवा कर, पर्याप्त वित्तोपार्जन कर उन्होंने सेवा से अवकाश ग्रहण किया। इस सारे समय में, वे बौद्ध, हिन्दु, जैन आदि धर्मों का अध्ययन करते रहे। १८११ में उन्होंने एक दारुण दृश्य देखा और इसने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। उनके बड़े भाई जगत् मोहन के मरने पर उनकी स्त्री को प्रचलित प्रथा के अनुसार सती होने के लिये वाध्य होना पड़ा। वह चिता पर बैठी किन्तु चिता की ज्वाला जब सह्य न हुई तो वह वहां से उठकर भागी। किन्तु सम्बन्धी धर्म का यह उल्लंघन कैसे सहन कर सकते थे, उन्होंने उसे जबर्दस्ती चिता पर रस्सियों से कस कर बांधा ताकि वह भाग न सके किन्तु उसका करुण चीत्कार दर्शकों के हृदयों को अब भी विदीर्ण कर रहा था। उस चीत्कार से त्राण पाने के लिये सम्बन्धियों ने शंख, खड़ताल तथा अन्य वाद्य बजाने शुरू किये ताकि उस अबला का आर्त्तनाद किसी व्यक्ति को कर्णगोचर न हो इस हृदय विदारक घटना ने राममोहनराय को सती प्रथा का कट्टर विरोधी बना

दिया और उनके तीव्र आन्दोलन के फलस्वरूप १८२६ में यह अमानुषी प्रथा कानून द्वारा बन्द कर दी गई।

कम्पनी की नौकरी से छुट्टी पाकर, कलकत्ते में बसकर उन्होंने सारा समय धर्मों के अध्ययन में बिताना शुरू किया। उन्होंने उपनिषदों व वेदान्त दर्शन के बंगला व अंग्रेजी में अनुवाद लिखे और प्राचीन हिन्दु धर्म की ओर लौटने तथा उपनिषदों के शुद्ध ईश्वर-वाद की उपासना पर बल दिया। उन्होंने थोड़ी यूनानी और इबरानी भी सीखी और ईसा के चमत्कारों के अंश को निकाल कर ईसा के उपदेशों को बंगला व संस्कृत अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। ईसाई ईसामसीह के चमत्कारों से शून्य ईसामसीह के उपदेशों के प्रकाशन से बहुत चिढ़े और दोनों ओर से उत्तर प्रत्युत्तर का क्रम प्रारम्भ हुआ। ईसाई मिशनरियों ने विद्वेषवश जब उनके उत्तर छापने से इन्कार किया तो उन्होंने अपना छापाखाना खोलकर ईसाइयों के विषमय प्रचार तथा हिन्दु धर्म पर मिशनरियों द्वारा भद्दे आक्षेपों का निराकरण किया। शुद्ध ईश्वरवाद की उपासना के लिये उन्होंने २० अगस्त १८२८ को चितपुर रोड पर ब्रह्मसमाज की पहली बैठक की। इसके बाद प्रति शनिवार इसके साप्ताहिक सत्संग होने लगे जिनमें वेद पाठ, उपनिषदों का बंगला अनुवाद और बंगला में उपदेश होते थे। वेद पाठ के लिये दो तेलुगु पण्डित बुलाये गये थे। वेदों का पाठ पर्दे के पीछे से होता था कि कहीं वेद भ्रष्ट न हो जायें।

राजा राममोहनराय १८३० में इंगलैण्ड चले गये। १८३३ में कम्पनी का चार्टर पेश होने पर उन्होंने पार्लियामैण्टरी कमेटी के समक्ष भारतीय शासन सुधार के सम्बन्ध में गवाही भी दी और उसी वर्ष ब्रिस्टल में उनका देहान्त हो गया।

राम मोहनराय के बाद ब्रह्म समाज के मुख्य नेता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर हुए। उन्होंने ब्रह्मसमाज के संगठन को, निश्चित नियम बनाकर सदस्यों से तथा प्रार्थना का एक रूप स्थिर कर, दृढ़ किया। प्रचारकों द्वारा प्रचार का कार्य प्रारम्भ हुआ। आधारभूत ग्रन्थों में वेद माना जाय या नहीं। इस विषय का निर्णय करने के लिये चार विद्यार्थी वेदाध्ययन के लिये बनारस भेजे गये। उन चार विद्यार्थियों की गवेषणा के बाद ब्रह्म समाज ने संपूर्ण वेद की निर्भ्रान्तता का विचार छोड़ दिया। वेदों के केवल वही भाग मान्य समझे गये, जो एकेश्वरवाद का समर्थन करते थे। एक प्रकार से, यह वेदों का छोड़ना ही था। श्री केशव चन्द्र सेन कहा करते थे कि श्री देवेन्द्रनाथ ने वेदों को छोड़ दिया था।

१८५७ में, ब्रह्म समाज में एक वैश्य जातीय अंग्रेजी शिक्षा सम्पन्न, अत्यधिक भावना प्रधान तथा वाग्मी युवक श्री केशव चन्द्र सेन का आगमन हुआ। इस युवक ने ब्रह्म समाज को नई भावना एवं स्फूर्ति से अनुप्राणिक किया। इसके विचार अधिक उदार थे और १८६० में इस उदारता के नाम पर अत्यंत प्राचीन काल से प्रत्येक हिन्दु को तीन ऋणों के स्मरण कराने वाले पवित्र यज्ञोपवीत को तिलाञ्जलि दी गई। केशव

चन्द्रसेन दिनों दिन ईसाइयत से अधिक प्रभावित हो रहे थे। १८६६ में श्री केशवचन्द्र-सेन ने सीले की पुस्तक Ecce Homo पढ़ी और उसके बाद उन्होंने 'ईसा मसीह-योरुप और एशिया' इस विषय पर एक व्याख्यान दिया। श्रोताओं पर यह असर पड़ा कि श्री केशवचन्द्रसेन अब शीघ्र ही ईसाई होने वाला है। ११ नव० १८६६ को श्री सेन ने ब्रह्मसमाज से पृथक् अपना नया समाज स्थापित किया जिसमें सामान्य प्रार्थना के बाद हिन्दु,ईसाई, मुस्लिम, पारसी और चीनी धर्मग्रन्थों के संदर्भ पढ़े गये। अब श्री केशवसेन न तो हिन्दु रहे और न उस धर्म के सुधारक। ब्रह्मसमाज का हिन्दु समाज से जो थोड़ा बहुत संबंध था, वह १८७२ के स्पेशल मैरिज एक्ट से टूट गया। इस कानून द्वारा ब्रह्म लोगों का समाज हिन्दु समाज से सर्वथा पृथक् स्वीकार किया गया।

ईसाइयत के विरोध में, हिन्दु समाज की रक्षा के लिये जो पहला बांध बना था, वह ईसाइयत के जबर्दस्त प्रवाह का मुकाबला न कर, उसी के साथ बह गया। ब्रह्म समाज का अगला इतिहास अनावश्यक है। उसमें व ईसाइयत में बहुत थोड़ा अन्तर रह गया था। एक लेखक ने लिखा है कि श्री केशवचन्द्रसेन ने ब्रह्म समाजको न केवल समाज सुधार और परोपकार के कार्यों की ओर प्रवृत्त किया अपितु उस समाज को ईसा के शिष्यत्व की ओर भी ले गया। यह स्पष्ट था कि ईसाई ब्रह्म समाज ईसाइयत के आक्रमणों से रक्षा करने के लिये हिन्दु धर्म व समाज की ढाल नहीं बन सकता था।

बम्बई प्रान्त में ब्रह्म समाज का दूसरा रूप प्रार्थना समाज के रूप में विकसित हुआ। १८३९ में तीन पारसियों तथा १८४३ में एक ब्राह्मण के ईसाई हो जाने से हिन्दुओं व पारसियों को अपने धर्मों की रक्षा के लिये सन्नद्ध होना पड़ा। शिक्षित हिन्दुओं ने प्रारम्भ में गुप्त तथा परमहंस सभाओं द्वारा सुधार करना चाहा किन्तु १८६० ई० में इनका रहस्योद्घाटन हो जाने से इस तरह के प्रयत्न बन्द हो गये। १६६४ ई० में श्री केशवचन्द्र सेन बम्बई आये और उनके व्याख्यानों का शिक्षित समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा और इसके तीन वर्ष बाद, १८६७ ई० में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। इसके नेता डा० आत्माराम पाण्डु रंग, राम कृष्ण गोपाल भंडारकर, महादेव गोविंद रानाडे आदि सज्जन थे। ये जाति प्रथा के उच्छेद, विधवा पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा प्रोत्साहन तथा बाल विवाह निषेध के सुधारों पर बल देते थे। इस समाज का संगठन कुछ निश्चित नियमों पर नहीं हुआ। 'वह केवल ऐसे व्यक्तियों का समूह रहा जो हिन्दु धर्म की अनेक कुरीतियों के विरुद्ध आन्दोलन करते थे, हिंदु समाज में सुधार चाहते थे किन्तु व्यवहार में हिन्दु कर्मकाण्ड व रूढ़ियों का पालन करते थे। यही कारण है कि प्रार्थना समाज एक शक्तिशाली संगठन नहीं बन सका और उसका प्रभाव सामाजिक सुधार के आन्दोलन के अतिरिक्त बहुत ही न्यून एवं नगण्य है।

पारसियों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के बाद, ईसाइयों के प्रचार से पारसी धर्म व समाज की रक्षा एवं कुरीतियों के सुधार के लिये १८५१ में शिक्षित पारसियों ने 'रहनुमाये मज्दायस्नान सभा' की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य पारसी समाज का पुनरुज्जीवन तथा पारसी धर्म को प्राक्तन पवित्रता की ओर लौटाना था। इसके नेता दादाभाई नौरोजी, जे० बी० वाचा आदि महानुभाव थे। 'रास्त गुफ्तार' पत्र द्वारा इन्होंने पारसी समाज में सुधार का प्रबल आन्दोलन किया।

मुसलमानों में धार्मिक सुधारों के नेता श्री सर सय्यद अहमद थे। १६ वीं शती में, राजकीय सभा छिन्न हो जाने से मुसलमानों की दशा निरन्तर गिरती जा रही थी। मुसलमानों में अपनी इस दशा से गहरा असन्तोष और रोष था। १८५७ के भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध में उनका यह रोष संयुक्त प्रांत में, अहमदशाह के नेतृत्व में उग्र रूप से प्रकट हुआ। कुछ अंग्रेजों ने इस्लाम को कुचलने का नारा बुलन्द किया*। मुसलमानों ने अंग्रेजों तथा अंग्रेजी शिक्षा से अलग रहने की नीति अपनायी और इस का परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों की स्थिति निरन्तर शोचनीय होने लगी।

इस शोचनीय दशा से मुसलमानों को उठाने का श्रेय सम्भ्रान्त कुलोत्पन्न तथा कम्पनी के सेवक तथा स्वतन्त्रता युद्ध में अंग्रेजों की पूरी सहायता देने वाले श्री सर सय्यद अहमद को है। उनका राजनैतिक महत्व हमारा विषय नहीं किन्तु राजनीति में मुसलमानों को उन्नत स्थान दिलाने के साथ साथ उन्होंने मुसलमानों में नये धार्मिक सुधारों का श्रीगणेश किया। कट्टर एवं रूढ़िग्रस्त इस्लाम को उन्होंने तर्क संगत बनाने का प्रयत्न किया। तर्क को ही उन्होंने परमप्रमाण स्वीकार किया। कठमुल्लापन को हटाने के, उनके इन प्रयत्नों का घोर विरोध हुआ और मौलवियों की ओर से उन्हें काफिर, मुताफ़िक आदि के खिताब मिले। हज़रत मुहम्मद तथा कुरान की शिक्षाओं को तर्क संगत बनाने का दूसरा प्रयत्न भारत के सर्व प्रथम प्रिविकौन्सिलर श्री अमीर अली ने किया। उन्होंने मुसलमानों के सामाजिक व नैतिक सुधारों का समर्थन किया*। बहुविवाह और दास प्रथा को निन्दनीय एवं त्याज्य बताया किन्तु कुरान शरीफ़, सुन्नत व हदीस स्पष्ट रूप से इनका समर्थन करते हैं इसलिये उन्होंने यह युक्ति क्रम उपस्थित किया कि यद्यपि इन ग्रन्थों से ये पद्धतियां पुष्ट होती हैं। किन्तु हज़रत मुहम्मद तथा इस्लाम की भावना इनको निमन्त्रित कर, इनका समूलनाश करना चाहती थी। ये विचार भी मुसलमानों में लोकप्रिय न हुये।

---

१. बी० डी० बसु —कनसोलिडेशन आफ दि क्रिश्चिअन पावर इन इण्डिया पृ० ३४-४२
* के. अमीर अली स्पिरिट् आफ इस्लाम।

कट्टर सुधार आन्दोलन–

योरोप की धार्मिक सुधारणा में, जिस प्रकार लूथर तथा अन्य सुधारकों के सुधारों के प्रतिकूल इगनेशियस लायोला ने जेसुइट सम्प्रदाय की स्थापना १८४० में की तथा ट्रेण्ट की महान् परिषद् (१५४५–६३) द्वारा प्रति सुधारणा (Counter Reformation) आन्दोलन शुरू हुआ, उसी प्रकार, १९ वीं शती की धार्मिक सुधारणा में श्री रामकृष्ण परम हंस व थियोसौफी के प्रयत्नों से एक प्रतिसुधारणा प्रारम्भ हुई। पहले आन्दोलन उदार एवं सुधारों की दृष्टि से बहुत अग्रगामी थे। वे तर्क को आधार मानकर चलने वाले थे और तर्क की कसौटी पर खरी न उतरने वाली रूढ़ियों एवं कुरीतियों से हिन्दू धर्म व पारसी तथा इस्लाम को मुक्त करना चाहते थे किन्तु नये आन्दोलन धर्म में आन्तरिक सुधार चाहते हुए भी, उसकी प्रत्येक रूढ़ि एवं मर्यादा की रक्षा करना चाहते थे। इन रूढियों एवं मर्यादाओं का तर्क एवं विज्ञान से समर्थन करते थे। १८७३ में कलकत्ता में, हिन्दु धर्म की रक्षा के लिये, सनातन धर्म रक्षिणी सभा स्थापित हुई किन्तु हिन्दु धर्म की पूर्ण रक्षा का प्रबलतम समर्थन श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द तथा थियासफी द्वारा हुआ।

रामकृष्ण परमहंस (उन का पहला नाम गदाधर चट्टोपाध्याय था) की साधना का इतिहास बहुत मनोरंजक है। हम यहां उसका केवल संक्षिप्त उल्लेख करेंगे। उनका जन्म २० फरवरी १८३४ ई० को हुआ। बचपन से उन्हें धार्मिक कथाओं में प्रबल अभिरुचि थी। १८५५ ई० में, कलकत्ते के उत्तर में, दक्षिवेश्वर के मन्दिर की स्थापना के बाद, उन के ज्येष्ठ भ्राता पं० रामकुमार इस मन्दिर के मुख्य पुरोहित नियत हुये और श्रीगदाधर उनके एक सहायक पुजारी बने। श्रीगदाधर अब काली को विश्व की तथा अपनी माता समझकर घंटों उसकी स्तुति, उपासना तथा कीर्तन में मग्न होकर, समाधि अवस्था को प्राप्त हो जाते थे। उनके माता पिता ने अपने पुत्र को समाधि से विरत करने का सर्वोत्तम उपाय विवाह समझा और १८५९ में षड्वर्षीया कन्या से उनका परिणय कर दिया गया; किन्तु विवाह के बाद, उनका धार्मिक भाव घटने के बजाय और तीव्र होने लगा। घंटों तक वे समाधि में अचेत पड़े रहते थे। मन्दिर के अधिकारियों को अब ऐसे पुजारी की आवश्यकता नहीं रही। अगले १२ वर्ष उनकी कठोर साधना के थे। इन दिनों एक धार्मिक तूफान ने उनके हृदय को विक्षुब्ध कर रखा था। इस विक्षोभ में तन्त्र आदि से परिचय रखने वाली योगाभ्यासनी एक ब्राह्मण सन्यासिनी उनकी मार्ग दर्शिका हुईं। उन्होंने अपना संचित उपार्जित सम्पूर्ण ज्ञान श्रीगदाधर को दिया किन्तु उनकी योगतृष्णा

शान्त नहीं हुई। फिर श्री लोनापुरी नामक वेदान्त शास्त्रज्ञ सन्यासी ने उन्हें सन्यास की दीक्षा दी। वे गदाधर से रामकृष्ण परमहंस हुए और श्री लोनापुरी महाराज से उन्होंने निर्विकल्प समाधि आदि अनेक नई बातें सीखीं।

उनके जाने के बाद भी राम कृष्ण लगभग छः मास तक समाधि की दशा में रहे। इन दिनों में, यदि उनका एक साथी साधु उन्हें समाधि से विरत न करता और जबर्दस्ती भोजन न करवाता तो उनका जीवित रहना कठिन होता। कई बार वह साधु अन्य उपायों से श्री राम कृष्ण की समाधि भंग करने में असमर्थ होकर उनके सिर पर भारी डंडे का प्रहार कर उनकी समाधि भंग किया करता था। फिर राधारूप से उन्होंने कृष्ण की भक्ति प्रारम्भ की। १८७१ तक, उनका मानसिक तूफान समाप्त हो चुका था किन्तु जाति का अभिमान अभी शेष था। उन्होंने इस अभिमान पर विजय पाने के लिये चाण्डाल के कार्य शुरू किये। वे मन्दिर में अपने बालों से झाड़ू लगाने का कार्य करने लगे तथा उन्होंने भिखारियों, शूद्रों तथा मुसलमानों के भोजन की जूठी पत्तलों तथा अवशिष्ट अंशों को ही अपना भोजन बनाया। बाद में, उन्हें अन्य धर्मों के जानने का शौक हुआ और वे एक मुसलमान फकीर के पास, कुछ दिनों तक मुसलमान दरवेश की दशा में रहे। एक बार उन्हें स्वप्न में ईसा का दर्शन हुआ और तीन दिन तक उन्होंने ईसा के अतिरिक्त किसी विषय पर चर्चा नहीं की।

श्री राम कृष्ण के दर्शन के लिये अब बहुत से व्यक्ति आने लगे। १८७५ में श्री केशव चन्द्र सेन ने उन से भेंट की। १८७६ से १८८६ तक उनका सारा समय शिष्यों को वार्तालाप में उपदेश देने में व्यतीत हुआ। उनके शिष्यों में श्री नरेन्द्र नाथ (स्वा० विवेकानन्द) बहुत प्रसिद्ध हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के बाद यह सन्यासी हुए तथा ६ वर्ष तक तिब्बत आदि में, बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिये पर्यटन करते रहे। १८९२ में उन्होंने भारत के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा की और १८९३ के सितम्बर मास में, शिकागो के सर्व धर्म सम्मेलन में सम्मिलित होकर, उन्होंने वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक वक्तृता दी जिससे अमेरिका को भारत के धार्मिक महत्त्व का पहली बार पूरा ज्ञान हुआ। उनकी वक्तृता के बाद 'दी न्यूयार्क हैरल्ड' ने लिखा था कि 'सर्व धर्म परिषद् (Parliament & Religions) में निःसन्देह विवेकानन्द सबसे बड़े व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनने के बाद हम यह अनुभव करते हैं कि उस शिक्षित राष्ट्र (भारत) को मिशनरी भेजना कितना मूर्खता पूर्ण है।' इसके बाद स्वामी विवेकानन्द ने अमरीका में प्रचार किया और दो अमेरिकन स्वामी अभयानन्द (Madame Louise) तथा स्वामी कृपानन्द (Mr. Sandsberg) उनके शिष्य बने। अमेरिका के बाद वे इङ्गलैंड आये और भगिनी निवेदिका (Miss Margaret Noble) उनकी शिष्या बनीं। जनवरी १८९७ में वे

कोलम्बो में उतरे। सारे देश में उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उन्होंने बेलूर (कलकत्ता) तथा मायावती (अल्मोड़ा) में दो केन्द्र स्थापित किये। उस वर्ष देश में बड़ा भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। उस दुर्भिक्ष के लिये उन्होंने सहायताकार्य का संगठन किया और बाद में इसकी परिणति श्री राम कृष्ण सेवाश्रम में हुई। १८९८ में स्वास्थ्य सुधार के लिये वे विदेश गये। केलीफोर्निया के जलवायु से उन्हें लाभ पहुंचा। उन्होंने सेनफ्रांसिस्को न्यूयार्क में वेदान्त सोसायटी की स्थापना की। १९०० में पैरिस की धर्म परिषद् में भाग लेकर वे भारत लौट आये। ४ जुलाई १९०२ को उनका देहावसान होगया।

स्वामी विवेकानन्द के प्रयत्न से पाश्चात्य लोगों की दृष्टि में भारत का सन्मान बढ़ा। पूर्व और पश्चिम के बीच में वे पहले सांस्कृतिक दूत थे। उनका जन सेवा का कार्य आदर्श एवं स्पृहणीय था किन्तु धार्मिक सुधार के विषय में उनके सिद्धान्त रक्षात्मक एवं कट्टर प्रवृत्ति के सूचक हैं। उन्होंने हिन्दू धर्म के वर्तमान स्वरूप की कठोर भर्त्सना की है। छुआछूत आदि के वे घोर विरोधी थे किन्तु श्रीराम मोहन राय की भांति उन्होंने यह अनुभव नहीं किया कि हिन्दूजाति को अवनत करने वाली और हिन्दु धर्म को दूषित करने वाली मूर्ति पूजा है। उन्होंने मूर्ति पूजा के हानिप्रद परिणामों की ओर हिन्दू जनता का ध्यान नहीं खींचा। हिन्दू धर्म की विभिन्न रूढ़ियों तथा कर्मकाण्ड में उनकी पूरी श्रद्धा थी। मूर्ति पूजा को वे पूजा की एक उत्तम विधि समझते थे। उनके मत में हिन्दू धर्म का प्रत्येक अंश बहुमूल्य था और उसकी सुरक्षा होनी चाहिए। सुधारकों का मार्ग ठीक नहीं है। 'पुराने सभी विचार अन्ध विश्वास हो सकते हैं किन्तु अन्धविश्वासों के इस विशाल समूह में, सुवर्ण एवं सत्य की कणिकायें हैं। क्या तुमने ऐसा साधन ढूंढ लिया है कि तुम सुवर्ण को सुरक्षित रखते हुए उसकी अशुद्धि को दूर कर सको*।' सरल शब्दों में यह समूचे सुधार का प्रबल प्रत्याख्यान है।

किन्तु प्राचीन धर्मों की सम्पूर्ण रूढ़ियों, विश्वासों एवं क्रिया कलापों का वैज्ञानिक तथा प्रबल समर्थन थियासफी द्वारा हुआ। थियासफी का जन्म अमेरिका में हुआ किन्तु बड़ी विचित्र परिस्थितियों में यह आन्दोलन महर्षि दयानन्द तथा आर्य समाज की सहायता से भारत में प्रारम्भ हुआ। एक रूसी महिला ब्लैवेटस्की इसकी प्रारम्भ कर्त्री थी। १२ अगस्त १८३१ ई० में एक रूस प्रवासी जर्मन परिवार में उसका जन्म हुआ और १८४८ में १७ वर्ष की आयु में ब्लैवेटस्की के कथनानुसार (सिनैट इनसिडैंट्स पृ० ३९)

* माई मास्टर पृ० १३

७० वर्षीय एक रूसी अफसर एन० वी० ब्लैवेटस्की के साथ उसकी शादी हुई*। उसे बचपन से ही अध्यात्म विद्या का शौक था। १८४८–१८७२ तक का उसका जीवन इन्हीं साधनाओं में तथा दुर्वृत्तता पूर्वक बीता। वह स्वयं अपनी जीवन पुस्तक में से इस पृष्ठ को फाड़ देना चाहती थी। फरवरी १८८६ में अपने एक पत्र में सो सोलोवयाफ को 'माई कन्फैशन' लेख भेजते हुए लिखा था कि मैंने सिनेट को अपने संस्मरण सिनेट की इच्छानुसार छापने का निषेध किया है। मैं स्वयं सत्यतापूर्वक उसे प्रकाशित करूंगी। .... ईश्वर की दुनिया के सामने 'उसका अपना तथा दूसरों का गन्द (अनाचार) लोगों के सामने आयगा। मैं कुछ भी नहीं छिपाऊंगी और मानव जाति के नैतिक अधः पतन का यह सेटुरनेलिया (शनि के आदर में दिसम्बर के मध्य में प्राचीन रोम में मनाया जाने वाला एक पर्व जिसमें सभी प्रकार के आमोद प्रमोद की खुली छूट होती थी) होगा*। इस समय में वह मेट्रोविच नामक व्यक्ति के साथ भी रही और उसका एक पुत्र भी हुआ किन्तु १८८५ में अपने को कुमारिका प्रख्यात करने के बाद उसने उस बालक के बारे में बाद में एक कथानक गढ़ा। उपर्युक्त अज्ञातवास की समाप्ति पर १८७२ में, हम उसे काहिरा में, प्रेतविद्या (Spiritualism) तथा मृतात्माओं को बुलाने द्वारा जीविका उपार्जन करता हुआ पाते हैं। इन्हीं प्रेतात्मा प्रदर्शनों (Seances) में उसकी श्रीमती कूलोम (Coulomb) से भेंट हुई जिसने अर्थ संकट में उसकी पर्याप्त सहायता की। प्राचीन मिश्री जादू सीख कर, वह ७ जुलाई १८७३ को अमेरिका पहुंची। अमेरिका में उन दिनों प्रेत विद्या का बड़ा शोर था। १८७४ में, एक ऐसे ही प्रदर्शन में, उसका कर्नल अल्काट से परिचय हुआ। दोनों ने अमेरिका को प्रेतविद्या का उचित क्षेत्र पाया। अल्काट ने ब्लैवेटस्की के उच्चकुल तथा दीर्घसाधना का ढोल पीटना शुरू किया किन्तु जल्दी ही जांन किंग नामक व्यक्ति से इस ढोल की पोल खुलने लगी।

---

* ब्लैवेटस्की अपने भूठ और गप्पों के लिये प्रसिद्ध थी। १८६२ तक उक्त पुरुष जीवित था। अतः स्पष्ट ही ब्लैवेटस्की ने अपने पति की आयु बताने में अतिशयोक्ति से कार्य लिया है। कर्नल अल्काट ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि वह हंसी में तथा गम्भीरता पूर्वक भूठ बोला करती थी (ओल्ड डायरी लीव्स पृ० २६४–६५)

* I have already written a letter to Sinnet forbidding him to publish my memories at his own discretion. I myself publish them with all the truth. So there will be the truth about H. P. Blavatsky in which psychology and her own and others' immorality and Rome and politics and all her own and others, filth once more will be set out to God's world. I shall conceal nothing. It will be a Saturnalia of the moral depravity of mankind, this confession of mine, a worthy epilogue of my stormy life. माडर्न प्रीस्टेस आव आइसिस page 181)

ब्लैवेटस्की इससे घबरा गयी क्योंकि अब इस व्यवसाय से उनकी आजीविका घटने लगी थी। अपने पत्रों में वह इस बात पर दुःख प्रकट करती है कि पांच महीने में, उसकी पुस्तक की एक हजार प्रतियां भी नहीं बिकीं। अल्काट यद्यपि आर्थिक त्याग कर रहा है किन्तु उसको बड़े परिवार का पोषण करना प्रतीत हो रहा है। १८ जुलाई १८७५ के पत्र में वह लिखती है— 'यह मेरा दुःख है। कल मेरे पास खाने को कुछ भी नहीं होगा। कुछ असाधारण वस्तु गढ़नी पड़ेगी। इसमें सन्देह है कि अल्काट का मिरेकल क्लब कुछ सहायक सिद्ध हो सकेगा। मैं अन्त तक संघर्ष करूंगी'[१]। इस संघर्ष के परिणाम स्वरूप ७ सित० १८७५ को, न्यूयार्क में, थियोसोफिकल सोसायटी स्थापित की गयी। एक पत्र में, वह इस बात पर सन्तोष प्रकट करती है कि इस सोसायटी का उप-कोषाध्यक्ष न्यूटन एक लखपति व्यक्ति है[२]। ब्लैवेटस्की के अगले दो वर्ष बड़ी निर्विघ्नता से कटे। एप्रिल १८७५ में, ब्लैवेटस्की ने प्रथम रूसी पति के जीवित रहते हुए, एक आर्मीनियन माइकेल वेटले से यह कहकर शादी की कि वह विधवा है तथा उसने अपनी आयु ४३ वर्ष के स्थान पर ३६ वर्ष बतायी। १८७७ में दो वर्ष में भगीरथ परिश्रम के बाद, उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Isis Unveiled प्रकाशित की। इसमें प्राचीन धर्मों का समर्थन था तथा चमत्कारों, हिप्नोटिज्म दूर श्रवण (Clairvoyance) समाधि आदि का वर्णन एवं वर्तमान ईसाइयत और विज्ञान के विरुद्ध जबर्दस्त जिहाद था। सैनफ्रांसिस्को के कोलमैन ने शीघ्र ही यह सिद्ध किया कि यह पुस्तक बिना कृतज्ञता प्रकाश किये पुराने ग्रन्थों के संदर्भ को चुराकर संग्रहीत की गयी है। होम ने भी थियोसोफिस्टों Lights and Shadows of Spiritualism में पोल खोली। ब्लैवेटस्की का अब अमेरिका या योरुप में रहना बहुत कठिन हो गया और उसने भारत आने का निश्चय किया। वह एक पत्र में लिखती है यही कारण है कि मैं सदा के लिये भारत जा रही हूं। लज्जा और तिरस्कार के कारण, मैं ऐसी जगह जाना चाहती हूं जहां मुझे कोई जानने वाला न हो। होम की दुर्भावना ने, योरोप में, हमेशा के लिये, मुझे तबाह कर दिया है[३]।

---

१ सोल्नेवयोफ–माडर्न प्रीस्टेस आव् आइसिस पृ० २५३. Here, you see, is my trouble, tomorrow there will be nothing to eat, something quite out of the way must be invented. It is doubtful if Olcott's miracle club will help; I will fight to the least.

२–वहीं पृ० २६५—

३—It is for this that I am going for ever to India and for very shame and vexation I want to go where no one will know my name. Home's malignity has ruined me for ever in Europe.

इन परिस्थितियों में, जनवरी १८७९ में, मैडम ब्लैवेटस्की तथा कर्नल अल्काट भारत पहुंचे। पहले उन्होंने स्वामी दयानन्द जी की शरण ली किन्तु जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि भारत में इतना अधिक अन्ध विश्वास है कि अनुयायी मिलना कठिन नहीं तो उन्होंने स्पष्टतया कुछ ऐसी बातों का प्रचार करना शुरू किया जो आर्य समाज के सिद्धांतों के प्रतिकूल था। श्री स्वामी दयानन्द जी ने उन्हें अपनी पूर्व प्रतिज्ञाओं तथा पत्रों का स्मरण कराया किन्तु सब निष्फल हुआ और १८८१ में दोनों संस्थाओं का सर्वथा पृथक् करण हुआ[1]।

श्रीमती ब्लैवेटस्की तथा कर्नल अल्काट ने भारत का भ्रमण किया। श्री ब्लैवेट्स्की ने अनेक स्थानों पर चमत्कार दिखा कर लोगों का ध्यान थियोसोफी की ओर खींचा। कांग्रेस के प्रारम्भिक संस्थापकों में अन्यतम श्री ह्यूम के घर पर, शिमला में ब्लैवेटस्की ने श्रीमती ह्यूम के एक खोये हुये सोने के कांटे का ठीक पता बताकर बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। किन्तु शीघ्र ही पायोनियर टाइम्स आफ इण्डिया व बाम्बे गजट द्वारा लोगों को यह ज्ञात हुआ कि श्रीह्यूमके परिवार का एक व्यक्ति ब्लैवेटस्की से पहले मिलता रहा था। ब्लैवेटस्की जिसे चमत्कार कहती थी, वह काम इसी व्यक्ति द्वारा करवाया गया था। बाद में श्री ह्यूम ने यह कहा कि यह एक बहुत बड़ी प्रवंचना थी। भारतीयों में अपने को लोकप्रिय बनाने के लिये सोसायटी के नेता भारतीय धर्मों की ओर झुके। बौद्धों का तन्त्रवाद ब्लैवेटस्की को बहुत रुचिकर प्रतीत हुआ। अडयार (मद्रास) के एक कक्ष में, उसे तिब्बत के कूट होमी तथा अन्य गुरुओं से गुप्त संदेश प्राप्त होते थे। १८८४ तक भारत में, थियोसोफी की १०० से ऊपर शाखायें स्थापित हो चुकी थीं। इसी वर्ष २१ फरवरी को अल्काट व मैडम ब्लैवेटस्की विलायत चले गये। उन के बाद शिष्यों को ब्लैवेटस्की का उपर्युक्त कक्ष देखने का कुतूहल उत्पन्न हुआ। इस विषय को लेकर, दो दल होगये और एक दल ने श्री ब्लैवेटस्की के सम्पूर्ण पत्र क्रिश्चियन कालेज मैगजीन को दे दिये और दूसरे दल ने अपने पर जांच की आंच न आने देने के लिये श्री ब्लैवेटस्की का वह विशेष कक्ष ही नष्ट कर दिया। कैम्ब्रिज के दर्शन के उपाध्याय श्री हेनरी सिजविक ने इस सारे काण्ड प्रेस वाद व भूत विद्या (spiritualism) की सत्यता का अन्वेषण करने के लिये श्री रिचर्ड ह्वांगसन को भेजा। उसका स्वयं इस विद्या पर विश्वास था और उसने १८८४ के अन्त में विलायत से अल्काट व ब्लैवेटस्की के लौटने पर उन्हीं से इस विषय की जांच का प्रारम्भ किया। उसके सूक्ष्म अन्वेषण का यह परिणाम था कि प्रत्येक चामत्कारिक घटना की वह जहां तक जांच कर सका है, छल मात्र है! तिब्बत से आने वाली कूट हूमी के पत्र ब्लैवेटस्की के स्वयं लिखे हुये हैं। ब्लैवेटस्की के पत्रों

---

१. इस विषय के विस्तार के लिये बाबू देवेन्द्रनाथ कृत महर्षि दयानन्द के चरित्र के द्वितीय भाग का एतद्विषयक परिशिष्ट देखिये।

के प्रकाशित होने पर, ब्लैवेटस्की ने यह कहा था कि वे पत्र झूठे हैं और अदालत में, पत्र प्रकाशित करने वाले श्री मती कूलोम (Coulomb) पर वह मुकद्दमा चलाकर, अपने को निर्दोष सिद्ध करेगी। बहुत समय बीत जाने पर भी, जब उस की ओर से कोई मुकद्दमा न चला तो श्रीमती कूलोम ने उन पत्रों को सार्वजनिक रूप से, जाली कहने वालों पर, मान हानि का अभियोग चलाने का निश्चय किया तथा एक थियोसोफिस्ट जनरल मारगन को मान हानि के लिये दो एप्रिल तक क्षमा मांगने का नोटिस दिया। मैडम ब्लैवेटस्की अदालत की जांच से घबराती थी। उसे डर था कि अदालत में बहुत सी बातें खुल जायेंगी। 'गर्म जलवायु उसके स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद है' इस आशय के डाक्टरी प्रमाण पत्र के आधार पर, उसने पासपोर्ट प्राप्त किया और दो एप्रिल को वह एक जहाज पर बैठकर योरोप रवाना हो गई। उसके योरोप जाने का कारण बीमारी नहीं, अपितु मुकद्दमे का डर था। यह उसके एक पत्र से स्पष्ट है। २६ एप्रिल १८८५ के एक पत्र में नेपल्स से वह लिखती है:—

"वे (मेरे विरोधी) कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते थे, किन्तु केवल संदेह के आधार पर मुझे जेल भिजवा सकते थे, गिरफ्तार करवा सकते थे तथा कौन जानता है कि वे और क्या कर सकते थे। अभी मैंने इसके विषय में विस्तार से सुना है, उन्होंने पहले मुझे कुछ नहीं बताया किन्तु बिस्तर से उठाकर सीधा फ्रेंच स्टीमर में सवार करवा दिया *।" १८८८ में, उसने 'सीक्रेट डाक्ट्रिन' पुस्तक प्रकाशित की। 'आइसिस' की तरह, यह भी दूसरी पुस्तकों का अपहरण मात्र था। १८९१ में, इस विलक्षण महिला का देहांत होगया। श्री ब्लैवेटस्की के मरने के बाद, थियोसोफी में अनेक मतभेद उत्पन्न हुए, थियोसोफी का स्वरूप परिवर्तित हुआ, किन्तु वह हमारे काल से बाद की वस्तु है। धीरे धीरे थियोसोफी वाले सब धर्मों को पवित्र मानने तथा उनकी कट्टरता की वैज्ञानिक एवं आलंकारिक व्याख्या करने लगे। इसके साथ ही वे वैयक्तिक विकास साधना के मार्ग का उपदेश करते हैं, जिसको गुप्त ही रखा जाता है। बाद में श्री एनी बीसेण्ट इस आन्दोलन की नेत्री बनीं और आज कल श्री अरण्डेल इस के प्रमुख प्रचारक तथा समर्थक हैं किन्तु ये बातें २० वीं सदी के पूर्वार्द्ध का विषय होने से प्रकृत प्रसंग का विषय नहीं है।

आर्य समाज के प्रवर्त्तक का जीवन तथा उसके कार्यों का विशुद्ध उल्लेख इस पुस्तक के अन्य लेखों में हुआ है। इस लेख में यद्यपि उपरिवर्णित सुधार आन्दोलनों से आर्यसमाज की तुलना करना ही अभीष्ट है। किन्तु संक्षेप से ऋषि दयानन्द के जीवन की प्रमुख घटनाओं का काल क्रम से उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। श्री स्वामी

१—सोलोवयोफ—माडर्न प्रीस्टेस आव आइसिस पृ० ७७। थियोसफी के वर्णन के लिये मैं श्री फरक़ुहार की माडर्न रिलीजसमुवमैण्टस् का आभारी हूं। उपर्युक्त उद्धरण उसी पुस्तक में से लिये गये हैं।

दयानन्द का जन्म टंकारा के औदीच्य ब्राह्मण कुल में सम्वत् १८८१ वि० (१८२४ ई०) में हुआ। सम्वत् १८६४ वि० (१८३७ ई०) में शिवरात्रि के प्रसिद्ध रात्रि जागरण में, शिवलिंग पर मूषक लीला देखकर उन्हें मूर्ति पूजा पर अनास्था हुई। बाद के वर्षों में भगिनी एवं पितृव्य की मृत्यु से, उनके मनमें वैराग्य संबंधी विचार, सच्चे शिव को खोजने की इच्छा एवं दुःखसंतप्त मानव जाति के दुःखों के निराकरण के उपायों के अन्वेषण की आकांक्षा प्रबल होती गयी। जब माता पिता ने तरुणावस्था में ही उनका यह वैराग्य देखा तो उन्होंने पुत्र को विवाह की शृंखला में बांधना चाहा। तरुण मूलशंकर ने इस शृंखला में बद्ध होने से बचने के लिये सम्वत् १६०३ वि० (१८४६ ई०) में घर से पलायन या महाभिनिष्क्रमण किया। बुद्ध महाभिनिष्क्रमण कर, शाक्यकुल को प्रव्रजित करने के उद्देश्य से, बोधि प्राप्त करने के बाद, एक बार पुनः कपिल वस्तु पधारे थे किन्तु स्वामी दयानन्द जी अपने छोड़े गांव में फिर कभी वापिस नहीं आये।

स्वामी जी के जीवन के अगले १४ वर्ष गुरुओं की खोज, विद्याभ्यास, और कष्ट सहन और पर्यटन के वर्ष हैं। उन्होंने मधुकरी वृत्ति से ज्ञान सम्पादन किया जहां किसी प्रसिद्ध गुरु का नाम सुना, उसके पास गये और उससे जो मिल सका, वह ग्रहण किया। पूर्णानन्द सरस्वती से, सन्यास सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद, चाणोद में उन्होंने ज्वालानन्दपुरी व शिवानन्द गिरि से योग सीखा। आबू का चक्कर काटा और सम्वत् १६११ वि० (१८५४) के हरिद्वार कुम्भ के अवसर पर, योगियों एवं गुरुओं की तलाश में, वे उत्तर भारत में आये। २ वर्ष तक, ऋषिकेश, टिहटी (गढ़वाल) रुद्रप्रयाग, गुप्तकाशी, त्रियुगी नारायण, तुंगनाथ, ओखीमठ, केदारनाथ, जोशीमठ, बद्रीनाथ आदि उत्तराखण्ड के प्रसिद्ध एवं दुर्गम तीर्थों में साधना एवं ज्ञान संचय करते रहे। १८५६ ई० में, स्वामी जी बनारस गये और उसके बाद ३ वर्ष तक वे मध्य प्रान्त के विन्ध्याचल पर्वत एवं नर्मदा की घाटी में पर्यटन करते रहे। जिस समय भारतवर्ष के वीर सैनिक एवं जनता अपनी स्वाधीनता का पहला संग्राम लड़ रही थी, उस समय ऋषि दयानन्द विन्ध्याचल के बीहड़कान्तारों में, योग साधना एवं ज्ञान साधना कर रहे थे।

१८६० में, १४ वर्ष की खोज के अनन्तर, मथुरा में, उन्हें दण्डी स्वामी श्री विरजानन्द जी का शिष्यत्व प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। स्वामी विरजानन्द जी से, ३ वर्ष तक व्याकरण का गम्भीर अध्ययन करने के अतिरिक्त, उन्हें प्रत्येक वस्तु को परखने की आर्ष दृष्टि प्राप्त हुई और आर्ष एवं मौलिक ग्रन्थों का महत्व ज्ञात हुआ किन्तु अभी तक उन्हें वेदों की उपलब्धि नहीं हुई थी। १८६४ में स्वामी विरजानन्द जी से, अनुज्ञा प्राप्त कर, वे मथुरा से बिदा हुए। अगले पांच वर्षों में, उन्होंने वेदों को प्राप्त कर, उनका अध्ययन एवं गहरा अनुशीलना किया। धौलपुर, लश्कर, ग्वालियर, करौली, जयपुर, पुष्कर, अजमेर आदि स्थानों का भ्रमण कर हरिद्वार के कुम्भ पर हिन्दु जाति में फैले

हुए महान् पाखण्ड के विरुद्ध पाखण्ड खण्डिनी पताका की प्रतिष्ठा कर उन्होंने अपने जीवन के महान् कार्य को आरम्भ किया ।

स्वामी दयानन्द जी का अगला जीवन हमें सहसा शंकराचार्य की स्मृति करा देता है। हरिद्वार से, गंगा के पवित्र प्रवाह की तरह, उनके सुधार एवं प्रचार का पुनीत प्रवाह बह चला और मार्ग की बाधाओं को, अपने साथ बहाता लेगया। शंकर के सामने जिस प्रकार बौद्ध पण्डित परास्त होते गये थे, ऋषि दयानन्द के सामने सनातनी पण्डित परास्त होते गये। स्वामी दयानन्द जी का प्रधान मन्तव्य यह था कि मूर्ति पूजा वेद विहित नहीं है। काशी के ३०० पण्डित स्वामी जी को वेदों में से, मूर्त्ति पूजा पुष्ट करने वाला एक भी प्रमाण ढूंढ कर, नहीं दे सके के (१६ नव० १८६६ ई०)। स्वामी जी की इससे बढ़कर और क्या विजय हो सकती थी?

इसके बाद स्वामी जी मुंगेर, भागलपुर होते हुए. कलकत्ता गये (मार्च १८७३)। वे ब्रह्मसमाज के नेताओं के सम्पर्क में आये और उस आन्दोलन को तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव को, उन्होंने अच्छी तरह देखा कलकत्ता यात्रा के बाद, श्री स्वामी जी ने लोक भाषा हिन्दी में व्याख्यान देने प्रारम्भ किये और राजा जयकिशनदास की प्रेरणा से इलाहाबाद में, सत्यार्थप्रकाश लिखा। (जून १८७४ ई०)। इसके बाद जबलपुर होते हुए स्वामी जी पश्चिमी भारत चले गये और बम्बई तथा गुजरात में १८७५ में, उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार का कार्य किया। अपने कार्य को स्थायी रूप देने के लिये, उन्होंने पहले राजकोट और पूना बम्बई में (१८७५ ई०) आर्य समाज की स्थापना की। १८७६ में उन्होंने संयुक्त प्रान्त के फर्रुखाबाद, बनारस, जौनपुर, अयोध्या आदि शहरों में वैदिक धर्म का संदेश सुनाया। १८७७ ई० में महारानी विक्टोरिया के सम्राज्ञी पद लेने के उपलक्ष्य में, लार्ड लिटन द्वारा दिल्ली में, जो दरबार आयोजित हुआ था उसका लाभ उठाने के लिये स्वामी जी जनवरी १८७७ में दिल्ली आये। स्वामी जी ने सरसय्यद अहमद, केशवचन्द्र सेन आदि की एक परिषद् बुलाकर, धार्मिक मतभेदों को दूर करना चाहा किन्तु वह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। इसके बाद स्वामी जी पंजाब में गये और १८७६ के कुम्भ तक वे संयुक्त प्रान्त, विहार, पंजाब का पर्यटन करते रहे। इस कुम्भ के बाद, उदयपुर के महाराणा के निमन्त्रण पर, वे उदयपुर आये। अपने जीवन के अन्तिम ४ वर्ष वे देशी रजवाड़ों में ही रहे। सत्यार्थ प्रकाश के बाद, उन्होंने संस्कार विधि, यजुर्वेदभाष्य (सम्पूर्ण) ऋग्वेदभाष्य (अपूर्ण), ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेदांग प्रकाश (१४ भाग) आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। वेदभाष्यों के अतिरिक्त, उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ, दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर खण्डों में प्रकाशित हुए हैं। ३० अक्टूबर १८८३ ई० को, दीपमालिका के दिन अजमेर में उन्होंने 'प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो' के वाक्य के साथ अपनी जीवन लीला पूर्ण की।

महर्षि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज का आन्दोलन १६ वीं शती का सबसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन था। काल की दृष्टि से आर्य समाज का आन्दोलन परवर्त्ती है किन्तु प्रभाव की दृष्टि से, वह सब आन्दोलनों में अग्रवर्ती है। ब्रह्म समाज और आर्यसमाज के आन्दोलनों में पूरी आधी सदी का अन्तर है। १६३३ ई० में ब्रह्म समाज ने राजा राममोहनराय की निर्वाण शताब्दी मनायी और आर्य समाज ने महर्षि दयानन्द की निर्वाण अर्ध शताब्दी। आर्य समाज के महत्व को निष्पक्ष विदेशी विद्वानों ने भी अनुभव किया है। १६०१ में भारतीय जनगणना के अध्यक्ष श्री रिसले ने आर्य समाज को १६ वीं शती का मुख्यतम सुधार आन्दोलन कहा है। श्री ब्लण्ट ने १६११ की संयुक्त प्रान्त की जनगणना सम्बन्धी रिपोर्ट में आर्य समाज का वर्णन करते हुए उसे गत शती का महत्तम सुधार आन्दोलन कहा है। यहां हम धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से आर्य समाज के आन्दोलन की अन्य आन्दोलनों से तुलना करेंगे।

धार्मिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द जी के सुधार की यह विशेषता थी कि वह कट्टर तथा उदार सुधार था। कट्टर उदार शब्द बदतो व्याघात है किन्तु आर्य समाज के सुधार को इन्हीं विरोधी शब्दों से प्रकट किया जा सकता है। स्वामी जी पाश्चात्यप्रवाह में बह जाने वाले ब्रह्म सुधारकों की तरह नहीं थे, जिन्होंने आर्य जाति के सर्वमान्य एवं पूज्य ग्रन्थ वेद तक को तिलाञ्जली दे दी थी और नाहीं वे हिन्दू धर्म के इतने भक्त थे कि वे हिन्दू धर्म में सुधार की कोई आवश्यकता ही अनुभव न करें और थियोसोफिस्टों की भांति हिन्दू धर्म की प्रत्येक रूढ़ि को तर्क एवं विज्ञान द्वारा श्रेष्ठ महत्वपूर्ण सिद्ध करें। 'सत्य को ग्रहण करने एवं असत्य को छोड़ने में सदा उद्यत रहने के कारण उन्होंने कट्टरता एवं सुधार में सामंजस्य स्थापित किया। स्वामी जी ने अपने सुधार के विशाल प्रासाद को वेद की सुदृढ़ चट्टानी नींव पर खड़ा किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू धर्म की अवनति वेद विरुद्ध बातों के अङ्गीकार से हुई है। हिन्दू जाति एवं मानवता का कल्याण इसी में है कि वह अवैदिक शिक्षाओं का परित्याग कर वैदिक सिद्धान्तों को ग्रहण करें। अतएव उन्होंने 'वेद की ओर लौटने का जयकार उद्घोषित किया। धर्मों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रारम्भ में उनका स्वरूप शुद्ध होता है किन्तु बाद में उस धर्म में अनेक विकार आ जाते हैं। स्वामी जी ने इन्हीं विकारों का संशोधन किया। इन विकारों में, मूर्ति पूजा सबसे बड़ा विकार था। मूर्तिपूजा के वेदानुमोदित न होने से स्वामी जी ने उसका विरोध किया। स्वामी जी में १६ वीं शती के अन्य धर्म सुधारकों की अपेक्षा यह विशेषता थी कि वे वेदों के अद्वितीय पण्डित थे। राजा राम मोहनराय, श्री देवेन्द्र बाबू, केशवचन्द्र सेन, श्री रामकृष्ण परमहंस या स्वामी विवेकानन्द वेदों के ज्ञाता नहीं थे। श्री राम मोहन राय उपनिषदों तक ही जाकर ठहर गये। श्री अरविन्द ने इस विषय में लिखा है कि "आवश्यक बात यह है कि उन्होंने (स्वा०

दयानन्द जी ने) वेद को युगों से चले आने वाले भारत की चट्टान समझा तथा उनमें यह साहसपूर्ण कल्पना थी कि वे उसी वेद पर अपने सुधार का निर्माण करें जिस वेद में उनकी तीक्ष्ण दृष्टि ने एक समूची राष्ट्रीयता के दर्शन किये थे। एक दूसरी महान् आत्मा तथा शक्तिशाली कार्यकर्ता राममोहन राय ने बंगाल पर अपना हाथ रखा और नदियों तथा धान के खेतों के पास आलस्यपूर्ण तन्द्रा में मग्न बंगाल को उद्बुद्ध किया किन्तु राममोहन राय उपनिषदों पर ही ठहर गये। दयानन्द ने उपनिषदों से भी आगे देखा और यह जान लिया कि हमारा वास्तविक मूल बीज वेद है।

महर्षि दयानन्द ने इस मूल बीज वेद का गहरा अध्ययन कर, अपनी कार्य प्रणाली निश्चित करली। श्री जायसवालजी के मतानुसार स्वामी दयानन्द, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि प्राचीन ऋषियों के वर्तमान प्रतिनिधि थे। उनमें बुद्ध तथा शंकर के सुन्दर व उदात्त तत्वों का सुन्दर सम्मिश्रण था। उनमें बुद्ध की उदारता एवं व्यापकता थी किन्तु बुद्ध की भांति वेदों तथा ईश्वरकी उपेक्षा नहीं थी। शंकरकी भांति पाण्डित्य वाग्मिता व प्राचीन मर्यादाओं को अक्षुण्ण बनाये रखने तथा वेद की प्रतिष्ठा की भावना थी। किन्तु शूद्रों तथा स्त्रियों के साथ अन्याय पूर्ण बर्ताव को जारी रखने के विरुद्ध प्रबल विद्रोह था। स्वामी दयानन्द ने मूर्ति पूजा को अवैदिक एवं सबसे बड़ा विकार समझकर १८६६ में बनारस की सम्पूर्ण पण्डित मण्डली को चुनाती दी थी कि वह मूर्ति पूजा को वेद विहित सिद्ध करें। १६ नव० १८६६ के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ में काशी के ३०० पण्डित मूर्ति पूजा के समर्थन में एक भी प्रणाम न दे सके। उसके बाद स्वामी जी सात बार काशी गये। हर बार उन्होंने उपर्युक्त चुनौती को दोहराया किन्तु कोई भी पण्डित मूर्तिपूजा को वेदानुमोदित सिद्ध करने के लिये आगे नहीं बढ़ा।

वर्षों तक मठों, मंदिरों और तीर्थों की दुखावस्था देखकर तथा स्वामी विरजानंद जी से आर्ष दृष्टि प्राप्त कर स्वामी जी को यह अनुभव हो चुका था कि हिन्दू धर्म की प्रचलित बुराइयों का मूल कारण अवैदिक ग्रन्थों एवं रूढ़ियों का अनुसरण है। उन्होंने धर्म के नाम पर संगृहीत कूड़ा करकट को हटाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू धर्म के स्वस्थ विकास में बाधक अन्ध विश्वासों एवं कुप्रथाओं के झाड़ झंखाड़ को उखाड़ फेंकना चाहिये। ब्रह्म समाज भी आधी शती पूर्व इसी पुनीत उद्देश्य से स्थापित हुआ था किन्तु श्री राममोहन राय की मृत्यु के बाद, दुर्भाग्यवश उसका नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथ में चला गया जो सुधार की आवश्यकता को अनुभव करते हुए भी, अपने धर्म की पूरी जानकारी नहीं रखते थे। श्री देवेन्द्र बाबू ने ४ व्यक्तियों को वेदाध्ययन के लिये बनारस भेजा और उनकी सम्मति के आधार पर, वेदों को निर्भ्रान्त एवं परम प्रमाण

मानना छोड़ दिया। यह बात संभवतः उनकी दृष्टि से ओझल हो गई कि वेद ही एक ऐसा दृढ़ एवं सर्ववादिसम्मत आधार है जिस पर हिन्दू समाज के किसी चिरस्थायी सुधार संगठन का निर्माण किया जा सकता है।

ब्रह्म समाजी सब धर्मों के उदात्त तत्वों को संग्रह कर, उनके आधार पर, अपने सुधार की नींव रखना चाहते थे और ऋषि दयानन्द वेद के ठोस आधार पर। सब धर्मों का समन्वय देखने में भले ही कितना आकर्षक प्रतीत हो किन्तु उसके साथ किसी की गहरी आत्मानुभूति या ममत्व बुद्धि न होने से वह कभी लोकप्रिय धर्म नहीं हो सकता। अकबर ने ऐसा धर्म चलाने का प्रयत्न किया, वह उसी की मृत्यु के साथ समाप्त होगया। कोम्ट का प्रयत्न भी कुछ बुद्धिवादियों को ही सन्तुष्ट कर सका है। एक ईरानी कवि ने कहा है कि 'जो किसी धर्म में विश्वास नहीं रखता, वह धूर्त है और जो सबमें विश्वाश रखता है वह मूर्ख है'। ब्रह्म समाज ने सब धर्मों के सुन्दर तत्व इकट्ठे करते हुए व अपने दृष्टिकोण को विस्तृत करते हुए जब हिन्दु धर्म का सुधार किया, किन्तु हिन्दु धर्म के विकास को रोकने वाले झाड़ झंखाड़ की सफाई करने के साथ २ असली धर्म को भी झाड़ झंखाड़ समझ कर छांट डाला। पहले वेद को अर्ध चन्द्र दिया गया फिर यज्ञोपवीत के पवित्र सूत्र को तिलाञ्जलि दे दी गई और १८७२ में, उन्हें हिन्दु शब्द भी अखरने लगा। श्री केशवचन्द्र सेन के परामर्श से १८७२ के स्पेशल मैरिज एक्ट के लिये सरकार के पास जो प्रार्थना पत्र भेजा गया था उसमें स्पष्ट लिखा था कि "हिन्दू शब्द ब्रह्म समाज वालों पर लागू नहीं होता क्योंकि वे वेद प्रमाणिक नहीं मानते, वे ब्राह्मण धर्म के सभी रूपों के विरुद्ध हैं और चूंकि उन्होंने अपने सिद्धांतों को सब धर्मों से चुनकर बनाया है, इसलिये हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और अन्य धर्म वाले सभी ब्रह्मसमाज में प्रवेश कर सकते हैं'। इसका स्पष्ट आशय था कि ब्रह्म समाज हिन्दु नहीं रहे। जो सम्प्रदाय हिन्दुओं में सुधार के उद्देश्य से शुरू हुआ था, उसे अब अपने को हिन्दु कहना भी बुरा लगने लगा।

प्रारम्भ में आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज के मंतव्यों में, 'आर्य समाज के वेद संबंधी तीसरे नियम को छोड़कर कोई अंतर नहीं था। ईश्वर के स्वरूप एवं विशेषणों, हिन्दु धर्म की बुराइयों व उनके सुधार में तीनों एक मत थे। उनमें भेदक अंश केवल वेद में विश्वास करने के संबंध में ही था। श्री स्वामी जी से यह प्रार्थना की गई थी कि वे तीसरे नियम को हटा दें ताकि ब्रह्म और आर्य समाज एक हो सकें। यह आर्य समाज का सौभाग्य था कि महर्षि ने यह प्रार्थना नहीं स्वीकार की। अन्यथा आर्य समाज ने जितना कार्य किया है, वह भी न कर सकता। ब्रह्म समाज दूसरों की अच्छी अच्छी बातें चुनकर, उन्हें मानता था ऐसा धर्म कुछ बुद्धि जीवियों को सन्तुष्ट कर

सकता है किन्तु जनता जब उस मत का अपनी प्राचीन परम्पराओं, आचार एवं रूढ़ियों से कोई संबंध नहीं देखती तो उस मत का अनुसरण करना छोड़ देती है। जब हिन्दुओं ने ब्रह्म समाज को ईसाई मत की ओर झुकते हुये देखा तो उन्होंने उसको मानना छोड़ दिया। एक पादरी लेखक मारिसन ने तो यहां तक दावा किया है कि राजा राममोहनराय वास्तव में ईसाई थे। उन्होंने ब्रिस्टल में, स्पष्ट रूप से ईसा के चमत्कार माने और अपने उत्तराधिकारियों का दाय भाग सुरक्षित रखने के लिये ही, अन्तिम समय तक यज्ञोपवीत धारण किये रखा[1]। यदि यह सत्य न हो तो भी श्री केशवचंद्र सेन के समय में तो ब्रह्म समाज ईसाइयत का ही एक रूपान्तर हो गया। यही कारण है कि ब्रह्म समाज का प्रभाव घटने लगा और ब्रह्म समाज का कोई उत्तम संगठन नहीं बन पाया। इस बात को ब्रह्म लोगों की संख्या से प्रमाणित किया जा सकता है। १८३० ई० से १९०१ ई० तक ७० वर्ष में, ब्राह्मों की संख्या कुल ४०५० थी और १८७५ ई० से १९०१ ई० तक के २५ वर्षों में, आर्यों की संख्या ९२,४१९ थी। १९३१ में दोनों की संख्या अधोलिखित तालिका से स्पष्ट है[2] –

नाम वर्ग	पुरुष	स्त्री	सर्वयोग
ब्राह्म	३, १६६	२, २१२	५, ३७८
आर्य	५, ४७, ६६४	४, ४२, २६६	९, ९०, ९३३

ये अङ्क इतने स्पष्ट हैं कि इन अंकों पर किसी प्रकार की टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

सामाजिक सुधारों व हिन्दू जाति के संगठन की दृष्टि से, अन्य आन्दोलन आर्य समाज की समता नहीं कर सकते। धार्मिक क्षेत्र की तरह, सामाजिक क्षेत्र में भी आर्य समाज का कार्य अनुपम है। आर्य समाज के इस क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पहले, जाति भेद, अस्पृश्यता, बालविवाह, बहुविवाह आदि भयंकर कुरीतियां हिन्दू समाज की जड़ को खोखला कर रही थीं। शिक्षा का प्रचार बहुत कम था। स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। शुद्धि को कल्पना करना भी असंभव था। इन सब भयानक कुरीतियों का परिणाम यह था कि हिन्दू जाति संख्या एवं महत्व की दृष्टि से क्रमशः क्षीण होती चली जा रही थी। उसके विरोधी हिन्दू जाति का अन्त निकट ही समझते थे और उसके विभिन्न भागों को बांट खाने के मन्सूबे बांध रहे थे। स्वामी दयानन्द जी व आर्य समाज के कार्यों ने उनके इरादों पर पानी फेर

१–पादरी मारिसन· न्यू आइडियाज़ इन इण्डिया पृ० १२१।
२–हट्टन- सेन्सस आव् इण्डिया १९३१ खंड १, भाग २, पृ० ५१५। १९४१ की जनगणना के विशद एवं तुलनात्मक संख्या में उपलब्ध न होने से १९३१ की ही संख्यायें दी गयी हैं।

दिया। उन्होंने इन कुरीतियों के विरुद्ध जबर्दस्त जिहाद किया। म्रियमाण एवं तन्द्रा-परायण हिन्दू जाति को उद्बुद्ध एवं भयङ्कर भ्रमों से अवगत कराया। मध्यकाल में इस्लाम के आक्रमण के ज़बरदस्त प्रवाह को रोकने के लिये हिन्दुओं ने जातिपांति के विस्तृत प्राकार का निर्माण किया। इस प्राकार में, बाहर से कोई प्रवेश पाने का अधिकारी नहीं था और अन्दर के लोग ३००० से अधिक उपजातियों में बंटे हुए थे। केवल ब्राह्मणों में ही १८०० उपजातियां थीं। इस जाति भेद ने हिंन्दू जाति को इतने पृथक् भागों में विभाज्य किया हुआ था कि हिन्दू जाति का कोई प्रभावशाली संगठन संभव ही नहीं था। कहा जाता है कि जब अहमदशाह अब्दाली ने पानीपत की तीसरी लड़ाई से पहले मराठों के शिविर में, रात के समय आग सी लगी हुई देखी तो उसने अपने साथियों से इसका कारण पूछा। साथियों ने उत्तर दिया कि मराठे जाति भेद के कारण एक दूसरे के हाथ का खाना नहीं खाते। इसलिये, सब अलग अलग चूल्हों पर खाना बना रहे हैं। उस समय अब्दाली ने कहा कि मराठे कभी नहीं जीत सकते क्योंकि उनमें संगठन ही नहीं है। पानीपत के इस युद्ध के परिणाम ने अब्दाली की उक्ति सत्य सिद्ध की और ऋषि दयानन्द के समय तक, वही हिन्दू एकता का सब से बड़ा शत्रु जाति भेद विद्यमान था। ब्रह्म समाज ने जाति भेद को दूर करने का प्रयत्न किया किन्तु वह प्रयत्न इसलिये असफल हुआ कि उन्होंने जाति भेद को आमूलोन्मूलन करना चाहा। यह संभव नहीं था। अन्त में, हिन्दुओं में जाति भेद दूर करते हुए, वे स्वयं हिन्दू समाज से पृथक होगये। आर्य समाज ने ३००० जातियों को ४ वर्णों तक सीमित करके, उन वर्णों को भी गुणकर्मानुसार माना तथा वर्णों के बीच के महान् अन्तर एवं वैशम्य को दूर करने के लिये स्वामी जी ने शूद्र पाचकों की व्यवस्था की। ब्रह्मसमाज यद्यपि सिद्धान्तः यह स्वीकार करता था कि जाति भेद का अन्त होना चाहिये किन्तु जब वैश्य जातीय, अब्राह्मण श्री केशवचन्द्रसेन ब्रह्म समाज में प्रविष्ट होकर, इसका विरोध करने लगे तो ब्राह्मसमाज दो भागों में बंट गया। ब्रह्म समाज ने जाति भेद आदि कुरीतियों का अन्त करने के लिये, अपने सुधार के इञ्जन को इतनी तेज़ी से दौड़ाया कि हिन्दू जाति के डिब्बे पीछे छूट गये। परिणाम यह हुआ कि ब्रह्म समाज का परिश्रम इस दिशा में बिल्कुल असफल रहा और आर्य समाज ने इस विषय में पर्याप्त कार्य किया। जाति भेद का ही एक विकसित एवं उग्र रूप अस्पृश्यता है। मद्रास में यह कुरीति अपनी पराकाष्ठा को पहुंची हुई है। छूने की बात तो दूर रही, उच्च जातियां दूर से नीच जातियों के दर्शन मात्र से ही अपवित्र हो जाती हैं। १६०१ की चीन की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार एक नायर उच्च जाति को छूकर भ्रष्ट करता है, कम्मलन (राज, लुहार, बढ़ई, चमार) २४ फीट की दूरी से ब्राह्मण को अपवित्र करता है, नाड़ी निकालने वाला ३६ फीट से, पलयान ४८ फीट से तथा परिया ६४ फीट की दूरी से उच्चवर्णों को भ्रष्ट करते हैं। हिन्दु

जाति ने अपने समाज के चतुर्थांश को, इस प्रकार के असह्य अन्यायपूर्ण, अमानुषिक एवं दारुण व्यवहार से सदियों तक पददलित किया है। वे दलित जातियां १९ वीं शती में स्वभावतः इस्लाम और ईसाइयत की ओर आकृष्ट हो रही थीं। आर्यसमाज ने दलितोद्धार और अस्पृश्यता के निवारण के लिये जो कार्य किया है, वह ब्रह्म, प्रार्थना या किसी अन्य समाज ने इतने विशाल पैमाने पर नहीं किया।

किन्तु इन सब कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण कार्य शुद्धि का है। मध्य कालिक हिन्दू समाज को एक विद्वान् लेखक ने उलटी चूहेदानी की उपमा दी है। इस चूहेदानी में बाहर से तो कोई प्रविष्ट नहीं हो सकता था किन्तु जो इससे एक बार बाहर निकल जाता था, वह इस में पुनः प्रविष्ट नहीं हो सकता था। हिन्दू अपने जातीय दुर्ग की दीवारों में बन्द रह कर, दूषित वायु एवं जल का सेवन करते हुए जीवनयापन को परम कर्त्तव्य समझते थे। समुद्र यात्रा, या विधर्मी के स्पर्श से ही व्यक्ति पतित समझा जाता था। हिन्दु धर्म की शुद्धगति शुद्ध मर्यादाओं का उल्लङ्घन करने पर, हिन्दुओं को जाति से बाहर कर दिया जाता था। दक्षिण में ईसाई मिशनरियों ने गांव के कुंओं में भोजन के टुकड़े डालकर पहले कुंओं को खराब किया। उन खराब कुंओं का पानी पीने से, उच्च वर्ण की जातियों ने जब पानी पीने वालों को अपनी जाति से बहिष्कृत किया तो पादरियों ने उन्हें ईसाई बना लिया। जाति से एक बार बहिष्कृत को सदा के लिये बहिष्कृत समझ लिया जाता था। हिन्दू जाति यह भूल गई थी कि पुराने जमाने में व्रात्यस्तोम द्वारा जाति से बहिष्कृत लोगों को फिर अपने में शामिल कर लिया जाता था। ताण्ड्य ब्राह्मण के १७ वें अध्याय में इस विधि का विस्तृत वर्णन है। लाट्यायन द्राह्यायण सूत्रों व कात्यायन श्रौतसूत्र में इस शुद्धि विधि का उल्लेख है। बौद्धों के अवनतिकाल में, हिन्दू धर्म छोड़कर पतित हुए वृषलों की शुद्धि भी इस व्रात्यस्तोम द्वारा की गई, किन्तु मध्यकाल में हिन्दुओं ने इस प्रथा को सर्वथा भुला दिया और बाहर की ओर ही खुलने वाली बहिष्कार की क्यारी में, हिन्दू जनता का विशाल प्रवाह अन्य जातियों की तरफ बहने लगा। ऐसा जलाशय कब तक बना रह सकता है जिस में जल बराबर बाहर निकलता जाता हो किन्तु नया पानी न आता हो? जिस देश में पहले हिन्दू १०० प्रतिशतक थे, उस देश में, अब उन की संख्या कुल ६६ प्रतिशतक रह गई है। स्वामी दयानन्द जी ने हिन्दू जाति की इस कमी को अनुभव किया और शुद्धि की व्यवस्था कर, हिन्दू जाति को न केवल क्षीण होने से रोका किन्तु उसमें, नवीन वृद्धि कर उसे पुष्ट किया। यह कार्य भी किसी अन्य समाज सुधारक ने नहीं किया। हिन्दू धर्म को परिपुष्ट एवं संवलित कर सजीव तथा क्रियाशील बनाने तथा मुर्दा हिन्दू जाति में जान फूंकने का सबसे बड़ा श्रेय महर्षि दयानन्द एवं आर्य समाज को ही है। इसीलिये स्वातन्त्र्य वीर श्रीविनायक दामोदर सावरकर ने लिखा कि वर्तमान युग में हिन्दू सङ्गठन के प्रथम इत होने की प्रतिष्ठा

सदा श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त होगी जो आर्य समाज आन्दोलन के यशस्वी संस्थापक हैं[1]।

राष्ट्रीय दृष्टि से, आर्य समाज के महत्व को अभी तक बहुत कम अनुभव किया गया है। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि अन्य सुधार आन्दोलनों के नेता जब ब्रिटिश शासन को भारत के लिये ईश्वरीय बरदान समझते थे, श्री सर सय्यद मुसलमानों को स्पष्ट रूप से, ब्रिटिश शासन का समर्थन करने तथा कांग्रेस से अलग रहने की प्रेरणा करते थे, उस समय, राष्ट्रीय महासभा की स्थापना से दो वर्ष पूर्व प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश में, श्री स्वामी दयानंद जी ने यह लिखा था कि "कोई कितना ही करे परंतु जो स्वदेशीय राज्य होता है...... मतमतान्तर के आग्रह रहित पक्षपात शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है" (सत्यार्थ प्रकाश अष्टम सम्मुल्लास पृ० २३८)। यह वाक्य सहसा इस अंग्रेजी उक्ति की याद दिलाता है कि सुराज्य स्वराज्य का स्थानापन्न नहीं होसकता (Good Government is no substitute for Self-government). मुन्शी समर्थदान ने जो उस समय वैदिक यन्त्रालय के मैनेजर थे स्वामी जी को उक्त संदर्भ के विषय में एक पत्र यह लिखा था कि यह राजद्रोह है, इस अंश को हटा दीजिये। स्वामी जी ने उस पत्र का क्या उत्तर दिया, यह हमें नहीं पता किन्तु सत्यार्थप्रकाश में विद्यमान में वे पंक्तियां ऋषि की काल दृष्टि एवं विशुद्धि भारतीय राष्ट्रवाद का उज्ज्वल परिचय दे रही हैं। श्री लाला लाजपतराय जी ने एक बार विनोद में यह कहा था कि ऋषि दयानन्द का यह सौभाग्य था कि वे अंग्रेजी नहीं जानते थे, अन्यथा यह कहा जाता कि उन्होंने उपर्युक्त विचार जान स्टुअर्ट मिल आदि पश्चिमी विचारकों से ग्रहण किये हैं। स्वामी जी ने १८८३ में स्वराज्य के जिस सिद्धांत को प्रतिपादित किया था, १८८५ में संस्थापित राष्ट्रीय सभा उसे बहुत देर तक राजद्रोह समझती रही। १९०६ में, पहली बार कांग्रेस के मंच से स्वराज्य शब्द का उच्चारण हुआ और १० वर्ष बाद लोकमान्य तिलक ने यह घोषणा की कि स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। महर्षि ३३ वर्ष पूर्व ही देशवासियों को स्वराज्य की महत्ता का ज्ञान करा चुके थे।

स्वामी जी के सभी ग्रन्थों में, चाहे वे वेदभाष्य या प्रार्थनायें हों या खण्डन परक ग्रन्थ, स्वदेश प्रेम एवं राष्ट्रवाद की भावना ओत-प्रोत है। यजुर्वेद (१।६) के भाष्य में मनुष्य के दो मुख्य प्रयोजनों में से, स्वामी जी पहला प्रयोजन चक्रवर्ती राज्यश्री की प्राप्ति बताते हैं और दूसरा विद्या प्रचार। यजुर्वेद (३६।२४) के अदीनाः स्याम शरदः शतम् के भाष्य में वे लिखते हैं कि 'हम

---

१. श्री सावरकर— ए रिव्यू आव् दि हिस्ट्री एण्ड वर्क आव् दि हिन्दू महासभा पृ० १७

सौ वर्ष की आयु में कभी पराधीन न हों और स्वाधीन ही रहें। आर्याभिविनय की प्रार्थनाओं में राष्ट्रीय भावनाओं की उत्कट अभिव्यक्ति हुई है। ब्राह्म समाजियों तथा प्रार्थना समाजियों की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं कि इन लोगों में स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। भला जब आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुए हैं और इसी देश का अन्न जल खाया पिया, अब भी खाते पीते हैं तब अपने माता पिता व पितामहादि के मार्ग को छोड़ दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना और एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान प्रकाशित करना इङ्गलिश भाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्योंकर हो सकता है।" (११ वां समुल्लास) मूर्ति पूजा के खण्डन के १६ कारणों में अधिकांश राष्ट्रीय हैं। उनमें से कुछ कारण इस प्रकार हैं। "नाना प्रकार की विरुद्ध स्वरूप नाम चरित्रयुक्त मूर्तियों के पुजारियों का ऐक्यमत नष्ट होकर, विरुद्ध मत में चलकर, आपस में, फूट बढ़ा के देश का नाश करते हैं। ...... मूर्ति के भरोसे शत्रु का पराजय और अपना विजय मान कर बैठते हैं। उनका पराजय होकर राज्य स्वातन्त्र्य और उनका सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है और आप पराधीन, भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गधे के समान शत्रुओं के वश में होकर, अनेक विधि दुख पाते हैं।" द्वारका के रण छोड़ जी तथा सोमनाथ के मन्दिरों की आलोचना भी उनकी उग्र राष्ट्रीय भावना का परिचायक है। रण छोड़ जी के विषय में उन्होंने लिखा है कि 'सम्वत् १९१४ (१८५७ का भारतीय स्वतन्त्रता के युद्ध का प्रसिद्ध वर्ष) के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर मूर्तियां अंग्रेजों ने उजाड़ दी थीं, तब मूर्ति कहां गई थीं? सोमनाथ के मन्दिर की लूट का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं "क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए? देखो जितनी मूर्तियां हैं, उनके स्थान में शूरवीरों की पूजा करते, तो भी कितनी रक्षा होती? पुजारियों ने इन पाषाणों की इतनी भक्ति की, परन्तु मूर्ति एक भी उनके शत्रुओं के सिर पर उड़कर न लगी।" स्वामी जी को अंग्रेजों की देशभक्ति एक स्पृहणीय वस्तु जान पड़ती है। उन्होंने लिखा है "देखो, अपने देश के बने हुए, जूते को कार्यालय और कचहरी में जाने देते हैं तथा देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझलो कि अपने देश के बने जूतों को भी कितनी मान प्रतिष्ठा करते हैं, उतनी भी अन्य देशस्थ मनुष्यों की नहीं करते।" अन्तिम वाक्य में कितना कठोर व्यंग्य है।

स्वामी जी ने अपने वैयक्तिक जीवन में उस स्वदेशी आन्दोलन के ४० वर्ष पूर्व ही जिसके कारण १९३७ में कांग्रेस में दो दल होगये थे। स्वदेशी का व्यवहार किया तथा दूसरों को स्वदेशी वस्तु व्यवहार की प्रेरणा की। ऊधोसिंह को विदेशी कपड़े पहने हुए देखकर, उन्होंने कहा था—"क्या तुम इस विदेशी कपड़े से बने नये वेश से विभूषित होकर अपने पिता जी से अधिक संस्कृत होगये हो? ऊधव, अपने ही देश के वस्तुवेश को अपनाने में शोभा है।"

राष्ट्रीय दृष्टि से स्वामी दयानन्द जी का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने मानसिक पराधीनता को दूर किया। मानसिक पराधीनता शारीरिक पराधीनता से भी अधिक घातक वस्तु है। जब तक व्यक्ति अपने को पराधीन समझता है, तब तक वह उससे मुक्त होने का प्रयत्न करता है किन्तु यदि वह अपने बन्धन को अनुभव ही न करे तो उस के उद्धार की कोई आशा नहीं रहती। अंग्रेजों ने अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारतीयों में आत्महीनता की भावना उत्पन्न कर दी थी और वे मानसिक दासता का शिकार होकर, प्रत्येक भारतीय वस्तु को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। मैकाले ने लिखा कि किसी अच्छे योरोपीय पुस्तकालय की किसी अलमारी के एक ताक पर पड़ी हुई पुस्तकें समूचे संस्कृत व अरबी वाङ्मय से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। .... संस्कृत भाषा में लिखी पुस्तकों से संगृहीत इतिहास इङ्गलैण्ड की प्रारम्भिक पाठशालाओं में उपयोग में आने वाले तुच्छतम संक्षिप्त इतिहासों से भी अधिक निकृष्ट है। .... क्या हम सच्चे दर्शन शास्त्र और इतिहास का संरक्षण करें या सार्वजनिक व्यय से चिकित्सा शास्त्र के वे सिद्धान्त पढ़ायें, जिसे सुनकर अंग्रेजी बोर्डिंग स्कूल की छात्रायें हंस पड़ें, या वह इतिहास पढ़ायें जिसमें ३० फीट ऊंचे और ३०,००० वर्ष राज्य करने वाले राजाओं का वर्णन हो या वह भूगोल पढ़ायें जिसमें मधु व नवनीत के समुद्रों का वर्णन हो। भारतीयों ने मैकाले पर विश्वास कर लिया। मैक्समूलर ने जब वेदों को गडरियों का गीत कहा तो शिक्षित भारतीय समाज ने श्रद्धा भाव हो, वह बात स्वीकार करली। अंग्रेजों ने राष्ट्रीय शिक्षा तथा संस्कृत और अरबी वाङ्मय के अध्ययन का इस लिये विरोध किया कि इसमें भारतीयों में स्वदेशभक्ति उत्पन्न होगी और ब्रिटिश शासन की स्थिरता खतरे में पड़ जायगी। मैकाले के सम्बन्धी व मद्रास के गवर्नर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने १८५३ में पार्लियामैण्ट्री कमेटी के समक्ष मैकाले की नीति का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा था कि "मुसलमान गैरमुसलमानों को काफिर समझते हैं और हिन्दू भिन्न व्यक्तियों को अछूत मानते हैं। सौभाग्यवश इनके ग्रन्थ क्लिष्ट भाषाओं में लिखे हुए हैं यदि इन भाषाओं के पुनरुज्जीवन के आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा की योजना बनायी जाय तो वह मुसलमानों को हमेशा यह स्मरण करायेगी कि हम काफिर हैं और हिन्दुओं को यह याद दिलायेगी कि हम अस्पृश्य पशु हैं जिनके साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखना लज्जा एवं पातक है। हमारे तीव्रतम विरोधी भी शिक्षा की ऐसी पद्धतियों को नहीं चाहते जिनसे हमारे विरुद्ध घृणा के जबरदस्त भाव पैदा हों। ....भारतीयों के लिये अपनी दशा सुधारने का एक ही प्रबल उपाय है और वह है अंग्रेजी शिक्षा का फौरन तथा पूर्ण बहिष्कार .... । आगे चलकर, उसने अंग्रेजी शिक्षा के सुपरिणामों का उल्लेख किया है। अंग्रेजी पढ़े लिखे युवक अंग्रेज महापुरुषों का हमारी तरह मान करते हैं और वे हिन्दु की अपेक्षा अधिक अंग्रेज होते हैं।" इन अंग्रेज हिन्दुओं में, अंग्रेजी शिक्षा से,

जातीय गौरव बिल्कुल नष्ट होगया था। साथ ही भौतिक साधनों—रेल, तार, मशीन आदि में अंग्रेजों के अधिक उन्नत एवं श्रेष्ठ होने के कारण, भारतीयों में आत्महीनता की भावना घर कर गयी थी। वे इङ्गलैण्ड को अपना गुरु और ईसा को अपना त्राता समझकर अंग्रेजी शासन को ईश्वरीय बरदान मानने लगे थे। अपनी प्राचीन संस्कृति एवं राष्ट्रीय अभिमान का उनमें बिल्कुल लोप होगया था। ऐसे समय में ऋषि दयानन्द ने इस तथ्य का प्रचार किया कि वेद सब सत्य विद्याओं का भण्डार है। उसमें विज्ञान के आधुनिक आविष्कार तथा विद्यायें बीज रूप से निहित हैं। हमें इस विषय में, इङ्गलैण्ड या पश्चिम से लज्जित होने की आवश्यकता नहीं। वैदिक काल में, हमारा आर्यावर्त्त सब देशों का गुरु एवं शिक्षक रहा है। हमारा अतीत अत्यन्त उज्ज्वल था। ऋषि दयानंद के इस प्रचार ने, सर्व प्रथम मेकाले की माया से मुग्ध भारतीयों की मोह निद्रा का भंग किया और उनमें आत्मविश्वास एवं राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट किया।

इन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए, राष्ट्रीय महासभा की अर्ध शताब्दी पर, राष्ट्रीय महासभा की ओर से प्रकाशित इतिहास में आर्य समाज को राष्ट्रीयता का अग्रदूत माना गया है। ब्रिटिश अधिकारी, देर तक, आर्यसमाज को राजद्रोह का सबसे बड़ा केन्द्र समझते रहे। १९०७ में पंजाब के आर्य समाजियों के एक डेपूटेशन ने जब लेफ्टीनेण्ट गवर्नर को मिलकर यह कहा कि वर्त्तमान उपद्रवों में उनका कोई हाथ नहीं है तो उसे यह उत्तर मिला कि जहां कहीं आर्यसमाज है, वह उपद्रव का केन्द्र है (लाला लाजपत राय कृत आर्यसमाज पृ० २५३) वेलेण्टाइन शिरोल ने लिखा था "जहां २ आर्यसमाज का जोर है, वहां वहां राजद्रोह प्रबल है।" इस विषय में आर्यसमाज की अन्य सुधार आन्दोलनों से कोई तुलना ही नहीं हो सकती। जिस अंग्रेजी शिक्षा के विषैले परिणामों का ऊपर उल्लेख किया गया है, राजा राममोहनराय इस शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। अंग्रेजी शासन के भक्त थे। श्री केशवचन्द्र सेन पर तो अंग्रेजियत का इतना गहरा असर चढ़ा हुआ था कि उनसे राष्ट्रीयता की किसी भावना की आशा दुराशा मात्र थी। सर सय्यद उस समय स्पष्ट रूप से, मुसलमानों को अंग्रेजों का साथ देने का उपदेश कर रहे थे। इसलिये यह कहना अत्युक्ति नहीं कि भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ करने का श्रेय ऋषि दयानन्द व आर्यसमाज को ही है। श्री स्वामी सत्यानन्द जी ने भावपूर्ण शब्दों में लिखा है "समय आयगा, जब भारत की भावी सन्तति अपने जातीय मन्दिरों में स्वायत्त शासन देवी का पूजन करने से पूर्व, उसे पहिले पहिल आह्वान करने वाले देवस्वरूप दयानन्द का प्रथम अर्चन किया करेगी।"

इस प्रकार १९ वीं शती के धार्मिक आन्दोलनों में आर्यसमाज के आन्दोलन का विशिष्ट स्थान है। धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में, वह अपने समसामयिक

आन्दोलनों से अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली है। आर्य समाज की इस सफलता का मुख्य कारण पुरातन और नूतन, श्रद्धा और तर्क, परम्परा और बुद्धि, पूर्व और पश्चिम में उचित समन्वय एवं सामंजस्य करते हुए, सुधार की 'अतियों' (Extremes) से बचते हुए, मध्यम मार्ग का अनुसरण करना था। ब्राह्मसमाज ने सुधार की एक 'अति' पर चलते हुए, हिन्दू धर्म में इतने आमूल सुधार किये कि वे प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रवाह से सर्वथा विच्छिन्न होगये। सामान्य जनता से उनका सम्बन्ध कट गया। और हिन्दू समाज में उनका महत्व बिल्कुल घट गया। दूसरी 'अति' पर थियोसेफिस्ट व अन्य कट्टर पन्थी थे। विज्ञान एवं बुद्धि के बल पर, घातक कुरीतियों का समर्थन भले ही किया जाय, किन्तु उनका निराकरण तो अवश्यमेव होना चाहिये। ऋषि दयानन्द ने वेद एवं भारतीय परम्परा के सुदृढ़ आधार पर, अपने सुधार की आधार शिला रखी और प्राचीन वैदिक साहित्य को आधुनिक दृष्टि से समझकर अपने महान् कार्य को आरम्भ किया। अतएव उनके द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज हिन्दु धर्म का मार्ग दर्शक हिन्दु समाज संस्कार का अग्रणी और राष्ट्रीयता का अग्रदूत बना। वर्त्तमान भारत में, सर्वतोमुख उद्बोधन एवं जागृति का जो पुनीत भागीरथी प्रवाह प्रवाहित हो रहा है, ऋषि दयानन्द उस प्रवाह के लाने वाले अभिनव भगीरथ हैं। श्री अरविन्द ने लिखा है 'भारतीय पुनर्जागृति के शीर्ष स्थान पर, स्थित प्रथित आत्माओं के महान् समुदाय में, एक अकेली व अपने ढंग और कार्य में निराली महान् आत्मा अपनी विशिष्ट एवं एकान्त विशेषता के साथ खड़ी है। यह ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कोई दीर्घ काल तक छोटी या बड़ी ऊंचाई की पहाड़ियों में, चलता रहा हो। .... उन पहाड़ियों में एक उत्तुंग गिरि शृङ्ग, है जिससे शुद्ध, शक्तिदायक और उपजाऊ बनाने वाले जल का स्रोत उद्भूत हो रहा है, मानों वह सारी घाटी के जीवन और स्वास्थ्य का स्रोत हो। मेरे मन पर, दयानन्द का इस प्रकार का प्रभाव पड़ा है।" यही बात आर्य समाज के विषय में भी, पूर्ण रूप से सत्य है।

ऋषि दयानन्द और वेद-भाष्य शैली

[लेखक—पं० चन्द्रकान्त जी वेदवाचस्पति, वेदमनीषी आचार्य गुरुकुल सूपा]

वेदों पर समय समय पर अनेक विद्वानों ने कलम उठाई है। ब्राह्मण-ग्रन्थ रचयिता ऋषियों के बाद पौराणिक काल में आचार्य उवट, महीधर तथा सायण आदि ने वेदों पर भाष्य किए हैं। इसी प्रकार आधुनिक युग में मैक्समूलर, विटनी, ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य लेखकों ने भी वैदिक साहित्य पर बहुत कुछ लिखा है, परन्तु इन विद्वानों के ग्रन्थों में वेदों की आत्मा का विकास नहीं हुआ है। पौराणिक कालीन भाष्यकार याज्ञिक-वाद, देवतावाद, ऐतिहासिकवाद आदि वादों की बाधाओं से जकड़े गए हैं। वे अपने

समय की रूढ़ियों से ऊपर नहीं उठ सके हैं। यही हालत पाश्चात्य लेखकों की भी है। एक तो इनके भाष्य अक्षरशः अनुवाद मात्र हैं ; फिर ये अनुवाद लौकिक तथा वैदिक संस्कृत में भेद मानते प्रतीत नहीं होते। इस पर मज़े की बात यह है कि आचार्य सायण के पद चिन्ह पर ही चलते हैं। एवं विकास वाद की (अशुद्ध अर्थों में) रट लगा लगा कर वेदों के वास्तविक अर्थ से दूर हो गए हैं।

ऋषि दयानन्द और तात्कालिक परिस्थिति—

ब्राह्मण ग्रन्थकार, पौराणिक भाष्यकार और पाश्चात्य भाष्यकारों के अतिरिक्त आधुनिक समय में वेदों पर युग परिवर्तनकारी कलम उठाने वालों में सबसे प्रमुख नाम महर्षि दयानन्द का है। प्रस्तुत लेख में हमें यह देखना है कि महर्षि की भाष्य शैली में वे कौन सी विशेषताएं हैं जिनसे कि वेद जीवित और जागृत प्रतीत होते हैं, और इन से पूर्व के भाष्यकारों की त्रुटियों का क्रियात्मक समाधान हो जाता है।

स्वामी जी के भाष्य ग्रंथ—

स्वामी जी का सम्पूर्ण भाष्य यजुर्वेद पर ही मिलता है। ऋग्वेद पर सातवें मण्डल ६१ वें सूक्त के दूसरे मन्त्र से आगे किन्हीं अपरिहार्य कारणों से भाष्य नहीं कर सके हैं। फिर सामवेद और अथर्ववेद पर वे कैसे कलम उठा सकते थे ? अतः वर्तमान समय में ऋषि के भाष्य यजुर्वेद एवं आधे से कुछ अधिक ऋग्वेद पर ही उपलब्ध होते हैं। स्वामीजी की आदर्श शैली का परिचय इन भाष्यों से भी हो जाता है।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद भाष्य का प्रारम्भ संवत् १६३४, ६ मार्गशीर्ष को (शुक्ल पक्ष) किया था। ऋग्वेद भाष्य की प्रस्तावना में वे इसका प्रतिपादन करते हैं—

विद्यानन्दं समवति चतुर्वेद संस्तावना या,
सम्पूर्णेशं निगमनिलयं सम्प्रणम्याथ कुर्वे।
वेद अंके विधुयुत सरे मार्ग शुक्लेऽङ्ग भौमे,
ऋग्वेदस्या खिलगुणिगणज्ञानदातु हिं भाष्यम् ॥

अर्थात् चारों वेदों की भूमिका विद्यानन्द को देती है, उसे— पूरा कर, परमेश्वर को प्रणाम कर संवत् १६३४ मार्गशीर्ष शुक्ल ६ को मंगलवार के दिन ऋग्वेद भाष्य का प्रारम्भ करता हूं। इसके कुछ समय के अनन्तर वि० संवत् १६३४ के पौष सुदि १४ गुरुवार को यजुर्वेद-भाष्य का प्रारम्भ किया। इस सम्बन्ध में भाष्यारम्भ में निम्नश्लोक दिया गया है—

चतुरत्र्यङ्कै रङ्कैः— अवनिसहितैर्विक्रमसरे,
शुभे पौषे मासे सितदलभविश्वोन्मिततिथौ।
गुरोर्वारे प्रातः पतिपदमतीष्टं सुविदुषाम्,
प्रमाणै र्निबद्धं शतपथ निरुक्तादिभिरपि ॥

(वि० संवत् १९३४ पौष सुदी गुरुवार त्रयोदश तिथि के दिन यजुर्वेद भाष्य का प्रारम्भ किया जाता है)। इस प्रकार ऋग्वेद भाष्य के प्रारम्भ से लगभग एक मास पीछे ऋषि ने यजुर्वेद भाष्य का निर्माण शुरू कर दिया था। इस भाष्य की समाप्ति के विषय में वहां पर इस प्रकार लिखा है— 'मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष १, शनिवार संवत् १९३९ में समाप्त किया है'। वैशाख शु० ११, १९४६ संवत् में छपकर समाप्त हुआ। इस तरह यजुर्वेद का सम्पूर्ण तथा ऋग्वेद का आंशिक भाष्य ५ वर्षों में पूरा कर लिया था।

ऋषि के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' का मुद्रण संवत् १९३४ में प्रारम्भ हुआ था और १९३५ में पूर्ण हो चुका था। परन्तु वेद भाष्यों का मुद्रण तथा संशोधन ऋषि के स्वर्गारोहण (१९४० सं०) के अनन्तर भी होता रहा। ऋषि के भाष्य शुरू शुरू में मासिक अङ्कों में ही मुद्रित किए गए थे। उनके जीवन काल में यजु० के ११ अध्याय और कुछेक मन्त्र ही ५१ अङ्कों तक मुद्रित हुए थे। और ऋग्वेद प्रथम मण्डल ८९ सूक्त के पांचवें मन्त्र तक ही उन में प्रसिद्ध हो सके थे। इस प्रकार ऋषि के जीवन काल में दोनों भाष्यों के लगभग पांचों हिस्से ही मुद्रित हो सके थे। यजुर्वेद का सम्पूर्ण मुद्रण तो ऋषि की मृत्यु के ६ वर्ष बाद १९४६ में ही हुआ, और इससे १० वर्ष बाद लगभग १९५६ वि० में ऋग्वेद का पूर्ण प्रकाशन हुआ है।

इन भाष्यों का हिन्दी में भाषान्तर भीमसेन आदि विद्वानों ने किया है। संस्कृत भाष्य के प्रकाशन मुद्रण की देख रेख प्रायः पण्डितों ने की है। अतः ऋषि के भाष्यों में यदि कहीं कहीं स्खलन प्रतीत होवे तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए*। रात दिन प्रचार कार्य में व्यग्र रहने से ऋषि वेद-भाष्य के लिए प्रतिदिन ३, ४ घंटे से अधिक समय न दे सकते थे। हमें जितना ऋषि भाष्य उपलब्ध होता है, हमारे लिए तो वह अगाध ज्ञान समुद्र के तुल्य है, वेद के सत्य ज्ञान का प्रकाश स्तम्भ है।

---

* स्वामीजी का पत्र — "... ... ... और समर्थदान से लिखा है कि ज्वालादत्त नई भाषा बनाता है। यदि वह हमारे संस्कृत और अभिप्राय के अनुकूल हो तो ठीक है, नहीं तो जो पोपलीला की भाषा बनाकर वहीं छपवा दे। और हमको मालूम न हो। पश्चात् प्रसिद्ध होने से कोलाहल होगा तो क्या होगा ? हां अब तक तो उसने कुछ नहीं किया परन्तु सम्भव है कुछ गड़बड़ करे तो हो सकता है। इसलिए जो कुछ वह बनावे उस पर समर्थदान देख लो। जैसा कि अब भाष्य में एक गोल माल शब्द (देवता) लिख दिया है। सो यह हमारे दृष्टि-गोचर होने से ही शुद्ध हो गई। यदि वहां ऐसी छप गई तो बड़ी हानि का सम्भव है। इसलिए ऐसा न होना चाहिए।

मिति-आ० व० ९, शुक्रवार
सं० १९४०, जोधपुर मारवाड़। } दयानन्द सरस्वती।

ऋषि के भाष्य संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में उपलब्ध होते हैं। संस्कृत भाष्य में पहिले पदार्थ फिर अन्वय तथा भावार्थ दिए गए हैं। स्थान स्थान पर निरुक्त, व्याकरण, ब्राह्मण ग्रन्थ, मैत्रायणी आदि उपनिषद् तथा मनुस्मृति आदि आप्त ग्रन्थों के प्रमाणों से भाष्य अलंकृत है। कहीं २ महीधर, उवट, सायण आदि आचार्यों के भाष्यों का विरोध भी किया गया है। यजुर्वेद भाष्य में हरेक अध्याय की समाप्ति पर अध्याय का सार तथा पूर्व अध्याय से संगति भी प्रदर्शित की गई है। हरेक मन्त्र के प्रारम्भ में उस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय भी निर्दिष्ट किया गया है। हिन्दी भाष्य में मन्त्रार्थ, भावार्थ दण्डान्वय सहित दिये गए हैं। इन दोनों भाष्यों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि भाषा भाष्य संस्कृत के मुकाबिले में कहीं २ असमीचीन है। मुद्रण तथा संशोधन की त्रुटियों के अतिरिक्त अर्थ विषयक नाना त्रुटियां प्रतीत होती हैं। अतः कुछ एक विद्वानों की सम्मति में भाषा भाष्य बहुत प्रमाणिक नहीं प्रतीत होता है। परन्तु संस्कृत भाष्य में ऋषि ने पदों का अर्थ देने में अपनी अनुपम योग्यता का परिचय दिया है। गहराई से देखने से प्रतीत होता है कि यह भाष्य ब्राह्मण, निरुक्त तथा उपनिषत् की आर्ष शैली से सुसंगत तथा अनुकूल है।

ऋषि भाष्य का सामान्य परिचय—

भाष्य में दण्डान्वय के साथ पदों का अर्थ नहीं किया गया है। इससे प्रायः अर्थ करते समय कठिनता प्रतीत होती है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो ऐसा करके ऋषि ने महान् उपकार किया है। पदों के अर्थ दे दिए गए हैं— पाठकों का कर्तव्य है कि वे उनका भली भांति चर्वित चर्वण करें। उन्हें स्थान स्थान पर अनेक अद्भुत अर्थ प्रतीत होने लगेंगे। जब अर्थों के अन्तस्तल में प्रवेश कर लिया जाय फिर मन्त्रों के देखने से अर्थ में कुछ अद्भुतता प्रतीत होगी। दण्डान्वय के साथ दिए गए अर्थों में पाठकों को परिश्रम कम करना पड़ता है, जिसका परिणाम यह होता है कि हमारा शब्दों के अर्थ-गाम्भीर्य में जाने का स्वभाव नहीं बनता। फलतः मन्त्र का स्वाभाविक मनन करना हमारे लिए कठिन हो जाता है। इसलिए ऋषि की यह शैली पाठकों की विचार शक्ति को प्रोत्साहन और उत्तेजना देने वाली है।

भाष्य में प्रकरण भेद से एक ही शब्द के भिन्न २ अर्थ किये हैं। इन पदों के अर्थ का संग्रह करके एक कोष का भी निर्माण किया जा सकता है; (जैसा कि पण्डित चमूपति जी ने किया भी है)। ऋषि भाष्य में पदों के जो अर्थ किये गये हैं वे निराधार नहीं हैं। उनके आधार में अन्य आर्ष ग्रन्थ हैं। ऋषि भाष्य के पारायण के समय हमें एक शब्द के उस विशेष स्थान में दिये गये अर्थ से संतुष्ट न रहकर प्रत्युत जितने भी अर्थ किये गये हैं उनका वहां प्रयोग करके अर्थ का स्वारस्य लूटना चाहिये और शब्दों के नाना अर्थों के करने में संकोच न करना चाहिये। क्योंकि प्रकरण तथा विशेषणों के आधार पर शब्दों

के नाना अर्थ होते हैं। सिद्धांत के विरोधी न होने से उन अर्थों के लेने में कोई बाधा नहीं होती है। हम देखते हैं कि प्राचीन ऋषियों ने भी मंत्रों के नाना अर्थ किये हैं, परन्तु वे सब परस्पर सुसंगत तथा अनुकूल हैं। ऋषि भाष्य को इस दृष्टि से देखने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उन्होंने मंत्रों का जो अर्थ किया है वह अनेक दृष्टियों से स्वतः सुंदर तथा संगत है, क्योंकि स्वयं ऋषि के ही पदार्थों के अनुसार उस मंत्र के संगत अनेक अर्थ भी हो सकते हैं। इस प्रकार उनका भाष्य विविध विचारों का एक स्रोत प्रतीत होने लगता है।

अपने भाष्य के विषय में ऋषि लिखते हैं:—

"परन्त्वेतैर्मन्त्रैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः ? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेय शतपथ पूर्वमीमांसा श्रौत सूत्रादिषु यथार्थ विनियोजितत्वात्। ······ तथैवोपासना काण्डस्यापि प्रकरण शब्दानुसरतो हि प्रकाशः करिष्यते। ····एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि।" अर्थात् ऋषि की प्रतिज्ञा है कि उनके भाष्य में ज्ञान, कर्म, उपासना काण्ड का विचार नहीं किया जायगा, क्योंकि दर्शन, उपनिषत् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इनका विवेचन किया गया है। अतः भाष्य में केवल अर्थ ही दिये जायेंगे। इससे स्पष्ट है कि ऋषि के भाष्यों में अन्वय पूर्वक अर्थ का ही प्रयोग है। अन्य भाष्यों की तरह मंत्रगत भावों की व्याख्या नहीं है। इसका कारण पाठकों की मनन शक्ति तथा विचार स्वातंत्र्य की रक्षा करना ही है।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका— ऋषि दयानन्द की असाधारण योग्यता व मौलिकता का परिचय ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका से हो जाता है। इनकी शैली का मर्म इस ग्रन्थ की पंक्ति २ में प्रतिभाषित होता है। उनके प्रतिपक्षी विद्वान् भी इसकी प्रशंसा करते हैं। प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं:—

"We may divide the whole of Sanskrit Literature beginning with the Rigveda, and ending with Dayanand's introduction to his edition of Rigveda, his by no means uninteresting Rigveda Bhoomika, in two great periods". (India, what can it teach us, Lecture III.) अर्थात् संस्कृत साहित्य का प्रारम्भ ऋग्वेद से होता है और समाप्ति दयानन्द की भाष्य भूमिका में। यह बहुत रुचिकर है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाष्य भूमिका वैदिक साहित्य में एक मौलिक ग्रन्थ-रत्न है। ऋषि ने अपनी भाष्य शैली को समझाने के लिये यह भूमिका लिखी है। जिस विषय का विशेष प्रतिपादन भूमिका में किया है उसी को भाष्य में फैलाया गया है। भूमिका में भली भांति सिद्ध किया गया है कि वेद अनादि हैं— ईश्वर प्रणीत है। वेदों में एकेश्वरवाद है तथा ये सर्व सत्य विद्याओं के भण्डार हैं। समस्त मंत्रों का

प्रतिपाद्य विषय ईश्वर ही है। अर्थात् वेद की आध्यात्मिक व्याख्या ही सर्व श्रेष्ठ है। ऋषि को अन्य प्रकार के अर्थों के साथ २ आध्यात्मिक अर्थ विशेष पसन्द थे। ऋषि का दृढ़ मत है याज्ञिकों की ३३ देवताओं की स्तुति का, पाश्चात्यों की जड़ पूजा का वेदों में विधान नहीं हैं। अग्नि, वायु, सूर्य आदि नामों से स्पष्टतया परमात्मा का ही वर्णन है। अर्थात् ऋषि दयानन्द औपनिषद पक्ष के भी पोषक थे। उनके विचारों में भारतीय भाष्यकारों की मौलिकता व स्वतंत्रता का प्रकाश पाया जाता है। इस विषय में महत्व पूर्ण सम्मतियां दर्शनीय हैं।

(१) सन् १८७० के मार्च मास के Christian Intelligencer में प्रो० रूडल्फ हार्नले भाष्य विषय में लिखते हैं:— 'He is an independent student of the Vedas and free from the trammels of treditional interpretation. The standard commentary of the famous Sayan is held of little account by him' अर्थात् दयानन्द वेदों को स्वतन्त्र रूप से पढ़ते हैं और परम्परागत (पौराणिक कालीन पद्धति) की परवाह नहीं करते। आचार्य सायण के भाष्य को वे निष्प्रयोजन समझते हैं।

II Vedic Magazine के 'Dayanand—the man, his work' नामक लेख में श्री अरविन्द घोष ने निम्न विचार प्रकट किए हैं।

(अ) दयानन्द वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे, उनके लिये वेद जीवन की दृढ़ आधार शिला थी।

(ब) उन्होंने सायण के याज्ञिक विचारों के पर्दे को हटाकर वेद को प्रतिबोध (Intuition) की आंखों से देखा है।

(स) पाश्चत्यों की सम्मति में वेद असभ्य अथवा अर्ध सभ्य लोगों के स्तुति गान हैं। परन्तु ऋषि दयानन्द इनको मानव जाति के ईश्वरीय ज्ञान के रूप में समझते हैं।

आगे चलकर श्री अरविन्द ने जो लिखा है उसका सारांश इस प्रकार है —

(i) सायण भाष्य बाहर से महत्व पूर्ण प्रतीत होता है परन्तु वे वेद के वास्तविक अर्थ नहीं दिखाते। इसको आधार मानकर चलने वाले पाश्चात्य विद्वानों के भाष्यों में भी पूर्वापर की संगति नहीं है।

(ii) वेदों की सहायता से वेदों के अर्थ करना चाहिए। इस विषय में ऋषि के विचार स्पष्ट हैं।

(iii) वेद भिन्न २ नामों से एक ही प्रभु का वर्णन करते हैं अनेक का नहीं। मैक्समूलर तथा रोथ की अपेक्षा ऋषि लोग अपने धर्म को अवश्य ही अधिक समझते हैं।

(iv) पाश्चात्य विद्वान स्थान स्थान पर बहुत खींचातानी करते हैं। ऊंचे विचारों

वाले सूक्तों को आधुनिक काल का बताते हैं। एकेश्वरवाद के विचारों को वेद में मानते हुए वे हिचकते हैं (क्यों कि इसको मानने से उनके प्रियतम विकासवाद के सिद्धान्त को ठेस पहुंचती है)। परन्तु इस विषय में ऋषि वेद का सीधा सरल अर्थ करते हैं। वेद में अग्नि आदि देवों के सचमुच ऐसे विशेषण हैं जो कि प्रभु के सिवाय कहीं नहीं घटते। ऋषि के भाष्य इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं।

(v) इनके (ऋषि के) उपर्युक्त विचारों के परिणामस्वरूप याज्ञिक तथा बहु देवतावाद सम्बन्धी विचार भस्मीभूत हो जाते हैं। पाश्चात्यों के केवल अन्तरिक्ष आदि देवों के सम्बन्ध में किए गये अर्थ ओझल हो जाते हैं और वेद संसार का एक दिव्य ग्रन्थ प्रतीत होने लगता है।

योगिराज अरविन्द घोष के ऊपर निर्दिष्ट विचारों में महर्षि दयानन्द की भाष्य शैली की दिशा तथा अन्य भाष्यकारों से विशेषता का परिचय मिल जाता है। यह प्रतीत होने लगता है कि ऋषि ने अपने भाष्यों में याज्ञिक ऐतिहासिक तथा देवतावाद सम्बंधी सिद्धांतों को स्थान नहीं दिया है प्रत्युत वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानकर उसे सर्व सत्य विद्याओं का भण्डार सिद्ध किया है एवम् वेद के अध्यात्म अधिभूत तथा अधिदैव अर्थ किए गए हैं।

इस प्रसङ्ग में इस प्रश्न पर विचार कर लेना उचित है कि महर्षि ने यजुर्वेद भाष्य के प्रत्येक मंत्र के अंत में 'शतपथे व्याख्यातः' लिखते हुए शतपथ ब्राह्मण को अपने भाष्य का प्रामाणिक आधार माना है और शतपथ ब्राह्मण मंत्रों की याज्ञिक व्याख्या करते हुए प्रतीत होते हैं। लेकिन उनके भाष्य में 'कपाल' आदि दो चार शब्दों के अतिरिक्त कहीं पर भी याज्ञिक भाव दृष्टिगोचर नहीं होते। इसका कारण क्या है? कारण यह हो सकता है कि शतपथ ब्राह्मण को प्रमाण मानते हुए भी स्वामी जी प्रतीयमान याज्ञिक भावों से भिन्न आम भावों को भी शतपथ का विषय समझते थे। इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिये भाष्य भूमिका के 'प्रतिज्ञा विषय' का निम्न संदर्भ द्रष्टव्य है:—

अत्र वेद-भाष्ये कर्म काण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते परन्त्वेतैर्वेदमंत्रैः कर्मकाण्ड विनियोजितैर्यत्र यत्राग्नि होत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्म काण्डानुष्ठानस्यैतरेय शतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसा श्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। ... . पुनपुनस्तत् कथनेनानृषिकृत ग्रन्थवत् पुनरुक्त पिष्टपेषण दोषाद्यापत्तेश्च, तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादि प्रमाणानुकूलो मंत्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोजितु योग्योऽस्ति।'

सन्दर्भ स्पष्ट है। ऋषि दयानन्द शतपथ आदि ग्रन्थों की याज्ञिक व्याख्या से असहमत न थे। लेकिन उनकी दृष्टि में 'यज्ञ' शब्द अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूत

अर्थों में प्रयुक्त होता था। वे यह समझते थे कि ब्राह्मण ग्रन्थों का तात्पर्य वेद की याज्ञिक व्याख्या के अतिरिक्त अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूत व्याख्या में है।

अब विशेष विस्तार में न जाकर हमें यह देखना है कि ऋषि के भाष्य में वे कौनसी मौलिक विशेषतायें हैं, जिनसे कि वह अन्य भाष्यों से विलक्षण प्रतीत होता है।

(१) स्वामी दयानन्द जी के भाष्य में यौगिक शैली को प्रमुखता दी गई है। यद्यपि सायण, महीधर तथा उवट आदि भाष्यकारों ने भी कहीं कहीं यौगिक अर्थ किए हैं तथापि इस शैली का इन्होंने इतना सहारा नहीं लिया है जितना कि प्राचीन ऋषियों ने और वर्तमान में महर्षि श्री दयानन्द ने। इस विषय में महर्षि की शैली पूर्ण रूप में निरुक्त-कार यास्क के अनुसार है। इस शैली को ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषत्, अरण्यग्रन्थ तथा प्रायः समस्त भाष्यकारों ने आदर दिया है। इसलिये हमें स्वामी जी के भाष्य को समझने के यौगिक अर्थ पर विशेष मनन करना चाहिए।

वैदिक शब्द यौगिक होते हैं-

आख्यात या नाम जिनसे कि प्रत्यय किया जाता है वैयाकरण उसे प्रकृति कहते हैं। प्रकृति और प्रत्यय की उपेक्षा करके केवल सामुदायिक शक्ति से ही अपने वाच्यार्थ को सूचित करने वाले शब्द रूढ़ कहाते हैं और जो शब्द प्रकृति प्रत्यय की अपेक्षा करता हुआ समुदाय शक्ति से वाच्यार्थ को बताता है उसे योगरूढ़ कहते हैं। दार्शनिक लोग शब्द का एक स्वभाव बताते हैं कि शब्द पहिले पहल अपने वाच्यार्थ को योगवृत्ति से कहता है फिर शनैः शनैः जब उसका अर्थ स्थिर हो जाता है तब दोनों वृत्तियों से योग-रूढ़ कहा जाता है। फिर काल क्रम से जब उसका वह अर्थ प्रसिद्ध हो जाता है तो योग वृत्ति को छोड़कर वह केवल रूढ़ वृत्ति से योगार्थ (वाच्यार्थ) को सूचित करता है। इस प्रकार जो शब्द अपने वाच्य अर्थ को योगवृत्ति से कहे वह यौगिक जो योग और रूढ़ से कहे वह योग रूढ़, एवम् केवल रूढ़ वृत्ति से अपने अर्थ को बतावे उसे रूढ़ समझना चाहिए। तीनों वृत्तियों में रूढ़वृत्ति अन्तिम और निकृष्ट है। योग रूढ़ मध्यम तथा यौगिक उत्तम है। अतः यौगिक वृत्ति ही विशेष आदरणीय है।

वैदिक शब्द यौगिक व योगरूढ़ होते हैं, इस बात को यास्क गार्ग्य आदि अनेक विद्वान स्वीकार करते हैं। यास्क और शाकटायन तो रूढ़ शब्दों को भी यौगिक मानने में तुले हुए हैं इस विषय के अधिक प्रकाश के लिये पं० गुरुदत्त विद्यार्थी की Terminology of the Vedas" का एक उद्धरण इसके महत्त्व को समझने में सहायक होने से यहां अंकित करना उपयुक्त होगा।

'A Yogik word is one that has a derivative meaning, i.e. one that only signifies the meaning of its root together with the modifi-

cation effected by the affixes. In fact, the structural elements out of which the word is composed, afford the whole and only clue to the true signification of the word, ... the word is all connotation and by virtue of its connotation determines also its denotation. A रूढ़ि word is the name of a definite technical sense, not by virtue of any of its connotation but by virtue merely of an arbitrary principle. In the case of yogik word, we arrive at the name of an object by the process of generalization .. .. To the generic conception, we give an appropriate name by synthetically arriving at it from a root, a primitive idea or ideas. The world, therefore, thus ultimately formed embodies the history of the intellectual activity of a man, in the case of रूढ़ि word, the process is different. We, only, roughly discriminate one object or class of objects from other objects and arbitrarily place a phonetic post-mark. A Third class of word योग रूढ़ि is one in which two words are synthetically combined into a compound.

इस विषय में यास्क मुनि, पतञ्जलि, आचार्य सायण, महीधर, उवट, अरविन्द घोष, प्रो० मैक्समूलर आदि विद्वानों की प्रामाणिक सम्मतियां उपलब्ध होती हैं। वेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थ की अन्य साक्षियां भी शब्दों के यौगिक आधार को प्रतिपादित करती हैं। अतः वैदिक पद यौगिक हैं यह सुनिरूपित होता है।

इन शब्दों के यौगिक मूल को जानने के लिये चार नियम ध्यान देने योग्य हैं:—

(१) वैदिक शब्द एक से अधिक धातुओं से सिद्ध किये जा सकते हैं। निरुक्त ७।१४ में 'अग्नि' को इण्, अञ्ज्, या दह, नी, धातुओं से बनाया गया है। नि० १०।२१, ६।३, ३।१८ देखो।

(२) एक ही शब्द भिन्न २ धातुओं से अलग २ सिद्ध किया जा सकता है, एवं धातु भेद से एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। 'इन्द्र' शब्द की ११ धातुओं से सिद्धि की गई है, इसलिये इसके अनेक अर्थ हो गये हैं।

(३) भिन्न २ कारकों में प्रत्यय करने पर अनेक अर्थ हो जाते हैं। जैसे "समुद्र" 'समुद्रवन्त्यस्मादापः' से जलीय समुद्र और 'सममिद्रवन्त्यनेमापः' से अन्तरिक्ष' इन दो अर्थों को बताता है।

(४) णिजन्त तथा णिच् रहित धातु से प्रत्यय करने पर एक ही शब्द के दो अर्थ हो जाते हैं। "गौ" शब्द का 'गच्छति' (णिच् रहित) अर्थ करने पर पृथ्वी, सूर्य, गौ आदि अर्थ होते हैं। 'गमयतीषून्' (णिजन्त) अर्थ करने पर 'धनुष' अर्थ हो जाता है।

वैदिक शब्दों को यौगिक मानने पर एक स्वाभाविक शंका उठती है कि यदि प्रत्येक शब्द को उसके मूल धात्वर्थ की दृष्टि से देखें तो वह अनेक धातुओं से बन सकता है और फिर धातुओं के भी अनेक अर्थ हो सकते हैं (अनेकार्थाः हि धातवः) इसलिये

शब्द के अनेक अर्थ होने पर शब्द और अर्थ में निश्चित सम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता। साहित्यज्ञों का 'अर्थ भेदेन शब्द भेदः' का नियम यह प्रतिपादित करता है कि शब्द का अपने अर्थ से निश्चित सम्बन्ध होता है। और वह शक्य सम्बन्ध है। इसलिये शब्दों के यौगिक मानने पर अर्थों में होने वाली विभिन्नता का शब्द शास्त्र के सिद्धान्त से कैसे समन्वय हो सकेगा ?

समाधान–यह प्रश्न जितना पेचीदा प्रतीत होता है, वस्तुतः उतना है नहीं। निरुक्त आदि शास्त्रों में मुख्यतः दो प्रकार के शब्द आते हैं। कुछ समानार्थक और कुछ नानार्थक। वे शब्द जो कि एक ही पदार्थ के भिन्न २ गुणों (atributies) को भिन्न २ रीति से कहते हुए एक ही पदार्थ पर केन्द्रित होते हैं, समानार्थक कहाते हैं। जैसे जीवन, वारि, उदक आदि शब्द एक 'जल' पदार्थ के वाचक होते हुए भी अपने धात्वर्थ में पूरा साम्य नहीं रखते। वे भिन्न २ मूलार्थ को लेकर ही एक पदार्थ में केन्द्रित होते हैं। जल प्राण की शक्ति को बढ़ाने से जीवन है; मैल को निवारण करने से वारि है, वाष्प रूप में ऊपर आने से उदक है। इस प्रकार अन्य शब्दों के विषय में समझ लेना चाहिये।

दूसरे प्रकार के शब्द नानार्थक—भिन्न २ अर्थों को बताने वाले होते हैं—यथा 'कर'। इसके मुख्य तीन अर्थ हैं हाथ, किरण और महसूल (tax)। ऐसे शब्द जब अनेक पदार्थों को बताते हैं तो भी उनमें एक साधारण सूत्र अवश्य पिरोया हुआ होता है। अर्थात् ऐसे शब्दों के मौलिक धात्वर्थ जिन भावों की ओर निर्देश करते हैं, वे भाव मुख्यतः जिन पदार्थों में उपलब्ध हों, उन शब्दों को उस शब्द का वाच्य कहा जाता है। क्योंकि किरणें पृथिवी पर से जलों को खींचती है और फिर वर्षा रूप में बरसती भी हैं अतः 'कर' कहाती है। राजा प्रजा हित के लिये कर के रूप में कुछ सम्पत्ति लेकर फिर प्रजा में भिन्न रूप में बांट देता है अतः tax भी कर है। इस प्रकार 'कर' शब्द का तीनों अर्थों में मुख्य भाव आदान प्रदान का है। इस एक सामान्य भाव के होने से ही कर शब्द के तीनों अर्थ वाच्य हैं। कर शब्द के अन्य अर्थ भी हो सकते हैं, लेकिन चिरकाल के प्रयोग से जो स्थिर और रूढ़ि हो जाते हैं उनका ही ग्रहण किया जाता है। यह बात लोक और वेद में अनेक दृष्टान्तों से समझी जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि नानार्थक और समानार्थक दोनों ही शब्दों में एक निश्चित सिद्धान्त काम कर रहा है। एक व्यापक सूत्र से शब्द और अर्थ बंधे हुए हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि शब्द का प्रकृति प्रत्यय से लभ्य अर्थ बहुत अंशों में वाच्य पदार्थ के घटक गुणों का बोधक होता है, अर्थात् यह सम्भव है कि पदार्थों में शब्दों से सूचित होने वाले गुणों के अतिरिक्त भी गुण हों, और कुछ गुण अन्य पदार्थों में भी मिलते हों। तथापि गुणों के प्राधान्य तथा सातत्य को दृष्टि में रखकर विशेष शब्द विशेष अर्थ का ही बोधक होता है। अतः शब्द,

अर्थ के सम्बन्ध को स्थिर करने वाले अनेक नियमों के होने पर यह कहना कि शब्द को यौगिक अर्थ की दृष्टि से लेने पर गड़बड़ होने की सम्भावना है; अनुचित है।

वैदिक शब्दों को यौगिक मान लेने पर यह कहा जा सकता है कि एक शब्द के अनेक अर्थ हो जाने पर शब्द का कोई निश्चित अर्थ नहीं रह जाता। इसका समाधान स्वामी जी की अन्य शैली की दूसरी विशेषता से किया जा सकता है। वह यह है कि हमें प्रकृति तथा प्रत्यय के लभ्य अर्थ से ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये। अपितु प्रकरण तथा विशेषणों का भी ध्यान रखना चाहिये। किसी विशेष पदार्थ व देवता का निर्णय यौगिक वृत्ति से कर लेना उचित नहीं और केवल रूढ़ि अर्थों का मान लेना भी उचित नहीं, परन्तु विशेषणों के आधार पर विशेष्य या देवता का स्वयं निर्णय करना चाहिये। प्रकरण का भी ध्यान रखना चाहिये। निःसन्देह इस शैली से किसी भी काव्य के अर्थ किये जा सकते हैं, और किये जाने चाहियें। इस प्रकार विशेषण विशेष्य के सम्बन्ध द्वारा अर्थ करना ही स्वामी जी का अन्य भाष्यकारों से विभेद करता है। वे मंत्र या सूक्त के देवता (Subject-matter) को दृष्टि में रखकर मंत्रगत विशेषणों तथा प्रकरण के आधार पर यथार्थ का निश्चय करते हैं। इससे खींचातानी न रहकर सरल और शुद्ध अर्थ प्रतिभासित हुये हैं।

मंत्रों की तीन भूमिकायें—अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूत

यही कारण है कि इनके भाष्यों में मंत्रों के त्रिविध अधिदैव; अधिभूत तथा अध्यात्म-अर्थ किये गये हैं। अधिदैव का छोटा स्वरूप अध्यात्म है। अध्यात्म का विस्तृत रूप अधिदैव है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। इन दोनों के मध्य में अधिभूत की भूमिका होती है। यह भूमिका अधिदैव से सूक्ष्म तथा अध्यात्म से स्थूल हुवा करती है। प्रायः मंत्र तथा देवता इन्हीं भूमिकाओं पर देखे जा सकते हैं। कतिपय विद्वान् तीनों भूमिकाओं के देवों में भेद मानते हैं। जो देवतायें मनुष्य पिण्ड में हैं, उनका मूल ब्रह्माण्ड के सूर्य, चंद्र आदि देवों में है। ब्रह्माण्ड के (अधिदैव) अग्नि आदि देवों का अंशावतार ही मनुष्य शरीर में होता है। यह विषय उपनिषदों में देखा जा सकता है। अथर्ववेद के विज्ञान की कुंजी भी यही है। ब्रह्माण्ड के देवों से पिण्ड के देव अद्भुत हुए हैं। इस बात को समझना ही अथर्ववेद की दृष्टि में सच्चा शिक्षण है। ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड इन दो शरीरों या क्षेत्रों के बीच में अधिभूत का क्षेत्र राष्ट्र शरीर है। Body politic आदि शब्दों में इसे शरीर ही माना गया है। इसीलिये organic theory of the state-राजनीति शास्त्र में प्रसिद्ध है। अधिभूत के देव अध्यात्म तथा अधिदैव से सुसम्बद्ध हुआ करते हैं। अधिराष्ट्र के देव ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड की मध्यवर्ती भूमिका में हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक भूमिकायें हो सकती हैं। परन्तु सब क्षेत्रों में तारतम्य जरूरी है। ब्रह्माण्ड के इन्द्र

की विभूति राष्ट्र के इन्द्र (राष्ट्रपति) में आती है। और सबसे अन्तिम सूक्ष्म भूमिका में इन्द्र अर्थात् आत्मा वैयक्तिक आत्मा में अवतरित होती है।

प्राचीन व अर्वाचीन वेद भाष्यकार मंत्रों के भिन्न २ प्रकरण तथा विशेषणों के आधार पर संगत अर्थ कर सकते हैं। उनके अर्थों में परस्पर भेद होते हुए भी विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिये। चत्वारि शृंगास्त्रयोऽस्य पादाः। (ऋ० ४।५८।३) का अर्थ पतञ्जलि ने शब्दपरक, भरत मुनि ने नाट्यशास्त्रपरक तथा यास्क ने यज्ञ परक किया है। ऋषि ने ऋग्वेद भाष्य में इसका अर्थ ईश्वर (धर्म) परक किया है। यजुर्वेदभाष्य में यास्क तथा पतञ्जलि के आधार पर व्याख्या करके "अत्रोभयोक्तया रूपकः श्लेषालंकारश्च" इस प्रकार लिखा है। अर्थात् अर्थों की विविधता में रूपक तथा श्लेष हेतु हैं। इस प्रकार अलंकारों से नाना अर्थ किये जा सकते हैं जैसे सामान्य संस्कृत काव्यों में होता है। परंतु इससे अर्थों में कोई विरोध नहीं आता है।

शैली की तीन विशेषताएं—(क) प्रकृति और प्रत्यय के आधार पर शब्द के मूल अर्थ को जानकर (ख) वेद में आये विशेषणों और प्रकरण के आधार पर उस शब्द का निश्चित अर्थ निर्धारित किया गया है।

प्रकरण तथा विशेषणों के आधार पर शब्दार्थ के निश्चय में सहायता लेते हुए भी हम नहीं कह सकते कि हमारा अर्थ ठीक है, जब तक कि उसमें वैदिक प्रथा या रूढ़ि की प्रबल साक्षी न हो, इस शैली को Direct Method (प्रत्यक्ष प्रणाली) कहते हैं। आजकल के पाश्चात्य विद्वान् भी इस पद्धति के पोषक हैं। महर्षि की भाष्यशैली में भी इस पर विशेष ध्यान दिया गया है। यह स्पष्ट है कि किसी दुरुह ग्रन्थ के अर्थ बोध में यदि उस ग्रन्थ की अन्तः साक्षियां मिल सकती हैं तो वे ही विशेष प्रबल कही जा सकती हैं। वैदिक साहित्य में ऐसी अन्तः साक्षियां बहुत हैं। अश्व शब्द का लौकिक दृष्टि से अर्थ केवल घोड़ा ही है। परन्तु वैदिक साहित्य में अश्व शब्द-वीर्य, इन्द्रिय, सूर्य आदि अर्थों में भी आया है। यह केवल यौगिक वृत्ति से ही नहीं है, अपितु इसमें वैदिक साहित्य की रूढ़ि भी प्रमाण है। वेद की व्याख्या के लिये वैदिक साहित्य में से एक Technical Dictionary बनाई जा सकती है, जिससे कि वेद के अर्थों के विषय में हम पूर्ण निश्चित हो सकते हैं। एवं ऋषिभाष्य की तीसरी विशेषता यह है कि (ग) वैदिक कोष के आधार पर शब्द का रूढ़ व योगरूढ़ अर्थ निश्चित करके मंत्र की व्याख्या करना। इससे उनके भाष्य जीवित, जागृत तथा दिव्य प्रतीत होते हैं।

इसके विपरीत पौराणिक (मध्य) कालीन भाष्यकार कुछ पदों को विशेष्य मानकर इनसे अन्य विशेषणों की यथा कथंचित् संगति लगाने का प्रयत्न करते हैं। जैसे :— "हरिः जले निवसति" "हरिः कूर्दते" इन वाक्यों को देखकर पूर्ण-परिग्रह से आक्रान्त होकर ये भाष्यकार "हरि" का अर्थ परमात्मा मानकर संगति लगाना चाहते हैं। परन्तु

सर्वव्यापक हरि से कैसे लगेगी ? इसके लिये इनके पास एक दो उपाय हैं। जैसे—"सर्वव्यापकस्य परमात्मनः जले वर्तमानत्वं संभवत्येव। अथवा अत्र देवतास्तुतिमात्रमेव। देवतानामनन्तशक्तिमत्वात् जले वासोऽपि सुकरः" इस प्रकार के अनेक वाक्यजाल रचकर वे उसकी वकालत करने लग जाते हैं। लेकिन उपर्युक्त आर्ष शैली में विशेष्य और विशेषण का निर्णय पहिले से ही न होकर प्रकरण के आधार पर होता है। इसलिये यह शैली आदर्श शैली है। और भी लीजिये—

यजुर्वेद के षोडशाध्याय के द्वितीय मंत्र में "गिरिशन्त" शब्द आता है। (गिरि = मेघ (निः) मेघवाचक अद्रि, पर्वत आदि ३० नामों में १० वां गिरि है।) उव्वटाचार्य ने "गिरौ पर्वते कैलासाख्येऽवस्थितः शं सुखं तनोतीति गिरिशन्तः" यह व्याख्या की है। महीधर—"गिरौ कैलासाख्ये स्थितः शं सुखं प्राणिनां तनोति विस्तारयतीति गिरिशन्तः" इस प्रकार व्याख्या की है। कैलास पर्वत पर रहकर प्राणियों को सुख पहुंचाने वाला "गिरिशन्त" है। यह कितनी असंगत व्याख्या है ? ऋषि की दृष्टि से विचारने पर अर्थ संगत प्रतीत होता है "गिरिणामेघेन शं सुखं तनोतीति" जो मेघ के द्वारा सकल संसार में वर्षा से सुख उत्पन्न करता है वह "गिरिशन्त" है।

इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है कि पौराणिक भाष्यकार पूर्वग्रह से आक्रान्त होने से प्रकरण तथा विशेषणों के आधार पर शब्दों का यौगिक अर्थ नहीं करते हैं। जिससे मंत्रों के अर्थ असंगत तथा निरर्गल प्रतीत होते हैं। आर्ष शैली की उपर्युक्त विशेषता को बताने के लिये "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" के "भाष्यकरण शंकासमाधानादि विषयः" के निम्न संदर्भ को उद्धृत करते हैं। "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः ...." इत्यादि पर लिखते हैं—"अस्य मंत्रस्यार्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः (सायणेन) तद्यथा तेनात्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतः मित्रादीनि च विशेषणतया। अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां संगेऽन्वितो भूत्वा पुनस्स एव सद्वस्तु ब्रह्मविशेषणं भवत्येवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति न चैवं विशेषणम्। एवमेव यत्र शतं सहस्त्रं वा एकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुस्तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति। तथैवात्र मंत्रे परमेश्वरेणाग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाभिप्रायात्। इदं सायणाचार्येण न विद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम्। निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्य विशेषणत्वेनैव वर्णितः। तद्यथेममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि (नि०-७।१८)। सच्चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति तस्मादग्न्यादीनि— ईश्वरस्य नामानि सन्तीति वेद्यम्। सर्वैर्नामभिः परमेश्वरो हूयते चेत् पुनस्तेन होमसाधकाहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थं गृहीतः। तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव कोऽपि ब्रूयात् ....। सायणाचार्येण यद्यपीन्द्रादयस्तत्र २ हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादि

रूपेणावस्थानाददविरोधः । इत्युक्तत्वाददोष इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः । यदीन्द्रादिभिर्नामभिः परमेश्वर एव उच्यते तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता ।

इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि सायण आदि भाष्यकारों के विपरीत आचार्य दयानन्द विशेषणों के आधार पर विशेष्य का निश्चय करते हैं । अस्तु—

इस प्रकार हमने महर्षि के भाष्य की मुख्य ७ विशेषताओं का उल्लेख किया है। इन विशेषताओं के परिणाम भूत वेद की कई उलझनें सुलझ जाती हैं।

शब्दों के अनेक अर्थों के स्थान पर उनका एक अर्थ में रूढ हो जाना शब्दों के वैदिक अर्थों के स्थान पर अवैदिक अर्थों में सामान्यतया प्रयुक्त होना .... इत्यादि अनेक उलझनें दूर हो जाती हैं और भाष्य में अनेक विशेषतायें दीखने लगती हैं। इन विशेषताओं को ध्यान में रखने पर अन्य भाष्यकारों के जाल से सहज में ही बच सकते हैं।

मध्य कालीन भाष्यकारों के समान इनके भाष्यों में याज्ञिक, ऐतिहासिक तथा देवतावाद विषयक संकुचित विचारों के स्थान पर आध्यात्मिक, वैज्ञानिक और सामाजिक विचारों की झलक दीखती है।

(क) मध्यकालीन भाष्यकारों के अनुसार अनेक मंत्र, यज्ञ, यज्ञ सामग्री और पात्र आदि का वर्णन करते हैं। कुछ मंत्र यज्ञ में हवि लेने वाले अग्न्यादि देवों के लिये पढ़े गये हैं। कुछ उन देवों की प्रशंसा में कहे गये हैं। कुछ ही गिने चुने मंत्र भक्ति और ज्ञान के हैं। इसके विपरीत महर्षि की भाष्य शैली के अनुसार यज्ञ की एक २ वस्तु के अन्दर प्रकाश और अर्थ प्रतीत होने लगते हैं। मंत्रों में जीवन और जागृति दीखने लगती है। याज्ञिक भावों के अतिरिक्त, आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक विचारों का स्रोत भी नजर आने लगता है। फलतः वेद में समाजशास्त्र, राजशास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्विद्या, आयुर्विज्ञान, शिल्पविज्ञान, शिक्षणशास्त्र और विज्ञान तथा दर्शनों के नाना सिद्धान्त, भिन्न २ विद्यायें झलकने लग पड़ती हैं। वेद में अतिशयोक्ति, असंगति, अस्पष्टता और प्रमाद के स्थान पर संगति दीखने लग पड़ती है। अर्थात् आचार्य दयानन्द ने याज्ञिक अर्थों की अवगणना न करते हुवे उनके उदात्त स्वरूप को हमारे सामने रक्खा है और वेद केवल स्थूल यज्ञ परक ही न प्रतीत होकर पूरे २ आर्ष प्रतीत होते हैं।

इन्होंने यज्ञ का यौगिक अर्थ स्वीकार कर इस शब्द को विस्तृत अर्थों में लिया है। अतः यजुर्वेद भाष्य में यज्ञ का अग्निहोत्र से अश्वमेध पर्यन्त ही अर्थ नहीं लिया गया है प्रत्युत श्रेष्ठों की पूजा, स्तुति तथा सांसारिक पदार्थों का उपयोग लेना यह भी यज्ञ का अर्थ समझा गया है।

महर्षि के भाष्यगत उपर्युक्त विचारों में अन्य शास्त्रों की भी पूरी सहमति है।

[(क) १-यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ मनुः ॥ २-मनु० १२।६।६७ ॥ भूतं भवत् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति। एवमेव ११।६८, ६६ भी देखो। ३-सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च। सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्र विदर्हति। मनु० ११।१००। (ख) शास्त्रयोनित्वात् (वे० द० १।१।३)— शांकरभाष्य :— ऋग्वेदादेरनेकविद्या स्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य अनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ् मनुष्यवर्णाश्रमादि प्रविभागहेतोः ऋग्वेदाख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्येत्यादि .... । (ग) शतपथ १०।४।२।२१-२२ "त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि" (घ) तैतरेय "स त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत। अत्र हि सर्वेषां छन्दसामात्मा सर्वेषां स्तोमानां, सर्वेषां प्राणानां, सर्वेषां देवानाम]

उपर्युक्त विषय की पुष्टि के लिये ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका से एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यजु० ३१।१५- "सप्तास्यासन् परिधयः .... देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्" इस मन्त्र की सायण तथा ग्रिफिथ की व्याख्यायें "यज्ञ पशु" को यूप से बांधने के विषय में है। परन्तु महर्षि की व्याख्या कितनी दिव्य है। वे लिखते हैं :— "तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवाःविद्वांसः अबध्नन् ध्यानेन बध्नन्ति। तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैवं कुर्वन्तीत्यर्थः। अर्थात् यह (संसार) जिसने बनाया है जो सर्वद्रष्टा है जिसकी सब पूजा करते हैं उस पूज्य पुरुष को विद्वान् लोग हृदयस्थली में ध्यान द्वारा बांधते हैं। उसे ही अपना आराध्य समझते हैं।

मन्त्र का कितना दिव्य अर्थ है? कहां पशु बांधने का वर्णन था और कहां प्रेम और भक्ति के पाश से हृदय में भगवान् को बांधने का वर्णन है? उसी की अव्यभिचारिणी भक्ति का वर्णन है।

(का) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना विषयक प्रकरण में "युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं ऋ० १।६।१ मन्त्र के अन्त में ऋषि लिखते हैं कि क्वचिन्निघण्टावश्वस्यापि ब्रध्नारुषी नाम्नी पठिते। परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव संभवति शतपथादिव्याख्यान विरोधात् मूलार्थ विरोधात्, एक शब्देनाप्यनेकार्थग्रहणाच्च। एवं सति भट्टमोक्षमूलरैः ऋग्वेदस्यैंग्लेण्ड भाषया व्याख्याने यदश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतं तद्भ्रान्तिमूलमेवास्ति सायणाचार्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यायां आदित्य ग्रहणात् एकस्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं संगतमस्ति। परन्तु न जाने भट्टमोक्षमूलरेणायमर्थः आकाशाद्वा पातालात् गृहीतः। अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्तीति।

सन्दर्भ स्पष्ट है। मैक्समूलर ने मन्त्र में ब्रध्न का अश्व अर्थ किया है। ऋषि इस अर्थ को भ्रममूलक समझते हैं। वैदिक संस्कृत में ब्रध्न के नाना अर्थ होते हैं। उन अर्थों

से मन्त्र की संगति लग जाती है फिर अश्व अर्थ न जाने आकाश से टपक पड़ा या पाताल से निकल आया है ? अस्तु

(के) ऋषि के भाष्यों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें कि उन्होंने मंत्र के २, २, तीन तीन अर्थ किये हैं। याज्ञिक अर्थ की अवगणना नहीं की परन्तु साथ ही आध्यात्मिक व आधिदैविक अर्थ भी दे दिये हैं। उनकी यह शैली उपर्युक्त विषय की ही पोषक है।

एवं हमने यह देखा है कि विशेषणों के आधार पर विशेष्य का अर्थ करने से असंगत याज्ञिक व्याख्याओं के स्थान पर वेद में अनेक विद्यायें दृष्टिगोचर होती हैं।

—याज्ञिक विचारों में विनियोग का प्रधान महत्व है। विनियोगों से पौराणिक तथा पाश्चात्य भाष्यकारों के भाष्य भरे पड़े हैं। परन्तु ऋषि भाष्य में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जिसका वैनियोगिक अर्थ किया गया हो। उन्होंने मन्त्र के सांसिद्धिक स्वतंत्र तथा नित्य अर्थ किये हैं। इसलिये भी उनके भाष्य स्पष्ट और भावपूर्ण हैं। मंत्रों के वैनियोगिक अर्थ संकुचित होते हैं। इस विषय को प्रमाणों से पुष्ट किया जा सकता है। मंत्र के वास्तविक अर्थ सांसिद्धिक ही हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से यह बात साफ़ मालूम पड़ती है कि विधियां तथा विनियोग, सामयिक, स्थानिक तथा रुचि के अनुसार हैं हमें उनकी उपेक्षा करने में संकोच नहीं करना चाहिये।

महर्षि की भाष्य शैली से पौराणिक और पाश्चात्य भाष्यकारों के अनित्य और वैयक्तिक इतिहास विषयक विचारों का भी सुन्दर समाधान हो जाता है। इनकी दृष्टि में जमदग्नि, त्रित, कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि आदि कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। बल्कि इन शब्दों के आध्यात्मिक अर्थ प्रतीत होते हैं। वैदिक शब्दों को यौगिक मानने पर ही यह बात उत्पन्न हो सकती है। स्वामी जी ने ऐतिहासिक नामों को नित्य प्राकृतिक घटनाओं (अनैतिहासिक पदार्थों व घटनाओं) का स्वरूप देकर वेदों को सार्वकालिक, सार्वजनीन विचारों का मूल स्रोत बना दिया है।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिये ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का निम्न प्रमाण देखने योग्य है— "यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नाम लेखपूर्वकाः लौकिका इतिहासाः सन्ति। न चैवं मन्त्रभागे। किं च भोः ?" "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।" "यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्" यजु० ३।६२ इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते। अनेनेतिहासादि विषये मन्त्रब्राह्मणयोस्तुल्यता दृश्यते। पुनर्ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा कुतो न मन्यते ? मैवं भ्रमि। नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणो मनुष्यस्य नाम्नीस्तः। अत्र प्रमाणम्— चक्षुर्वै जमदग्निऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते। तस्माच्चक्षुर्जमदग्निऋषि। शतपथ ८।१०" कश्यपो वै कूर्मः प्राणो वै कूर्मः श० प० ७।५ अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञाऽस्ति। शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः।

इस प्रकार मन्त्रगत जमदग्नि तथा कश्यप इन दो प्रतीयमान ऐतिहासिक शब्दों के शतपथ ब्राह्मण के आधार पर आंख तथा प्राण-ये दोनों आध्यात्मिक अर्थ किये गये हैं। ऋषि आगे लिखते हैं—

"अनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते तद्यथा – हे जगदीश्वर ! भवत्कृपया नोऽस्मकं जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च त्र्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणिशतानि वर्षाणि यावत्तावदायुरस्तु। चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणां प्राणमन आदीनां च (यद्देवेषु त्र्यायुषम् अत्र प्रमाणम् "विद्वांसो हि देवाः" अनेन विदुषां देवसंज्ञाऽस्ति। देवेषु "विद्वत्सु यद्विद्याप्रभाव युक्तं त्रिगुणमायुर्भवति। (तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्) तत् सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवेत्। येन सुखयुक्ताः वयं तावदायुर्भुञ्जमीहि। अनेनान्यदप्युपदिश्यते। ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्मनुष्यैरेतत् त्रिगुणमायुः कर्त्तुं शक्यमस्तीति गम्यते। अतोऽर्थाभिधायकैः जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं वेदेषु प्रकाश्यते। अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहास लेशोऽप्यस्तीत्यवगंतव्यम्। अतो यच्च सायणादिभिर्वेद प्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद्भ्रममूलमस्तीति मंतव्यम्। इससे स्पष्ट है कि ऋषि की सम्मति में सायण आदि आचार्यों ने जहां कहीं भी इतिहास का वर्णन किया है वह भ्रममूलक है। ऋषि ने मन्त्र में आने वाले जमदग्नि, कश्यप आदि ऐतिहासिक नामों की आध्यत्मिक सत्तायें प्रमाणित करके यह स्पष्ट कर दिया है कि वेदों में इतिहास नहीं है।

ऋग्वेद ७।३३ सूक्त की सायण तथा ग्रिफिथ ने ऐतिहासिक व्याख्या की है। सूक्त में वसिष्ठ तथा उसके पुत्रों का हाल, वसिष्ठ तथा अगस्त्य ऋषि की जन्मकथा का वर्णन किया है। परन्तु ऋषि ने वसिष्ठ तथा अगस्त्य को पुरुष विशेष्य नहीं माना है। सायण लिखते हैं सफेद रंग के कामों को पूर्ण करने वाले, दांये तरफ चूड़ा रखने वालों ने मुझे निश्चय से हर्षित किया है। अतः यज्ञ से उठते हुवे मैं यज्ञ के नेताओं से कहता हूं कि मेरे पुत्र की रक्षा के लिये मुझ से दूर न जायें।

उपर्युक्त विवरण से मालूम होता है कि वसिष्ठ के पुत्र गौर रंग के थे। यज्ञ करते और दांयी ओर जटाजूट बांधते थे। मंत्र के उत्तरार्द्ध में पुत्रों की रक्षा के लिये प्रार्थना, आचार्य सायण ने विश्वामित्र और वसिष्ठ के प्रसिद्ध कलह को ध्यान में रखकर की है।

जो वृद्धि को प्राप्त होते दांयी ओर को जटाजूट रखने वाले, वृद्धि को प्राप्त हुए अतिशय विद्याओं में वसने वाले ही मुझे आनन्दित करते हैं। जो मेरी रक्षा के लिये दूर से आवें उन विद्या धर्म को बढ़ाने वाले नायक मनुष्यों को, उठता हुआ अर्थात् उद्यम के लिये प्रवृत्त हुआ, सब ओर से कहता हूं। इस मंत्रार्थ में "वसिष्ठाः" का अर्थ सायण की भांति "वसिष्ठ के पुत्र" न करके 'अतिशयेन विद्यासु वसन्तः" किया गया है। सायण का अर्थ ऐतिहासिक है। ऋषि का निरुक्तानुसारी व्यावहारिक अर्थ है। इसमें व्यक्ति विशेष का ग्रहण नहीं सर्वसाधारण के लिये उपदेश है।

इस प्रकार ऋग्वेद १।१३६।६ में "अत्रि" शब्द को अद् धातु से औणादिक "त्रिः" प्रत्यय करके अत्रि शब्द बनाया है। जिसका अर्थ 'सुखों के भोक्ता' है। कहीं "अत्रि" का अर्थ "सततं गामी" "पुरुषार्थी" सकल विद्याव्यापक (अत सातत्यगमने) आदि किये हैं। ऋ० ५।७३।६ तथा ऋ० ५।७८।४ में "अविद्यमान त्रिविध दुःखः" यह अर्थ अत्रि शब्द का किया गया है। एवं अनेक उदाहरण दिये जासकते हैं, जिनमें ऋषि दयानन्द ने ऐतिहासिक शब्दों को यौगिक स्वीकार करके उनके इतिहास भिन्न अर्थ किये हैं। इसी प्रकार "गन्धर्व और अप्सरा" "इन्दु और अहल्या" "इन्द्र और वृत्त" आदियों के सम्बंध में प्रचलित अनेक काल्पनिक गाथाओं को भी यौगिक अर्थ की शैली से अलंकारपूर्ण बताया है। इस प्रकार कथायें प्राकृतिक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक अनेक रहस्यों की खान प्रतीत होती हैं। ऋषि ने इस विषय को "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" के ग्रंथ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय में बहुत स्पष्ट कर दिया है।

ऋषि के उपर्युक्त विचारों में अन्य अनेक साक्षियां दी जासकती हैं। जिनसे कि यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदों में इतिहास या गाथा नहीं है।

(क) वेदों की अन्तःसाक्षी:-- यजु० १३।५४-५८ तक के मंत्रों में वशिष्ठ आदि नाम आये हैं परन्तु इन मंत्रों में इन नामों को ऐतिहासिक नहीं माना है। अपितु इससे विपरीत आध्यात्मिक अर्थों का वाचक बताया गया है। मंत्र निम्न हैं—

यजु० १३।५४— "अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः ....
रथन्तरं वसिष्ठ ऋषिः— प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि।

यजु० १३।५५-- पञ्चदशः पञ्चदशात् बृहत् भारद्वाजः ऋषि .... मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः।

यजु० १३।५६— जमदग्निर्ऋषिः .... चक्षुर्गृह्णामि।

यजु० १३।५७— विश्वामित्रऋषि .... श्रोत्रं गृह्णामि।

यजु० १३।५८— विश्वकर्मऋषिः .... वाचं गृह्णामि।

उपर्युक्त मंत्रांशों के रेखांकित पदों को देखने से प्रतीत होता है कि यजुर्वेद की दृष्टि में वसिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि, विश्वामित्र तथा विश्वकर्मा क्रमशः प्राण, मन, चक्षु, श्रोत्र तथा वाणी हैं। ये ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं।

(ख) इन मंत्रों पर उव्वट, महीधर आदि पौराणिक पंडितों ने भी इतिहास भिन्न अर्थ ही किये हैं। महीधर इन मंत्रों पर लिखते हैं।

(१) १३।५४ मंत्र पर "वसत्यधिष्ठति सर्वजन्तूनिति वस्ता अतिशयेन वस्ता वसिष्ठः" सर्वाधार ऋषिः ज्ञाता प्राणः।

(२) १३।५५ य० वेद— बिभर्तीति भरत् वाजमन्नं यःस भरद्वाजोऽन्नधर्तामनः, मनसिस्वस्थेऽन्नादनेनेच्छोत्पत्तेः।

(३) जमदग्निः— जमति जगत् पश्यतीति जमत्, अंगति सर्वत्र गच्छती त्यग्निः ईदृशो यच्चक्षुः । १३ । ५६ ।

(४) १३ । ५७ । विश्वामित्रः— विश्वं सर्वं मित्रं येन, तादृशः ऋषिः श्रोत्रं, श्रद्धयान्यवाक्यश्रवणात् सर्वं मित्रं भवति ।

(५) १३ । ५८ विश्वकर्मा— विश्वं सर्वं करोतीति विश्वकर्मा वागवे, वाचा हि सर्वं कुरुते ।

एवं यजुर्वेद के प्राचीन भाष्य कर्ताओं ने भी वसिष्ठ आदियों को ऐतिहासिक नहीं माना ।

(ग) यजुर्वेद के भाष्य ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में इन शब्दों के लिये इस प्रकार लिखा है –

(१) "प्राणो वै वसिष्ठ" ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठो यत् वस्तृतमो वसति तेन एव वसिष्ठः । ८ । १ । १ । ६

(२) "मनो वै भरद्वाज ऋषिः", अन्नं वाजः, यो वै मनो विभर्ति सोन्नं वाजं भरति । तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः । ८ । १ । १ । ६

(३) "चक्षुर्वै जमदग्नि ऋषिः "यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्मात् चक्षुर्जमदग्नि ऋषिः । ८ । १ । २ । ३

(४) "श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषि" यदेनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति, तस्मात् श्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः । ८ । १ । २ । ६

(५) वाग्वै विश्वकर्म ऋषिः, वाचा हींद सर्वं कृतम् । तस्माद् वाग्विश्वकर्म ऋषिः ८ । १ । २ । ६ श० प०

एवं स्वयं यजुर्वेद, यजुर्वेद के भाष्यकार तथा शतपथ ब्राह्मण, इन सब की दृष्टि में यह बात सत्य है कि वसिष्ठ, जमदग्नि आदि ऐतिहासिक नाम नहीं हैं ।

(घ) इसी प्रकार बृ० आ० उ० में २ । २ विश्वामित्र, जमदग्नि आदि सात ऋषियों को भिन्न भिन्न इन्द्रियों से उपलक्षित किया गया है । ऐ० आरण्यक में भी इसी प्रकार का लेख उपलब्ध होता है (प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः, मनो वै भरद्वाज ऋषिः, श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः, वाग्वै विश्वकर्म ऋषिः) वहां इन ऋषियों के प्राणों के वाचक प्रतिपादित किया है । अथर्व० १८ । ३७ में भी 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्" यहां सात ऋषि सात प्राण ही हैं । इसलिये वसिष्ठादि शब्दों का आध्यात्मिक अर्थ प्रायः सबको अभिप्रेत है ।

(ङ) आचार्य सायण ने बहुत से शब्दों के अर्थ ऐतिहासिक नहीं किये हैं । (१) "रघु शब्द" सायण तथा ऋषि दयानन्द दोनों ने 'रघु' को 'लघु' मानकर इस शब्द का अर्थ वेगवान्, सूक्ष्म आदि किये हैं । ऋ० ५।३० ।१४, ऋ० ५।४५।६ ऋ० ८।३३।१७

(२) "राम शब्द" प्रथमा विभक्ति में नहीं मिलता है। द्वितीया एक वचन ऋ० १०।३।३ स्थल पर आया है। ऋ० १०।६३।१४ में सायण ने "राम" शब्द का "रामे" सप्तमी में माना है। ऋ० १०।३।३ के "रामम्" शब्द का अर्थ सायण, ने रामं कृष्णं शार्वरं तमः ······ "अर्थात् राम = काला। "राम" शब्द वेद में बहुत कम स्थानों पर मिलता है। इस बात को देखकर सायण को चाहिये था कि वे इसका ऐतिहासिक अर्थ कर देते। परंतु उन्होंने नहीं किया इसलिये यह बात समझ में आती है कि सायण इतिहास पक्ष को दुर्बल समझते थे।

(३) कृष्ण शब्द-यह शब्द ऋग्वेद में ६४, यजुर्वेद में २५, सामवेद में ६ तथा अथर्ववेद में ३२ स्थानों पर आया है परंतु वहां इस शब्द का अर्थ "काला-वर्ण, आकर्षण गुण, मेघ, भौतिक अग्नि तथा विद्युत आदि का विशेषण बनकर आया है। ऐतिहासिक अर्थ में इसका प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद के "कृष्णं त एम सशतः पुरोमाश्चरिष्णु" इस मंत्र में कृष्ण शब्द का अर्थ सायण ने "कृष्ण वर्ण" किया है। ऋषि दयानन्द ने 'कर्षकं' अर्थ किया है।

(च) निरुक्तकार भी ऐतिहासिक पक्ष से सहमत नहीं है। (१) व्यक्ति विशेष के नाम के साथ "तमम्" प्रत्यय नहीं लगता किंतु वेद में लगाया गया है। (क) ऋ० १।७५।२ "अंगिरस्तममग्ने" (क) ऋ० १।१८२।२ "इन्दुतमा मरुत्तमा"

(२) नि० ३।१७ "प्रियमेघवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् ········" इत्यादि मंत्र की व्याख्या ऋषि दयानन्द ने निरुक्तानुसार की है जो कि ऐतिहासिक नहीं है। (३) त्रित, ऋभु आदियों का इतिहास इतिहास नहीं है। (क) त्रित इसके आख्यान का मूल शतपथ तथा तै० ब्राह्मण (३।१।८) में भट्ट भास्कर की व्याख्या से स्पष्ट है कि 'एकत द्वित्र' त्रित आदि जलीय आग है पुरुष नहीं। शतपथ में जल से त्रित आदि की उत्पत्ति कही है। अतः यह पुरुष नहीं है। उत्तम, मध्यम और अधम प्राण हैं। "तै०" के अनुसार तीन अग्नियों के नाम हैं। इन्हीं बातों से आख्यान घड़ा गया है। निरुक्तकार को भी "अपि वा संख्यानामैवाभिप्रेतं स्यात्" से अग्नि या प्राण आपेक्षित है। यजु० १।२५ में यास्क ने "त्रित" का अर्थ इन्द्र (त्रिस्थान इन्द्रः) किया है। निरुक्त के अनुसार त्रित (प्राज्ञ आत्मा) कूप रूप गर्भ में पड़ा हुआ अपने उद्धार के लिये प्राण आदि देवों से प्रार्थना करता है। बृहस्पति (प्रभु) उसकी प्रार्थना सुनता है। यहां इतिहास है भी तो काल्पनिक है।

इस प्रकार अन्य अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि वेद में इतिहास नहीं है।

महर्षि की भाष्य शैली से देवता विषयक संपूर्ण भ्रम दूर हो जाते हैं और वेद का देवता हमारे सामने शुद्ध रूप में आ जाता है। इस देवता विषयक विचार को हम निम्न रूपों में देख सकते हैं।

बहु देवतावाद (Polytheism):—यह वाद पहले भी याज्ञिक लोगों में प्रबल रूप में था। इस विचार के विरोध की भी लहरें पैदा होती रही हैं। तथापि जितना प्रकाश इस विषय में स्वामी जी ने डाला है उतना संभवतः किसी ने नहीं डाला है। ऋषि की कल्पना में अग्नि, इन्द्र आदि भिन्न २ अनेक देवता नहीं हैं बल्कि एक ही परमात्मा के भिन्न भिन्न नाम हैं। इन देवताओं के वर्णनों में विशेषण और प्रकरण के अनुसार स्तुति, प्रार्थना, सर्वज्ञता, सृष्टि कर्तृत्व आदि भावों को देखकर इन सबको महर्षि ने परमात्मा परक ही लगाया है। ऋषि के देवता विषयक विचारों का निर्णय सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास की निम्न प्रतीकों से यत् किंचित् किया जा सकता है। "ओ३म्" यह तो केवल परमात्मा का ही नाम है। और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियम कारक हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जहां २ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टि कर्ता आदि विशेषण लिखे हैं वहीं २ इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है। और जहां जहां उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों वहां २ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। और जहां जहां इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहां २ जीव का ग्रहण होता है।"

उपर्युक्त लेख स्पष्ट है। विशेषण तथा प्रकरण के अनुसार "देवता के निर्णय का संकेत किया गया है। ऋषि दयानन्द "देवता" का निर्णय इन आधारों पर करते हैं। साथ ही इन्हीं आधारों पर देवता की प्राकृतिक व भौतिक सत्ता भी ऋषि स्वीकार करते हैं। यहीं तक नहीं बल्कि शब्दों को यौगिक मानते हुये इन्द्र से राजा, सूर्य, वायु, विद्युत, जीव। और अग्नि से ब्राह्मण, पुरोहित आदि अर्थों को भी स्वीकार करते हैं।

इस बात को दूसरे रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि ऋषि की दृष्टि में अग्नि, इन्द्र आदि देवतायें क्रमशः ज्ञान, प्रकाश, शूरत्व, वीरत्व आदि तत शब्द-वाच्य गुण विशेष के समूह की सूचक हैं अर्थात् वैदिक देवता विभाग गुणों के आधार पर है अतएव ऋषि के भाष्य में एक ही देवता के यदि कुछ मंत्र परमात्मा का वर्णन करते हैं तो कुछ जीव का। कुछ विद्वानों का इस प्रकार अनेक प्रकार का वर्णन भाष्य में पाया जाता है। देवों का इस प्रकार का वर्णन उपयुक्त भी है। इससे इन्द्र, रुद्र आदि देवताओं के वर्णन सुन्दर संगत हो जाते हैं। इस प्रकार वेद सर्व विद्याओं की पुस्तक प्रतीत होने लगती है। अतः ऋषि शैली के अनुकूल अग्नि, रुद्र आदि देवताओं को यौगिक दृष्टि से प्रकरण और विशेषणों के आधार पर देखने से ये शब्द अनेक पदार्थों के वाचक होते हुए भी एक परमात्मा के वाचक हैं। इस विषय में शास्त्रों की भी पूर्ण सम्मति है। यहां पर एक बात लिख देनी आवश्यक है कि महर्षि की सम्मति में अग्नि, वायु आदि के ईश्वर से अतिरिक्त भी अर्थ होते हैं। देवता शब्द का "देवोदानाद्वा, द्योतनाद्वा, दीपनाद्वा, द्युस्थानोभवतीति वा" "यो देवः सा देवता" निरुक्त ७।४ के अनुसार देवता का जैसे परमात्मा अर्थ हो

सकता है वैसे ही अन्य भौतिक अग्नि आदि भी। "व्यवहारोपयोगित्वमेव देवतात्वमत्र गृह्यते" के आधार पर परमात्मा से अतिरिक्त व्यवहारोपयोगी वस्तुयें भी देवता हैं। तै० उ० अ० ११ में "आचार्य देवोभव" में आचार्य पिता आदि को अनेक लाभ देने वाला होने से (दानात्) देव कहा गया है। (श० ५०) "विद्वांसो हि देवाः" होने से विद्वान् लोग भी देव हैं। ज्ञान देने वाली होने से इन्द्रियां भी देव हैं (यजु० ४०।४ नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् तथा मु० ३।८) दान, द्योतन, दीपन आदि समस्त गुणों के होने से ईश्वर देव है। एवं भिन्न २ देवता भिन्न भिन्न व्युत्पत्तियों के आधार पर अनेक वस्तुओं के वाचक होते हैं। परन्तु साथ ही साथ एक परमात्मा के भी वाचक हैं। जैसे—"तदेवाग्निस्तदादित्यः, तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः सः प्रजापतिः॥ इस मंत्र में अग्नि आदि देवों को तत् शब्दवाच्य ब्रह्म के ही वाचक बताया गया है। "दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिः एकएव नमस्यः" इत्यादि मंत्रों से प्रकट होता है कि वास्तव में पूजनीय एक ही परम देव परमात्मा है।

वैदिक ऋषियों ने देवताओं पर अनेक प्रकार से विचार किया है। (क) ऋत्विक् यजमान आदि गौण देवता भी माने हैं। (ख) दुन्दुभि, अश्व, अक्ष आदि पारिभाषिक देव भी माने हैं। (ग) पृथिवी, अप् और चन्द्रमा इन अप्रधान देवों का भी परिगणन किया है। (घ) अग्नि, विद्युत्, सूर्य इन प्रधान देवों को भी देवता शब्द से कहा गया है। इन सब देवों में उपर्युक्त निरुक्तोक्त लक्षण (देवो दानाद्वा) चरितार्थ होता ही है। तथापि इन सब देवताओं का वास्तविक देव-जिससे कि इनकी सत्ता या देवत्व है- परमात्मा ही है। अतः वही सच्चा देव है। उपनिषदों में ३३ देवताओं को ६, ३, २, १॥, १ के क्रम से एक ही में समन्वित माना गया है। संसार में ३३ करोड़ देव हों या कितने ही हों। सबके सब उस एक परम देव के ही अंगभूत हैं।

देवता शब्द विशेष पारिभाषिक* अर्थ भी रखता है। तब इसका अर्थ मंत्र का प्रतिपाद्य विषय होता है। वेदों के मंत्रों के अग्न्यादि देवता प्रतिपाद्य विषय ही हैं। अतः अग्न्यादि रूप से मुख्यतः परमात्मा ही वेद का प्रतिपाद्य विषय है। अन्य सब गौण रूप से प्रतिपाद्य हैं। इस विषय को न समझने के कारण मध्यकालीन भाष्यकार गलती करते रहे हैं। ऋषि भाष्य में देवता अपने शुद्ध रूप में विराजमान है।

महर्षि के उपर्युक्त देवता विषयक विचार से Henotheism—Kathenotheism का भी निराकरण हो जाता है। पाश्चात्य विद्वान्, इन्द्र, रुद्र आदि देवताओं की समस्तुति

---

* यास्क दैवतकांड में—यानि नामानि प्राधान्य स्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमिति आचक्षते। सैषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायां आर्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति। निरुक्त ७।१॥

देखकर कहते हैं कि ये लोग जिस किसी देव की स्तुति करते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि वही एक देव है अन्य कोई नहीं है। इन्द्र के वर्णन में इन्द्र ही इन्द्र दीखता है। फिर रुद्र आदि का वर्णन भी अपने २ क्रम में होता है। देखो— मनु १२।१२२,१२३ "एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिं। इन्द्रमेकेऽपरे ब्रह्मापरे ब्रह्म शाश्वतम्। इसको ये लोग समकक्षदेवतावाद Henotheism कहते हैं। बहु देवतावाद में देवता तो अनेक हैं परन्तु ऊंच नीच कक्षा के हैं। परन्तु Henotheism में सबकी कक्षा एक है। वे सबके सब स्थानों में फैले हुए हैं। सबका प्रभाव सर्वत्र समान है। यह विचार बहुदेवतावाद और एकेश्वरवाद के मध्य में है। इस वाद का निरास महर्षि की भाष्य शैली से हो जाता है क्योंकि इन्द्र, रुद्र आदि भिन्न २ सत्तायें नहीं हैं। बल्कि भिन्न गुणों को बताने वाले ये नाम एक ही देव परमात्मा में झुकते हैं। अतः ये दोष स्वयमेव निरस्त हो जाता है। इसमें वेद की अन्तः साक्षी भी प्रमाण है। (क) अथर्व, २।१ में परमात्मा का वर्णन करते हुए तृतीय मंत्र—

"स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा,
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं यन्ति भुवनानि सर्वा ॥

मंत्र में स्पष्ट कहा गया है कि समस्त देवों के नाम उस परमात्मा के ही नाम हैं। इसलिये उन नामों से जिसका भी वर्णन किया गया है वह एक ही परमात्मा का वर्णन है।

(ख) अथर्व० १०।७।२९ में—
स्कंभे लोकाः स्कम्भेतमः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्।
स्कम्भन्त्वा वेद प्रत्यक्षं इन्द्रे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

मंत्र में स्कंभ को लोक, तप, ऋत आदि का आधार कहते हुवे अन्त में सब कुछ इन्द्र में प्रतिष्ठित बताया गया है। अर्थात् स्वयं वेद की दृष्टि में इन्द्र और स्कंभ एक ही अर्थ के सूचक हैं। इसी विचार की पुष्टि में अग्रिम मंत्र दर्शनीय है।

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम्।
इन्द्रन्त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कंभे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ अथर्व० १०।७।३०

इसमें इन्द्र का वर्णन स्कंभ के समान और स्कंभ का इन्द्र के समान किया गया है। स्कंभ और इन्द्र को परस्पर पर्याय और परमात्मवाचक बताया है। एवं अनेक उदाहरणों से Henotheism का प्रत्याख्यान किया जा सकता है।

कतिपय पाश्चात्य व पौरस्त्य विद्वानों का विचार है कि वेद में पृथक् उपादान कारण नहीं माना गया है। ब्रह्मा ने अपने सामर्थ्य से ही सृष्टि को रचकर उसमें पुनः प्रवेश किया। (तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्) परन्तु हमारी सम्मति में यह विचार

ऋषियों के विचारों से विपरीत है। वेदों में ऐसे अनेक मंत्र हैं जिनमें एक स्वतंत्र उपादान कारण का निर्देश है।

(क) १-आपोऽग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृता: ऋतज्ञाः। ऋ० ४।१।४
२-एषा सनली सनमेव जाता एषा पुराणी परिसर्वं वस्ते ॥ऋ० १०।८।३३
३-आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धन्यन्न परः किंचनास। ऋ० १०।१२९।३

(ख) वेदों में प्रभु के सिवाय दो अन्य जीव और प्रकृति भी कारण माने गये हैं। अर्थात् वेदों में सर्वेश्वरवाद (All is God-God is all = Pantheism) नहीं है, त्रैतवाद है। यह विषय विस्तृत है। इसमें निम्न स्थल प्रमाण रूप से देखे जा सकते हैं।

(१) ऋ० १।८४।४६, (२) १।१८४।१, २२ (३) ऋ० १०।८।१७ (४) ऋ०१।१६४।२०
(द्वा सुपर्णासयुजा सखायः—)

स्कंभसूक्त, पुरुषसूक्त आदि सूक्तों में परमात्मा का संसार के साथ अंगांगिभाव के रूप में वर्णन देखकर कई पाश्चात्य या पौरस्त्य विचारक परमात्मा को साकार तथा सीमित स्वीकार करते हैं। परन्तु यह वर्णन आलंकारिक है। परमात्मा शरीर रहित है। स्वामी जी के इस विचार में वेद की अनेक साक्षियां हैं।

(१) 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥ यजु० १३२।३॥
(२) स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्माविर ँ शुद्धमपापविद्धम् ॥यजु० ४० ॥

संसार तो उसकी विभूति का एक अंश है। वह तो इससे भी अधिक महान् है। इसलिये उपर्युक्त अंगांगिभाव से किये वर्णन आलंकारिक हैं। देखिये—

(१) एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। यजु० ३१।३॥
(२) 'त्रिपादूर्ध्व उदैत पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः'। यजु० ३१।४॥

पाश्चात्य लेखकों का कहना है कि वेदों में अग्नि, वायु, मित्र, विद्युत् आदि देवों की स्थान २ पर स्तुतियां की गई हैं। अतः वेदों में मूर्ति पूजा है। इस विषय का समाधान भी ऋषि शैली से हो जाता है।

"अथ केचिदाहुर्वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानाद्वेदाः संशयास्पदं प्राप्तास्सन्ति इति गम्यते। अत्रोच्यते मैवं भ्रमि, ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातंत्र्यस्य रक्षितत्वात्। यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रक्षिताऽस्ति, अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारो-ऽस्ति। अथ कश्चिद् ब्रूयात, नेत्रेण सूर्यादिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं दर्शयतीति। यथा तस्य व्यर्थैव शंकाऽस्ति। तथा पूजनं पूजा सत्कारः। प्रियाचरणमनुकुलाऽऽचरणञ्चेत्यादयः पर्य्यायाः भवन्ति। इयं पूजा चक्षुषोऽपि सर्वैर्जनैः क्रियते। एवमग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्या क्रियोपयोगित्वं चास्ति तावद्देवतात्वमप्यस्तु। नात्र काचित् क्षतिरस्ति। कुतः? वेदेषु यत्र यत्रोपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणात्।

संदर्भ स्पष्ट है। ऋषि ने देवता शब्द का अर्थ व्यवहारोपयोगी होना किया है क्योंकि व्यवहारोपयोगी चांद, सूर्य, नक्षत्र आदि सब हैं। अतः वे भी देवता हैं। परन्तु उपासना की देवता तो परमेश्वर ही हो सकता है। चन्द्र की उपासना का तात्पर्य आधिदैविक चन्द्र की पूजा करना नहीं है। अपितु चन्द्रमा में शीतलता तथा प्रकाश को देने वाले चन्द्र (आल्हादक) परमात्मा की उपासना करना है। कार्य से, कर्ता की स्तुति हुआ करती है। सूर्य, चन्द्र आदि से जगन्नियन्ता परमात्मा की ही उपासना होती है। एवं ऋषि की आर्ष दृष्टि में, जड़ पूजा का विधान वेदों में नहीं है। इस विषय में ऋषि लिखते हैं:—

अत इदानींतना केचिदार्याः यूरोपखण्डवासिनश्च भौतिकदेवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्यूचुर्वदन्ति च तदलीकतरमस्ति। तथा यरोपखण्डवासिनो बहवः एवं वदन्ति— पुरा ह्यार्याः भौतिकदेवतानां पूजका आसन्। पुनस्ताः संपूज्य २ च बहुकालान्तरे परमात्मानं पूज्यं विदुरिति। तदप्यसत्। तेषां सृष्ट्यारंभमारभ्यानेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादिभिः नामभिर्वेदोक्तरीत्येश्वरस्यैवोपासनानुष्ठानाचारानुगमात्। अत्र प्रमाणानि :—

"इन्द्रं मित्रं वरुणं०—" "तमीशानं जगत ……… पतिः……… ऋ० १।६।१५।५।

संदर्भ स्पष्ट है। इससे भी उपर्युक्त विषय को ही पुष्टि मिलती है।

ऋषि भाष्य को देखने से हमारे देवता विषयक विचार में भी पर्याप्त परिवर्तन आ गया है। ऋषि के पूर्व सायणादि भाष्यकार अग्नि, वायु आदि देवता वाचक शब्दों को अचिन्त्य, अज्ञेय, चेतन देवों के वाचक मानते हैं जो कि अपने अपने मण्डल के अधिष्ठाता भी हैं। ऐसा ही अभिमानी देवता विषयक विचार वेदान्तियों का भी है। महर्षि ने यौगिक रीति से देवताओं के अर्थ उनके गुण समूह की दृष्टि से किये हैं। अतः उन उन शब्दों से वाच्य जो जो गुण हैं उन गुणों वाले पदार्थों में उन शब्दों की प्रवृत्ति को माना है। अर्थात् अग्नि देवता से हमें वे पदार्थ लेने चाहियें जिनमें अग्रणीत्व प्रकाश आदि अग्नि के घटक गुण हों इस दृष्टि से भौतिक अग्नि भी अग्नि ही है। तेजस्वी परमात्मा भी अग्नि है। राष्ट्र के आगे आगे चलने वाला ज्ञान से प्रकाशमान ब्रह्मकुमार पुरोहित भी अग्नि है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों दृष्टियों से हम अग्नि शब्द को देख सकते हैं, यदि कहीं अग्नि का वर्णन चेतनविग्रहवती देवता के रूप में आवे तो वहां पर हम उसका अर्थ चेतनशरीरधारी ब्राह्मण ले सकते हैं लेकिन महर्षि की दृष्टि में यह स्वीकार करना सर्वथा अनुचित है कि कोई मण्डल का अधिष्ठाता अदृश्य अग्निदेव है। महर्षि के इस विचार में शास्त्रों की भी सम्मति है। निरुक्त ७।७ में सिद्धान्तपक्ष यह है कि चेतन देवताओं के आधीन अपुरुषविध (जड़) देवता रहते हैं जैसे — अचेतन राष्ट्र चेतन नरों से ही बनाया जाता हुवा चेतनवत् राष्ट्र कहा जा सकता है। इसी प्रसंग में महर्षि के भाष्य की एक विशेषता का निर्देश करना अनुचित न होगा। प्रायः ऋषि भाष्य में हम यह पाते हैं कि जो मन्त्र प्रत्यक्षकृत हैं उन

को महर्षि परोक्षकृत रूप में स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ— यजु० १।२० में "धान्यमसि धिनुहि देवान् १।१६ यजु० में" 'शर्मास्यवधूतं रक्षः' १।१६ में "कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वः" इत्यादि अंशों को व्यत्यय से परोक्षकृत रूप में व्याख्यान किया गया है और एक सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। काव्य की दृष्टि से जड़ पदार्थों को चेतन की तरह से आह्वान किया ही जाता है। ऋषि इस सत्य को समझते हुवे भी (यजु० १।८ धूरसि के विषय में "अत्र सर्वत्र भौतिकपक्षे व्यत्ययेन प्रथम पुरुषो गृह्यते।" इस प्रकार लिखते हैं।) पुरुष व्यत्यय से यही बताने में प्रवृत्त हुए हैं कि भौतिक अग्न्यादि पदार्थों में उस प्रकार की चेतना नहीं मानी जा सकती जैसी चेतन शरीरी में मानी जाती है।

हमारा यह विचार है कि वास्तविक रूप में प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के मन्त्र, कहने के ढंग के भेद से भिन्न हैं। अर्थात् इन तीनों प्रकारों से एक ही तात्पर्य बताया जाता है। मैं, तू, वह इन तीनों शब्दों वाले वाक्यों में उद्देश्य व तात्पर्य एक भी हो सकता है। चाहे वर्णन की रीतियां भिन्न भिन्न हों, मैं इन्द्र हूं, तू इन्द्र है, वह इन्द्र है, इन तीनों वाक्यों का विधेय एक यही है कि इनमें शासन करने की शक्ति है। यही मैं, तू, वह अनुभव की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में एक व्यक्ति में भी उठ सकते हैं तब इनसे बने वाक्यों का एक ही अभिधय होगा। इसलिये यदि व्याकरण, पुरुष-व्यत्यय, लिङ्ग-व्यत्यय आदि की अनुमति देता है तो इसमें कोई विचित्र बात नहीं है। इसी बात को ध्यान में रखकर महर्षि ने अपने भाष्य में प्रत्यक्षकृत (युष्मत् प्रधान) मन्त्रों को पुरुष-व्यत्यय करके परोक्षकृत बना दिया है यह उचित ही है। संभवतः इसमें यह भी हेतु हो कि मन्त्रों में अक्ष, धू, आदि शब्दों को 'तू' शब्द से पुकारने से कविता के मर्म से अनभिज्ञ जन चैतन्य की कल्पना से उनमें देवतात्व का आरोप न कर लेवें यह सामाजिक उद्देश्य भी भाष्य-शैली में परिवर्तन का कारण हो इस में आश्चर्य नहीं है।

महर्षि ने शब्दों को यौगिक मानकर अग्नि आदि देवताओं को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और व्यावहारिक आदि रूपों में ही लिया है जिससे कि उनके पूर्ववर्ती भाष्यकारों का देवताओं पर चढ़ा हुवा अशुद्ध परदा दूर हो गया है तथा देवता अपने रूप में हमें स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं। ऋषि की यह शैली ब्राह्मणों की Spirit के अनुकूल है। श० प० १२।६।१।१२ से १७ में "सौत्रायणी यज्ञ प्रकरण में" "मनएवेन्द्रः" "वाक्सरस्वती" श्रोत्रे अश्विनौ, प्राण एवेन्द्रः, जिह्वा सरस्वती, नासिके अश्विनौ, हृदयमेवेन्द्रः, यकृत्सविता, क्लोमा वरुणः, प्राण एव सविता, अपानो वरुणः, शिश्नमिन्द्रोः, योनिरेव वरुणः, रेत इन्द्रः, सवितैव रेतसः प्रजायिता" इत्यादि संदर्भ में सविता, इन्द्र, वरुण आदियों के आध्यात्मिक अर्थ ही बताये गये हैं। इसी प्रकार के व्यावहारिक व्याख्यान (देवताओं के विषय में) आर्ष शैली में मिलते हैं। ये सब वैदिक शब्दों को यौगिक मानने से उत्पन्न हो सकते हैं। स्वामी जी महाराज की इस सरणी पर चलते

हुए अरविन्द घोस ने देवों को मनोवैज्ञानिक रूप से लिया है। परम शिव ऐयर ने देवताओं की Geological व्याख्या की है और डाक्टर रेले ने वर्तमान समय में अपनी पुस्तक On Vedic Gods में देवताओं की Biological व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि "Vedas are the books on the Physiology of the nervous system written by Vedic seers." इस विचार को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने ऋग्वेद के प्रत्येक देवता विषयक वर्णनों और उनके गुण धर्मों का संग्रह किया है। Anatomy तथा Biology के आधार पर Central Nervous System तथा Spinal Cord में अनेक देवताओं का निवास बतलाया है। इस विषय में एक दो मुख्य आधार उन्होंने प्रस्तुत किये हैं।

(क) बाह्य जगत् में Heavan (द्यु) प्रतीत होता है। अतः वेद के "रोदसी, क्रन्दसी" (जो कि दो Heavans के वाचक हैं) का स्थान बाह्य संसार से भिन्न कहीं अन्यत्र होना चाहिये। ये दो Hemispherical brain vaults ही हैं।

(ख) अश्विनौ का वेदोक्त वर्णन बाह्य जगत् में न मिलने से अन्यज्ञेय मानसिक जगत में ही होना चाहिये। ऋषियों ने नाडीतन्तु संस्थान को मानसिक क्षेत्र में भली भांति समझकर फिर बाह्य जगत् में लगाया है।

(ग) हिन्दुओं के संहिता ग्रन्थों, यौगिक तथा तान्त्रिक पुस्तकों में Biology का विज्ञान है और वह उनके Nervous System की Physiology के परिचय का ही सूचक हैं। सुश्रुत में भी आता है कि— वेद के देवता हमारे शरीरों में निवास करते हैं। ३।२६।३३ सूत्र

इसके अतिरिक्त उनका कथन है कि ऋषि वैदिक देवों के वर्णन से पता चलता है कि ऋषियों ने उन देवों को प्रत्यक्ष किया था। इनको प्रत्यक्ष कहां से किया होगा? यदि उनकी स्थिति अमूर्त होती तो वेद के ऋषि अपनी अपनी मति के अनुसार उनका वर्णन भिन्न भिन्न रूप से करते परन्तु सब देवों में बड़ी भारी समानता है, इसका कारण यह है कि इन ऋषियों के ज्ञान का एक ही स्रोत है; जिस स्रोत से ज्ञान लेकर उसे (ज्ञान) गुप्त रक्खा होगा अतः यह गुह्य ज्ञान पवित्रतम भी समझा गया है। रेले का कथन है कि यह स्रोत मृत शरीर है। बृ० उ० में ऋक्, यजु, साम को मृत्यु के (Ghost मृत शरीर) के परिशीलन से पैदा हुआ बताया है। Nervous System के कुछ भागों के नाम ऋषियों ने विभिन्न वस्तुओं के आकार व गुणों के आधार पर रक्खे हैं। अश्व-गौ, श्वा वृषभ, आदि नाम रक्खे गये हैं। आजकल भी Anatomy की पुस्तकों में यही प्रथा है। बृ० उ० के अश्वमेध का वर्णन Horse Shaped Brain का वर्णन है। इत्यादि अनेक आधारों से एक विचित्र खोजपूर्ण स्थापना डाक्टर रेले ने की है।

इस प्रकार निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि महर्षि की भाष्य-शैली ने देवताओं के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालकर वेद को ऋषियों की आंखों से देखने का हमारे सम्मुख साधन उपस्थित किया है। ऋषि ने स्थान २ पर वाचक लुप्तोमालङ्कार से अनेक मन्त्रों का भावार्थ खोला है— मित्र के समान अध्यापक, वरुण के समान उपदेशक, उषा के समान स्त्री, इसी प्रकार अन्य अनेकों अलङ्कारों से ऋषि भाष्य सजे पड़े हैं। ऐसी अन्य अनेक विशेषतायें महर्षि के भाष्य में स्थान २ पर बिखरी पड़ी हैं। भाष्य का एक एक मन्त्र इस आर्ष शैलो को महत्ता का उद्घोषित कर रहा है।

'वेदोद्धारक ऋषि दयानन्द'

(ले० श्री पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री वेदाचार्य अध्यक्ष वेद-संस्था आनन्दपुरी मेरठ)

* श्री नारायण स्वामि प्रशस्ति *

योऽधिष्ठातृपदं पुरा गुरुकुले वृन्दावनीये शुभे ।
निस्वार्थं समलञ्चकार बहुशः से यथेष्टा कृता ॥
वैराग्यातिशयात्पुनः सविरतो धर्मप्रचारे रतः ।
भ्रामं भ्राममितस्ततो विजयते 'नारायण स्वामि'राट् ॥१॥
हैद्रावादे प्रसिद्धे प्रगुणित गति-सत्याग्रहे धर्म युद्धे ।
नेतृत्वं यश्चकार प्रियतम मुनि नारायण स्वामि वर्यः ॥
तस्मिन्नार्यांहवेयद्विजय मनुपमं सन्ततं घोषयन्ती ।
तस्यैयंस्फुरन्ती दिशि विदिशि च दो धूयते वैजयन्ती ॥२॥

वेद विजृम्भणम्

सर्गादौ स्फुरतां समग्र जगतां निःश्रेयसे जज्ञिवान् ।
अर्थानभ्युदयाय यः प्रथितवां न तांस्तांस्तु वैज्ञानिकान् ॥
यश्चोच्चावच भाववान् विविधसद्विद्याभिरुद्योतवान् ।
विश्वस्मिन् भुवने स वेद भगवान् भूयोजरीजृम्भताम् ॥

वेद ईश्वर की पवित्र वाणी है, विश्व की विभूति है, मनुष्य मात्र की सम्पत्ति है, आर्य जाति की निधि है—भारत की शेवधि है। संसार में जितनी भाषा प्रचलित हैं साक्षात् अथवा परम्परया, उन सबका आदि स्रोत वेद ही हैं। इस बात को प्रायः सभी भाषा तत्त्व विशेषज्ञ मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं। यहीं तक नहीं, जितनी भी विद्या एवं विज्ञान इस वैज्ञानिक युग में आविष्कृत हुए उन सबका मूल भी प्रायः बीजरूप से वेदों में विद्यमान है, महर्षि की इस घोषणा को आज प्रायः संसार का विद्वत्समाज स्वीकार

करने लगा है। वेद के जितने प्राचीन तथा अर्वाचीन भाष्यकार—भट्ट भास्कर मिश्र, स्कन्द स्वामी, सायणाचार्य, उव्वट, महीधर, कपर्दी स्वामी, व्यङ्कट माधव आदि हुए हैं, उनमें से किसी की भी वेदों की वैज्ञानिकता की ओर दृष्टि नहीं पहुंची। सर्व प्रथम ऋषि दयानन्द ने ही वेदों में अध्यात्म विद्या के साथ साथ आधिभौतिक विज्ञान भी भरा है, वैदिक साहित्य में क्रान्ति उत्पन्न करने वाली यह घोषणा की थी जिसकी आधुनिक विद्वान् नतमस्तक होकर पुष्टि कर रहे हैं। यह महर्षि दयानन्द की पहिली विशेषता है जो अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। और जिसे आज पक्ष विपक्ष एवं देश विदेश के सभी विद्वान् स्वीकृत कर रहे हैं। महर्षि के वेद भाष्य के अनुशीलन से उनकी भाष्य शैली की विशेषता एवं अनुपमता का परिचय स्वयं प्रतीत होने लगता है। वेदों के महत्व एवं उनकी दिव्यता का उद्भास ऋषि कृत भाष्य में स्पष्टतया पदे पदे चमकता हुआ दृष्टिगोचर होता है। ऋषि दृष्टि से आलोकित वेद मंत्र मानों स्वयं अपने वास्तविक स्वरूप को ऋषि की योग पुनीत दिव्यदृष्टि में प्रति बिम्बित करते हुए प्रतीत होते हैं। निस्सन्देह ऋषि का भाष्य 'उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे' का सुन्दर सर्वाङ्गपूर्ण उदाहरण है। इसका एक मात्र कारण यह है कि ऋषि दयानन्द ने वेदों को उनके विशुद्ध रूप में यदेत्व रूप में उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया। जहां अन्य आधुनिक भाष्यकारों ने वेद के विशुद्ध रूप की उपेक्षा ही नहीं अपितु अक्षम्य अवहेलना की और विनियोगादि भ्रान्तभूषा से भूषित नहीं नहीं दूषित कर अपने भाष्यों में उनको अङ्कित कर दिया जो वेदों के यथार्थ स्वरूप से बहुत दूर हो गया और जिससे प्रायः समस्त भाष्य विनियोग के विकट जाल में फंस गया। वेदों के स्वारथ तथा वास्तविक रहस्य को न समझकर कहीं गाथा, कहीं आख्यान कहीं इतिहास का वर्णन कर वेदों को उदात्त उज्ज्वल, ईश्वरीय ज्ञान के दिव्य आसन से च्युत कराकर उन्हें साधारण मनुष्य कृत रचना की श्रेणी में ला खड़ा किया। वस्तुतः विनियोग आदि की कपोलकल्पित मेघमाला ने भगवान् वेद भास्कर के तेजोमय दिव्य स्वरूप को आच्छादित कर संसार को वेद के यथार्थ प्रकाश से वञ्चित रक्खा। किसी किसी स्थल पर तो वैदिक दिव्य प्रकाश घोर अन्धकर में ही परिणत हो गया। उदाहरणार्थ यजुर्वेद का प्रथम मंत्र ही ले लीजिए "इषे त्वोर्जेत्वा"

यजु० अ० १। म० १।

इस मन्त्र के देवता सविता का अर्थ है जगदुत्पादक परमेश्वर "सविता वै प्रसविता देवानाम्" शत० १।१।२।१७। परन्तु उव्वटाचार्य ने इस मन्त्र के दो टुकड़े करके इसका विनियोग शाखा छेदन में कर दिया है। अर्थात् 'ईषेत्वा' यह मन्त्र बोलकर पलाश आदि की शाखा काटे। और वेद भाष्यकार महीधर तो इससे भी एक क़दम आगे बढ़ गये। उन्होंने शाखा को ही इस मंत्र का देवता मान लिया 'शाखा वै देवता' और अर्थ भी शाखा को सम्बोधित करके कहते हैं 'हे शाखे त्वां संन्नमयामि ऋजुकरोमि' हे शाखे मैं

तुझे नमाता हूं या झुकाता हूं। तात्पर्य यह हुआ कि इस मंत्र का विनियोग शाखा को झुकाने तथा उसके काटने में हुआ। क्या ऋषियों के हृदय में मंत्रों का प्रकाश शाखा छेदन करने के लिये ही हुआ था? क्या यही वेद का महत्त्व है? वस्तुतः इन महानुभावों ने वेदों को विनियोग के शस्त्र से छिन्न भिन्न करके उनके मन माने अर्थ कर डाले जिनसे जनसाधारण में वेदों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो गई। सायण महीधरादि के भाष्य का प्रयोजन केवल वेद मंत्रों को दर्श पूर्णमासादि में विनियुक्त कर उनकी प्रक्रिया एवं विधि विशेष के साधक एवं समर्थक बनाने का है इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं। वेदों के वास्तविक तथा मौलिक तत्वों का अवबोधन कराना अथवा उनके गूढ़ रहस्यों का प्रदर्शन करना कदापि नहीं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इन सब वैनियोगिक प्रपञ्चों का पक्षच्छेदन कर वेद के यथार्थ सत्यार्थ का बोध कराने वाले भाष्य का निर्माण कर जनता को वेद के सत्य विज्ञान मय ज्ञान का प्रकाश कराया तथा वेद भाष्य करने का सच्चा मार्ग प्रदर्शन किया। यही ऋषि के भाष्य की इतर भाष्यों से दूसरी विशेषता है।

वेद अपौरुषेय हैं—

प्राचीन आर्ष ऋषि मुनियों के समान महर्षि दयानन्द सरस्वती भी वेदों को अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरीय मानते थे। ईश्वरीय ज्ञान होने से ही वेदों को स्वतः प्रमाण एवं वेदातिरिक्त अन्य शास्त्रों को परतः प्रमाण मानते थे। तात्पर्य यह है कि वेद प्रतिपादित समस्त सिद्धान्त स्वयं सिद्ध हैं उनकी सत्यता को सिद्ध करने के लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है। किन्तु अन्य शास्त्रों की प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिये वेद की साक्षी समर्थन अथवा सम्पुष्टि की आवश्यकता ही नहीं अपितु अनिवार्यता है। ईश्वर वचन होने से ही वेदों को प्रमाण माना जाता है। कारण ईश्वरातिरिक्त मानवोक्त वचनों में अल्पज्ञता के कारण अनृत व्याघात पुनरुक्ति आदि अनेक दोषों के सम्भव होने से प्रामाणिकता नहीं हो सकती। इसी आशा को दर्शाते हुए वैशेषिक दर्शनकार प्रातः स्मरणीय कणाद मुनि लिखते हैं।

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'

वै० अ० १ स० ३।

इस सूत्र पर भाष्य करते हुये शङ्कर मिश्र लिखते हैं।

'तद्वचनादिति ... ... तदित्यनुक्रान्तमपि प्रसिद्धि सिद्ध तयोत्तरं परामृशति ... . तद्वचनात्तेनेश्वरेण प्रणयनादाम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्।'

अर्थात्— उक्त सूत्र में 'तत्' शब्द ईश्वर का परामर्शक है ईश्वर के वचन होने से ही वेदों में प्रामाणिकता है इसी प्रकार वेदान्त दर्शन में भी वेदों को ईश्वरकृत ही माना है।

'शास्त्रयोनित्वात्' (वेदान्त)

इस पर श्री शङ्कराचार्य जी भाष्य करते हुए लिखते हैं:—

'महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोप बृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञ कल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न ही दृसस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षमणस्य सर्वज्ञ गुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति।'

यहां शास्त्र शब्द वेद वाचक है। सर्वज्ञान युक्त वेदों के निर्माता, सर्वज्ञ परमेश्वर से अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। मनुष्य रचना में अनृत एवं व्याघात आदि दोषों का होना स्वाभाविक है जिनका वेदों में सर्वथा अभाव है। अतः वे मनुष्य कृत नहीं अपितु निश्चय ही ईश्वर कृत हैं। वेदों में स्वयं इस बात की साक्षी मिलती है देखिये:—

"यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्। तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभिसंनवन्ते॥ ऋ० मं० १०। सू० ७१। म०३।

अर्थात् (यज्ञेन) उस पूजनीय परमेश्वर के द्वारा (वाचः पदवीयम्) वाणी द्वारा प्राप्तव्य वेदज्ञान को (आयन्) ऋषिजन उपलब्ध करते हैं। तथा (ऋषिषु प्रविष्टाम्) ऋषियों के हृदयों में प्रविष्ट हुई (तां) उस वेदवाणी को (अन्वविन्दन्) अन्य पाते हैं पुनः (तामाभृत्य) फिर उस वेदवाणी को धारण कर, पूर्णतया समझकर (पुरुत्र) सर्वत्र (व्यदधुः) वे विधिरूप से उसका उपदेश करते हैं (तां सप्त रेभा अभिसन्नवन्ते) तथा वे ऋषि उस वेदवाणी सप्त स्वर युक्त छन्दों में प्राप्त करते हैं। कितना स्पष्ट वर्णन है। इस मन्त्र में चार बातों की तरफ निर्देश किया गया है:—

१—परमेश्वर वाणी तथा ज्ञान अर्थात् शब्द तथा तद्गत अर्थ दोनों साथ ही देते हैं। महा भाष्यकार भी इसकी पुष्टि करते 'नित्ये शब्दार्थ सम्बन्धे' अर्थात् शब्द तथा अर्थ का नित्य सम्बन्ध है।

२—(ऋषिषु प्रविष्टाम्) इस पद से स्पष्ट व्यक्त होता है कि परमेश्वर को वेदवाणी ऋषियों के हृदय में प्रेरित अथवा प्रकाशित किया?

३—(पुरुत्रा व्यदधुः) इस पद से यह गतार्थ होता है वेद ज्ञान प्राप्त करके वे ऋषि उसका सर्वत्र उपदेश करते हैं, प्रचार करते हैं। 'पुरुत्रा व्यदधुः' इस पर भाष्य करते हुए सायणाचार्य लिखते हैं:— "बहुदेशेषु व्यकार्षुः सर्वान् मनुष्यान् अध्यापयामासुः" अर्थात् उन ऋषियों ने उस वेदज्ञान को बहुत देशों में फैलाया।

४—वेद प्रायः गायत्र्यादि छन्दोबद्ध रूप में ही प्रकाशित होते हैं जिनसे यह सिद्ध है कि मन्त्रों की पदानुपूर्वी भी ईश्वरीय है, नित्य है, अपरिवर्तनीय है। इस प्रकार उक्त प्रमाणों से यद्यपि वेदों का ईश्वरीय अथवा अपौरुषेय होना व सिद्ध होता है तथापि प्रश्न होता है कि संस्कृत साहित्य के पर्यालोचन से यह पता चलता है कि कहीं कहीं वेदों को ऋषियों की कृति या ऋषियों की रचना भी माना गया है कारण अनेक

स्थलों में ऋषियों को मन्त्र कृत् पद से स्मरण किया गया है:—

"नम ऋषिभ्यो मन्त्र कृद्भ्यः" तै० अ० ४।१।१।

अर्थात् मन्त्र कृत् ऋषियों को नमस्कार हो। अनेक स्थलों में मन्त्र कृत् शब्द का प्रयोग देखा जाता है। इस प्रकार के प्रयोग प्राचुर्य को देखकर ही योरोपीय विद्वान् प्रायः वेदों को ऋषि कृत ही मानने लगे हैं। प्रो० मेक्डानल महोदय तो अपने वैदिक इन्डेक्स में स्पष्ट लिखते हैं:—

"Mantrkrit in the Rigveda and the Brahmans denotes a poet as a maker of mantra"

अर्थात् ऋग्वेद में अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों में जो मन्त्र कृत् शब्द आया है वह मन्त्र बनाने वाले ऋषियों की ओर ही निर्देश करता है। तथा इसी प्रकार कतिपय भारतीय विद्वान् भी वेदों को पौरुषेय या ऋषिकृत मानने लगे हैं। यह धारणा प्राचीन ऋषियों तथा महर्षि दयानन्द की दृष्टि से भ्रम से रिक्त नहीं। कारण जिन स्थलों में ऋषियों के लिये मन्त्रकृत् शब्द आया है, वहां मन्त्र कृत् का अर्थ मन्त्र द्रष्टा ही आचार्यों ने लिया है 'नम ऋषिभ्यो मन्त्र कृद्भ्यः" इस पर सायणाचार्य लिखते हैं:—

"ऋषिर तीन्द्रियार्थद्रष्टामन्त्रकृत्। करोति धातुस्यत दर्शनार्थः अर्थात् अतीन्द्रस्तुया परोक्षपदार्थ के द्रष्टा को ऋषि कहते हैं यहां पर 'कृ' धातु दर्शनार्थक है। इसलिये मन्त्रकृत का अर्थ मन्त्रद्रष्टा होता है। मन्त्रों के गूढ रहस्यों को देखने वाले को ऋषि कहते हैं। सायणाचार्य इसी आशय को और भी स्पष्ट करते हैं :—

"मन्त्रकृद्भ्यः मन्त्रं कुर्वन्तीति मन्त्रकृतः। यद्यपि अपौरुषेये वेदे कर्त्तारो न सन्ति तथापिकल्पादौ ईश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्रकृत उच्यन्ते" इसका भाव यह है कि यद्यपि साधारणतया मन्त्रकृत् शब्द से मन्त्रों के रचने वाले (Author of Mantras) यही अर्थ निकलता है तथापि ईश्वरीय ज्ञान न होने से वेद के नित्य होने के कारण उसका कोई ईश्वरातिरिक्त अन्य कोई कर्त्ता नहीं हो सकता इसलिये 'कृ' धातु का अर्थ यहां कर्त्ता न लेकर उसका उपलब्धा अर्थ लेना चाहिये अर्थात् कल्प के आदि में ईश्वर की कृपा से मन्त्र के प्राप्तिकर्त्ता होने से मन्त्रकृत् कहलाते हैं न कि मन्त्रों के रचियता होने से। महर्षि पतञ्जलि भी अपने महाभाष्य में मुक्त कण्ठ से घोषणा करते हैं :—

"नहि छन्दांसि क्रियन्ते" महा० ४।३।१०१ छन्द अर्थात् वेद बनाये नहीं जाते किन्तु उपलब्ध किये जाते हैं। निरुक्त के दैवत काण्ड में यास्काचार्य भी लिखते हैं :—

"एवमुच्चावचैरभिप्रायै ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति" अर्थात् इस प्रकार अनेक अभिप्रायों से ऋषियों की मन्त्र दृष्टि होती है। यदि यास्क को ऋषियों का मन्त्रकृत् मन्त्ररचयिता होना अभिमत होता तो वे यहां 'मन्त्रदृष्टयः' के स्थान पर 'मन्त्रकृतयः' का प्रयोग करते। परन्तु ऐसा नहीं किया इसलिये यह सिद्ध है कि यास्कमुनि को भी

'ऋषयोमन्त्रद्रष्टारः' मन्त्रार्थ देखने वालों को ही ऋषि कहते हैं यही मत अभीष्ट था। इससे भी ऋषि मत ही पुष्ट होता है। वेद ईश्वरीय है न कि पौरुषेय है यह ऋषि की तीसरी विशेषता है।

ऋषि का मन्त्र देवता विषयक मन्तव्य—वेदार्थ एवं वेदमन्त्रों के रहस्य को समझने के लिये मन्त्रों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना परम आवश्यक है कारण देवताओं के वास्तविक ज्ञान के विना मन्त्रार्थ होना असम्भव है जैसा कि शौनकाचार्य अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ बृहद् देवता में लिखते हैं :—

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवताज्ञो हि मंत्राणां तदर्थमधिगच्छति।
नहि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम्।
लौकिकानां वैदिकानां कर्मणां फलमश्नुते॥

अर्थात् मंत्रों के वास्तविक अर्थों के ज्ञान के लिये उनके देवता ज्ञान के लिए पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। देवताओं का ज्ञाता ही मंत्रार्थ को यथार्थ रूप से समझ सकता है। देवताओं के यथार्थ रूप को न जानकर कोई लौकिक एवं वैदिक कर्मों के इष्टफल को प्राप्त नहीं कर सकता। आचार्य कात्यायन ने भी सर्वानुक्रमणी में उक्त तत्व की ही पुष्टि की है :—

एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति.............................तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं भवति...............................पापीयान् भवति।

इसका भी आशय यही है कि जो देवता आदि को समझे बिना मन्त्र का अर्थ करता है या जप यज्ञ करता है उसका ज्ञान न केवल निस्सार होता है अपितु वह पापीयन् होता है।

देवता का स्वरूप—महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मंत्र प्रतिपाद्य विषय को देवता माना है अर्थात् जिस विषय का मंत्र प्रतिपादन करता है वह विषय ही उस मन्त्र का देवता है। अन्य प्राचीन आचार्यों ने भी मन्त्रपाद्य विषय को ही देवता माना है। वेदार्थ दीपिक के प्रणेता षड्गुरु शिष्य भी इसी ऋषि मन्तव्य की पुष्टि करते हैं :—

'यत्प्रतिपाद्य' वस्तु सा देवता'

अर्थात् मन्त्र का जो प्रतिपाद्य विषय (Subject matter) है वही उसका देवता है। शौनकाचार्य भी देवता का स्वरूप निरूपण करते हुए कहते हैं:—

अर्थ मिच्छन्नृषि दैवं यं यमाहायमस्त्विति।
प्राधान्येन स्तुनञ्छक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव सः॥ (बृहद्दे० १।६)

यहां पर ऋषि शब्द परमात्मापरक है। अर्थात् परमेश्वर जिस अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा से मन्त्र रचता है, उसी विषय का उस मन्त्र में प्रधानता से वर्णन होता है और

वह ही उस मन्त्र का देवता होता है। निरुक्तकार यास्क मुनि भी देवता का निरूपण उक्त प्रकार से करते हैं।

"अथातो दैवतं, तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते सैपा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुक्त तद्दैवतः समन्त्रो भवति" (निरु० ७।१।)

इसका भाव यह है कि जिस कामना वाला ऋषि (सर्व द्रष्टा परमेश्वर) जिस मन्त्र में जिस अर्थ या विषय का स्वामित्व-प्रधानता चाहता हुआ वर्णन करता है वही विषय उस मन्त्र का देवता होता है। उक्त स्थलों में प्रायः यह शङ्का करते हैं कि यहां ऋषि का अर्थ ऋषि न लेकर परमेश्वर क्यों लिया? यही सीधा सरल अर्थ क्यों नहीं लेना चाहिये कि ऋषियों ने जिस कामना से जिस अर्थ की इच्छा करते हुए जिस देवता की स्तुति की वही उस मन्त्र का देवता हो गया। परन्तु यह कथन ठीक नहीं, कारण यदि ऋषि पद से यहां परमेश्वर का ग्रहण न करके मानव ऋषि का ग्रहण करें तो इसका तात्पर्य यह होगा कि मन्त्रों का पद विन्यास तो ईश्वरीय है किन्तु मन्त्र प्रतिपाद्य विषय विन्यास ऋषियों का हुआ जो सर्वथा असम्भव एवं शास्त्र विरुद्ध है। शब्द शास्त्र के अनुसार शब्द तथा अर्थ का नित्य सम्बन्ध है शब्द से अर्थ कदापि पृथक् नहीं रह सकता है शब्द तथा अर्थ का साहचर्य नित्य है। महाभाष्यकार भी यही मानते हैं। 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' अर्थात् शब्द अर्थ तथा शब्दार्थ सम्बन्ध ये तीनों नित्य हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य होने से सदा सहचारि भाव से रहते हैं एक दूसरे से कभी पृथक नहीं हो सकते। इसलिये शब्दराशि मन्त्र तथा, अर्थ, तत्प्रतिपाद्य विषय एवं इन दोनों प्रतिपाद्य प्रतिपादक सम्बन्ध नित्य होने से ये कदापि एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। यदि मन्त्र ईश्वर कृत है तो तत्प्रतिपाद्य विषय देवता भी ईश्वरकृत ही मानने पड़ेंगे यह नहीं हो सकता मन्त्रों को ईश्वरीय मान लिया जाय किन्तु उनके देवता अन्य ऋषिकृत् मानें ये दोनों बातें शब्द शास्त्र के विरुद्ध होने से सर्वथा-अनादरणीय हैं। महर्षि व्यास भी शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध होने के विषय में लिखते हैं:

"संप्रति पत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानीते"

[यो० सू० २७ व्या० भा०]

अर्थात् ज्ञान के नित्य होने से तज्जनक शब्द भी नित्य है जब ज्ञान नित्य है शब्द नित्य है तो दोनों का सम्बन्ध अर्थात् शब्दार्थ सम्बन्ध भी सुतरां नित्य ही होना चाहिये।

महर्षि जैमिनि भी उक्त तत्व की पुष्टि करते हैं:—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"

इस सूत्र पर मीमांसाशास्त्र के भाष्यकार शबरस्वामी लिखते हैं :—

"औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः उत्पत्तिर्हिभावउच्यते लक्षणया अवियुक्तः शब्दार्थ-

योर्भावः सम्बन्धो नोत्पन्नयोः पश्चात्सम्बन्धः तस्मात् औत्पत्तिको नित्यः शब्दार्थ सम्बन्धः"

इसका भी स्पष्ट भाव यही कि शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। पाश्चात्य विद्वान् भी इसी तत्व की सत्यता को स्पष्टतया स्वीकार करते हैं प्रो० मैक्समूलर ने अपने प्रसिद्ध व्याख्यान भाषा विज्ञान (Science of Language) में दर्शाया है :—

"...... I therefore declare with conviction as explicitly as possible that thought in the sense of reasoning is not possible without language."

अर्थात् मैं यह विश्वासपूर्व प्रकाशित करता हूं कि बिना भाषा के विचारों का होना नितरां असम्भव है। इसी महर्षि दयानन्द सरस्वती अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में देवता स्वरूप प्रतिपादक निरुक्त के निम्न लेखक उद्धरण देकर उसकी व्याख्या निम्न प्रकार की है जिससे स्पष्ट होजाता है कि उक्त स्थलों पर ऋषि पद से ईश्वर का ही ग्रहण होता है मनवीय ऋषि का नहीं :—

"यत्कामऋषिर्यस्यां देवतायमार्थापत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुक्ते तद्दैवतः समन्त्रो भवति।"
(निरु० ७-१)

इस पर स्वामी जी लिखते हैं :—

"अत्रोच्ये ऋषिरीश्वरः सर्वदृक् यत् कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति, स यत्कामः, यस्यां देवतायां मार्थापत्यं स्वामित्वं मुपदेष्टुमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तदर्थ गुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति"

यहां पर ऋषि पद से स्वामी जी ने भी सर्वद्रष्टा परमेश्वर का ही ग्रहण किया है अर्थात् यह स्पष्ट माना है मन्त्रवत् तत्प्रतिपाद्य विषय देवता भी सर्वद्रष्टा परमेश्वर से ही निर्धारित है किसी अन्य ऋषि के निर्धारित नहीं है। श्री स्वामी महाराज ने उक्त विषय में अपना मन्तव्य निम्न लेख में और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है :—

"यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते एवमेव वातः सूर्यः .... तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात् परमाप्तेश्वरेण कृतसङ्केतत्वाच्च।" इसमें रेखांकित वाक्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि मन्त्रों के देवता भी परम आप्त परमेश्वर के सङ्केत हैं अतः परमेश्वर कृत ही हैं।

ऋषि के इस कथन से मन्त्र के देवता ऐच्छिक या अनियत हैं, यह मन्तव्य सुतरां स्वयं खण्डित हो जाता है। कारण ऐच्छिक देवता मानने पर जो जिसकी इच्छा में आया वह वही मानकर अर्थ करेगा फिर मंत्रों का मंत्रत्व या ईश्वरीयत्व ही क्या रह जायगा। यथेच्छ देवता की कल्पना करने के सिद्धान्त को यदि स्वीकार किया जायगा तो मंत्रार्थ करने में स्वच्छन्दता होगी जिसका परिणाम अनवस्था तथा स्वेच्छाचारिता होगा जिससे वेद अश्रद्धेय हो जायेंगे। अतः देवता विषय में ऐच्छिकता का सिद्धान्त नितान्त भ्रम मूलक है। इसी प्रकार देवताओं को

जो अनियत मानते हैं, वे भी भ्रम में हैं। कारण परम प्रभु परमात्मा ने जीवों के कल्याण के लिये जितना एवं जिस प्रकार का ज्ञान आवश्यक तथा उपयोगी समझा उसी को निश्चित रूप से निर्धारित कर वेदों के द्वारा प्रकट किया तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि वह अनियत या अनिर्धारित है। यजुः सर्वानुक्रम सूत्र में स्पष्ट लिखा है।

देवता मंत्रान्तर्भूता अग्न्यादिका हविर्भाजः स्तुतिभाजोवा' (अ० १) देवता मंत्रों के अन्तर्भूत ही होते हैं अर्थात् मंत्रों के अन्दर ही अगदिष्ट होते हैं ऊपर से उनकी कल्पना का निर्धारण नहीं हो सकता।

वेदार्थ करने के लिये उक्त रीति पर नियम निर्धारित होते हुए भी आधुनिक सायण उव्वट तथा महीधरादि वेद भाष्यकारों ने इन नियमों की उच्छृङ्खलता से अक्षम्य अवहेलना की वेद मंत्रों के मन माने यदृच्छा से स्वतन्त्र ऐच्छिक देवताओं की कल्पना कर अर्थ का अनर्थ कर डाला और किसी किसी मंत्र के तो ऐसे भ्रष्ट अर्थ किये कि जिनके कारण वेदों के प्रति विद्वत्समाज की अश्रद्धा एवं घृणा उत्पन्न हो गई। परन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों के वास्तविक नैरुक्तिक यौगिक भाष्य शैली का प्रदर्शन कराके वेदों पर किये हुए आक्षेपों तथा उनके प्रति उत्पन्न हुई अश्रद्धा को धोकर पुनः एक बार वेद रूपी सूर्य के सच्चे प्रकाश को संसार के सामने रक्खा। वेदों की महिमा तथा प्रतिष्ठा फिर से विद्वत्समाज के हृदय मन्दिर में प्रतिष्ठापित की। वेदों को प्रचलित विकृत कर्मकाण्ड के कीचड़ के ऊपर उठाकर उनमें उदात्त वैज्ञानिक विशेषता, अध्यात्मतत्व, राजनीति तत्त्व एवं अनेक उन्नत विज्ञानों का वेदों में प्रतिपादन किया है। इसकी पुष्टि में अपने आदर्श वेदभाष्य में दिखलाकर एक बड़ी भारी सत्यता का प्रकाशन किया है। जिसके लिये मानव समाज महर्षि का सदा के लिये आभारी रहेगा। तभी तो श्री अरविन्द घोष जैसे प्रसिद्ध विद्वान ऋषि दयानन्द सरस्वती के वेद विषय सिद्धान्तों का बड़े प्रबल शब्दों में समर्थन करते हैं:—

"There is nothing fantanstic in Dayananda's idea that Veda contains truth of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that the Vedas contains other truth of a science the modern world does not at all possess and in that case Dayananda has rather understated than overstated the depth and range of the Vedic wisdom."

भाव यह है, महर्षि दयानन्द सरस्वती के, वेदों में न केवल धर्म तत्व अपितु विज्ञान के भी सिद्धान्त प्रतिपादित हैं इन विचारों में किञ्चित् भी असङ्गति नहीं है। मेरा निजी तो इससे भी कुछ आगे बढ़कर ऐसा विश्वास है कि वेद में एक ऐसे विज्ञान का प्रतिपादन

है जिससे आधुनिक संसार भी अनभिज्ञ है। ऐसी दशा में वेदों में विज्ञान विषयक सिद्धान्त के प्रतिपादन में अतिशयोक्ति नहीं अपितु न्यूनोक्ति ही है"। अर्थात् वेदों में उससे कहीं अधिक विज्ञानों का निरूपण है जितने ऋषि दयानन्द ने बतलाये है। क्या यह ऋषि के भाष्य का विजय नहीं है ?

वेद में इतिहास तथा ऋषि दयानन्द–

यद्यपि साधारणतया वेदों के पर्यालोचन से उनमें अनेक स्थलों पर इतिहास की झलक प्रतीत होती है परंतु वास्तव में वे इतिहास नहीं अपितु बड़े महत्व के गूढ़ वैज्ञानिक वर्णन हैं, ऐसा महर्षि का मन्तव्य है। कारण ईश्वरीय नित्य ज्ञान में ऐतिहासिक वर्णनों का अवकाश अथवा समावेश होना नितान्त असङ्गत एवं हास्यास्पद है। परन्तु आधुनिक एवं अर्वाक् कालीन भाष्यकारों ने उक्त स्थलों को यथार्थतया न समझकर उनमें सरल रीति से इतिहास एवं आख्यानों का ही वर्णन कर दिया है। आश्चर्य तो यह है कि कतिपय ऐसे विद्वानों ने भी जो वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं उनमें इतिहास एवं आख्यानों का निरूपण कर डाला है और अपने को वदतो व्याघात, दोष से अनुलिप्त कर लिया है।

वेद में रुचि रखने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने प्रायः वेदों की व्याख्या या अनुवाद, आधुनिक सायण तथा महीधरादि भाष्यकारों के आधार पर ही ग्रन्थ लिखे हैं अतः उनके लिये भी वेदों में इतिहास मानना स्वाभाविक सा ही था वे भी बेचारे भ्रम में पड़कर वेदों को प्राचीन आर्यों का इतिहास मान बैठे और अपनी अपनी कल्पना के अनुसार कुछ का कुछ लिखने लगे। उदाहरण के रूप में हम इन्द्र तथा वृत्रासुर की कथा को लेते हैं। जर्मन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर विन्टरनीज M. Winternitz Ph. D. महोदय लिखते हैं।

"Indra can be designated as the actual national God of the Vedic India....... . . His enormous strength and combativeness are described again and again .... Especially the battle of Indra with Vritra .. ....

अर्थात् इन्द्र वैदिककाल में भारत का मुख्य योद्धा देवता था। उसकी मंत्रों में बड़ी प्रशंसा की गई है। उसकी मुख्य लड़ाई वृत्रासुर के साथ हुई जिसको उसने वीरता से मार डाला था। आगे चल के आप फिर लिखते हैं।

"Vritra (Probably the obstructor) is a demon in the form of a serpent or a dragon, who keeps the waters enclosed in a mountain.

अर्थात् यह वृत्रासुर कोई सांप की शकल का राक्षस था जो एक पहाड़ में पानी को रोके हुए था। फिर आप आगे लिखते हैं —

"The songs leave no doubt that the myth of Indra's dragon-fight refers to some powerful natural-phenomenon. Heaven and earth tremble when Indra slays Vritra."

इन मन्त्रों के अध्ययन से इसमें तो कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इनमें किन्हीं प्रबल प्राकृतिक विज्ञान का वर्णन है क्योंकि जब इन्द्र वृत्र को मारता है तो ज़मीन आसमान सब हिल जाते हैं। उक्त लेखक किसी सन्दिग्धावस्था में विचार कर रहे हैं, सम्भवतः यह इन्द्र तथा वृत्रासुर की कथा नहीं अपितु किसी प्राकृतिक विज्ञान की ओर निर्देश कर रही है। आगे आप लिखते भी हैं.—

"Already the old Indian interpreters tell us that Indra is a god of thunder-storm, and that by the mountains, in which the waters are enclosed, we are to understand the clouds in which Vritra the demon of drought keeps the water imprisoned Most of the European Mythologists agreed with this opinion."

अर्थात् इस विषय में कुछ प्राचीन भारतीय भाष्यकारों ने इन्द्र पद से विद्युती के तीव्र प्रवाह का ग्रहण किया है। वृत्र से, जिससे अन्यों ने पर्वत या सर्पाकार राक्षस का ग्रहण किया है, प्राचीन भाष्यकारों ने मेघ का ग्रहण किया है जिससे बहुत से योरोपियन विद्वान् भी सहमत हैं। परन्तु आगे आप लिखते हैं कि प्रोफेसर हिलेब्रेण्ड (Hillebrandt) ने इसको अन्य रूप से ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वे कहते हैं :—

"Hillebrandt, however, has tried to prove that Vritra is not a cloud-demon and not a demon of drought, but a winter giant whose power is broken by the sun-god Indra, the rivers which are imprisoned by Vritra and set free by Indra are according to him not the torrents of rain but the rivers of North-West of India which dry up in winter and are refilled only when the sun causes the masses of snow of the Himalaya mountain to melt."

ये महाशय यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि वृत्र न तो कोई बादल राक्षस है और न कोई जलीय असुर है किन्तु यह शरद् ऋतु है जिसकी शक्ति को सूर्य देवता इन्द्र ने क्षीण कर दिया और नदियों को जो शरद् ऋतु में जम गयी थीं बरफ़ बन कर उनको पुनः इन्द्र सूर्य ने पिघलाकर प्रवाहित कर दिया है। हिले ब्रेण्ड के अनुसार भारत की उत्तर पश्चिम की नदियां जो कि शरद् ऋतु में जम जाती या सूख जाती हैं वे ही फिर सूर्य के द्वारा हिमालय में वर्फ के पिघल जाने से जल से पूर्ण हो बहने लगती हैं यही इन्द्र वृत्रासुर संग्राम है। आगे फिर इसी विषय में लिखते हैं और अपनी पूर्ण भ्रान्तता (Confusion) को प्रकट करते हैं :—

However that may be, it is certain that the Vedic singers themselves had no clear consciousness of the original meaning of Indra and Vritra as nature gods. For them Indra was a powerful champion, a giant of enormous strength, but Vritra the most dreaded of the demons which were believed to be embodied in the black aborigines of the land.

अर्थात् यह कुछ भी हो इतना निश्चय है इन मन्त्रों के रचयिता ऋषियों को भी इस बात का स्पष्ट ज्ञान न था कि वास्तव में ये इन्द्र व वृत्रासुर क्या बला है। यह प्रकृति के देवता हैं या अन्य कोई भारत के प्राचीन निवासी विकराल शरीरधारी दानव हैं इत्यादि।

इतने से यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि योरोपीय विद्वानों में वेदों के विषय में कितना भ्रम है। वैदिक साहित्य के संबंध में उनके मस्तिष्क की कितनी सन्दिग्ध अवस्था है? उनके लिये इस प्रकार भ्रम जाल में पड़ना स्वाभाविक ही था जबकि उन्होंने भारतीय अर्वाचीन भाष्यकारों का अन्धानुकरण कर अपने ग्रन्थ रचे। जो वस्तुतः स्वयं भ्रम में थे, जिन्होंने वेदों को पौराणिक गाथाओं के चश्मे लगाकर देखा था और विनियोग से विकृत एवं छिन्न भिन्न हुये अपने बुद्धि दर्पण में वेदों के रहस्य-रूप को आलोकित करने का असत् प्रयत्न किया था। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं परन्तु स्थानाभाव से अथवा स्थालीपुलाक न्याय से उक्त उदाहरण को ही पर्याप्त समझकर कि ऋषि के आगमन से पूर्व वेदों की क्या स्थिति थी और वे किस सन्देहगर्त्त में पड़े हुए थे अब यह दिग्दर्शन कराते हैं कि महर्षि दयानन्द जी महाराज ने उक्त प्रकार की ग्रन्थियों के गूढ रहस्यों को खोलकर वेदों को संसार के सामने प्रतिष्ठा के कितने ऊंचे सिंहासन पर प्रतिष्ठापित किया है इसको विद्वद्वृन्द विचारें :—

उक्त वृत्रासुर की समस्या की महर्षि किस सुन्दरता से पूर्त्ति करते हैं। इसका दिग्दर्शन पाठ महर्षि रचित ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में देखें स्थानाभाव से यहां नहीं दिया जा सका।

महर्षि दयानन्द सरस्वती को जिसने अपने दिव्य प्रतिभा के प्रभाव से फिर से वेदों का यथार्थ प्रकाश संसार के सामने रक्खा और आर्य जाति का मुख उज्ज्वल किया, वेद-भाष्य का सच्चा सरल मार्ग बताया, जिसे देखकर श्री अरविन्द जैसे प्रौढ़ विद्वान् ऋषि के लिये लिखते हैं :—

"If Vedic god-heads express the powers of a supreme Deity who is Creator, Ruler and Father of the Universe then there must inevitably be in the Vedas a large part of cosmology, the law of creation and of cosmos. Dayanand asserts the presence of such a

cosmic element, he finds in the Veda the secrets of Creation and the law of nature by which the omniscient governs the world.

अर्थात् वेदों के देवता परमात्मा की दिव्य शक्तियों का प्रदर्शन करते हैं जो कि इस संसार का कर्त्ता, सञ्चालक तथा पिता है तो यह अनिवार्यतया मानना पड़ेगा कि वेदों में सृष्टि विज्ञान वर्णन अवश्य है। महर्षि दयानन्द इस तत्व को वेदों में पाते हैं। वेदों में वे सृष्टि विज्ञान के नियमों का प्रतिपादन करते हैं, प्राकृतिक विधान या नियामक तत्वों का विवरण ऋषि ने वेदों में प्रदर्शित किया कि जिन नियमों के द्वारा यह संसार यन्त्र सञ्चलित हो रहा है। आगे और भी लिखते हैं:—

"In the matter of Vedic interpretation, I am convinced that whatever may be the final complete interpretation, Dayanand will be honoured as the first discoverer of the right clues. Amidst the chaos and obscurity of old ignorance and age long misunderstanding his was the eye of direct vision that pierced into the truth and fastened on that which was essential. He has found the keys of the doors that time has closed and rent asunder the seals of the imprisoned fountains".

वेद भाष्य के सम्बन्ध में, मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि अन्तिम निर्णय के सर्वाङ्गपूर्ण भाष्य चाहे कोई भी हो, परन्तु ऋषि दयानन्द का भाष्य सबसे प्रथम कोटि में प्रतिष्ठित होगा अर्थात् सर्वोत्तम समझा जायगा। वे भाष्य के रहस्यों को खोलने के लिये सर्वप्रथम ठीक चाबी समझी जायगी। प्राचीनकाल के अज्ञान अन्धकार में, तथा चिरकाल प्रचलित भ्रान्तियों के मध्य में ऋषि दयानन्द की दिव्यदृष्टि सीधी वेदार्थ निहित सत्यता के अन्दर प्रविष्ट हुई और वेदों के यथार्थ सत्यार्थ को आविष्कृत करने के लिये सच्ची चाबी ढूंढ निकाली और उस सत्यता को प्रकाशित किया जो चिरकाल से असत्य एवं भ्रमपूर्ण भाष्यों में बन्दी के समान पड़ी थी। इसी प्रकार प्रोफेसर मैक्समूलर अपने Biographical Essays में लिखते हैं:—

If any historical or geographical names occur in the Vedas, all are explained away because if taken in their natural sense, they would impart to the Vedas historical or tempered taint. To Swami Dayanand, everything contained in the Vedas was not only perfect truth, but he went one step further and by their interpretation, succeeded in persuading others that everything worth knowing even the most recent inventions of modern science were alluded to in the Vedas— steam-engine, electricity, telegraphy and wireless, marconogram were shown to have been known at least in the germs to the poets of the Vedas. अर्थात् ऋषि ने वेदों में आये हुए ऐतिहासिक तथा भौगोलिक नामों की व्याख्या (योगिक पद्धति से) की है—

क्योंकि वेदों में कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं है ऋषि दयानन्द जी की दृष्टि में जो कुछ भी वेदों में है वह न केवल पूर्ण सत्य है अपितु उससे एक पद आगे बढ़कर ऋषि कहते हैं कि वेदों में ज्ञान के योग्य हर एक वस्तु का वर्णन है यहां तक कि अति नवीन आधुनिक आविष्कारों का भी, (जैसे कि स्टीम एञ्जिन, बिजली, तार बिना तार के तार आदि) प्रतिपादन वेदों में किया गया है। और कम से कम मूल बीज रूप में तो अवश्य ही उक्त वस्तुओं का वर्णन वेदों में है।

यह सब ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य का ही प्रताप है कि जो वेदों के विषय में विद्वत्समाज की इतनी ऊंची सम्मति बनी है। आज प्राय: सभी वेदों के स्वाध्याय करने के पक्षपाती हैं। महर्षि को वेदोद्धारक के नाम से विभूषित किया जाय तो क्या अत्युक्ति होगी?

त्रैतवाद

[लेखक श्री पं० वीरेन्द्र जी विद्यावाचस्पति एम० ए०]

इस दृश्य संसार को अपने विभिन्न रूपों में देखकर मनुष्य के मन में स्वाभाविक रूप में प्रश्न उठता है कि इसका वास्तविक स्वरूप क्या है। इस संसार का और द्रष्टा मनुष्य का क्या सम्बन्ध है तथा सबका अन्तिम लक्ष्य क्या है। वह अपनी बुद्धि के अनुसार उसका समाधान कर लेता है अथवा परम्परा से प्राप्त विचारों द्वारा ही संतुष्टि कर लेता है। परन्तु उसका समाधान अथवा संतोष उसके जीवन को अप्रत्यक्ष रूप में चला रहा होता है। प्रत्येक मनुष्य का इस संसार के विषय में अपना कुछ न कुछ विचार अवश्य होता है। चाहे वह कितना ही अस्पष्ट और आवश्यक क्यों न हो और वह उसके जीवन का संचालन करता है। एक असम्भव जंगली मनुष्य के भूत प्रेतों के विचारों से लेकर सर्वेश्वरवाद तक के नाना विचार मानव जगत का नियन्त्रण कर रहे हैं। कोई इस संसार को भूत प्रेतों का क्रीड़ा स्थल समझकर उनको ही प्रसन्न करना अपना हित समझता है और उन भूत प्रेतादि व्याधिदेवों की कल्पना के अनुसार ही उनको बलि या भेंट देता है और कोई इस विश्व को ब्रह्म का प्रपंच समझकर माया के आवरण से निकलकर ब्रह्म बनने की धुन रखता है। हमारे छोटे से छोटे कार्य में हमारे विचार प्रभाव रखते हैं यद्यपि वे हमारी अन्तः प्रज्ञा के विषय हो सकते हैं और हमारी बाह्य प्रज्ञा में उनका स्पष्ट आभास न हो। हमारी अन्तः प्रज्ञा के द्वारा अथवा बाह्य प्रज्ञा के द्वारा कार्य करने वाले में विचार कभी न कभी चिन्तन के विषय अवश्य बने हैं। ऐसी अवस्था में जीवन के संचालक विचारों पर, जो कि संसार के तत्व निरूपण से सम्बद्ध हैं गम्भीरता से चिन्तन करना चाहिये ताकि मनुष्य पथभ्रष्ट न हो।

इस प्रकार का चिन्तन ही दर्शन शास्त्र का विषय है। अनेक प्रकार के विज्ञान भी अपने क्षेत्र में कुछ कल्पनाओं को स्वतः सिद्ध मानकर अपना विषय निरूपण करते हैं। भौतिक विज्ञान प्रकृति को मानकर चलते हैं और मनोविज्ञान मानसिक सत्ता को। प्रकृति और मानसिक सत्ता का स्वतः स्वरूप क्या है यह दर्शन शास्त्र का विषय है। सब विज्ञान अन्त में प्रकाश, दर्शन शास्त्र से प्राप्त करते हैं। इस लिये मुण्डक उपनिषद् ने 'ब्रह्म विद्या' को 'सर्व विद्या प्रतिष्ठा' और वात्सायन ने 'आन्वीक्षिकी' को 'सर्व विद्या प्रदीप' कहा है। ब्रह्मविद्या और आन्वीक्षिकी दर्शन शास्त्र ही हैं इस प्रकार हमारी जीवन यात्रा और विज्ञानों की पूर्णता के लिये दर्शन शास्त्र बहुत अपेक्षित है।

प्रारम्भ में दिये हुये प्रश्न का समाधान प्राचीनकाल से दार्शनिक लोग करते रहे हैं। उनके किये हुये समाधानों और विचारों को तीन दृष्टि विन्दुओं से विभक्त किया जा सकता है। पहला विभाग संख्यात्मक है अर्थात् इस संसार के अन्तिम तत्व कितने हैं। दार्शनिक बुद्धि का प्रारम्भ संश्लेषण शक्ति के आने से होता है। वह अनेकता में एकता देखने का प्रयास करती है। उसके लिये संसार की असम्बद्धता और विभिन्नता सम्बद्ध और अविभिन्न तत्वों को न समझना मात्र है। मेज, कुर्सी, चौकी और रेलगाड़ी का डिब्बा सब तो लकड़ी के विकार हैं। लकड़ी, लोहा और पत्थर अन्ततः पृथिवी के ही रूपान्तर हैं। इस प्रकार बुद्धि एक सूत्र को पकड़कर एक कारण की खोज निकालने का प्रयत्न करने लगती है। पहले वह अनेक विध पञ्चभूतादि श्रेणीं बनाती है। धीरे धीरे पञ्चभूत जड़ प्रकृति में समाविष्ट हो जाते हैं और विचार करने वाला शरीरान्तर्गत एक और चेतन तत्व ललित होता है। इस तरह संसार जड़ चेतन और विभागों में बंट जाता है। मनुष्य बहुत्व से द्वित्व की ओर आता है। यह संश्लेषण और समाहार की बुद्धि अपनी विजय में मस्त होकर जड़ और चेतन को भी एक में ही प्रविष्ट करने लगती है और अनेक आपत्तियों का ख्याल न करके संसार को एक ही तत्व से घटित सिद्ध कर देती है। इस तरह अपनी बुद्धि से जो संसार को बहुत से तत्वों में विभक्त करते हैं वे बहुत्ववादी हैं, जो दो में वे द्वित्ववादी और जो एक में वे एकत्ववादी।

यह संख्या की दृष्टि से किया हुआ विभाग अन्तिमतत्व के स्वभाव या गुण का विचार किये बिना नहीं हो सकता। संख्यात्मक विभाग के साथ ही यह दूसरा गुणात्मक विभाग बन जाता है। इस विभाग को हम प्रकृतिवाद, आध्यात्मिकवाद और उभयवाद में बांट सकते हैं। कई संसार की अन्तिम सत्ता प्रकृति रूप में, कई आत्म के रूप में और कई प्रकृति और आत्मा दोनों के रूप में देखते हैं। प्रकृतिवादी और अध्यात्मवादी संख्या की दृष्टि से बहुत्ववादी और एकत्ववादी भी हो सकता है। यदि अनन्त परमाणु और अनेक आत्मा अन्तिम तत्व हैं तो बहुत्ववाद और यदि एक अव्यक्त प्रकृति और एक ही निरपेक्ष आत्मा अन्तिम तत्व है तो एकत्ववाद।

तीसरे विभाग का दृष्टिविन्दु संसार का रचयिता है। इस दृष्टिविन्दु से दार्शनिक विचार निम्न भागों में विभक्त किये जा सकते हैं :— १-सर्वेश्वरवाद— अर्थात् संसार में एक ही तत्व ईश्वर है, जो कुछ दृश्य जगत् है वह ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं। ईश्वर ही संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इसी वाद को भारतीय दर्शन में अद्वैतवाद कहा जाता है अर्थात् संसार में दो तत्व नहीं अपितु एक ईश्वर ही तत्व है। संख्यात्मक एकत्ववाद प्रकृतिवादी भी हो सकता है और सर्वेश्वरवादी भी। २-ईश्वरवाद अर्थात् ईश्वर संसार का कर्ता और संचालक है, प्रकृति और जीव उसके आधीन अपने अपने क्षेत्र में काम करते हैं (३) प्रेरकेश्वरवाद-अर्थात् ईश्वर संसारातीत सर्वोच्चसत्ता है जो संसार बनाने के लिये प्रथम गति देती है। संसार का आरंभ हो चुकने पर अपनी सर्वोच्चता और बुद्धिमत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये फिर वह हस्तक्षेप नहीं करती। 'डीइज़्म' के नाम से प्रचलित यह वाद अधिक प्रचलित न हुआ। भारतीय दर्शनों में देखते हैं। (४) अनीश्वरवाद— इसके अन्तर्गत वे सब वाद आ जाते हैं जो या तो ईश्वर की सर्वथा निषेध करते हैं, उसे मानते नहीं या उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं देखते।

दर्शनशास्त्र की इन तीन दृष्टि बिन्दुओं से विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि संख्या की दृष्टि से बहुत्ववाद, गुण की दृष्टि से उभयवाद और रचियता की दृष्टि से ईश्वरवाद ही ठीक है। इन तीनों दृष्टि विन्दुओं के सम्मिलित परिणाम को ही 'त्रैतवाद' कहा जाता है। संसार के मूलतत्व प्रकृति, जीव और ईश्वर हैं— त्रैतवाद का यह संक्षिप्त अर्थ है। उभयवाद और द्वैतवाद से इस सिद्धान्त को बनाने में भ्रान्ति हो जाने की सम्भावना है। 'त्रैतवाद' विभाग गुण की दृष्टि से विशेष रूप में समझना चाहिये न कि संख्या की दृष्टि से। उपर्युक्त अर्थ में प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार स्वामी दयानन्द जी द्वारा सत्यार्थप्रकाश में प्रतिपादित दर्शन के लिये यह 'त्रैतवाद' शब्द रूढ़ हो चुका है।

'त्रैतवाद'—परिणाम पर पहुचने के लिये मनुष्य स्वभाव के सब पहलुओं का संतोष हो जाता है। यह वाद तर्क और बुद्धि को संतोष देता है; नैतिकता और क्रियात्मकता की दृष्टि से कल्याणकर है; और सुन्दर भी है। विचारग्राह्य होने के लिये यह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की कसौटी पर अच्छी तरह चढ़ता है। संक्षेप में आगे किये हुये प्रकृति, जीव और ईश्वर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा।

प्रकृति—संसार में बनी हुई वस्तुओं में कार्य कारण सम्बन्ध प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। जितने भी सावयव पदार्थ संयोग और विभाग द्वारा नाना रूप धारण करते हैं उन सबमें यह कार्य कारण श्रृङ्खला स्पष्ट प्रतीत होती है। किसी वस्तु के बनने से

ठीक पहले जो आवश्यक वस्तुयें अन्यथा सिद्ध न होकर उपस्थित होंगी, कारण कहलाती हैं और बनने वाली चीज कार्य। घड़े के बनाने के लिये आवश्यक सामग्री कुम्हार, मिट्टी और दण्ड, चाक तथा प्रयोजन आदि हैं जो घड़े के कारण कहे जाते हैं। कुम्हार बनाने वाला है, मिट्टी घड़े के रूप में उसके प्रयत्न से परिणत होती है और दण्ड चाक तथा जीविका संचालन आदि उसमें सहायक हैं। इन तीन प्रकार के कारणों का ही क्रमशः निमित, उपादान और साधारण कारण नाम है। कोई भी रचना इन तोन कारणों के बिना सम्भव नहीं है। इनमें से एक भी कारण न रहे तो कार्य निष्पन्न न होगा।

यह दृश्य जगत् भी इस कारण नियम का अपवाद नहीं बन सकता। इसका भी कोई निमित्तकारण, उपादानकारण और साधारण कारण होना चाहिये। दूसरे शब्दों में संसार का रचयिता, वह कारण जिसका परिणाम या विकार संसार है तथा अन्य आवश्यक सहायता देने वाले कारण जिनमें संसार रचना का प्रयोजन मुख्य हैं—नितान्त अपेक्षित हैं। विचार करने पर ईश्वर, प्रकृति और जीव के कर्म उपर्युक्त कारण रूप में प्राप्त होते हैं।

विचार की सुविधा के लिये उपादान कारण पर विचार किया जाता है। दार्शनिक जगत् में इसकी व्याख्या पञ्चभूतों से प्रारम्भ होती है। जगत् के अनेक पदार्थों का श्रेणी विभाजन करते हुये और उनका कारण अन्वेषण करते हुये हम पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पर पहुंचते हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पांच गुण जो क्रमशः नाक, जीभ, आंख, त्वचा और कान ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा गृहीत होते हैं अपने आधार द्रव्य की कल्पना कराते हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियां बाहर के पांचभूतों का प्रतिनिधि बनकर उनका ज्ञान प्राप्त करने में साधन बनती हैं। इन पञ्च भूतों के विषय में अवान्तर विचार भेदों के प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं।

इन पञ्च भूतों के विषय में भी एक और दृष्टि से विचार प्रारम्भ होता है। प्रत्येक सावयव पदार्थ अपने ही जैसे और सूक्ष्म अवयवों का संयोगमात्र है। सूक्ष्म अवयवों के मेल से स्थूल पदार्थ बनता दिखाई देता है। यह अवयवों की विभाग योजना, प्राप्त साधनों से बहुत दूर तक की जा सकती है और साधन के अभाव में भी सोची अवश्य जा सकती है। परन्तु विचार की भी सूक्ष्म सूक्ष्मतर कल्पना की समाप्ति अनवस्था दोष से बचने के लिये कहीं न कहीं पर अवश्य करनी पड़ेगी। यह समाप्ति जिस जगह होगी अर्थात् जिससे सूक्ष्म अवयव की और कल्पना नहीं की जा सकती वह अविभाज्य चरम अवयव परमाणु है। पांचों भूत अपने अपने गुणों को रखने वाले अनन्त परमाणुओं में विभाजित हो सकते हैं। इन्हीं परमाणुओं के संयोग के आरम्भ से संसार की रचना हुई यह 'परमाणुवाद' का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की विशेष व्याख्या वैशेषिक ने की है।

वर्तमान वैज्ञानिक भी परमाणुवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार इस प्रकार के ९२ मूलतत्वों के परमाणु हैं, जिनके परस्पर संयोग से और अनेक प्रकार का समास बनाने से यह विविध रचना देखने में आती है। १९ वीं शताब्दी तक इन परमाणुओं को भी उसी प्रकार अविभाज्य समझा जाता था जैसे पूर्वोक्त जलादि परमाणु को। जौन्सन ने अपने वैद्युत् संचार द्वारा परीक्षणों से यह सिद्ध किया कि छोटे से छोटे और हलके उद्रजन के परमाणुओं को दो हज़ार और छोटे अवयवों में विभक्त किया जा सकता है। प्रत्येक परमाणु का अपना आण्विक भार भी है जैसे उद्रजन का $\frac{.000,000,000,000,000,000,000,0264}{16}$ ग्राम है। इस तरह स्थान और भार की दृष्टि से परमाणु अविभाज्य न रहा। इन्हीं परीक्षणों से यह भी सिद्ध होगया कि ९२ मूलतत्व भी अन्ततः एक ही तत्व के रूप हैं। प्रत्येक परमाणु विद्युत्कण का पुञ्ज है जिसमें मात्रा (mass) और शक्ति (Energy) दोनों निहित हैं। इन दोनों गुणों से मुक्त प्रकृति ही अन्तिम तत्व सिद्ध होती है।

पञ्च भूतों के परमाणुओं के साथ भी वही स्थिति समझी जा सकती है। भले ही पृथ्वी के अन्तिम सूक्ष्मकण जो स्थूल पृथ्वी के सब गुणों को रखते हों पार्थिव परमाणु कहे जायें पर शुद्ध रूप में केवल गन्ध गुण को रखने वाला पृथ्वी का शुद्ध रूप उससे भी सूक्ष्म होगा। इस शुद्ध अवस्था का ही नाम 'तन्मात्र' है। गंधतन्मात्र, रस तन्मात्र, रूपतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र और शब्दतन्मात्र पञ्च भूतों के परमाणुओं से भी सूक्ष्म हुये जिनके पारस्परिक मेल से पञ्चभूतों के परमाणुओं की रचना हुई। पृथ्वी का संख्यात्मक विभाग पार्थिक परमाणु पर समाप्त हो सकता है पर गुणात्मक या शल्यात्मक विभाग उसी प्रकार आगे हो सकता है जिस प्रकार वर्तमान विज्ञान में परमाणु का शल्यात्मक विभाग हो गया। सांख्यशास्त्र ने इस मूलतत्व को पहचाना और परमाणुओं की शृङ्खला को एक अव्यक्त प्रकृति तत्व में समाप्त किया। सत्व, रज और तमगुण वाली अव्यक्त प्रकृति अपने समान गुणों वाली विकृति का परममूल है। वैज्ञानिक मात्रा, जिसका दृश्य रूप भार है, प्रकृति का तम अंश है, और वैज्ञानिक शक्ति प्रकृति का रज अंश है, दोनों का नियामक अंश सत्व है। वैज्ञानिक परमाणु में भी वैद्युतकण केन्द्र के चारों ओर उसी तरह नियमित गति कर रहे हैं जिस तरह सौरमण्डल में सूर्य के चारों ओर ग्रह उपग्रह। यह नियमन ही प्रकृति का सत्व अंश समझना चाहिये। सत्कार्यवाद के अनुसार अव्यक्त प्रकृति सुख-दुःख-मोहात्मक जगत् का मूलरूप हैं। सत्व, रज, तम उस स्वरूप को भी प्रदर्शित करते हैं। सांख्यदर्शन ने ५।८७ और ८८ में परमाणु को अनित्य और सावयव सिद्ध किया है। जिस की व्याख्या करते हुए विज्ञान भिक्षु ने अपने प्रवचन भाष्य में तन्मात्रों को ही पार्थिवादि अणुओं का अवयव माना है और इसे व्यास भाष्य से पुष्ट

समझा है।

इस प्रकार यह नाना विध जगत् अन्त में चलकर एक अव्यक्त प्रकृति का ही रूपान्तर सिद्ध होता है। सन्मूलाः सोम्येयाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' यह छान्दोग्य ने ठीक ही कहा है। स्वामी दयानन्द जी ने इसी दार्शनिक शृंखला का अनुसरण करते हुए सृष्टि का लक्षण प्रकृति से उत्पन्न तत्व परमाणुओं के संयोग से स्थूलाकार होना ही सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में लिखा है।

जीव— हम अपने ज्ञान का विश्लेषण करें तो उसके दो अंश स्पष्ट प्रतीत होते हैं १–ज्ञाता और २–ज्ञेय। ज्ञाता को हम 'स्व' और ज्ञेय को 'अल्प' कह सकते हैं। यह ज्ञेय और अल्प जो प्रकृति का विकार है अपने ज्ञाता के लिये चेतनायुक्त ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। अपने शरीर में भी हमें एक स्थूल दिखाई देने वाला जड़ भाग प्रतीत होता है जिसे स्थूल शरीर कहते हैं और दूसरा चेतन भाग प्रतीत होता है जो विचार और भावों का आधार है तथा स्थूल शरीर का चलाने वाला है। इस ज्ञाता और चेतन भाग को ही आत्मा कहा जाता है।

संसार की रचना बिना किसी प्रयोजन नहीं हो सकती। कुम्हार घड़े को किसी न किसी प्रयोजन से बनाता है चाहे वह प्रयोजन जीविका कमाना हो, पानी रखना हो, मनोविनोद करना हो या कुछ और हो। इसी तरह यह जगत् भी अवश्य सप्रयोजन है। दृश्य जगत् प्राणियों के उपयोगार्थ प्रतीत होता है। उनके उपयोग अथवा कार्य व्यापार के लिये इसकी जरूरत है। स्वयं जड़ जगत् अपना उपयोग नहीं कर सकता, चेतन ही उस का भोक्ता है। इस चेतन भोक्ता तत्व की कर्मव्यवस्था के **लिये ही यह** जगत् निर्मित हुआ है अन्यथा यह निष्प्रयोजन हो जाता है। यह सप्रयोजनता आत्मा को सिद्ध करती है। शरीर सम्बद्ध आत्मा ही जीव है, जो दृश्य, भोक्त और संघातात्मक जगत् का द्रष्टा, भोक्ता और उपयोक्ता है।

चेतनता शरीर का तो धर्म नहीं हो सकती क्योंकि मरण समय में वह जाती रहती है। जिसके होने या न होने पर शरीर चेतन या चेतनाशून्य होता है वह तत्वान्तर जीव है। इन्द्रिय में भी केवल साधन मात्र हैं, जिनका उपभोग करके कोई अन्य तत्व ज्ञान प्राप्त करता है। यदि इन्द्रिय चेतन होती तो वह पूर्व दृष्ट का स्मरण करती और नष्ट हो जाने पर इस कार्य को बनाये रखती। न केवल इतना ही प्रत्येक इन्द्रिय भिन्न भिन्न तरह का ज्ञान प्राप्त करती है उन सब ज्ञानों का पारस्परिक विनिमय वह स्वयं नहीं कर सकती। इसलिये इन सब इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान को सम्बद्ध करके उनको स्वेच्छा से उपभोग करने वाला एक पृथक् तत्व है जो जीव है। इसी प्रकार श्वास प्रश्वास की इच्छानुसार गति करना, निमेषोन्मेष का होना, मन का विषयों में लगना, सुख दुःख का अनुभव शरीर और इन्द्रियों से पृथक् एक तत्व की स्थापना करते हैं। मन भी केवल एक आन्तरिक साधन

है जो अनुभव प्राप्ति कराता है।

प्रकृतिवादी चार्वाक या वर्तमान बहुत से वैज्ञानिक चेतना को शरीर का ही धर्म सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। जैसे जौ, गुड़ आदि के विकार से मादकता गुण उत्पन्न हो जाता है ऐसे ही पृथ्वी आदि भूतों के एक विशेष प्रकार के मेल से चेतनता गुण उत्पन्न हो जाता है। यह चार्वाक का कथन है। वैज्ञानिक प्रकृतिवादी भी विकासवाद का अनुसरण करता हुआ रासायनिक प्रक्रिया का परिणाम जीवित कोष्ठ मानता है। यह जीवित कोष्ठ ही विकास के नियमों का अनुसरण करता हुआ मनुष्य का स्वरूप तक धारण कर लेता है और चेतना का पूर्ण विकास प्राप्त कर लेता है। मनुष्य के शरीर में दिमाग और मेरुदण्ड तथा उससे संलग्न स्नायु जाल चेतना को उसी प्रकार उत्पन्न करता है जैसे रासायनिक प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न गुण वाले दो पदार्थ समास बनाने पर अपने से सर्वथा भिन्न गुण को पैदा कर देते हैं या जिस प्रकार बैटरी का 'सेल' विद्युत को। परन्तु ये सब विचार तर्क की कसौटी पर प्रामाणिकता नहीं सिद्ध कर पाते। जौ और गुड़ से होने वाली मादकता स्वयं जौ और गुड़ को अनुभूत नहीं होती, ऐसा नहीं होता कि जौ और गुड़ नाचने लग जायें। वहां मादकता किसी चेतन तत्व को ही अनुभूत होती है। रासायनिक प्रक्रिया से चेतनता या जीवन को सिद्ध करना सर्वथा भ्रान्त है। जड़ प्राकृतिक पदार्थों के गुणों का कितना ही विकास हो वह चेतनता में परिणत नहीं हो सकता। चेतनता को प्रकाश और ताप की श्रेणी में रखकर सादृश्य के आधार पर उक्ति करना चेतनता को न समझना है। जिस प्रकार अनेक भौतिक विज्ञान प्राकृतिक नियमों का अनुसन्धान करके गणित के हिसाब से उनकी परी गणना व्यवस्था कर लेते हैं इस तरह क्या चेतना के विषय में हो सकता है? चेतना के क्षेत्र में काम करने वाले मनोविज्ञान आदि विज्ञान चेतना के विषय में कोई गणित की कल्पना नहीं कर सकते। विशेष मात्रा में उद्जन और ओषजन के मिलने से जल बन जायेगा और उसके निश्चित गुण आ जायेंगे यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है और सम्पूर्ण देश तथा काल के लिये कहा जा सकता है, सूर्य और पृथिवी की विशेष गति देखकर ग्रहणों के समय का ठीक से पहले निर्धारण किया जा सकता है पर इस प्रकार का निश्चय रूप में कथन सब प्राणियों का क्या एक प्राणी का भी कुछ स्वल्प समय के लिये भी नहीं कहा जा सकता। चेतना मनुष्य के जड़ जगत के नियम को सर्वथा तोड़ती सी प्रतीत होती है। वास्तव में चेतना जड़ का परिणाम ही नहीं। जीवित कोष्ठ का विकास भी केवल एक प्राणियों की शृंखला को खड़ा कर देता है पर एक से दूसरा कैसे विकसित हुआ इसको सर्वथा स्पष्ट नहीं करता। दिमाग का उदाहरण बैटरी के सेल या तार घर से देना भी अनुपयुक्त है। विद्युत का उपयोग सेल नहीं कर सकता, दिमाग भी अपने में उत्पन्न ज्ञान का उपयोग नहीं कर सकता और जिस प्रकार तार घर के तार को पढ़ने के लिये एक चेतन तार बाबू

की जरूरत है इसी तरह दिमाग के परिवर्तनों का निरीक्षण और मेरुदण्ड आदि का संचालन करने वाला भी एक चेतन तत्वान्तर चाहिये। यह चेतन तत्वान्तर ही जीव है जिसका साधन दिमाग आदि है। अनेक परीक्षणों से यह भी प्रदर्शित किया गया है कि दिमाग के बहुधा क्षत हो जाने पर भी चेतना अपना कार्य करती रहती है।

विचारों का शरीर पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। संकल्प शक्ति, प्रेम, क्रोध आदि का असर साफ नजर आता है। अनेक योगी अपनी संकल्प शक्ति के आधार पर बिना श्वास प्रश्वास के भी पर्याप्त समय तक शरीर धारण कर सकते हैं। इसके कुछ उदाहरण अब भी डाक्टरों के सामने उपस्थित होते रहते हैं। महात्मा गांधी के २१ दिन के उपवास में बिना भोजन के उनके जीवन के सुरक्षित रखने वाली उनकी संकल्प शक्ति या आत्म-शक्ति रही है ऐसा विशेषज्ञ डाक्टरों की सम्मति है। योग दर्शन में तो विभूति पाद में इन आत्मिक शक्तियों का अनेक प्रकार का निरूपण है। वर्तमान वैज्ञानिक अनुसन्धान में मनुष्य की असाधारण शक्तियां अनिष्टाशंका, परिमितज्ञान, बिना आंखों के देख लेना आदि कुछ विशेष व्यक्तियों में पाई गई हैं। बिना किसी प्राकृतिक शक्ति के अतिरिक्त शक्ति कल्पना के इनकी व्याख्या नहीं हो सकती। अन्तः प्रज्ञा और बहिः प्रज्ञा को उचित रूप में उपयोग करने वाली भी वही शक्ति है। यह शक्ति ही जीवात्मा है।

जीवात्मा प्रत्येक प्राणी में उनकी पृथकता के अनुसार अनेक हैं। सब अपने कार्य के अनुसार अलग अलग योनि और शरीरधारण कर रहे हैं और कार्य कर रहे हैं। यदि सब प्राणियों में एक ही आत्मा होता तो सबको एकता का अनुभव होना चाहिये था, दूसरे का अनुभव या स्मरण अपना अनुभव या स्मरण होना चाहिये था, दूसरे शब्दों में मनुष्य को सर्वज्ञ होना चाहिए था और विषमता न होनी चाहिए थी। प्रत्येक प्राणी का अपना जीवन अपना अनुभव और सुख दुःख पृथक् हैं इसलिए सब में जीवात्मा पृथक् ही है ऐसा ही मानना तर्क संगत है। कार्य कारण नियम के अपरिहार्य होने से इस जन्म में किये हुये कर्मों का फल जो यहां नहीं प्राप्त होता अवश्य मिलना चाहिये और जो कर्म इस जन्म में नहीं किये गये उनका फल भी मिल रहा है इसलिये उनके कारण कर्मों को पहले कभी वर्तमान होना चाहिए। परिणामतः पुनर्जन्म और पूर्वजन्म स्वीकृत करना होगा। इसी पूर्वकृत कार्य के अनुसार प्राणियों की विषमता भी है। इन भिन्न जन्म के शरीरों में एकता को स्थापित करने वाला एक आत्मा ही है जो अप्राकृतिक होने से निरवयव है और अतएव नित्य है। सर्वत्र व्यापक न होने से यह विभु नहीं है। प्रत्येक प्राणी के अन्दर अणु रूप में स्थित होकर अपनी शक्ति से सम्पूर्ण शरीर का संचालन करता है। सर्व व्यापक न होने से वह सीमित शक्ति आदि ज्ञान वाला है। अल्प और अल्पज्ञ है। संसार के बन्धनों को जिनमें वह अज्ञान के कारण अनादि कर्म वासना से पड़ा है अपने विवेक और शुद्ध कर्मों

से छिन्न भिन्न करके शुद्ध स्वरूप में जा सकता है। अपने शुद्ध स्वरूप में होने पर उसकी चेतनता और ज्ञान की सीमा बहुत विशाल हो सकती है पर फिर भी परिमित ही रहेगी। यह अवस्था मुक्ति की है। इस शुद्ध स्वरूप में अपने सहायक और आदर्श परमात्मा के साथ वह चिरकाल के लिये स्थित रहेगा पर फिर भी असीम होने से वह असीम काल तक इसका उपभोग नहीं कर सकता। जीव अल्पज्ञ है सर्वज्ञ बनने की क्षमता नहीं रखता, भले ही सर्वज्ञकल्प हो सकता है।

प्रकृति और आत्मा में बड़ा भेद चेतनता है। प्रकृति अत्यन्त शक्ति का स्रोत है पर वह स्रोत स्वतः हित अहित का चिन्तन नहीं कर सकता। जीव अल्प होते हुये भी इस अपनी चेतनता विशेषता से उसको अपने वश में लाने का प्रयत्न कर सकता है और कर रहा है। प्रकृति केवल सत है; जीव सत् और चित् दोनों है।

ईश्वर

यदि दृश्य जगत् का उपादान कारण प्रकृति है और साधारण कारण जीवों के कर्म (अदृष्ट) हैं तो उसका कोई निमित्त कारण भी होना चाहिए। जिस प्रकार की विशाल और सूक्ष्म प्रकृति हैं उससे अधिक महान् और सूक्ष्म निमित्त कारण होना चाहिए। निर्माता जिसको निर्मिन करके कोई पदार्थ बनाता है उससे अधिक शक्तिशाली होता है और सूक्ष्म होता है। हमारे शरीर का संचालक आत्मा शरीर से सूक्ष्म है परन्तु वह इस विशाल विश्व से निर्माण और संचालन की क्षमता नहीं रखता वह बहुत प्रयत्न करने पर भी प्रकृति के बहुत स्वल्प भाग पर अधिकार पा सका है और वह भी प्रकृति के स्थूल विकृत रूप पर। उसको तो अपने आयतन शरीर और इन्द्रियों के निर्माण के लिये भी किसी और की अपेक्षा है। उसका ज्ञान भी सीमा युक्त है। इसलिये कोई व्यापक सूक्ष्मतम शक्तिमान और सर्वज्ञ सत्ता होनी चाहिये जो प्रकृति से विश्व का निर्माण कर सके। यह सत्ता ही परमात्मा या ईश्वर है।

विश्व रचना की क्रमबद्धता, सुन्दरता और वैचित्र्य किसी अव्यक्त बुद्धि का निर्देश करते हैं। अगर किसी मामूली सी मनुष्य की रचना को भी स्वतः प्रसूत कह दिया जाय तो वह बिगड़ उठेगा और अश्रेय करने वाले को कार्य कारण की शृखला से अनभिज्ञ बतायेगा। ऐसी अवस्था में इस अनन्त प्रतीत होने वाले आकाश में इतने सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों का निर्माण और उनकी नियमित अव्याहत गति बिना किसी सर्वज्ञ की कल्पना के असम्भव है। एक सेकिण्ड में लाखों मील की गति करने वाले ये आकाश पिण्ड यदि जरा भी भूल जायें तो संसार का उच्छेद हो जाय। अगर हमारी रेलगाड़ियों के लिये 'कंट्रोलर' जरूरी है तो क्या इन आकाशपिण्डों के लिये महान 'कण्ट्रोलर' न चाहिये? हमारे शरीर की जटिल सोद्देश्य रचना क्या परमाणुओं

या जड़ प्रकृति का खेल कही जा सकती है? यदि परमाणु ये कार्य कर सकते हैं तो या तो उन्हें चेतन मानना पड़ेगा या किसी और के संचालन में स्थित। यदि देवनागरी की वर्णमाला द्वारा स्वयं उछलकर 'रामचरितमानस' बनाने की कल्पना नहीं की जा सकती तो परमाणु या प्रकृति भी स्वतः विश्व रचना नहीं कर सकते।

यह कल्पना करना कि बिना साधनों के परमात्मा इस कार्य को कैसे कर देगा कुछ महत्व नहीं रखता। साधनों की अधिकता कमजोरी और शक्तिहीनता का चिन्ह है। आंख के कमजोर होने पर ऐनक की जरूरत है। ऐनक के साथ भी दूरवीक्षण यंत्र की जरूरत आकाश पिण्डों को देखने के लिये है। परन्तु यदि आंख ही बहुत तेज हो तो इसकी जरूरत नहीं और यदि आत्मिक शक्ति ही दिव्य दृष्टिमय हो तो आंख की भी जरूरत नहीं। इसी तरह सर्व शक्तिमान् ईश्वर को जो अव्यक्त प्रकृति से सूक्ष्म है ब्रह्म साधनों की आवश्यकता नहीं।

भिन्न २ जीवों को भी उनके कर्मानुसार फल देने वाला कोई अन्तर्यामी होना चाहिए जिससे उचित व्यवस्था हो सके। यह केवल ईश्वर ही है जो न्यायकारी होकर उसकी उचित व्यवस्था करता है वह स्वयं अविद्या (अज्ञान) से शून्य है इसलिये बन्धन में नहीं पड़ता और सर्वदा मुक्त रहकर संसार के बन्धनों में पड़ने वाले या उससे मुक्त होने वाले जीव का साथी बना रहता है। उसको किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं, कमी नहीं और पूर्ण ज्ञान से युक्त है इसलिये दुःख रहित है और आनन्दमय है। जीवात्मा अपनी आनन्द की कमी उस सच्चिदानन्द परमात्मा से प्राप्त करने का प्रयत्न करता हुआ ही मुक्त होता है।

वह परमात्मा केवल परमाणुओं में गति देकर प्रेरक होकर अलग नहीं बैठ जाता अपितु संसार की स्थिति को बनाये रखने के लिये निरीक्षण करता है। यह क्यों मान लिया जाय कि प्रवृत्त संसार में उसकी आवश्यकता नहीं? जीवों की कार्य व्यवस्था के लिये यदि संसार है तो कर्म व्यवस्था के सारे समय में उस द्रष्टा की आवश्यकता है। यह ठीक है कि जो जितना पूर्ण रचयिता और नियन्ता होगा उतनी ही उसकी रचना और नियम पूर्ण होंगे और उसका हस्ताक्षेप कभी प्रतीत न होगा। उसके नियमों का पालन करने वाला भी उसी के नेतृत्व में चल रहा है भले ही वह उसकी सत्ता से इंकार करे। उसके नियमों का विधान दुःख का कारण है। वह हमारी अन्तरात्मा में स्वाभाविक शक्ति या प्रेरणा देता है कि हम पथभ्रष्ट न हों पर हम अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके उस अन्तरात्मा को दबा सकते हैं। सन्त लोग उस अन्तरात्मा के द्वारा उस महान् शक्ति से सम्पर्क जोड़ते हैं, अपनी अनुभूति की मनोवैज्ञानिक शक्ति को बढ़ाकर उसका साक्षात्कार करते हैं। पाश्चात्य सन्तों के इस तरह के अनेक लिखित प्रमाण हैं। भारतीय

पुराण भी इस प्रकार की गाथाओं से पूर्ण हैं और योगदर्शन तो उसके साक्षात् का मार्ग निर्धारण करता है।

बिना रचयिता के प्रकृतिवाद जड़ प्रकृति से संसार नहीं बना सकता। विकासवाद में भी विकास के क्रम की शृंखला चेतनापेक्ष है। आकस्मिकवाद अभाव से भाव की उत्पत्ति मानता है जो बुद्धिगम्य नहीं। स्वभाववाद भूतों के स्वभाव से संसार की रचना यदि सिद्ध करता है तो संसार का उच्छेद कभी नहीं होना चाहिये। क्योंकि स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता। यदि रचना और विनाश स्वभाव में सामयिक हैं तो निमित्त के बिना नहीं हो सकते। वह निमित्त ही रचयिता है।

सर्वेश्वरवाद का अद्वैतवाद केवल ईश्वर (ब्रह्म) की ही परमार्थ सत्ता स्वीकृत करके अनादि अविद्या (माया) के प्रभाव से 'वस्तु में अवस्तु के' आरोप द्वारा संसार और जीव की व्यवहारिक सत्ता सिद्ध करता है, प्रकृति और जीव को अलग नहीं मानता। परन्तु यदि अनादि अविद्या को स्वीकृत कर लिया तो द्वैत तो हो ही गया क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में अविद्या का सम्बन्ध बुद्धिगम्य नहीं। यह अविद्या ही ठीक रूप में प्रकृति समझनी चाहिये। आरोप करने वाला भी आरोप विषय और आरोप्य भाषा से अलग होना चाहिए। वह जीव हो सकता है स्वतः सर्वज्ञ ब्रह्म तो नहीं। और फिर वस्तु में वस्तु का आरोप होता है अवस्तु का नहीं। कोई सर्प नाम की यदि वस्तु न हो तो रज्जु में उसकी भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। इसलिये वेदान्ती के अपने कथन से ही उसे विश्व की सत्ता आरोप के लिये माननी पड़ेगी। निमित्त और उपादान कारण अलग ही रहते हैं, एक नहीं होते। इसलिये ईश्वर अभिन्न निमित्तोपादन दोनों नहीं हो सकता। वास्तव में अद्वैतवाद संसार को एक कारण में घटा देने की प्रवृत्ति का कलुषित अन्तिम रूप है जो उसमें पड़ने वाली बाधाओं की परवाह नहीं करता। एक से अनेक की रचना संभव नहीं इसलिये अनेक कारण मानना ही उचित है।

अतः सर्व व्यापक, सर्व शक्तिमान् , सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी और संसार नियामक परमेश्वर की सत्ता सिद्ध है जो प्रकृति से सृष्टि रचना करता है और जीवों को कर्म व्यवस्थानुसार चलाता है। वहां संसार का रचयिता, पालक और संहारकर्ता है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते. येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति तद्वि-जिज्ञायस्व तद् ब्रह्म' यह उपनिषद् ने ठीक ही कहा है।

चरमलक्ष्य और उपसंहार–

प्रकृति, जीव और ईश्वर तीनों सत्य हैं। यह उक्ति द्वारा स्थापित किया जा चुका है। तर्क और बुद्धि का संतोष इससे हो जाता है। अब देखना है कि त्रैतवाद शिव और सुन्दर है कि नहीं। त्रैतवाद के प्रमुख विरोधी रूप में प्रकृतिवाद और अद्वैतवाद (सर्वेश्वरवाद) हैं। ये दोनों मुक्ति द्वारा किस तरह अपनी स्थिति से विचलित हो जाते हैं

यह प्रदर्शित किया जा चुका है। नैतिकता, क्रियात्मकता और सुन्दरता की दृष्टि से इनकी विवेचना त्रैतवाद के इस स्वरूप को स्पष्ट कर देगी।

प्रकृतिवाद के अनुसार जड़ प्रकृति से अतिरिक्त और कोई ऊंची सत्ता नहीं जिसे आत्म कल्याण की आवश्यकता हो और जिसका पथ प्रदर्शन या नियमन कोई मंगलमय शक्ति करती हो। इसलिये उन्मुक्त भोगवाद या सुखवाद ही उसका ध्येय होगा। भारतीय दर्शनों में चार्वाक ने 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' कहकर इसको दिखलाया। जब यह शरीर पृथिव्यादि भूतों के स्वभाव का परिणाम है और शरीर के जल जाने के बाद कोई स्थायी आत्मा नहीं रहता तो क्यों न दुनिया में मजा मारा जाय। पुनर्जन्म में मिलने वाले दण्ड का तो कोई सवाल ही नहीं। भोग विलास ही इसका ध्येय है। पाश्चात्य दर्शनों में भी पूर्ण स्वार्थ सुखवाद इसी का रूपान्तर है।

प्रकृतिवादी के लिये आचार शास्त्र के नियमों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। यदि चोरी करने, हिंसा करने से मनुष्य को सुख मिल सकता है और वह इतना समर्थ है कि उसे किसी से दबने का डर नहीं तो वह अस्तेय और अहिंसा का क्यों आश्रय ले। शरीर तो जड़ प्रकृति है उसमें कोई जीव नाम का तत्व तो है नहीं जो पीड़ा प्राप्त करेगा। प्रकृतिवाद में आचार शास्त्र का कोई आधार हो सकता है तो लौकिक भय।

प्रकृतिवाद क्रियात्मक अवश्य है। अपनी सुख प्राप्ति के लिये मनुष्य को पूरा उद्यमी बनाता है और उसी का परिणाम आज कल की वैज्ञानिक उन्नति है। परन्तु किसी ऊंचे उद्देश्य के न होने से यही विनाश का बीज है जो वर्तमान महायुद्ध में स्पष्ट हो रहा है।

इसके विपरीत अद्वैतवाद संसार को मिथ्या बताता है और ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी चीज की सत्ता नहीं मानता। जब सब प्रपंच ही है तो कुछ करने की आवश्यकता नहीं। अकर्मण्यता का पूरा पाठ इसका परिणाम है जो भारतीय स्वभाव में ऐतिहासिक रूप में देखा जा सकता है।

प्रकृतिवाद और अद्वैतवाद दोनों हमारी सत्ता के उच्छेद पर जीते हैं। अपना नाश भला कौन चाहेगा। इस तरह दोनों असुन्दर हैं।

त्रैतवाद इन सब त्रुटियों को पूर्ण करता है। जीव मंगलमय भगवान् से सहायता की आशा रखता हुआ श्रद्धा और कर्म बुद्धि से अपने इस जीवन और परजीवन को सुधार सकता है। प्रकृति को मानने से वह कर्म करने से घबड़ाता नहीं पर ऊंचा ध्येय होने से विनाश से बच जाता है। आत्मा और परमात्मा की कल्पना से सर्वभूतात्मभाव के द्वारा आचार शास्त्र के सत्य, दया आदि गुणों को उपार्जित करना ध्येय समझना है। ईश्वर की सर्वत्र सत्ता से कर्म व्यवस्था के शुभ अशुभ फल की अपरिहार्यता समझता हुआ दुष्कर्मों से बचता है।

यह संक्षेप से त्रैतवाद का प्रतिपादन है। वैदिक धर्म के मूलभूत इस दर्शन का सत्य, शिव और सुन्दर रूप स्पष्ट हो जाता है। इसके अनुसरण में मानव जाति का हित है। 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतंगमय।

ज्ञान और योग

[लेखक—चौधरी मुख्त्यारसिंह जी भूतपूर्व एम० एल० ए० मेरठ]

पश्चिमी संसार इस बात पर बड़ा गर्व करता है कि उन्होंने संसार में प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण तथा प्रत्येक सिद्धान्त की जांच करने की विधियां निकालने और उन के लिए अनेक प्रकार के कठिन यंत्रों का आविष्कार करने में संसार के ज्ञान में बड़ी वृद्धि की है। एक पश्चिमी विद्वान् जहां उसे कोई नई वस्तु दीख पड़ती है या किसी नए सिद्धान्त का पता चलाता है तुरंत ही उसकी जांच प्रारम्भ कर देता है और इस जांच में न केवल अपनी साधारण इन्द्रियों तथा बुद्धि से काम लेता है अपितु अनेक सूक्ष्म यंत्रों तथा प्रयोगशाला में उपयोगी अनेक परीक्षणों के आधार पर उनका अन्वेषण करता है। यह ही कारण है कि वह आये दिन नए २ आविष्कार करके संसार को चकित करता रहता है। आर्य समाज यदि इस कार्यक्रम को समझती तो वह आज ऋषि दयानन्द के पीछे चलकर संसार की सेवा कर सकती और हम वेदों के महत्व और अपनी पुरानी संस्कृति को सुगमता से स्थापित कर सकते। परंतु हमारे साधारण सभासद् तो दूर रहे उपदेशक भी ज्ञान के अन्वेषण में अपना थोड़ा भी समय व्यतीत नहीं करते और आज तक झूठे अभिमान में ही गौरव समझते हैं। वस्तुतः जब हम स्वयं ही अविद्याग्रस्त हैं तो दूसरों की अविद्या कैसे दूर करें ? संसार तो उच्च ज्ञान, उच्च ध्येय की पूजा करता है जब से बना है तब से ही और आज तो इस पूजा का महात्म्य बढ़ता जा रहा है।

ज्ञान की प्राप्ति का साधन क्या है इस पर भी हमारे पूर्वजों ने बड़ी खोज की है। मुझे तो कभी २ ऐसा प्रतीत होता है कि हम वे लोग हैं जिनके घर जवाहरातों से भरे पड़े हैं परन्तु केवल इसलिए भूखे मरते और संसार में निर्धन विख्यात हैं कि हम इन जवाहरातों को पत्थर के टुकड़े समझते रहे हैं। जवाहरातों का उचित मूल्य परखने वाला जौहरी ही समझ सकता है अज्ञानी दुकानदार उसका लाभ कदापि नहीं उठा सकता। यही अवस्था हमारी है जो हम संसार में मूर्ख और निर्धन बन रहे हैं। आज हम एक ऐसे ही हीरे का वर्णन करना चाहते हैं और आशा करते हैं कि कोई आर्य विद्वान् इस हीरे की जांच करने का ढंग निकाले और संसार में हमारा मस्तिष्क ऊंचा करने का प्रयत्न करे।

संसार में ज्ञान प्राप्ति के जो साधन बताए गए हैं उनमें तीन प्रमाण हैं — प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश जिसमें श्रुति भी सम्मिलित है। यद्यपि संसार के विद्वानों ने इन प्रमाणों में किसी नए प्रमाण का आविष्कार नहीं किया है परंतु अनुमान को कैसे प्रत्यक्ष किया जाता है तथा किसी बात की खोज करने में प्रयोगशाला प्रत्यक्ष से कैसे काम लेती है, बड़ी उन्नति की है। प्रयोशाला के बहुत सूक्ष्म यंत्रों को बनाकर उनके

द्वारा इन्द्रिय प्रत्यक्ष की शक्ति को सैकड़ों गुणा बढ़ा दिया है। यह ही कारण है कि पाश्चात्य विद्वान् हमसे ज्ञान की प्राप्ति की दौड़ में आगे निकल गए हैं। हम अभी तक वेद की दुहाई देते नहीं थकते और भूल जाते हैं कि श्रुत ज्ञान जानना तो सम्भवतः पढ़ने मात्र से स्पष्ट हो जाय परंतु उसका अनुभव और ठीक ठीक समझना उस समय तक असम्भव बना रहता है जब तक हमारी बुद्धि और ज्ञान स्वयं ऊंचा न उठ गया हो। प्रत्यक्ष भी अपने ज्ञान के लिए बुद्धि की तीव्रता चाहता है। जो व्यक्ति वेदों को बुद्धि के साधन के बिना समझना चाहते हैं तथा अनुभूत ज्ञान को छोड़कर वेद मात्र का आश्रय लेना चाहते हैं वे गलत रास्ते पर हैं। किसी प्रबुद्ध आदमी के लिए प्रत्यक्ष तो बहुत कम ज्ञान की प्राप्ति कराता है इसमें कोई भी संदेह नहीं।

पश्चिमी विद्वानों ने प्रत्यक्ष तथा अनुमान का बड़ा सुन्दर सामञ्जस्य किया है अथवा यों कहो कि जो बात भी उन्हें सूझती अथवा कोई उन्हें बताता या उन्हें कोई भी उसका अनुमान होता है वे उसका सर्वदा प्रयोगशाला में प्रत्यक्ष करके देख लेना चाहते हैं और यह ठीक उनकी ज्ञान की पराकाष्ठा है। क्योंकि सूक्ष्म से सूक्ष्म यंत्र भी प्रकृति के सब भेदों को खोल नहीं सकता और हमें संसार की शक्तियों में से बहुत थोड़ी सी शक्तियों का ज्ञान है और वह भी अधूरा। इसका कारण हमारी सारी खोज तथा प्रयोगशाला के प्रत्यक्ष के होते हुए भी ज्ञान में त्रुटियां रह जाती हैं और अनेक सिद्धान्त जो आज से ५० वर्ष पूर्व ठीक प्रतीत होते थे आज विज्ञान वेत्ताओं को गलत प्रतीत होते हैं। जितने बारीक यंत्र बनते जाते हैं जितना संसार का ज्ञान हमारा बढ़ता जाता है उतनी ही अनेक बातें स्पष्ट होती जाती हैं परंतु पुराने तत्सम्बन्धी विचार टूटते जाते हैं। क्या इस नित्यप्रति बदलने वाले ज्ञान को ठीक २ समझने का कोई साधन संसार में नहीं है ? क्या संसार को अपना विश्वास समय २ पर बदलना ही होगा ? यह प्रश्न हैं जिनके पश्चिमी विद्वान हां में उत्तर देते हैं। वे समझते हैं हमारा ज्ञान जितना उन्नति करता जायेगा उतना ही हम वस्तु ज्ञान को अच्छा समझते जायेंगे। यद्यपि संसार की वस्तुओं में तो वे शक्तियां जैसे पहिले से काम करती हैं, करती रहेंगी। परंतु हमारे साधन जितने ठीक होंगे तथा उनमें जितनी गलती की सम्भावना कम होगी उतना ही हमारा ज्ञान अधिक सच्चा तथा ठीक होता चला जायगा। इसके यह अर्थ हुए कि संसार का ज्ञान संसार की तरह सर्वदा परिवर्तनशील बना रहेगा। यदि ऐसा है तो मनुष्य को सदा संशयात्मक बना रहना होगा और 'संशयात्मा विनश्यति' की कहावत चरितार्थ होती रहेगी।

सौभाग्य से हमारे पूर्वजों की खोज इसके विरुद्ध प्रतीत होती है। वे वेद, अनुमान और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त एक और साधन बताते हैं, जिसके द्वारा उनके अनुसार जो ज्ञान होगा उसमें किसी असत्य की सम्भावना हो ही नहीं सकती और

आश्चर्य की बात यह है कि इस प्रकार के सच्चे और अटल ज्ञान के लिए किसी प्रयोग-शाला की आवश्यकता भी नहीं। यह वह जवाहर है जिसे हमने पत्थर समझा है और यदि इसका मूल्य हमें ज्ञात होजाय तो हम स्वयं धनपति बन सकते हैं तथा संसार के विद्वानों को भी धनपति बना सकते हैं और विद्वानों को संशयात्मा होने से बचा सकते हैं।

योग दर्शन में ये सूत्र आते हैं। ये समाधिपाद के सूत्र ४८ और ४६ हैं।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४६ ॥

दोनों सूत्रों का अर्थ सीधा सादा है।

निर्विचार समाधि की सिद्धि पर, जो बुद्धि प्राप्त होती है उसमें कोई गलत ज्ञान नहीं होता और जो कुछ उस समय ज्ञान आ सकता है वह सच्चा और सच्चे के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता ॥ ४८ ॥ यह ज्ञान श्रुत ज्ञान (जिसमें न केवल वेद प्रत्युत सब ही प्राप्त ज्ञान सम्मिलित हैं) तथा अनुमानिक ज्ञान से मिलता जुलता अनोखे प्रकार का होता है ॥ ४६ ॥

उपरोक्त कथन में यह बताया गया है कि संसार के किसी भी ज्ञान को यथातथा न केवल जानने प्रत्युत अनुभव करने और उसके पूरे सत्य को समझने के लिए यह ही अद्भुत साधन है। उस साधन की प्राप्ति के लिए अधिक पढ़ने लिखने की आवश्यकता नहीं न किसी प्रयोगशाला में प्रयोग करने की आवश्यकता है। जैसे किसी उर्दू के कवि ने कहा है :— 'जब जरा गर्दन झुकाई देखली।'

सच्चा निर्भ्रान्ति ज्ञान सर्वदा आत्मा के अन्दर वर्तमान है केवल गर्दन झुका देखने की आवश्यकता है।

योग दर्शन केवल दर्शन ग्रन्थ नहीं जिसमें युक्ति और तर्क द्वारा किसी बात को समझाने का प्रयत्न किया गया हो परंतु योग दर्शन तो एक करने का कर्तव्यपरायण ग्रन्थ है जो सच्चाई के जानने समझने आदि सब बातों का मार्ग बताता है और सच्चाई तक पहुंचने के साधन की प्रत्येकविधि सुझाता है। यदि आज पश्चिमी विद्वानों को यह पता लग जाय कि सच्चाई को जानने या संसार की अद्भुत शक्तियों का पूरा २ तथा सच्चा सच्चा ज्ञान प्राप्त करने का एक साधन योग दर्शन में बताया गया है, तो कौन विद्वान इसका अवलम्बन न करेगा? आए दिन जो सिद्धान्त निकाले जाते हैं और उन्हें परिवर्तित करने की आवश्यकता होती है वह झंझट दूर हो सकती है। संसार के सारे ज्ञान का भेद, सब संसार की शक्तियों का रहस्य इन दोनों सूत्रों में दे दिया गया है और इस पाद के पहिले सूत्रों में उस ऋतम्भरा बुद्धि को प्राप्त करने के साधन भी दे दिये गए हैं। योग दर्शन एक अनुभव सिद्ध ग्रन्थ है जिन ऋषियों ने इसे लिखा है वह उनके अपने अनुभव का परिणाम है। जो साधन वहां तक पहुंचने के बताये गये हैं वे भी पूरे पूरे रूप से दिये गये हैं।

पश्चिमी वैज्ञानिक लोग इस साधन पर क्यों चलें और उसकी परीक्षा क्यों करें जब आर्य जाति के विद्वान् ही ऐसा करने के लिये तैयार न हों।

वास्तव में यदि संसार के ज्ञान के इतिहास को देखा जाय तो उसमें प्रायः सभी चमत्कारिक ज्ञान वे हैं जिनका आविष्कार न तो प्रयोगशाला में हुआ है और न अनुमान के द्वारा उनका ज्ञान हुआ है प्रत्युत ध्यानावस्थित हो विद्वानों ने सोचा है और उस समय उनको उन सत्य तथ्यों का आभास होकर वे बातें स्पष्ट हो गयी हैं। अनेक उदाहरण इस बात के वैज्ञानिक शास्त्र से दिये जा सकते हैं। मन की एकाग्रता वास्तव में सब ही ज्ञान की जड़ है इसमें तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। और प्रत्येक विद्वान् इस बात को मानने के लिये तैयार हो जायगा। परन्तु इस प्रकार के ज्ञान से भी उपरोक्त अवस्था ऊंचा दर्जा रखती है। उपरोक्त दोनों सूत्रों में बताई अवस्था में तो मन का भी एक अर्थ में अभाव हो जाता है। एकाग्रता भी इस कोटि की जिसमें कोई भी विचार न रहे। यदि हम इस प्रकार की अवस्था को ऐसा सुगम बना सकें कि उसे प्राप्त करने का साधन सुगम हो जाय तो आज संसार की अनेक समस्याओं का रहस्य सुगम हो जायेगा और ज्ञान में न केवल हम वृद्धि कर सकेंगे प्रत्युत संसार जिस ओर जा रहा है उसमें आने वाली अनेक त्रुटियों, कठिनाइयों, दुःख और कष्ट से भी हम संसार को बचा सकेंगे। क्या इससे कोई अधिक उपकार हो सकता है जो आर्य जाति सारे संसार को दे सकती है। आवश्यकता है कि हमारे विद्वान् उन साधनों को जो योग में दिये गये हैं सुगम बनाने और उनके रहस्यों को पहिले स्वयं जाने और फिर संसार को ऐसा अनुभव करायें। योग के तमाशे करने से अवश्य कुछ लोगों में अचम्भा सा होता है परन्तु उसके प्रति उत्साह, खोज के लिये कार्य करने का साहस पैदा नहीं होता।

योग के महत्व की रट तो हमने काफी दिन लगाई है परन्तु उस रहस्य को समझने का कभी प्रयत्न आर्य समाज के विद्वानों ने नहीं किया है। यदि योग दर्शन भी अन्य दर्शनों के समान तर्क के आधार पर बना होता तो हम उसकी खैंचा तानी करने का यत्न कर चुके होते परन्तु यह तो करने की विद्या है। आर्य समाज ने अभी कार्य के महत्व को नहीं समझा है। मैं चाहता हूं हमारे विद्वान् इस ओर ध्यान दें और इस ऋतम्भरा बुद्धि तक पहुँचने के साधनों को समझकर सुगम बनाने का प्रयत्न करें जिससे वे संसार को अपने पूर्वजों के रत्न को भेंट कर सकें।

योग को जितना कठिन बना दिया गया है वह उतना कठिन नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार संस्कृत को अपने रूप में समझने के लिये भगवान् दयानन्द ने अष्टाध्यायी को अपनाने पर बल दिया परन्तु हम आज भी गुरुकुलों में कौमुदी पढ़ाते हैं। इस प्रकार योग दर्शन पर ऋषि ने जो बल दिया है उसका हमें पूरा २ लाभ उठाना चाहिये और योग को योगदर्शन द्वारा सीखना चाहिये तभी हमारा कल्याण होगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और आर्यसमाज

(लेखक—श्री पं० रामनारायण जी मिश्र काशी)

आज देश में और देश के बाहर भी हिन्दी को जो उच्च स्थान प्राप्त हो सका है, उसके लिये अनवरत उद्योग करने और सदा प्रयत्नशील रहने वाली संस्थाओं में आर्यसमाज का भी एक विशेष स्थान है। हिन्दी ने भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं को पीछे छोड़कर और उर्दू तथा अंगरेजी के भीषण आक्रमणों का सामना करके राष्ट्रभाषा के पद को प्राप्त किया है; इसमें उसकी अपनी हृदयग्राहिणी विशेषताएं और उसकी साहित्य की उच्चकोटिता तो कारण है ही, साथ ही उन विशेषताओं और उत्कृष्टताओं को, गुण ग्राहकता के साथ स्वीकार करके हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद तक पहुँचाने में उसके उपासकों का भी कम हाथ नहीं है।

भारतवर्ष एक धर्म प्रधान देश है। इसलिये धर्म प्रवर्तकों ने अपने धर्मप्रचार के लिये जिस युग में जिस भाषा को अपनाया और जिस भाषा में अपने साहित्य का निर्माण किया उसी भाषा को प्रधानता मिलती रही है। धर्मप्रवर्तक प्रायः ऐसी भाषा को ही अपनाते थे जो अपने गुणों के कारण अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत क्षेत्र पर अपना अधिकार रखती थी; जिसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी आसानी से समझ और बोल सकता था, अर्थात् जो अधिक बोली और अधिक समझी जाती थी। बुद्ध भगवान् ने बौद्धधर्म के प्रसार के लिये पाली भाषा को अपनाया था और वह किसी समय राष्ट्र की साहित्यिक भाषा बन गई थी। महावीर स्वामी ने जैन धर्म के लिये अर्द्ध मागधी को अपनाकर उसको साहित्यिक विकास के मार्ग पर ला बिठाया था। वल्लभाचार्य आदि धार्मिक नेताओं के द्वारा अपनाई जाने पर ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई थी।

इसी प्रकार आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती ने लुप्तप्राय वैदिक धर्म को जाग्रत करने के लिये हिन्दी भाषा को अपनाकर उसकी उन्नति का मार्ग प्रस्तुत किया। आर्य समाज कोई नवीन धर्म नहीं है और न कहीं महर्षि दयानन्द ने कोई नया धर्म प्रचलित करने का दावा ही किया है। उन्होंने केवल सनातन वैदिक धर्म पर पड़े हुए पर्दे को हटाने का उद्योग किया है। उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना करके एक ऐसी संस्था की नींव डाली जिसने हिन्दी, हिन्दू धर्म, हिंदू जाति और हिंदुस्तान के पक्ष समर्थन, रक्षा और उन्नति के लिये कोई बात उठा नहीं रक्खी। महर्षि दयानन्द के कार्यक्षेत्र में आने का समय वह था जब हिन्दी की अवस्था अत्यन्त

दुर्बल हो रही थी और चारों ओर से उसपर कुठाराघात किए जा रहे थे। हिन्दी को अदालतों और सरकारी दफ्तरों से दूर रखने में मुसलमानों को सफलता मिल चुकी थी और वे इस प्रयत्न में लगे हुए थे कि हिन्दी को शिक्षाक्रम में भी स्थान न मिले, उसकी पढ़ाई का कोई प्रबन्ध सरकार की ओर से न होने पाए। सर सैयद अहमद जैसे प्रभावशाली मुसलमानों के, जो हिन्दी को एक 'गंवारी बोली' बताकर अंगरेज़ों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार चेष्टा कर रहे थे, प्रभाव में आकर भारत सरकार ने हिन्दी के विषय में एक सूचना निकाली थी जिसमें कहा गया था—

"ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिये आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी ज़बान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी, जिनकी संख्या देहली कालिज में बड़ी है, इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।"

हिन्दी का यह विरोध बराबर बढ़ता ही गया। यहां तक प्रयत्न किया गया था कि वर्नाक्युलर स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा जारी ही न होने पाए। फ्रांस के एक अध्यापक गार्सां-द-तासी ने भी, जो पेरिस में उन दिनों हिन्दुस्तानी और उर्दू के शिक्षक थे, हिन्दी विरोधियों की हां में हां मिलाना आरम्भ कर दिया था। सर सैयद अहमद, जो अंगरेजों से मेलजोल रखने की विद्या में बड़े निपुण थे, हिन्दी विरोध में बल लाने के लिये धार्मिक पक्षपात का उपाय भी काम में ला रहे थे और अंगरेजों को सुझा रहे थे कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है जो मूर्तिपूजक हैं और उर्दू मुसलमानों की, जिनके साथ मुसलमानों का धार्मिक संबन्ध है, दोनों 'सामी' या पैगंबरी मत के मानने वाले हैं। उसी समय तासी ने भी धार्मिक कट्टरपन की प्रेरणा से उर्दू का पक्ष समर्थन करते हुए कहा था—

"हिन्दी में हिंदू धर्म का आभास है वह हिन्दू धर्म जिसके मूल में मूर्तिपूजा और उसके आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इसलामी संस्कृति और आचार व्यवहार का संचय है। इसलाम भी सामी मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धांत है; इसलिये इसलामी सभ्यता में ईसाई या मसीही सभ्यता की विशेषताएं पाई जाती हैं।

इसी तासी ने संवत् १९२७ के अपने व्याख्यान में कहा था—

"मैं सर सैयद अहमद खां जैसे विख्यात मुसलमान विद्वान् की प्रशंसा में और अधिक कुछ नहीं कहना चाहता। उर्दू भाषा और मुसलमानों के साथ मेरा जो लगाव है वह कोई छिपी हुई बात नहीं है, मैं समझता हूं कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी किताब मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा को भी अस्वीकार नहीं करते। पर हिन्दू लोग मूर्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा नहीं मानते।"

इसी प्रकार के प्रचार से उस समय के योरोपीय विद्वानों और शासकों की बुद्धि को विषाक्त और प्रभावित किया जा रहा था। संवत् १९२५ में संयुक्त प्रांत के शिक्षा विभाग के

अध्यत्त हैवेल (M. S. Havell) साहब ने हिन्दी के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए कहा था—

"यह अधिक अच्छा होता यदि हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती, न कि एक ऐसी बोली में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अंत में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"

स्वामी दयानंद के कार्य क्षेत्र में आने का यही समय था। परम्परा से चली आती हुई देश की भाषा का विरोध और उर्दू का समर्थन करने के लिये उस समय अच्छे बुरे सभी उपायों का प्रयोग किया जा रहा था। इस हिन्दी उर्दू के गहरे झगड़े के समय, हिंदी का पक्ष समर्थन करने, हिन्दी को अपनाने और शिक्षा के आंदोलन के साथ ही साथ ईसाई मत का प्रचार रोकने के लिये तथा हिन्दुओं को गहरी नींद से जगाकर उन्हें अपना और अपने धर्म का सच्चा स्वरूप दिखलाने के लिये महर्षि दयानंद कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। पैगंबरी एकेश्वरवाद की ओर नव शिक्षित लोगों को खिंचते देख स्वामी दयानंद सरस्वती वैदिक एकेश्वरवाद को लेकर खड़े हुए। संवत् १९२० से उन्होंने अनेक नगरों में घूमघूमकर व्याख्यान देना आरंभ किया; वह तेजस्वी बाल ब्रह्मचारी जिधर जाता था उधर ही ज्ञान सूर्य के प्रकाश से जनता की आंखें खुल जाती थीं। विरोधियों के उत्साह भंग हो जाते थे। स्वामी जी स्वयं गुजराती थे, किंतु जब उन्होंने अपने ऐकांतिक जीवन को छोड़कर हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान की भलाई और रक्षा के लिये पैर बढ़ाया तथा नगर नगर घूमकर व्याख्यान देना आरम्भ किया उस समय उनके व्याख्यान और उपदेश हिंदी भाषा में ही होते थे।

सम्वत् १९३२ में स्वामी जी ने बम्बई नगर में सर्व प्रथम आर्यसमाज की स्थापना की। प्रत्येक आर्यसमाजी के लिये हिंदी का पढ़ना पढ़ाना आवश्यक कर दिया और आर्यसमाज के उप-नियमों में एक उपनियम भी इसी आशय का रख दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' आदि प्रायः सभी ग्रंथ हिंदी में लिखे। परिमार्जित हिंदी गद्य के आदि आचार्यों में स्वामी जी का एक विशेष स्थान है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र आदि हिंदी के युगप्रवर्त्तक साहित्यिक स्वामी जी के समकालीन ही थे। स्वामी जी की गद्य शैली और भारतेन्दु जी की गद्य शैली में बहुत कुछ समानता पाई जाती है। भेद केवल इतना ही है जितना एक धर्मप्रचारक की और एक साहित्यिक की भाषा में होना स्वाभाविक है। "युक्त प्रान्त के पश्चिमी ज़िलों और पञ्जाब में आर्यसमाज के प्रभाव से हिंदी गद्य का प्रचार बड़ी तेज़ी से हुआ", इस सत्य को पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे हिंदी साहित्य के इतिहासकार भी मानते हैं। 'आर्यसमाचार' और 'भारत सुदशा प्रवर्तक' नामक दो समाचार पत्र मेरठ और फरुखाबाद से स्वामी जी के जीवनकाल में ही निकलने लगे थे।

हिंदी को स्वामी दयानन्द सरस्वती के अपना लेने पर पहली बात यह हुई कि हिंदी के समर्थकों को बहुत बड़ा बल मिल गया। दूसरे जो शिक्षित जनता पैगम्बरी एकेश्वर वाद के फेर में पड़ने लगी थी और उसी झोंक में हिंदी को छोड़ उर्दू की हिमायत करने लगी थी उसके हृदय में

वैदिक एकेश्वरवाद के प्रकाश के साथ हिंदी के समर्थन का उत्साह भी भरने लगा। पथभ्रष्ट होती हुई हिन्दू जनता ने स्वामी जी के प्रकाश में अपने को, अपने धर्म को, अपने देश को और अपनी भाषा को पहचानना सीखा। तीसरी किंतु सबसे मुख्य बात यह हुई कि हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का भी श्रीगणेश होगया। स्वामी जी के सिद्धांत राष्ट्रीयता के बीजमन्त्र हैं। उनके सिद्धांतों को मानने वाले के लिये जिस प्रकार स्वतः ही राष्ट्रवादी हो जाना स्वाभाविक है, उसी प्रकार एकमात्र हिंदी को ही राष्ट्रभाषा स्वीकार करना भी उसके लिये स्वाभाविक हो जाता है। हिंदी ही राष्ट्रभाषा है, इस मंत्र को सबसे पहले देश के कान में फूंकने वाले स्वामी दयानंद सरस्वती ही थे। पञ्जाबी बोली में लिखित न होने से और मुसलमानों के बहुत अधिक सम्पर्क से पञ्जाब वालों की लिखने पढ़ने की भाषा उर्दू ही थी। बिरले पंजाबी ही हिंदी जानते थे। इसी कारण एक बार एक पंजाबी भक्त ने स्वामी जी से उनके समस्त ग्रंथों का उर्दू में अनुवाद करने की आज्ञा मांगी थी। स्वामी जी ने बड़े प्रेम से उस भक्त को उत्तर देते हुए कहा था—

"भाई, मेरी आंखें तो उस दिन को देखने के लिये तरस रही हैं जब काश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लग जायेंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्य भाषा का सीखना अपना कर्त्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिये हुआ करते हैं।"

यह कथन कहिए अथवा आशीर्वचन कहिए, आज जिस प्रकार सफल होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह अहिंदी प्रांत वासियों के द्वारा मुक्त कंठ से हिंदी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लेने से स्पष्ट है। हाल ही में माननीय श्री श्रीनिवास शास्त्री ने एक कालेज में भाषण देते हुए घोषित किया है कि

'मुझे इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि एक दिन हिंदी ही राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण करेगी"।

ऋषि दयानंद के हृदय में हिंदी भाषा के लिये अगाध प्रेम था। स्थान २ पर उनके पत्रों, लेखों और भाषणों से उसकी झलक मिलती है। स्वामी जी के समय में 'राष्ट्रभाषा' शब्द प्रचलित नहीं हुआ था। वे इसे आर्यभाषा कहते थे। उन दिनों देश में रेलों का जाल बहुत दूर तक नहीं फैला था। गांवों और नगरों में पैदल भ्रमण करने से उन्हें यह विदित हो गया था कि देश में यही प्रचलित और व्यापक भाषा है। सन् १८७४ में उनका हिंदी में पहला भाषण काशी में हुआ था। सन् १८७५ में राजा जयकृष्णदास जी के आग्रह से उन्होंने अपने सिद्धांतों को पुस्तक का रूप देने के लिये सत्यार्थप्रकाश लिखा जिसे पहले पहल उक्त राजा साहब ने ही प्रकाशित भी किया था। इस ग्रंथ की इस समय तक हिन्दी में चार पांच लाख प्रतियां बिक चुकी हैं। स्वामी जी के सहस्त्रों भक्तों और अनुयायियों के अतिरिक्त उनके विरोधियों ने भी इसको पढ़ने के लिये हिन्दी सीखी। इसके दूसरे संस्करण की भूमिका में स्वामी जी ने लिखा है—

"जिस समय मैंने यह ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया था उस समय और उस से पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण

मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान नहीं था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इस लिये इस ग्रंथ को भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया।"

धीरे-धीरे उन्होंने कई ग्रंथ हिंदी में लिखे; वेदभाष्य में हिंदी को स्थान दिया, और लोगों को हिंदी पढ़ने के लिये प्रेरित किया। उदाहरणार्थ जोधपुर नरेश महाराज जसवन्तसिंह जी को एक पत्र में उन्होंने लिखा था—

"महाराजकुमार के संस्कार सब वेदोक्त कराइयेगा। २५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रखके **प्रथम देवनागरी भाषा** और पुनः संस्कृत विद्या, इन दोनों को पढ़ें" इत्यादि।

महर्षि ने स्वयं हिंदी पढ़ी, उसी में व्याख्यान दिए, पुस्तकें लिखीं, पत्र लिखे, बालकों को **'प्रथम देवनागरी भाषा'** पढ़ने का उपदेश दिया, पर उतने ही से वे संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने ७ अक्टूबर १८७८ को दिल्ली से श्री श्यामजी कृष्णवर्मा को एक पत्र में लिखा था—

"अब की बार भी वेदभाष्य के लिफाफे पर देवनागरी नहीं लिखी गई इसलिए तुम बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणिजी से कहो कि अभी इसी पत्र के देखते ही देवनागरी जानने वाला एक मुंशी रख लें जिससे कि काम ठीक-ठीक से हो, नहीं तो वेदभाष्य के लिफाफों पर रजिस्टर के अनुसार ग्राहकों का पता किसी देवनागरी वाले से लिखवा लिया करें।"

ये वाक्य ६६ वर्ष पहले के हैं। यदि आर्य लोग इस उपदेश का पालन करते आते तो आज हमारे हिन्दी पत्र डाकखाने के मुर्दाघरों में न भेजे जाते। स्वामीजी ने गारक्षा सम्बन्धी मेमोरियल भेजने के सम्बन्ध में जो आदेश दिये थे उनमें एक वाक्य यह था—

"जिन जिन मनुष्यों की सही करायी जाये वह प्रायः देवनागरी के अक्षरों में होनी चाहिए और स्पष्ट अक्षर जिससे स्पष्टता से नाम बंच जावें।"

अब यह देखना चाहिए कि आर्यसमाज ने हिंदी के लिये क्या और कितने परिमाण में कार्य किया है। इसके लिये हमें न तो अधिक खोज करने की आवश्यकता ही है और न हमारे पास इतना स्थान ही है कि उसका विस्तृत विवरण दिया जा सके। यदि हम आर्यसमाज के संगठन, कार्यक्षेत्र और कार्यप्रणाली को समझ लें तो स्वयं ही पता चल जायगा कि आर्यसमाज के द्वारा हिंदी का कितना कार्य हुआ है।

आर्यसमाज के संगठन और कार्यक्षेत्र को हम सात भागों में बांट सकते हैं—

१. आर्यसमाज। २. प्रांतीय प्रतिनिधि सभाएं और सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा। ३. शिक्षा संस्थाएं। ४. आर्यकुमार सभाएं। ५. महिला संरक्षण संस्थाएं। ६. अनाथालय। ७. प्रचार कार्य।

आर्यसमाज—

इस समय भारतवर्ष में कोई प्रांत किसी प्रांत का कोई जिला या नगर ऐसा नहीं है जहां आर्यसमाज न हो या आर्यसमाज का संदेश न पहुँचा हो। भारतवर्ष में इस समय आर्यसमाजों की संख्या २५०० से भी अधिक है और आर्यसमाजियों की संख्या एक करोड़ के लगभग है। पुस्तकालय वाचनालय, व्याख्यान, साप्ताहिक सत्संग, वार्षिक उत्सव, रात्रि पाठशाला आदि किसी न किसी रूप में प्रत्येक आर्यसमाज हिंदी की कुछ न कुछ सेवा अवश्य करता है। अनेक आर्यसमाजों ने केवल हिंदी सिखाने के लिये ही पाठशालाएं खोल रक्खी हैं।

प्रांतीय और सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभायें—

सभी प्रांतों की अपनी अपनी आर्य प्रतिनिधि सभाएं हैं जिनके द्वारा अनेक पाठशालाओं, स्कूलों, कालेजों, गुरुकुलों और कन्या पाठशालाओं का संचालन हो रहा है। इनमें हिंदी की शिक्षा अनिवार्य है। प्रतिनिधि सभा के अपने कार्यालयों में तथा उसके अंतर्गत जितने कार्यालय हैं, सबमें हिंदी में ही सब कार्य होता है। पत्रव्यवहार, हिसाब किताब, अधिवेशन की कार्यवाहियां सब हिंदी में ही लिखी जाती हैं। प्रांतीय प्रतिनिधि सभाओं और सार्वदेशिक सभा की ओर से अनेक पत्र पत्रिकाएं हिंदी में निकल रही हैं।

शिक्षा संस्थाएं—

आर्य समाज के द्वारा जितना शिक्षा का प्रचार हुआ है उसको सभी स्वीकार करते हैं। शिक्षा भी कैसी? ठोस, थोथी या निस्सार नहीं। इस समय २५०० से भी अधिक शिक्षा संस्थायें आर्यसमाज या आर्यसमाजियों द्वारा संचालित हो रही हैं। इनमें—

बालक गुरुकुल और महाविद्यालय	३०
कन्या गुरुकुल और महाविद्यालय	१५
बालक स्कूल और पाठशालायें	१५०० (इनमें ३०० हरिजन स्कूल भी हैं)
कन्या स्कूल और कन्या पाठशालायें	१०००
और कालेज	१०

के लगभग हैं। इन सब में हिंदी की शिक्षा अनिवार्य है और शिक्षा का माध्यम प्रायः हिंदी ही है। इनमें अनेक विद्यालय और पाठशालाएं ऐसी भी हैं जो केवल हिंदी की शिक्षा का ही कार्य बरसों से निरंतर करती चली आती हैं।

आर्यकुमार सभायें—

इनके अतिरिक्त आर्यकुमार परिषद् के अंतर्गत इस समय लगभग १५० आर्यकुमार सभाएं कार्य कर रही हैं, जिनके अनेक बाल और युवा सदस्यों के द्वारा विद्यालयों और मुहल्लों में हिंदी की शिक्षा को प्रोत्साहन मिल रहा है। उक्त आर्यकुमार सभाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक आर्यकुमार सभाएं भी हैं जो परिषद् के अंतर्गत नहीं हैं और स्वतंत्र रूप से कार्य कर रही हैं।

अनेक आर्यसमाज, प्रांतिक प्रतिनिधि सभाएं, शिक्षा संस्थाएं और आर्यकुमार सभाएं समय समय पर हिंदी सम्मेलन का आयोजन भी करती रहती हैं।

महिला संरक्षण संस्थाएं—

इस समय देश में आर्यसमाज द्वारा संचालित महिला संरक्षण संस्थाएं १२ हैं। इनमें संरक्षित महिलाओं को यथासम्भव हिंदी लिखना पढ़ना अवश्य सिखा दिया जाता है।

अनाथालय—

आर्यसमाज के अपने ३४ अनाथालय भी हैं जिनमें अनाथ बालक बालिकाओं को आश्रय मिलता है। सैंकड़ों और हज़ारों की संख्या में बालक और बालिकाएं इन अनाथालयों में रह रही हैं। कहना नहीं होगा कि इन सब को हिंदी की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती है।

प्रचार कार्य—

आर्यसमाज का सब से बड़ा कार्य प्रचार कार्य है। यों तो आर्यसमाज का प्रत्येक सदस्य और बच्चा बच्चा आर्यसमाज का प्रचारक है; किंतु विशेष रूप से अनेक वैतनिक और अवैतनिक उपदेशक और प्रचारक देश के कोने कोने में घूमकर आर्यसमाज के सिद्धांतों का प्रचार कर रहे हैं। आर्य सिद्धांतों के प्रचार के साथ साथ हिंदी का प्रचार भी उनके कार्य का एक मुख्य अंग है। आसाम के नागों, बिहार के संथालों; मध्य प्रांत के गोंडों, मध्य भारत और राजस्थान के भीलों जैसी जंगली जातियों तक में आर्यसमाज के प्रचारक पहुँचे हैं और धर्मप्रचार के साथ साथ इन जातियों को हिंदी सिखाने का कार्य भी उन्होंने यथासंभव किया है। इन प्रचारकों ने मद्रास और सिंध जैसे अहिंदी देशों में जमकर हिंदी प्रचार का ठोस कार्य करके दिखाया है। इन देशों में हिंदी सीखने की ओर वहां के लोगों में पहले पहल आर्यसमाज के प्रचारकों ने ही उत्सुकता और चाव उत्पन्न किया था।

आर्यसमाज के उपदेशकों ने जहां भारत में और भारत से बाहर विदेशों में हिंदी भाषा द्वारा प्रचार का कार्य किया है वहां साथ साथ अनेक सिद्धांत ग्रंथों तथा कविता एवं भजनों का भी हिंदी में निर्माण किया है। आर्यसमाज और शिक्षा संस्थाओं के वार्षिकोत्सवों और नगर कीर्तनों के अवसर पर इन कविताओं और भजनों से जनता कितनी प्रभावित होती है इसे वे ही समझ सकते हैं जिन्होंने ऐसे अवसरों पर भजनों और गीतों की प्रत्येक पंक्ति के साथ उपस्थित जनता में आनन्द की लहर को उमडते हुए देखा है।

प्रचार कार्य का दूसरा साधन पत्रकों या छोटी छोटी पुस्तिकाओं (पैम्फ्लेटों या ट्रैक्टों) का वितरण है। गत ५०-६० वर्षों में आर्यसमाज के द्वारा करोड़ों की संख्या में हिंदी के अनेक पत्रक और पुस्तिकायें जनता में वितरित की जा चुकी हैं। उदाहरण के लिये पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय जी ने जो पुस्तिकाएं और पत्रक लिखे हैं उनकी अबतक २६ लाख से भी अधिक प्रतियां छप कर जनता के हाथों में पहुँच चुकी हैं।

प्रचार का तीसरा साधन समाचार पत्र और पत्रिकाएं हैं। आजकल आर्यसमाज की

ओर से भिन्न भिन्न देशों में हिंदी के अनेक दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र प्रकाशित हो रहे हैं। इनके द्वारा हिंदी जानने वालों की संख्या तो बढ़ती ही है, साथ ही समय समय पर हिंदी के पक्ष का बहुत ज़ोरदार समर्थन भी होता रहता है। इस विषय के अनेक विद्वत्तापूर्ण लेख इन पत्र पत्रिकाओं में निकलते रहते हैं।

आर्यसमाज के उक्त विशाल संगठन और विस्तृत कार्यक्षेत्र को देखकर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि हिंदी प्रचार कार्य में की हुई आर्यसमाज की सहायताओं और सेवाओं का परिमाण कितना अधिक है।

आर्यसमाज द्वारा किया हुआ हिंदी का प्रचार इस दृष्टि से भी विशेष महत्वपूर्ण और ठोस है कि वह शिक्षा संस्थाओं द्वारा विशेष रूप से हुआ है। बालक बालिकाओं के बचपन में प्राप्त किए हुए संस्कार ही किसी जाति की सुदृढ़ नींव होते हैं। अच्छी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित करने से भाषा और उसके साहित्य का गौरव अवश्य बढ़ता है किंतु किसी भाषा को पैरों के बल खड़ा करने और उसे राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने के लिये उस भाषा के लिखने-पढ़ने वालों की संख्या में वृद्धि करना अनिवार्य होता है। इसके बिना पुस्तक राशि और पत्र-पत्रिकायें, चाहे वे कितनी ही उच्च कोटि की क्यों न हों, सफल नहीं हो सकतीं और न अधिक दिन जीवित ही रह सकती हैं। ग्राहकों के अभाव में न पुस्तकें ही प्रकाशित होती हैं और न पत्र पत्रिकाएं ही निकाली जा सकती हैं। हिंदी समझने वाले व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होने के कारण ही आज देश में हिंदी के अनेक दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र पत्रिकाएं सफलतापूर्वक चल रही हैं। उक्त वृद्धि में आर्यसमाज का बहुत बड़ा हाथ रहा है, इस सत्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हिन्दी प्रचार और हिन्दी का पक्षपोषण स्वाभाविक रूप से आर्यसमाज के कार्य का एक आवश्यक अंग है और उसके लिये निरंतर प्रयत्न करते रहना उसने सदा अपना एक प्रधान कर्तव्य समझा है।

यह तो हुई आर्यसमाज के द्वारा की जाने वाली हिंदी विषयक सेवाओं की साधारण चर्चा। अब हिन्दी के लिये किए गए आर्यसमाज के कुछ विशेष उद्योगों और कार्यों की चर्चा भी यहां आवश्यक है।

आर्यसमाज का साहित्य—

इसके लिये सबसे पहले हमारी दृष्टि आर्यसमाज के अपने साहित्य पर जाती है। आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। उसके प्रायः सभी ग्रंथ हिंदी में ही लिखे गए हैं। सत्यार्थप्रकाश स्वामीजी का एक प्रधान ग्रंथ है और सरल शुद्ध हिन्दी गद्य का सुन्दर नमूना है। इसके अतिरिक्त उनके आर्याभिविनय, गोकरुणानिधि और व्यवहारभानु आदि अन्य ग्रंथ भी हिंदी भाषा में ही लिखे गए हैं। स्वामीजी ने अपने ग्रंथों की भाषा से इस सत्य को अच्छी तरह प्रकाशित करके आगे आने वाले लेखकों के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया है कि हिन्दी

स्वतः एक पूर्ण भाषा है; और किसी भी भाव को स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से प्रकट करने के लिये संस्कृतनिष्ठ हिंदी को परमुखापेक्षी होने की आवश्यकता कदापि नहीं है।

स्वामीजी के पश्चात् आर्यसमाज के साहित्य में सैंकड़ों हिंदी में लिखे गए उच्चकोटि के ग्रंथों की वृद्धि हुई। सन् १९२५ में आर्यसमाज ने मथुरा में स्वामीजी की अर्द्ध-शताब्दी मनाई थी, उस समय भी कुछ साहित्य, शताब्दी साहित्य के नाम से प्रकाशित किया गया था। वह भी सब हिंदी में ही था। लाखों और करोड़ों की संख्या में जो पत्रक और पुस्तिकाएं (पैंफलेट्स और ट्रैक्ट्स) अब तक आर्यसमाज की ओर से प्रकाशित करके जनता में वितरित किए गए हैं वे प्रायः सभी हिंदी में छपते रहे हैं।

पत्र पत्रिकाएं—

स्वामीजी के समय से लेकर अब तक समय समय पर निकलने वाले हिंदी समाचार पत्रों और पत्रिकाओं की संख्या भी कम नहीं है। इन वर्षों में आर्यसमाजों और आर्यसमाजी सज्जनों द्वारा जो हिंदी पत्र पत्रिकाएं निकलीं उनकी संख्या लगभग १०० हैं। इनमें से लगभग २४ पत्र पत्रिकायें इस समय भी चालू हैं।

इनके अतिरिक्त प्राय सभी डी.ए.वी. कालेजों से उनके अपने कालेज मैगेज़ीन मुखपत्र के रूप में निकलते हैं, जिनमें हिंदी का भाग अवश्य रहता है। इसी प्रकार कई आर्य स्कूलों के भी अपने मुखपत्र हिंदी में निकलते हैं, जिनमें अनेक शिक्षाप्रद और बालोपयोगी लेखों का संग्रह होता है।

पाठ्य पुस्तकों का हिन्दी में निर्माण—

सब विषयों की पाठ्य पुस्तकें हिंदी में सुलभ हो सकें, इसके लिये भी आर्यसमाजी विद्वानों ने थोड़ा प्रयत्न नहीं किया है।

आर्यसमाज की शिक्षा संस्थाओं में हिंदी की शिक्षा तो अनिवार्य रूप से दी ही जाती है और अब तक इन संस्थाओं के द्वारा करोड़ों व्यक्तियों ने हिंदी का ज्ञान प्राप्त किया है। साथ ही इन संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम भी प्रायः हिंदी भाषा ही है। इस दिशा में गुरुकुलों ने विशेष कार्य किया है। इन गुरुकुलों में हिंदी की उच्च शिक्षा का प्रबंध है। शिक्षा का माध्यम अनिवार्य रूप से हिंदी है। जिन गुरुकुलों में महाविद्यालय की शिक्षा दी जाती है उनमें महाविद्यालय श्रेणियों के विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, राजनीति आदि समस्त विषयों की शिक्षा हिंदी में ही होती है।

आर्यसमाज की इन शिक्षा संस्थाओं में हिंदी को शिक्षा का माध्यम बना देने का फल यह हुआ कि प्रायः सभी विषयों की पाठ्य पुस्तकें और उच्च कोटि के ग्रंथ हिंदी में तैयार होने लगे। आज इन महाविद्यालयों में राजनीति, अर्थशास्त्र, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, इतिहास, वनस्पति विद्या, विद्युद्विद्या, गणित आदि प्रायः सभी विषयों के उत्कृष्ट ग्रंथ हिंदी में देखने को मिलेंगे। इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त हुए छात्र अपने अपने विषयों की योग्यता में अन्य विद्यालयों के पढ़े हुए अपने

समकक्षियों से सब प्रकार उत्कृष्ट ही सिद्ध हुए हैं। इन गुरुकुलों में जाने का जिनको सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे जानते हैं कि यहां के निवासियों की बोलचाल की हिंदी कितनी परिष्कृत और सुन्दर होती है। हिंदी के हज़ारों पारिभाषिक शब्द यहां आम तौर से बोलचाल में काम आते हुए मिलेंगे। सच पूछिए तो इन संस्थाओं में ही सच्चे हिंदीमय वायुमंडल का अनुभव मनुष्य को होता है। ऐसे वायुमंडल में हिंदी माध्यम द्वारा शिक्षा प्राप्त किए हुए स्नातकों का हिंदी पक्षपाती होना स्वाभाविक है। ये स्नातक हिंदी जगत् में उच्च कोटि के लेखक और संपादक भी सिद्ध हुए हैं। वास्तविकता पर यदि दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि आर्यसमाज की ये संस्थायें हिंदी के उपासकों, श्रेष्ठ लेखकों और पत्र संपादकों को उत्पन्न करने के महत्वपूर्ण केन्द्र हैं। ये संस्थाएं उन स्रोतों का उद्गम हैं जिनके द्वारा हिंदी साहित्य का समूचा क्षेत्र सिंचित होता है और हिंदी की खेती आज उन्नति की वायु के झोंकों से लहलहाती हुई दिखाई देती है।

हिंदी में सब विषयों की पाठ्यपुस्तकों के निर्माण के लिये आर्य समाज की शिक्षा संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं को भी प्रेरित करने का उद्योग आर्यसमाजी विद्वानों ने किया है। हिंदी साहित्य सम्मेलन के १६ वें वृन्दावन अधिवेशन सं० १९८२ में श्री पं० वेदव्रत शास्त्री ने इस विषय की ओर सम्मेलन का ध्यान आकृष्ट किया था और पूरी योजना के साथ एक रचनात्मक कार्यक्रम सम्मेलन के सामने रखा था; जिसके फलस्वरूप सम्मेलन ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया था —

"यह सम्मेलन निश्चय करता है कि स्कूलों और कालेजों की छोटी श्रेणियों से लेकर बड़ी श्रेणियों तक के पाठ्यक्रम की योजना तैयार करने के लिये नीचे लिखे सज्जनों की एक उपसमिति बनाई जाय और वह योजना सम्मेलन की स्थायी समिति के सामने उपस्थित हो।"

१. श्री बाबू शालिग्राम जी वर्मा, एम.ए. , बी.एस.सी.
२. प्रो० रामाज्ञा द्विवेदी, एम ए.,एम.आर.ए.एस, कानपुर।
३. श्री ला० कृष्णजसराय जी, बी.ए., दिल्ली।
४. प्रो० धीरेन्द्र वर्मा, एम०ए०, प्रयाग।
५. श्री पं० वेदव्रत जी, दिल्ली, संयोजक।

माघ १९८५ वि० की सम्मेलन पत्रिका में भी उक्त शास्त्री जी का हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि के लिये एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसके द्वारा उन्होंने देश के विद्वानों के सन्मुख एक रचनात्मक योजना रक्खी थी और लेखकों को सब प्रकार की सहायता देने का भी उन्होंने आश्वासन दिया था, जिससे कई विद्वानों को उत्साह मिला था और कई पुस्तकों की रचना हुई थी।

हिन्दी के उत्कृष्ट साहित्य की श्रीवृद्धि—

इस सत्य को आज कौन अस्वीकार कर सकता है कि आर्यसमाजी विद्वानों के द्वारा हिंदी के उत्कृष्ट साहित्य की महत्वपूर्ण श्रीवृद्धि हुई है। अनेक आर्यसमाजी विद्वान अपनी उत्कृष्ट कृतियों

के लिये हिंदी जगत् में सर्वोच्च पुरस्कार और पदक प्राप्त कर चुके हैं। हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रतिवर्ष भिन्न भिन्न विषयों की सर्वोत्तम पुस्तक पर १२००) रु० का मंगलाप्रसाद पारितोषिक भेंट करता है। इस पारितोषिक को निम्नलिखित आर्य विद्वानों ने भी प्राप्त किया है—

लेखक का नाम		पुस्तक का नाम
१. श्री प्रो० सुधाकर जी, एम०ए०	....	मनोविज्ञान
२. पं० जयचंद्र जी विद्यालंकार	....	भारतीय इतिहास की रूपरेखा
३. स्व० पं० पद्मसिंह जी शर्मा	....	बिहारी सतसई की समालोचना
४. डा० सत्यकेतु जी विद्यालंकार	....	मौर्य साम्राज्य का इतिहास
५. पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय	...	आस्तिकवाद
६. श्रीमती चंद्रावती लखनपाल, एम.ए., बी.टी.		शिक्षामनोविज्ञान

श्रीमती चंद्रावती जी को 'स्त्रियों की स्थिति' पर सेकसरया पुरस्कार भी उक्त सम्मेलन की ओर से मिल चुका है; और राधामोहन गोकुलजी पुरस्कार पं० सत्यदेव जी विद्यालंकार को प्राप्त हो चुका है।

पं० राजाराम जी शास्त्री, पं० संतराम जी बी.ए., पं० भगवतदत्त जी, कविराज श्री जयगोपाल जी, महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनिजी, श्री वेदव्यास जी एम०ए०,एल·एल०बी, श्री चंद्रगुप्त जी विद्यालंकार, प्रो० रघुनंदन जी शास्त्री एम.ए. एम.ओ.एल, पंडिता कौशल्यादेवी, ला० मुंशीलाल एम०ए०, पं० भानुदत्तजी, म० सुदर्शन जी, श्री प्रकाशदेव जी और ला० देवीदयाल जी को हिंदी की उत्कृष्ट रचनाओं के लिये भिन्न भिन्न पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। पंजाब टेक्स्ट बुक कमेटी ने उक्त आर्य विद्वानों को, उनके उत्कृष्ट ग्रंथों के लिये पुरस्कार देकर विशेष रूप से सम्मानित किया है।

ये सभी विद्वान अपनी उत्कृष्ट कृतियों और हिंदी की सेवा के लिये हिंदी जगत् में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इनमें पं० राजाराम जी विगत ४० वर्षों से निरंतर हिंदी की सेवा कर रहे हैं। इनको अनेक ग्रंथों पर अनेक बार पुरस्कार मिला है। इन्होंने अब से ४०-४२ वर्ष पहले हिंदी का प्रधान मुद्रणालय 'बांबे मशीन प्रेस' के नाम से स्थापित किया था जो अब तक हिंदी के सहस्रों ग्रंथ छाप चुका है। पं० संतराम जी, बी०ए० को तो पंजाब का युगप्रवर्तक हिंदी महारथी ही कहना चाहिए। ये विशुद्ध साहित्यसेवी हैं। विगत अबोहर सम्मेलन की साहित्य परिषद् के ये प्रधान चुने गए थे। इन्होंने अब तक सैकड़ों लेख और ३०-४० उच्च कोटि के हिंदी ग्रंथ लिखे हैं। कई हिंदी पत्र पत्रिकाओं का संपादन किया है। 'बालक' पर इनको काशी-नागरी प्रचारिणी-सभा से एक स्वर्ण पदक भी प्राप्त हो चुका है।

इनके अतिरिक्त हिंदी साहित्य को अपनी उत्कृष्ट कृतियों से संवर्द्धित करने वाले सहस्रों अन्य आर्य विद्वान् भी हैं। इन विद्वानों में वैदिक साहित्य, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र,

---

टिप्पणी—हिन्दी लेखकों की पूरी सूची स्थानाभाव से छोड़नी पड़ी। सम्पादक

वनस्पतिशास्त्र, जंतुविद्या, विज्ञान, चिकित्सा, राजनीति, इतिहास, गणित, कहानी, उपन्यास, काव्य और नाटक आदि विषयों के मौलिक लेखक, अनुवादक, पत्र संपादक, भाष्यकार, टीकाकार, कोशकार और समालोचक आदि सभी तरह के विद्वान् सम्मिलित हैं। कोई कोई तो लेखक, संपादक, टीकाकार और प्रचारक सब एक साथ हैं। हिंदी के कुछ ऐसे भी कलाकार, कवि, गायक, नाट्यकार आदि के रूप में आर्यसमाज में विद्यमान हैं जिनकी कला में मानवीय हृदय को पकड़ने की अद्भुत शक्ति विद्यमान है किंतु उनकी प्रतिभा का क्रीड़ाक्षेत्र धार्मिक ही रहा है। श्री पं० अमीचंद शर्मा, ला० चुन्नीलाल खन्ना, ठाकुर जसवंतसिंह टोहाना निवासी और श्री ईश्वरचंद्र आर्य इसी प्रकार के संपन्न कलाकार हैं।

पुस्तक लेखकों के समान आर्यसमाजी प्रकाशकों ने भी हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि में बहुत भाग लिया है। सहस्रों हिंदी पुस्तकों का प्रकाशन कर इन प्रकाशकों ने हिंदी साहित्य की वृद्धि की है। इस समय १०० से भी अधिक आर्य प्रकाशक इस कार्य में लगे हुए हैं। इनमें गुरुकुल कांगड़ी वैदिक यंत्रालय अजमेर, वैदिक पुस्तकालय लाहौर, सरस्वती आश्रम लाहौर, विजय पुस्तक भंडार दिल्ली, हिंदी प्रेस प्रयाग, स्वाध्याय मंडल औंध, हिंदी मंदिर प्रयाग, आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड अजमेर आदि अनेक प्रकाशक हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन में निरंतर लगे हुए हैं।

हिन्दी का प्रचार—

यह ऊपर कहा जा चुका है कि महर्षि दयानन्द ने अपने विचारों के अनुसार वैदिक धर्म के प्रचार लिये हिंदी को अपनाया था। अपने अनेक व्याख्यानों, उपदेशों, पुस्तकों और लेखों द्वारा स्वामी जी ने हिंदी के प्रति अपने अगाध प्रेम का परिचय दिया है। इतना ही नहीं, उनके समय में, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, कचहरी आदि सरकारी कामों के लिये हिंदी उर्दू का झगड़ा चल रहा था। उर्दू के पक्षपाती बहुत कुछ अपने कार्य में सफल भी हो गए थे। ऐसे ही कठिन समय में स्वामीजी ने हिंदी का पक्ष समर्थन करने के लिये अपने समस्त अनुयायियों को प्रेरणा दी थी और आर्यसमाज को उसके कर्तव्य की स्मृति दिलाई थी। जिस समाज के प्रवर्तक के मन में हिंदी के प्रति इतना प्रेम हो वहां यह स्वाभाविक है कि वह समाज भी हिंदी प्रचार को अपने कार्य का एक प्रधान अंग मानकर उसके लिये पूरा प्रयत्न करे। दूसरे, स्वामीजी ने हिंदी को अपनाकर जिस दूरदर्शिता का परिचय दिया था उसे आजतक कोई गलत भी तो नहीं बता सका। आज यह सिद्ध हो चुका है कि हिंदी भाषा और नागरी लिपि ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने का अधिकार रखती है। समस्त प्रांतों से आज स्वामी जी के विचारों की ही प्रतिध्वनि सुनाई दे रही है। यही कारण है कि आज हिंदी प्रचार आर्यसमाज के लिये उतना ही महत्व रखता है जितना कि वेदप्रचार। बल्कि कई अंशों में उससे अधिक। इसलिये जहां कहीं आर्यसमाज के प्रचार कार्य की बात सुनाई देती है, समझ लेना चाहिये कि हिंदी का प्रचार भी अनिवार्य रूप से हो रहा है।

ऊपर हम आर्यसमाज के संगठन, शक्ति और साधनों की चर्चा कर चुके हैं जिससे आर्यसमाज द्वारा किए गए और प्रतिदिन होने वाले हिंदी प्रचार के परिमाण का अनुमान लगाया

जा सकता है। यह एक माना हुआ सत्य है कि जिस व्यक्ति ने आर्यसमाज के क्षेत्र में कुछ भी कार्य किया है उसने हिंदी की कुछ न कुछ सेवा अवश्य की है। किंतु हिंदी के प्रचार कार्य में जिन आर्य सज्जनों का विशेष हाथ रहा है उनकी संख्या भी कम नहीं है। उन सबका परिचय देने के लिये बहुत स्थान की आवश्यकता है, इसलिये यहां दो चार की चर्चा कर देना ही उचित प्रतीत होता है। इनको हम दो श्रेणियों में रखते हैं—एक तो विस्तृत कार्य क्षेत्र वाले ऊंची श्रेणी के सज्जन, जिन्होंने ऐसी संस्थाओं की नींव डाली जो हिन्दी साहित्य की वृद्धि और प्रचार के अनेक स्रोतों का उद्‌गम स्थान सिद्ध हुई, दूसरे साधारण श्रेणी के ऐसे आर्यसमाजी जिन्होंने हिंदी के प्रचार में अपना सारा जीवन लगा दिया।

प्रथम श्रेणी के आर्य सज्जनों में महर्षि के बाद पहला स्थान (समय क्रम से नहीं, कार्य की दृष्टि से) स्वामी श्रद्धानन्द जी का है।

स्वामी श्रद्धानंद जी का सन्यास से पहले का नाम महात्मा मुंशीराम था। इन्होंने ही सबसे पहले जातीय शिक्षा का केन्द्र गुरुकुल गुजरांवाला में सन् १६०१ में स्थापित किया था, जो अगले ही वर्ष १६०२ में हरिद्वार के पास कांगड़ी के जंगल में चला गया और अब एक विशाल विश्वविद्यालय के रूप में कनखल के पास गंगा की बड़ी नहर के बाएं किनारे पर लहलहाते हुए एक विस्तृत मैदान में अवस्थित है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह संस्था हिंदी के द्वारा हर प्रकार की उच्च शिक्षा प्रदान करने का सर्व प्रथम सफल प्रयास है। इस गुरुकुल और इसकी शाखा प्रशाखाओं ने हिन्दी की कितनी अमूल्य सेवा की है और कर रही हैं इसका दिग्दर्शन बहुत कुछ ऊपर कराया जा चुका है। वहां के प्रायः सभी स्नातक विभिन्न रूप से हिंदी की सेवा कर रहे हैं। स्वामी जी हिंदी के अनन्य भक्त थे। जिस समय इन्होंने अपने साप्ताहिक पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' को आर्थिक घाटा सहकर भी हिंदी में प्रकाशित करने का संकल्प किया था उस समय उन्हीं के शब्दों में "पंजाब में आर्यभाषा के बोलने का भी बहुत कम प्रचार था। फिर आर्यभाषा के लिखने वालों का तो अभाव सा था। देवनागरी अक्षरों के पहचानने वाले भी मुश्किल से मिलते थे।" और आज के पंजाब को देख लीजिए। अपनी अमूल्य हिंदी सेवाओं के कारण ही स्वामी जी भागलपुर में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति चुने गए थे। चिरस्मरणीय सन् १६१६ की अमृतसर कांग्रेस के स्वामी जी स्वागताध्यक्ष थे। उन्होंने अपना भाषण हिंदी में ही पढ़ा और हिंदी में ही छपवाया था। स्वामी जी ने हिंदी में कई उच्च कोटि की पुस्तकें लिखकर हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

महात्मा हंसराज का आधुनिक पंजाब के निर्माताओं में बहुत ऊंचा स्थान है। पंजाब में शिक्षा कार्य के ये अग्रदूत थे। पंजाब में शिक्षा का जो कार्य आज हो रहा है वह इनके ही त्याग और तपस्या का फल है। महात्माजी डी०ए०वी० कालेज लाहौर के जन्मदाता और सर्वप्रथम अवैतनिक प्रिंसिपल थे। सन् १८८६ ई० में कालेज के प्राथमिक रूप दयानंद ऐंग्लो वैदिक स्कूल की स्थापना हुई थी। महात्मा जी को हिंदी से अगाध प्रेम था। हिंदी पढ़ना वे धर्म का एक अंग

समझते थे। अपने जीवनकाल में इन्होंने डी०ए०वी० स्कूल में उर्दू को वैकल्पिक दूसरी भाषा के रूप में भी प्रविष्ट नहीं होने दिया। सरकारी विरोध के होते हुए भी इन्होंने अपने स्कूल में हिंदी को प्रथम भाषा नियत किया। महात्मा जी ने ही डी०ए०वी कालेज के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये; चाहे वह किसी भी कक्षा का हो, और कोई भी विषय पढ़ता हो, हिंदी सीखना अनिवार्य कर दिया था। पंजाब यूनिवर्सिटी में भी ये सदा हिंदी-हितों की रक्षा करते रहे। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के दफ्तरों का सब कार्य महात्मा जी ने हिन्दी में ही कराना आरम्भ किया। इससे पहले लोग यह अनुमान भी नहीं करते थे कि दफ्तरी काम भी हिन्दी में हो सकता है। इन्होंने सभा की ओर से एक हिन्दी साप्ताहिक 'आर्यजगत्' निकाला था। इनके अनन्य हिन्दी प्रेम और हिंदी की विशेष सेवाओं के कारण ही अबोहर में हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन का इनको सभापति चुना गया था।

ला० देवराज—ये कन्या महाविद्यालय, जालन्धर के जन्मदाता थे। वास्तव में स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज और ला० देवराज यह त्रिमूर्ति पंजाब की शिक्षागुरु हैं। पंजाब में हिन्दी प्रेम और हिन्दी पक्ष समर्थन का जो जाग्रत भाव आज दिखाई देता है उसका मूल श्रेय इसी त्रिमूर्ति को है। पंजाब की कन्याओं को सुशिक्षित बनाने में कन्या महाविद्यालय जालन्धर, हंसराज महिला महाविद्यालय लाहौर और पंजाब यूनिवर्सिटी की हिन्दीपरीक्षाओं का प्रधान हाथ रहा है। हज़ारों पंजाबी नौजवानों ने केवल अपनी नवविवाहिता स्त्री का पत्र पढ़ सकने और उसे पत्र लिख सकने के लिये ही हिन्दी सीखी है। कन्या महाविद्यालय, जालन्धर कन्याओं को हिन्दी के द्वारा उच्च शिक्षा देने की पंजाब में सर्वप्रथम संस्था है। यहां की पढ़ी हुई सभी कन्यायें हिन्दी की अजस्र सेवा में लगी रहती हैं, जिनमें अनेक तो हिन्दी की सफल लेखिका भी हैं। विवाह होने पर ये कन्यायें अपने पति और सन्तान की हिन्दी शिक्षक बनती हैं। ऐसे ही परिवारों से हिन्दी प्रकाशनों को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है और मिलता रहता है। लाला देवराज के प्रयत्न से हिन्दी के कई पत्र भी समय समय पर इस संस्था से निकले हैं। ला० जी स्वयं हिन्दी के प्रौढ़ लेखक थे। इन्होंने लगभग दो दर्जन पुस्तकें हिन्दी में लिखी हैं।

श्री ठाकुर गदाधरसिंह—मिर्जापुर के रहने वाले थे। इन्होंने संवत् १९४५ के लगभग मिर्जापुर में हिन्दी के एक पुस्तकालय की स्थापना की थी। इस पुस्तकालय का नाम ठाकुर साहब ने आर्य-भाषा पुस्तकालय रक्खा था। संवत् १९५३ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की प्रार्थना पर ठाकुर गदाधर सिंह ने यह पुस्तकालय कुछ शर्तों पर उक्त सभा को दे दिया। स्वयं भी सभा के सभासद हो गए और जब तक जीवित रहे पुस्तकालय को आर्थिक सहायता प्रतिमास देते रहे तथा पुस्तकालय उपसमिति के सदस्य बने रहे। मृत्यु के कुछ पहिले ठाकुर साहब ने अपनी समस्त सम्पत्ति भी सभा को पुस्तकालय के लिये अर्पण कर दी। सभा के हाथ में पुस्तकालय देते समय पुस्तकालय की उन्नति विषयक अनेक शर्तों के साथ एक यह शर्त भी ठाकुर साहब ने सभा से करा ली थी कि पुस्तकालय का नाम 'आर्यभाषा पुस्तकालय' ही सदा रहेगा। आज संसार भर में हिंदी का सबसे बड़ा पुस्तकालय होने का गौरव इस आर्यभाषा पुस्तकालय को ही प्राप्त है। विगत वर्षों में इस

पुस्तकालय की ग्रंथ राशि से करोड़ों व्यक्तियों ने लाभ उठाया है। हज़ारों पुस्तकों के लिखने में उनके विद्वान् लेखकों ने इस पुस्तकालय की पुस्तकों से सहायता ली है। खोज और शोध संबन्धी कार्यों से दिलचस्पी रखने वाले अनेक विद्वानों ने अपने अनुसंधान के कार्यों को इस पुस्तकालय की सहायता से आगे बढ़ाया है। हिंदी की यह अमूल्य सेवा इस पुस्तकालय के द्वारा आज भी निरंतर हो रही है।

आर्यभाषा पुस्तकालय की उन्नति का बहुत कुछ श्रेय पं० केदारनाथ पाठक को है। आरंभ (मिर्ज़ापुर) से लेकर सं० १९७१ तक पाठक जी इस पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष रहे। ये आर्यभाषा के अनन्य प्रेमी आर्यसमाजी थे। इन्होंने हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने में इस पुस्तकालय तथा अपने विस्तृत ज्ञान के द्वारा स्व० पं० रामचंद्र शुक्ल की पर्याप्त सहायता की थी। शुक्ल जी ने उक्त इतिहास की भूमिका में बड़ी आत्मीयता के साथ इसे स्वीकार किया है।

दूसरी श्रेणी के आर्य सज्जनों की संख्या बहुत अधिक है। इनका कार्य अपेक्षाकृत सीमित होते हुए भी बहुत ठोस है और उनके अदम्य उत्साह और लगन का परिचायक है। उदाहरण के लिये यहां केवल दो सज्जनों की ही चर्चा की जाती है। इनमें एक हैं श्री मास्टर शेरसिंह जी और दूसरे हैं श्री भक्त रेमल जी।

श्री **मास्टर शेरसिंह** जी मुरादाबाद ज़िले के अंतर्गत सुरजननगर ग्राम के निवासी हैं। इनका जन्म संवत् १९३० में एक कुलीन जमींदार घराने में हुआ था। आपके कुछ संबंधी हरद्वार के पास कनखल में रहते और ठेकेदारी आदि का कार्य करते थे। मास्टर साहब भी ठेकेदारी के उद्देश्य से रुपया कमाने की धुन में कनखल आगए। उस समय इनकी अवस्था १९-२० वर्ष की थी। इनके कनखल आने के एक दो वर्ष बाद ही सन् १९०२ में महात्मा मुंशीराम जी अपने गुरुकुल को गंगा के पार कांगड़ी के जंगल में, बिजनौर के मुंशी अमरसिंह जी के द्वारा प्रदत्त भूमि में, ले आए। वहां के लिये मार्ग कनखल होकर ही जाता है। कनखल से कांगड़ी जंगल के शीशमघाट तक सारा मार्ग गंगा के फाट में से ही है। जिन दिनों उपयुक्त भूमि की तलाश और आवश्यक निवासस्थानों के निर्माण के संबंध में महात्मा जी का बार बार आना जाना हो रहा था, इसी मार्ग में एक दिन मास्टर जी को उनकी विशाल भव्य मूर्ति के दर्शन हुए।। मार्ग में चलते चलते ही बातचीत हुई। इस कुछ मिनट की बातचीत ने ही मास्टर जी के सिर से ठेकेदारी और धन कमाने का भूत उतार दिया। अब वे आर्यसमाज की सेवा करने के लिये अपना उपयुक्त कार्य खोजने लगे। जिसने भूत उतारा था उसने कार्य भी बता दिया। हिंदी की सेवा। मास्टर साहब उर्दू जानते थे, हिंदी का अक्षर ज्ञान भी नहीं था। उन्होंने तुरन्त हिंदी सीखना आरंभ कर दिया। महात्मा मुंशीराम जी और गुरुकुल के प्रथम आचार्य पं० गंगादत्त जी गुरुकुल से आते जाते मार्ग में मास्टर जी के यहां भी कई बार विश्राम के लिये ठहरते थे। इस सत्संग से मास्टर साहब का हिंदी ज्ञान बढ़ता गया और हिंदी की सेवा के कार्य के लिये बल मिलता गया। आपने बहुत शीघ्र हिंदी सीख ली और आसपास के बालकों को इकट्ठा कर हिंदी सिखाना आरम्भ कर दिया। यह हिंदी सिखाने का कार्य ४० वर्ष हो गए, तब से

आज तक निरंतर चल रहा है। मास्टर साहब ने तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करके हजारों बालक बालिकाओं को हिंदी सिखाई और उनके हृदय में राष्ट्रभाषा का प्रेम उत्पन्न किया। आरम्भ के दिनों में ही इनको अपने किसी काम से गांव जाना पड़ा था। वहां आंखें दुखने लगीं। उपचार में भयंकर असावधानी हो जाने के कारण दोनों आंखों की ज्योति बंद होगई। लाहोर आदि के बड़े बड़े डाक्टरों को दिखाया, आपरेशन भी कराया किंतु कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। दृष्टि न रहने से सबसे बड़ा दुःख आपको यही था कि अब हिंदी की सेवा किस प्रकार कर सकूंगा। अन्त में इन्होंने इसी दशा में बालक बालिकाओं को तख्ते या ज़मीन पर पिसी हुई मिट्टी बिछाकर और उस पर अंगुली से अक्षर लिख लिखकर हिंदी सिखाना आरंभ कर दिया। प्रातःकाल ३ बजे उठकर और नित्यकर्म से निवृत्त होकर ६ बजे तक गायत्री और प्रणव का जाप, स्वस्तिवाचन, शांतिपाठ तथा ईश और कठोपनिषद् का जबानी पाठ करके दिन भर हिंदी सिखाने के कार्य में ही जुटे रहना उनकी दिनचर्या थी। आंखों का इलाज बिलकुल बंद कर दिया था। इनकी स्त्री को, जिनका नाम तो कृष्णकुमारी था किंतु बचपन में नथ पहनने के अधिक चाव के कारण जो नत्थांदेवी के नाम से अधिक प्रसिद्ध थीं, दो तीन वर्ष से गठिया हो चुकी थी। बैठी बैठी ही अपनी छोटी सी गृहस्थी चलाती थीं। उनको भी मास्टर साहब ने इन्हीं दिनों हिंदी का अक्षर ज्ञान कराया था। एक दिन मास्टर साहब अपने कमरे में बैठे अपने ३–४ वर्ष के एकमात्र पुत्र को पिसी हुई मिट्टी पर अंगुली से लिख लिखकर हिंदी का अक्षर ज्ञान करा रहे थे। मिट्टी पर लिखते २ मास्टर साहब सोचने लगे, हे परमात्मन् मैं आज इन हिंदी अक्षरों को जिन्हें मैंने बड़े चाव से सीखा था और अपने एकमात्र पुत्र के मुख को देखने में भी असमर्थ हूँ। हृदय में दुःख का वेग उमड़ पड़ा और दो बूंद आंसू आंखों में भर आए। कुछ क्षण बाद आंसू पोंछकर मास्टर साहब ने एक लंबी आह के साथ जब आंखें खोलीं तो एक महान् चमत्कार दिखाई दिया। आंखें खोलते ही उनको मालूम हुआ कि नेत्रों के सामने से एक पर्दा सा हट गया है और पुत्र की आकृति और हिंदी के अक्षर ही नहीं, पिसी हुई मिट्टी का एक एक कण उन्हें दिखाई देने लगा है। उस समय मास्टर साहब की प्रसन्नता का क्या ठिकाना था। वे आनंद विभोर होगए और जोर जोर से ओ३म् ओ३म् जपने लगे। इस प्रकार मास्टर साहब ने पुनः दृष्टि प्राप्त की और फिर शीघ्र ही कनखल आकर पूर्ववत् अपने कार्य में लग गए और आज तक निरंतर निर्बाध गति से उसी कार्य को कर रहे हैं। इस बीच में इन्होंने संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। अपने पुत्र के साथ ही संस्कृत पढ़ते थे और पाठशाला जाया करते थे। यह सन् १९१२–१३ की बात है। आरम्भ में कुछ दिन आपने डा० केशवदेव जी शास्त्री के साथ सद्धर्मप्रचारक प्रेस में भी कार्य किया था। प्रेस में कार्य करते हुए भी हिंदी सिखाने का कार्य निरन्तर जारी रहा। आचार्य पं० गंगादत्त जी, वेदतीर्थ पं० नरदेवजी शास्त्री, पं० भीमसेन जी शर्मा, पं० पद्मसिंह जी शर्मा, वैद्यराज पं० यागेश्वर जी और मुलतान के मेजर हिम्मतराम से, जो उन दिनों कनखल में तीर्थवास कर रहे थे, मास्टर साहब की बहुत घनिष्ठता थी। आज भी मास्टर साहब की यही धुन है कि इस जीवन में

जितने भी अधिक से अधिक बालक बालिकाओं को आर्यभाषा सिखा सकूं उतना ही अच्छा है। इस कार्य के लिये आज भी उनके हृदय में पहले जैसा ही उत्साह विद्यमान है और आंखें बिगड़ने की अवस्था में जो दिनचर्या थी आज भी अक्षुण्ण रूप से चल रही है।

भक्त रैमल का जन्म मुलतान नगर में हुआ था। पहले उन्होंने उर्दू पढ़ी थी। पीछे आर्यसमाज के संपर्क में आने से उन्होंने हिंदी संस्कृत का बहुत अच्छा अभ्यास किया। वे आर्यसमाज के डी०ए०वी० स्कूल लाहौर में हिंदी संस्कृत पढ़ाते रहे। वे हिंदी के, जिसे वे आर्यभाषा कहा करते थे, अनन्य भक्त थे। उन्होंने अपने पुत्र भक्त रामचंद्र को आरम्भ से ही हिंदी पढ़ाई थी। उर्दू बिलकुल सिखलाई ही नहीं। यह बात सन् १९०० के भी पहले की है। उन दिनों ऐसे ग्रेजुएटों का पंजाब में मिलना बहुत दुर्लभ था जो उर्दू बिलकुल न जानते हों। कारण यह कि एक तो बालकों को आरंभ में हिंदी पढ़ाने का पंजाब में किसी जगह प्रबन्ध न था, दूसरे लोग समझते थे कि बालक को यदि उर्दू न आती होगी तो वह अपनी रोटी न कमा सकेगा। ऐसे समय में अपने पुत्र को उर्दू न पढ़ाकर आरभ में हिंदी पढ़ाना एक बहुत बड़ा त्याग था। भक्तजी का हिंदी प्रचार का ढंग अपना अनोखा ही था। वे धार्मिक वृत्ति के मनुष्य थे। लोग उन्हें श्रद्धापूर्वक भोजन के लिये निमन्त्रण देते थे। परतु भक्तजी ने नियम बना रखा था कि जो स्त्री अपना नाम हिंदी में नहीं लिख सकती वह उसके हाथ का बना भोजन नहीं खाएंगे। इस प्रकार अनेक स्त्रियों ने उनको भोजन खिलाने के लिये ही हिंदी सीखी थी। भक्त जी की अपनी स्त्री भी पहले हिंदी नहीं जानती थीं। उन दिनों पंजाब में स्त्री शिक्षा का प्रचार ही न था। भक्त जी के उपर्युक्त व्रत लेते ही उनके हाथ का बना भोजन करना भी छोड़ दिया और जब तक श्रीमती जी ने भली भांति हिंदी लिखना-पढ़ना नहीं सीख लिया तब तक वे ढाबे में भोजन करते रहे। दूसरी स्त्रियों की अवस्था में तो वे उनके हिंदी में नाम लिखना सीख लेने से ही संतुष्ट हो जाते थे, परंतु अपनी स्त्री के लिये उनका आदेश था कि क्योंकि तुम उस पुरुष की स्त्री हो जिसने कि यह व्रत लिया है, इसलिये तुम्हारे लिये हिंदी का अच्छा ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

भक्त जी उर्दू में लिखे निमन्त्रणपत्र, चिट्ठियां या संवादपत्र बिलकुल नहीं पढ़ते थे। कोई उन्हें उर्दू में पत्र लिखे भी तो उसे वे बिना पढ़े ही रद्दी की टोकरी में फेंक देते थे। जालंधर में वे पं० गूजरमल इंजिनियर के मकान में रहते थे। गूजरमल जी ने किराए की रसीदें उर्दू में छपा रक्खी थीं। जब वे भक्त जी को किराए की रसीद देने आते तो भक्त जी सदा ही उन्हें 'आइए मौलवी गूजरमल जी' कहकर संबोधित करते और उन्हें अपनी रसीदें हिंदी में छपाने की प्रेरणा किया करते थे। इस प्रकार भक्तजी ने न मालूम कितने व्यक्तियों के हृदय में हिंदी के प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया था।

आर्यसमाज में इस तरह के हिन्दी प्रचारक बहुत हैं। यदि इनकी सूची तैयार की जाय तो संख्या लाखों तक पहुँचेगी। इनमें अनेक ऐसे हैं जो अपना रोजगार भी करते हैं और अवकाश का

समय हिंदी प्रचार में लगाते हैं। बहुत से तो जहां नौकरी या व्यापार करते हैं वहीं अपने साथियों में ही हिंदी सिखाने का काम आरम्भ कर देते हैं। रोहतक के श्री० मुन्शीराम ऐसे ही प्रचारकों में से एक थे। ये रोहतक में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में क्लर्क थे। फालतू समय में लोगों को हिन्दी पढ़ाया करते थे। इनके सिर पर हिन्दी के लिये एक प्रकार की धुन सवार थी। इनके प्रयत्न से बहुत से लोगों ने हिंदी सीखी थी। कई आर्यसमाजी सज्जन तो अपने साथ यात्रा में दर्जनों हिन्दी वर्णमाला की पुस्तकें रखते देखे गये हैं। ये सज्जन रेल के डिब्बों में अपने साथ के यात्रियों को हिन्दी का प्रेमी बनाते, उन्हें अपनी सन्तान को हिन्दी की शिक्षा देने के लिये प्रेरित करते और कम से कम हिन्दी की वर्णमाला तो उन्हें सिखा ही देते हैं। चलते समय वर्णमाला की एक पुस्तक भी उन्हें भेंट कर देते हैं। सरकारी न्यायालयों के आर्यसमाजी उच्च अधिकारी अपना अधिकतर काम हिन्दी में ही करते हैं। रायसाहब बा० मदन मोहन सेठ, एम. ए., जज, प० विष्णुलाल शर्मा, जज, और बा० मुरारीलाल जज, ऐसे ही हिन्दी प्रेमी हैं। ऊपर जिस प्रकार के प्रचारकों की चर्चा की गई है उन्हें अपना यशोगान कराने की इच्छा भी नहीं होती और न ये कहीं अपने कार्यों की घोषणा ही करते घूमते हैं। भले ही इतिहासकार इनका उल्लेख न करें, भले ही इनकी ओर जनता की अंगुली ससंभ्रम न उठे और गगनचुम्बी प्रासादों की नींव के पत्थरों के समान भले ही ये सदा दृष्टि से ओझल ही रहें किंतु इनकी हिन्दी सेवा किसी भी हिन्दी सेवी से कम नहीं है। सच पूछिये तो ये ही लोग हिंदी के राष्ट्रभाषा भवन की नींव के आधार हैं। इन्हीं की अज्ञात किन्तु ठोस सेवाओं के बल पर आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करने में सफलता मिल रही है।

देश में जितनी हिंदी सेवी संस्थायें हैं उनमें अधिकांश ऐसी हैं जिनके संचालन में आर्य-समाजियों का विशेष हाथ है। प्रत्येक प्रान्त में हिन्दी प्रचारिणी, नागरीप्रचारिणी या राष्ट्रभाषा प्रचारिणी संस्थाएं आजकल सैंकड़ों की संख्या में विद्यमान हैं। किसी में कोई विद्यालंकार काम कर रहे हैं तो किसी में कोई। दक्षिण हैदराबाद जैसे उर्दू के गढ़ में भी हिंदी का संगठित प्रचार कार्य करके आशातीत सफलता प्राप्त करना आर्यसमाज का ही कार्य था। मद्रास जैसे अहिंदी प्रांत में सब से पहिले स्वामी सत्यदेव जी ने ही श्री देवदास गांधी के साथ हिंदी का बिगुल बजाया था। उसके बाद वहां श्री देवेन्द्र सत्यार्थी और धर्मदेव विद्यावाचस्पति आदि अनेक हिन्दी-हितैषियों ने जमकर कार्य किया है और वहां के निवासियों में इतना हिन्दी प्रेम भर दिया है कि प्रतिवर्ष अनेक छात्र हिन्दी की विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिये बिहार और संयुक्त प्रांत में आते हैं।

देश में इस समय हिंदी सेवी संस्थाओं में दो संस्थायें प्रधान हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा और प्रयाग का हिंदी साहित्य सम्मेलन। नागरीप्रचारिणी सभा के आदि संस्थापक तीन हैं। इस संस्थापकत्रयी में एक आर्य समाजी है जिसे आरम्भ से लेकर अब तक इस सभा की निरन्तर सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त है। इसके अतिरिक्त डा० गदाधर सिंह, डा० छन्नूलाल और डा० केशवदेव शास्त्री आदि अनेक सज्जनों का सभा के संचालन और प्रबन्ध में प्रमुख भाग रहा है। हिन्दी साहित्य

सम्मेलन को भी सभा ने ही जन्म दिया था। इस सम्मेलन को हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् पं० रामजीलाल शर्मा और डा० बाबूराम सक्सेना के सुदीर्घ मन्त्रित्वकाल में जो शक्ति मिली है उसे आज कौन नहीं जानता। पं० पद्मसिंह शर्मा और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे आर्यनेताओं ने सम्मेलन के प्रधान पद को सुशोभित कर उसे उन्नति की ओर अग्रसर होने में अमूल्य सहायता प्रदान की है।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद तक पहुँचने के लिये आरम्भ से ही अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इन कठिनाइयों और विरोधों के समय में भी आर्यसमाज सदा हिन्दी का सबल समर्थन करता रहा है। आर्य समाज का आरम्भ जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, ऐसे ही समय में हुआ था जिस समय सरकारी कार्यों के लिये उर्दू के पक्ष का बड़े ज़ोर से समर्थन किया जा रहा था और निःसहाय हिंदी अपने पद से च्युत की जा रही थी। उस समय महर्षि दयानन्द ने आर्य-समाज को इस विषय में अपना कर्तव्य पालन करने का आदेश दिया था। इसके बाद जब जब इस प्रकार के अवसर आये आर्यसमाज ने या तो अकेले ही अथवा अन्य हिन्दी सेवी संस्थाओं के साथ मिलकर हिंदी का पक्ष समर्थन सबल रूप से किया है। सन् १९३१ की जनगणना के समय अधिकतर प्रान्तों में सरकार की ओर से यह निश्चय किया गया था कि हिंदी और उर्दू बोलने वालों की भाषा हिन्दुस्तानी लिखी जाय। इस पर आर्यसमाज की ओर से सरकार से निवेदन किया गया कि हिंदी बोलने वालों को अपनी भाषा हिंदी लिखने की आज्ञा दी जाय। संयुक्त-प्रांत, बिहार और मध्यप्रदेश ये तीनों हिंदी-भाषा-भाषी प्रांत हैं। इन प्रांतों में हिंदुस्तानी अङ्कित किये जाने के विरुद्ध घोर आंदोलन खड़ा हुआ था और इस आंदोलन का नेतृत्व आर्यसमाज ने किया था। फलतः हिंदुस्तानी लिखाये जाने की आज्ञाएं प्रांतीय सरकारों को वापिस लेनी पड़ी थीं और लोगों को अपनी भाषा लिखने की स्वतन्त्रता मिल गई थी। इस अवसर पर आर्यसमाज ने विज्ञप्ति सं० ७ निकालकर जनता को प्रेरणा की थी कि जो हिन्दी बोलते हों उन्हें हिन्दी ही अपनी मातृभाषा लिखानी चाहिये। अहिंदी प्रांत वासियों को भी अन्य भाषा के कोष्ठक में हिंदी लिखने की प्रबल प्रेरणा की गई थी। लिपि के लिये देवनागरी या हिंदी लिखाने का निर्देश किया गया था। इस प्रकार बड़ी सतर्कता के साथ आर्य-समाज आरम्भ से ही हिंदी हितों की रक्षा करता चला आता है और हिंदी पर आने वाले संकटों को दूर करने में वह सदा अग्रसर रहता है। हिंदी में लिखे पते वाले पत्र और मनीआर्डर आदि पंजाब के डाकघरों में नहीं लिये जाते थे। डा० लक्ष्मणस्वरूप ने प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वारा इसके विरुद्ध बड़ा भारी आंदोलन किया था, जो अन्त में सफल हुआ और सरकार को यह आदेश निकालना पड़ा कि प्रत्येक डाकघर में हिंदी जानने वाला कम से कम एक कर्मचारी अवश्य नियुक्त हो। कुछ वर्ष हुये सीमाप्रांत की सरकार द्वारा निकाले गये 'हिंदी-गुरुमुखी-घातक' सरक्यूलर के विरुद्ध प्रो० वसिष्ठ ने बड़ा भारी आंदोलन उठाया था और सरकार को उसे वापिस लेना पड़ा था। पिछले दिनों पंजाब में स्व० सर सिकन्दर की सरकार ने हिंदी के बहिष्कार का प्रयत्न किया था और उसके विरुद्ध जो प्रबल आंदोलन उठा था उसका नेतृत्व भी सिक्खों के साथ मिलकर आर्यसमाज ने ही किया था,

जिसके फलस्वरूप शिक्षा मंत्री की हिंदी विरोधी घोषणा के विरुद्ध प्रधान-मंत्री सर सिकंदर हयात खां ने हिंदी प्रेमियों को पहले के समान ही सब प्रबन्ध रहने देने का आश्वासन दिया था। हिंदी-हिंदुस्तानी के विवाद में भी आर्यसमाज के विद्वानों ने सदा संस्कृत निष्ठ हिंदी का ही पक्ष समर्थन किया है। पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति आदि आर्य विद्वानों के लेख इस विषय पर अर्जुन आदि समाचार पत्रों में समय समय पर प्रकाशित होते रहते हैं और बंबई में श्री द्वारकाप्रसाद जी सेवक भी अपने "राष्ट्र भाषा प्रवर्त्तक संघ" द्वारा यही कार्य कर रहे हैं। हिंदी पर आया कोई संकट या किया गया कोई प्रहार ऐसा नहीं है जिसके विरुद्ध अग्रसर होकर आर्यसमाज ने अविलंब आवाज़ न उठाई हो, उसके निवारण के लिये किए गए प्रयत्नों में सक्रिय भाग न लिया हो और इस दिशा में प्रयत्न करने वालों के साथ पूरा सहयोग न किया हो।

हमारा कर्तव्य—

हिंदी के दो रूप हैं। वह लाखों नर नारियों की मातृभाषा है और करोड़ों की राष्ट्रभाषा। अनेक उपनिवेशों में लोग हिंदी बोलते हैं और समझते हैं। मद्रास में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के सदुद्योग से मलायलम; कनाडी, तैलगु, और तामिल भाषा भाषी हिंदी बोलने लग गए हैं। मैंने वहां की महिलाओं को भी हिंदी के साहित्यिक नाटकों में अभिनय करते देखा है। विदेश यात्रा में जब कभी कोई भारतवासी, किसी प्रांत का भी हमें मिल जाता था तो वह अनायास ही हिंदी में बातचीत करने लगता था।

आप में से कुछ लोग समझते हैं कि हिंदी आपकी मातृभाषा है इसलिये आपका उसके प्रति कोई कर्तव्य नहीं है। आपका अत्यावश्यक कर्तव्य है साक्षरता प्रचार। चीन देश के श्री डा० स्वाय महोदय से, जो भ्रमण करने भारत आए थे, पूछने पर ज्ञात हुआ कि इन दिनों उनके देश में साक्षरता प्रचार पर बहुत जोर दिया जा रहा है। उन्होंने अपनी लिपि की विलक्षणता बतलाते हुए कहा था कि उसमें चित्र द्वारा संकेत होते हैं। 'आदमी दौड़ता है' इस वाक्य को लिखना हो तो आदमी का मुंह उसकी टांग आदि बना देंगे। देखिये वे राष्ट्र निर्माण के लिए कितनी बड़ी कठिनाई का सामना कर रहे हैं। इसके विपरीत हमारी लिपि कैसी सरल और कैसी वैज्ञानिक है। हम जो लिखते हैं, वही पढ़ते हैं और प्रायः सभी कठिन से कठिन ध्वनियों को देवनागरी अक्षरों द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। परंपरागत ऐसी लिपि पाकर भी यदि हम साक्षरता में पीछे रहें तो किसका दोष है। इस युग में किस राष्ट्र में कितने नर नारी पढ़े लिखे हैं, यही उस राष्ट्र की सभ्यता के विकास की कसौटी है। हिंदी के द्वारा निरक्षर छः सप्ताह में साक्षर बन सकता है। संसार की कोई लिपि ऐसा दावा नहीं कर सकती।

इस प्रकार हिंदी की सर्वांगीण उन्नति में आर्यसमाज का बहुत बड़ा हाथ रहा है और हिंदी की वर्तमान उन्नत दशा का बहुत बड़ा श्रेय आर्यसमाज को है। स्वामीजी के समय से लेकर अब तक के हिंदी की प्रगति के इतिहास का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट पता चलता है कि आर्यसमाज ने हिंदी के लिये बहुत कुछ किया है। महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती की हिंदी विषयक सदिच्छा आज पूर्ण हो रही है। भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हिंदी ही हो सकती है; इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया है। 'काश्मीर से कन्याकुमारी तक' महर्षि के ये शब्द व्यर्थ नहीं गए। हमें हर्ष है कि आज उनकी आशा फलवती होकर हिंदी सेवियों के आनंद का कारण बन रही है।

आर्यसमाज और संस्कृत प्रचार

(लेखक—राजगुरु पं० धुरेन्द्र शास्त्री जी)

———:※:———

वह युग धन्य था, जब भगवती भारतभूमि ऋषि-मुनियों की आवास स्थली बनी हुई थी। यहां का प्रत्येक निवासी "देव वाणी" संस्कृत में अपने भद्र भावों की भागीरथी प्रवाहित करता था! संस्कृत साहित्य की महत्ता के कारण भारतवर्ष, सारे संसार का शिरमौर बना हुआ था। गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, इतिहास, वेदान्त, दर्शन, पुराण, काव्य संगीत नाटक इत्यादि सभी विषय गुण गरिमा-सम्पन्न गौरवमयी गीर्वाणी के आश्रयीभूत हो रहे थे। परन्तु पीछे दैवं दुर्विपाक के कारण, विपरीत वायुमण्डल का प्रादुर्भाव हुआ और संस्कृत का प्रचार यत्र तत्र ही शेष रह गया। ऋषि दयानंद जी महाराज को इस दिशा में देश की ऐसी दुरवस्था देख कर घोर दुःख हुआ। फलतः उन्होंने स्वयं संस्कृत का प्रचुर पाण्डित्य प्राप्त किया और महामुनि विरजानंद जी के समक्ष वैदिक साहित्य को पुनः जीवित करने की प्रबल पवित्र प्रतिज्ञा की। बहुत दिनों तक तो महर्षि दयानंद जी महाराज संस्कृत के अतिरिक्त दूसरी भाषा ही न बोलते थे, यहां तक कि महर्षि का अनुकरण करते हुए उनके अनुचर वर्ग और याचक भी संस्कृत बोलने लगे। परंतु जब महर्षि ने देखा कि संस्कृत द्वारा सर्वसाधारण तक उनके भाव पहुँचने में कठिनाई होती है, तो उन्होंने आर्यभाषा का आश्रय लिया। परंतु संस्कृत के प्रचार की भद्रभावना को एक क्षण के लिए भी नहीं विसारा।

महर्षि दयानंद जी महाराज के प्रादुर्भाव-काल में परम समृद्धिशालिनी देववाणी बड़े ही दुरवस्था के दुर्दिन देख रही थी। उसकी ओर दृष्टिपात करने अथवा उसका नाम लेने में भी तत्कालीन 'सभ्य समाज' लज्जा अनुभव करता था। परम पावनी देववाणी को 'मृतभाषा' कहने में तो उस समय किसी को संकोच ही न था। संस्कृत साहित्य निराधार गपोड़-गाथाओं का अविवेक पूर्ण भोंडा भण्डार समझा जाता था। संस्कृत से लोगों को स्वाभाविक घृणा सी होगई थी। विवाहादि संस्कारों के समय पण्डितों के मंत्रोच्चारण को व्यर्थ का वागाडम्बर बना लोग उसे हास्यास्पद समझते थे। फिर न संस्कार कर्त्ता पण्डित लोग पठित थे और न श्रोता गण ही। ऐसी दशा में मन्त्रोच्चारण की विशुद्धता का तो प्रश्न ही क्या था? हां, काशी आदि नगरों में संस्कृत के प्रचण्ड पण्डित प्रस्तुत थे, परंतु इनकी शिष्य-मण्डली सीमित थी। वे वर्ग विशेष के कुछ इने गिने लोगों के अतिरिक्त अन्यों को संस्कृताध्ययन का अधिकारी ही नहीं समझते थे। अध्ययन शैली में भी नवीनता न थी। व्याकरण के सूत्र वृत्तियां, फक्किकाएं आदि ही रटते रटते विद्यार्थियों के जीवन समाप्त हो जाते थे। संस्कृत साहित्य के अध्ययन का अवसर ही न आता था। उस समय "अशुद्धं कथं वक्तव्यम्" की आंधी में ही प्रायः समस्त संस्कृतज्ञ समाज उड़ता दिखाई देता था। शास्त्रार्थों और वाद-विवादों के मुख्य विषय व्याकरण के जटिल सूत्र ही होते थे। महर्षि दयानंद जी महाराज को संस्कृत के इन विद्वानों के दर्शन कर परम

प्रसन्नता प्राप्त हुई। उन्होंने बड़े संतोष के साथ कहा कि धन्य हैं ये विद्वान् जिन्होंने देववाणी को अपने हृदयों में आश्रय देकर बड़े प्रयत्न पूर्वक उसे इस युग में भी जीवित रखा है। परंतु स्वामी जी महाराज अध्ययन सम्बन्धिनी संकीर्णता से संतुष्ट न थे। वे चाहते थे कि सारे देश में संस्कृत का प्रचार हो और इस भगवती भारती के मञ्जु कोष से सारा भारतवर्ष गूंज उठे। संस्कृत पढ़ने में किसी प्रकार का वर्ण भेद न हो, ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक, जो भी इस पुण्य सलिला भगवती भागीरथी के पुनीत प्रवाह में अवगाहन करना चाहे, बड़ी प्रसन्नता से करे। महर्षि ने बार २ घोषणा पूर्वक कहा कि वेद-शास्त्रों की कल्याणी वाणी किसी वर्ण या वर्ग विशेष के लिये न होकर मनुष्यमात्र के लिये है। अतएव उन्होंने संस्कृत प्रचार और साहित्य विस्तार की सीमा को बड़ी उदारता पूर्वक बहुत विस्तृत और व्यापक बना दिया।

महर्षि दयानन्द जी महाराज ने देखा कि उस समय प्रथम तो संस्कृत का अध्ययन ही न था और जो कुछ था, वह बहुत ही त्रुटिपूर्ण था। भ्रांत भावना बनाये रखने के लिये पण्डित लोग मंत्रों और श्लोकों के जो अनर्थ पूर्ण अर्थ कर देते थे, वही सर्व साधारण को मानने पड़ते थे। क्योंकि उनमें अर्थों के समझने समझाने की योग्यता ही न थी। शास्त्रग्रंथों के इस अर्थाभाव से धार्मिक जगत् पर जो अनर्थकारी प्रभाव पड़ा वह बड़ा ही दुःखदायी था अतएव महर्षि दयानंद जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश, संस्कार विधि, ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका और वेद भाष्य रचकर संस्कृत के गम्भीर और महत्वपूर्ण भावों को जनता के सामने रखा।। लोगों को समझाया कि किसी मन्त्र या श्लोक का यथार्थ भाव क्या है। वेद शास्त्रों की महत्ता और कल्याणकारिता सिद्ध करने में महर्षि ने सर्व प्रथम पग बढ़ाया। उन्होंने वैदिक संस्कृत साहित्य की मीमांसा ऐसे सुन्दर शब्दों में की कि सारा संसार उस पर मुग्ध होगया। ऋषिकृत ग्रंथों को पढ़ कर पाठकों ने समझा कि देववाणी का भव्य भण्डार कैसे कैसे समुज्वल एवं बहुमूल्य रत्नों से जगमगा रहा है। यही नहीं, महर्षि दयानंद जी महाराज ने वैदिक संस्कृत साहित्य की गूढ़ गुत्थियां सुलझाने के लिए एक अपूर्व विचार धारा का आविष्कार किया है। उन्होंने बताया कि जो ग्रंथ अयौक्तिक असम्भव और असम्बद्ध भावों से भरे हुए हैं, वे आर्ष कदापि नहीं हो सकते हैं क्योंकि वैदिकता का आधार विवेकशीलता और बुद्धिवाद है।

महर्षि दयानन्द जी महाराज की इस विचार धारा पर आर्य समाज के विचारक विद्वानों द्वारा अनेक ग्रंथ रचे गये। संस्कृत साहित्य की सम्यक् ऊहा पोहा हुई। वेदों और शास्त्रों के भाव आर्य भाषा में समझकर उनके प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ी और आज आर्यसमाज जहां हिंदी प्रचार में अग्रणी माना जाता है, वहां देववाणी विस्तार के लिये भी उसे पर्याप्त श्रेय प्राप्त है। महर्षि दयानंद जी महाराज ने वेद और शास्त्रों के जो वास्तविक बुद्धिगम्य अर्थ किये, उन्हें पढ़कर भारतवासी ही नहीं, विदेशी विद्वान् भी आश्चर्य चकित हो गये। मन्त्रों के वीभत्स अर्थों को पढ़कर जिन लोगों को वेदों से ग्लानि हो चली थी, महर्षि के परिष्कृत एवं विमल विचारों से उनके हृदय मंदिर पुनः श्रद्धा ज्योति से आलोकित हो उठे। सबसे पूर्व महर्षि दयानंद जी महाराज ने ही सिद्ध किया कि सब सत्य-विद्याओं का मूल स्रोत वेद हैं। धर्मग्रंथों के पवित्र प्रवाह में जो गंदगी आ गई थी, उसको दूर करने

कराने में महर्षि दयानंद जी महाराज का बहुत बड़ा हाथ रहा। उनके इस सदुद्योग का परिणाम यह हुआ कि संस्कृत की ओर लोगों की आस्था बढ़ी और उन्होंने उसका अध्ययन प्रारम्भ किया।

महर्षि स्वामी दयानंद जी महाराज ने अपने जीवन काल में ही संस्कृत की पाठशालाएं स्थापित कीं और अनेक विद्वान बनाए। वे शिक्षण-सम्बंध में पाणिनीय-पद्धति के अनुयायी थे। उनकी सम्मति में अष्टाध्यायी-महाभाष्य बिना पढ़े संस्कृत व्याकरण का पारंगत होना कठिन था। वे व्याकरण की रटन्त में सारा समय व्यतीत कर देने के समर्थक न थे। उन्होंने बताया कि व्याकरण तो भाषा सीखने का साधन मात्र है। उसके द्वारा संस्कृत साहित्य का अवगाहन करना मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। श्री स्वामी जी महाराज के पश्चात् भी आर्यसमाज ने जिन गुरुकुलों और विद्यालयो की स्थापना की, उनमें भी देववाणी और उसकी प्राचीन शिक्षण शैली को ही प्रधान स्थान दिया गया। आज आर्यसमाज द्वारा संचालित संस्कृत के सहस्रों विद्वान देश को प्राप्त हुए हैं। आर्यसमाज के अनुकरण में अन्य सम्प्रदायों द्वारा भी संस्कृत पाठशालायें खोली गईं। जो लोग संस्कृत की ओर से उदासीन होकर, हाथ पर हाथ धरे बैठे थे वे भी आर्यसमाज की गीर्वाणी सम्बन्धिनी प्रगति को देखकर शास्त्र ग्रंथों की खोज करने के लिये संस्कृत पढ़ने लगे। आर्यसमाज से टक्कर लेने के लिये ईसाई और मुसलमानों तक ने संस्कृत पढ़नी आरम्भ की, क्या इसका भी श्रेय आर्यसमाज को नहीं है?

महर्षि दयानंद जी महाराज के आदेशानुसार आर्यसमाज ने इस दिशा में सबसे बड़ा काम यह किया कि उसने संस्कृताध्यापन की सीमा वर्ण-बन्धनों से विमुक्त कर दी। आर्यसमाज में सभी वर्ण और वर्गों के संस्कृत विद्वान् विद्यमान हैं। अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों के वैदिक विद्वान् सम्भवतः आर्यसमाज के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिल सकते। पौराणिक मतानुसार जिन लोगों को वेदमंत्र सुनना भी अपराध समझा जाता है, आर्यसमाज में वे ही वेद व्याख्याता पद पर प्रतिष्ठित हैं। कदाचित ही कोई ऐसा आर्यसमाजी हो जिसे दस, बीस, पचास वेद मंत्र कण्ठ न हों। आर्यसमाज के संस्कृत प्रचार का प्रभाव उर्दू, हिंदी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं पर भी पड़ा। संस्कृत के अनेक कठिन शब्द इन भाषाओं में हिल-मिल कर नित्य प्रति की वस्तु बन गये। आर्यसमाज द्वारा जो समाचार पत्र उर्दू में निकाले जाते हैं, उनकी लिपि भले ही भिन्न हो, परन्तु भाषा संस्कृत मिश्रित ही है। यही नहीं, आर्यसमाज के विद्वानों ने अंग्रेज़ी आदि के पारिभाषिक शब्दों को संस्कृत भाषा का रूप देने में बहुत सफलता प्राप्त की है। जिन गुरुकुलों में विज्ञान पढ़ाया जाता है उनमें उसकी शिक्षा का माध्यम् संस्कृत पारिभाषिक शब्द बहुल आर्यभाषा ही है। इन पारिभाषिक शब्दों को आर्यसमाज से बाहर भी अपनाया जा रहा है। अभिप्राय यह है कि आर्यसमाज ने संस्कृत के सिर से "मृतभाषा" होने का दोष दूर कर उसे जीती-जागती भाषा का रूप दे दिया है और वैदिक वाङ्मय तथा संस्कृत साहित्य की वास्तविक महत्ता दिखाकर उसके प्रति लोगों में श्रद्धा उत्पन्न की। वेदशास्त्रों को साधारण के लिये नित्य प्रति सुनने समझने की वस्तु बनाया और वैदिक वाणी को घर २ पहुँचाने की चेष्टा की। गुरुकुलादि विद्यालय खोलकर संस्कृत भाषा के सहस्रों पण्डित पैदा किये। देश में आज

धारा प्रवाह संस्कृत बोलने और लिखने वालों की कमी नहीं है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा त्यों-त्यों संस्कृत के विद्वानों की संख्या और भी बढ़ती जायगी।

आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं से पूर्व देश में ऐसे बहुत ही कम कालेज थे, जिनमें संस्कृत शिक्षा की व्यवस्था थी। परन्तु आर्यसमाज के डी. ए. वी. कालिजों और गुरुकुलों की संस्कृत शिक्षण-शैली देखकर अन्य कालिजों ने भी इसको अपनाया और अब कदाचित् ही कोई अच्छा कालिज हो जिसमें संस्कृत न पढ़ाई जाती हो। अंग्रेज़ी के विद्वानों पर संस्कृत का प्रभाव आरम्भ में आर्यसमाज की शिक्षा-दीक्षा के कारण ही पड़ा। स्वर्गीय पण्डित गुरुदत्त जी विद्यार्थी और पं० श्याम जी कृष्ण वर्मा के शुभ नामों से कौन नहीं परिचित है। उपर्युक्त दोनों विद्वानों ने पश्चिमी विद्वानों पर आर्यसमाज का सिक्का बैठाने में बड़ा काम किया। अब तो संस्कृत लेकर अंग्रेजी पढ़े आर्यविद्वानों की कमी ही नहीं है। आर्यसमाज के जो विद्वान् प्रचारार्थ, अध्ययनार्थ अथवा अन्य किसी कार्य से विदेशों को गए तो उन्होंने भी वहां वेद शास्त्रों की महिमा का वर्णन करते हुए, संस्कृत भाषा का भले प्रकार प्रभाव स्थापित किया। परिणाम स्वरूप कितने ही विदेशियों ने संस्कृत से प्रेम कर उसका पढ़ना आरम्भ किया। जैसा कि ऊपर कहा गया है, मुस्लिम और ईसाई विद्यालयों में भी आर्यसमाज के कारण ही संस्कृत भाषा को स्थान दिया गया है। महर्षि दयानन्द जी महाराज ने संस्कृत के ऐसे अनेक ग्रन्थों को जर्मनी से मंगाया जिनके नाम तो सुने जाते थे, परंतु दर्शन दुर्लभ थे।

आर्यसमाज की ओर से संस्कृत साहित्य या वैदिक वाङ्मय के सम्बन्ध में परिशोध का काम भी अच्छा हुआ है। स्वर्गीय श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्द और स्वर्गीय श्री स्वामी नित्यानन्द जी महाराज कृत वेदों की अनुक्रमणिका वेदवाणी के प्रचार के लिए एक अपूर्व और महत्वपूर्ण प्रयत्न है। उपर्युक्त दोनों महानुभावों द्वारा संस्थापित वैदिक रिसर्च संस्था अब भी 'प्रशंसनीय सेवा कर रही है। डी.ए.वी. कालेज लाहौर का रिसर्च विभाग संस्कृत प्रचार के लिए स्तम्भ स्वरूप है। रामायण, महाभारत, वेदशास्त्र, स्मृति, उपनिषद, ब्राह्मण इत्यादि ग्रंथों के आर्यविद्वानों द्वारा आर्य भाषानुवाद हो जाने के कारण संस्कृत साहित्य के प्रचार में बड़ी सहायता मिली है। आर्यसमाजियों की संख्या के अनुपात से यदि आर्यसमाज में संस्कृत के विद्वानों की गणना हो तो उनकी बहुलता के कारण आश्चर्य में पड़ जाना पड़ेगा। फीजी, नैटाल आदि उपनिवेशों में आर्यसमाज के गुरुकुलों और विद्यालयों द्वारा संस्कृत का बहुत बड़ा प्रचार हुआ है। पौराणिक मतानुसार स्त्री और शूद्रों को पढ़ना वर्जित किया गया है, परंतु आर्यसमाज ने शूद्र कहाने वाले सैंकड़ों व्यक्तियों को पण्डित और सहस्रों स्त्रियों को विदुषी बना दिया है, जिनमें से कितनी ही तो शास्त्रिणी और पण्डिता हैं। क्या संस्कृत के लिए आर्यसमाज का यह काम कम है? परमात्मा की कृपा से आज आर्यसमाज में संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक विषय से प्रचुर परिचित पण्डित प्रस्तुत हैं अंग्रेजी पढ़े हुए संस्कृत के विद्वानों की भी बहुतायत है।

तार्किक शिरोमणि स्वर्गीय श्री स्वामी दर्शनानंद जी ने सबसे पूर्व सिकंदराबाद में गुरुकुल की स्थापना की और फिर अन्य गुरुकुल खुले। स्वामी जी का उद्देश्य आर्य प्रणाली पर निःशुल्क

रूप से संस्कृत की शिक्षा देना था जिसमें वे बहुत सफल हुए। स्वामी दर्शनानन्द जी ने सन्यास लेने से पूर्व पण्डित कृपाराम के रूप में काशी में एक प्रेस खोला, जिस पर उन्होंने लगभग पचास हज़ार रुपया खर्च किया। इस प्रेस का उद्देश्य संस्कृत छात्रों तक लागत मात्र पर संस्कृत की पुस्तकें पहुँचाना था। संस्कृत की जो पुस्तकें दुर्लभ थीं, उन्हें स्वामी जी ने लागत मात्र पर बल्कि उससे भी कम पर दिया। संस्कृत की कई किताबें जो उस समय आठ आठ दस दस रुपये में आती थीं, उन्हें उन्होंने दस दस बारह बारह आनों में मिलने की व्यवस्था करदी। इसमें स्वामी जी को धन तो बहुत व्यय करना पड़ा परन्तु संस्कृत प्रचार में बड़ी सहायता मिली। स्वामी जी के इस कार्य की प्रशंसा काशी के पण्डितों ने भी मुक्त कंठ से की है। मैं समझता हूँ इस दिशा में स्वामी जी की यह साधारण सेवा नहीं है।

आर्यसमाज ने संस्कृत प्रचार के निमित्त लगभग ३५ गुरुकुल, ३०८ संस्कृत पाठशाला, ४८ अनाथालय, २०० हाई स्कूल, १० कालेज और ४ कन्या महाविद्यालय खोल रखे हैं। गुरुकुल महाविद्यालय आदि तो संस्कृत प्रचार के लिए अब भी अच्छा कार्य कर रहे हैं परन्तु डी. ए. वी. कालिजों और डी. ए. वी. हाई स्कूलों को इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। आर्य समाज की इन संस्थाओं में अन्य संस्थाओं की अपेक्षा कुछ विशेषता होनी चाहिए। यह व्यवस्था दो ही प्रकार से हो सकती है। डी.ए.वी. कालिजों और हाई स्कूलों में संस्कृत की पढ़ाई और धार्मिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जावे। ऐसा कोई विद्यार्थी न हो जो संस्कृत और धर्म की शिक्षा न ले। ऐसा करने से इन संस्थाओं में पढ़ने वाले सहस्रों विद्यार्थी संस्कृतज्ञ बन जावेंगे और संस्कृत का प्रचुर प्रचार होगा। कन्याओं को संस्कृत पढ़ाने के लिए भी संस्कृत शिक्षा बड़ी उपयोगिनी सिद्ध हो सकती है। वह दिन धन्य होगा, जब आर्यसमाज अपना एक विश्वविद्यालय बनावेगा और उसके द्वारा समस्त गुरुकुलों, विद्यालयों और कालेज आदि के लिए अपनी पाठ्यविधि निश्चित करेगा। सब विद्यालयों में शिक्षण की समान व्यवस्था होने पर संस्कृत और धर्म शिक्षा के प्रचार में और भी अधिक सहायता मिल सकती है। धर्मशिक्षा का आधार देववाणी संस्कृत है, अतएव संस्कृत का प्रचार करना कराना और वेदों का पढ़ना पढ़ाना प्रत्येक आर्य का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए।

आर्यसमाज क्या है ?

(श्री डा० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार एम.ए.एल.टी., डी-लिट् अजमेर)

(१)

आर्यसमाज ! अहो यह क्या है ? क्या कोई आन्दोलन है ?
अथवा सामाजिक सागर का विस्तृत विन्ध्य-विलोडन है ?
या मुमूर्षु प्राचीन रुढ़ियों का यह अन्तिम रुदन है ?
चना बना लोहे का उनको जो समझे ये ओदन है ?

(२)

अथवा वैदिक वाङ्मय गो का गवेषणामय दोहन है ?
श्रुति संगीतमयी सरगम का आरोहण अवरोहण है ?
मान्य मनीषी मस्तिष्कों का उत्तम ऊहापोहन है।
अथवा श्रुति प्रिय वंशीवाला विश्व-विमोहन मोहन है।

(३)

कुटिल क्रूर कट्टर कुरीतियों का कटु कंटक शोधन है ?
अल्प आयु पर ज्ञानवृद्ध है कोरा बाल अबोधन है ॥
मत मतान्तरों के मन्तव्यों का निष्पक्षालोचन है।
विषम विषय विषधर विस्तारित बहुविध बन्ध विमोचन है ॥

(४)

यह प्रज्वलित अग्नि ज्वाला है पाप पुंज जहं जलते हैं।
अशुभ अनय अत्याचारों के हिमगढ़ घोर पिघलते हैं ॥
जिसमें पड़कर असत् असित् आयस के गोले गलते हैं।
स्वच्छ सुवर्ण रूप होकर के सत् सिद्धान्त निकलते हैं ॥

(५)

वा प्रचंड मार्तण्डअखण्ड है, खंड २ तम करने को ?
अनय अविद्या अनाचार की निशा तमिस्रा हरने को ?
हृत सरसिज विकसित कर उनमें अतुलित आभा भरने को।
सहस्रारुर में सत्साहित्यिक दैवी दीधित धरने को ॥

(६)

अहह ! चमत्कृत चारु चन्द्र है दिव्य छटा छिटकाने को।
जगज्जनों के मन कुमुदों को मुद से मुदित बनाने को।
तपते जगती तल पर शीतल शान्ति सुधा बरसाने को ?
नव जीवन की भव्य ज्योत्स्ना से सुखमा सरसाने को ॥

(७)

अथवा यह मानव हिमगिरि में सुन्दर मान सरोवर है।
ब्रह्मज्ञान सिन्धू का जिसमें आदि स्रोत अति सुखकर है ॥
जहां समिति संस्था सरसीरुह खिलता नव्य निरंतर है।
नीर क्षीरवत् सदसत् ज्ञाता हंस आर्य नारी नर है ॥

(८)

अथवा पुण्यापगा जान्हवी का यह पुण्य प्रवाह बहे।
जिसकी कल कल मंत्र ध्वनि में प्रभु का शुभ सन्देश रहे ॥
कलिमल मलिन मनुज तन जो भी उसका पावन पुलिन गहे।
पौराणिक भव बाधाओं से छूट मुक्ति का मार्ग लहे ॥

(९)

अथवा यह संसार सिन्धु में सुदृढ़ संगठित वोहित है ?
अनगिन आन्दोलन मय अतुलित तुंगतरंगा क्षोभित है ॥
मतमतान्तरों की आंधी से आवेष्टित आलोहित है।
हैं आरूढ़ आर्य जन नेता खेता "नारायण" नित है ॥

(१०)

अथवा यह मंदार हार है सुन्दर सुखकर सुरभित है ?
जो बलिदानी वीर नरों के बलि पुष्पों से भूषित है ॥
धर्म-प्रेम-भावना सूत्र में समाबद्ध संगुम्फित है।
मातृभूमि की भेंट हेतु जो सदा सर्वथा सज्जित है ॥

(११)

क्या है आर्य समाज ? आज तक नहीं समझ में आता है।
पाप पुञ्ज का प्रलयंकर वा सत्य सृष्टि निर्माता है ॥
क्या कोई स्वर्गीय दूत है—नव सन्देश सुनाता है ?
वेद धर्म का रक्षक प्यारा आर्य जाति का त्राता है।

आर्य समाज प्रगतिशील कैसे बने ?

(लेखक—श्री पं० धर्मदेव शास्त्री दर्शनकेशरी अशोक आश्रम कालसी)

——-*:*——-

आर्य समाज की गतिविधि इधर शिथिल होगई है। इसका एक कारण वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक पेचीदगियां हैं। अपने और अपने कुटुम्ब का भरणपोषण करना आज कठिन हो गया है। राज्य की नीति किसी भी सुधार कार्य को निर्विघ्न न चलने देने की है, फिर भी हमें निराश न होकर अपने सामाजिक कार्य को आगे बढ़ाना चाहिये। मैं आज सूत्र रूप में कुछ सुझाव अथवा निर्देश आर्य पुरुषों के समक्ष रखता हूँ। आशा है इन पर उचित विचार किया जायगा। आर्यसमाज की वर्तमान गतिविधि को मैं चार विभागों में विभक्त करूंगा—प्रचार, संस्थाएं, चुनाव, और उत्सव।

प्रचार— मेरा विचार है कि वर्तमान प्रचार का ढंग उपहासास्पद बनगया है। उपदेशक में इससे मिथ्याहंकार आ जाता है और जनता की सच्ची सेवा वह नहीं कर सकता। इसलिये वर्तमान प्रचार कार्य का तरीका समाप्त कर देना चाहिये। जो आर्यसमाज के आधीन धर्मप्रचार कार्य करना चाहें उन्हें कुछ मास की शिक्षा देकर छोटे२ ग्राम केन्द्रों में बैठा देना चाहिये। ऐसे प्रचारक व्याख्यान कम दें, साधारण चिकित्सा, साक्षरता धार्मिक शिक्षा और ग्राम उद्योगों में से कोई एक उन्हें अवश्य सिखाये जावें। संक्षेप से प्रचारक हिंदी प्रचार, संस्कार, हरिजन सुधार, आदिवासी जातियों की सेवा और इसी प्रकार के अन्य रचनात्मक कार्यों में जुट जावें और शहरों से दूर ग्रामों में ही डेरा डालें।

संस्थाएं—संस्थाएं आर्यसमाज की रीढ़ की हड्डी हैं मैं इनका विरोधी नहीं परंतु अब प्रायः सब संस्थाएं स्वतंत्र रूप से कार्य कर रही हैं। साधारण जनता का भी विविध कार्यों में अब सहयोग मिल जाता है। इसलिये आर्यसमाज को वैधानिक रूप से संस्थाओं पर से अपना नियंत्रण हटाकर केवल नैतिक नियन्त्रण ही रखना चाहिये। प्रांतीय सभाओं और संस्थाओं को किसी भी प्रकार का समर्थन आर्यसमाज द्वारा नहीं मिलना चाहिये।

चुनाव—चुनाव में ही प्रायः झगड़े हो जाते हैं। मेरा प्रस्ताव यह है कि प्रतिनिधि सभा के प्रधान का चुनाव प्रांत भर के सब आर्य सदस्य अपनी समाज के साधारण अधिवेशन पर करें, निर्धारित एक ही दिन में प्रान्त भर में चुनाव हो। अपनी समाज के अधिकारियों का चुनाव करने के साथ ही सब साधारण सदस्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान का भी चुनाव किया करें। सब सदस्यों द्वारा चुने गये इस प्रधान को फिर अपने मंत्रिमण्डल और अन्तरंग सदस्यों के चुनाव का अधिकार दे देना चाहिये। स्थानीय चुनाव सम्बन्धी झगड़ों के फैसले के लिये एक प्रांतीय न्याय सभा बनाई जावे जिसके तीन सदस्य हों, इन्हें आर्यसमाजों सम्बन्धी झगड़ों के निपटाने के पूर्ण अधिकार दे दिये जावें।

आर्यसमाज का साधारण सदस्य तो सब कोई बन सके परन्तु अधिकारी बनने वाले के लिये कुछ प्रतिबन्ध होने चाहियें, जिनमें से एक यह भी हो कि वह प्रतिदिन कम से कम एक घंटा

आर्यसमाज के लिये देगा। सदस्य बनने के लिये भी सप्ताह में अथवा पक्ष में कुछ समय देने की शर्त रखनी चाहिये। अथवा कोई रचनात्मक कार्य करने की शर्त रखनी चाहिये। उदाहरण के लिये कम से कम एक व्यक्ति को हिंदी लिखना-पढ़ना सिखा दे अथवा एक व्यक्ति के सीखने का खर्चा दे आदि।

उत्सव—उत्सव साधारण जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने का साधन है। प्रत्येक समाज का एक निर्धारित क्षेत्र होना चाहिये और उत्सव उस क्षेत्र में प्रतिवर्ष बदल बदल कर स्थानों में होना चाहिये, उत्सवों का समय प्रत्येक ज़िले में ऐसा होना चाहिये कि एक ही उपदेशक बारी बारी से सबमें घूम सके और व्यय कम से कम हो। उत्सवों पर जो धन एकत्र किया जाय उसमें से बचाकर अपने क्षेत्र में वर्ष भर कार्य करने वाले कार्यकर्ता का व्यय निकालना चाहिये। संक्षेप से उत्सवों का प्रभाव क्षेत्र और कार्यकाल विस्तृत करना चाहिये। उत्सवों का स्वरूप और कार्यक्रम ऐसा हो जिससे वह अपने क्षेत्र की जनता को निकट सम्पर्क में लाने का साधन बन सकें।

मुझे विश्वास है ऐसा करने से आर्यसमाज पांच ही वर्षों में साधारण जनता के बहुत निकट सम्पर्क में आजायगा और उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाएगी।

आर्यसमाज का शिक्षा कार्य

(लेखक—प्रिन्सिपल महेन्द्रप्रताप शास्त्री, एम०ए०,एम०ओ०एल०)

प्रारम्भ—आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द की सुधार-भावना में एक विशेषता थी-वे अधिक से अधिक प्राणियों की अधिक से अधिक उन्नति चाहते थे। आर्यसमाज का छठा नियम उन्होंने इस प्रकार बनाया था—'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।' इससे स्पष्ट है कि ऋषि की सुधार भावना अन्य अनेक सुधारकों की तरह एक देशीय न होकर सार्वभौम थी और व्यक्तिगत दृष्टि से भी एक मुखी न होकर सर्वमुखी थी। उनके मुख्य ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश से भी इसी भावना की पुष्टि होती है। उसके चौदह समुल्लासों में व्यक्ति और समाज से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी विषयों का विवेचन है। वे चाहते तो केवल एक ही विषय तक सीमित रह सकते थे, पर यह उन्हें अभीष्ट न था। उनके कार्यों को देखकर यह कहना कठिन है कि वे धार्मिक सुधारक थे, राजनैतिक सुधारक, सामाजिक सुधारक अथवा आर्थिक सुधारक। हमने आर्यसमाजियों को इस बारे में वाद विवाद करते देखा है कि ऋषि दयानन्द को मुख्यतया कौन सा सुधार अपेक्षित था। हमारी समझ में तो सचाई यह है कि वे सब प्रकार के सुधार के पक्षपाती थे। फिर यह कैसे सम्भव था कि वे भारत की शिक्षा सम्बन्धी अवनति पर दुःखी न होते और उसकी उन्नति के लिये यत्न न करते।

एक और बात है। विद्याध्ययन पूरा करने के बाद जब ऋषि दयानन्द अपने गुरु श्री विरजानन्द जी से विदा लेकर चलने लगे तो गुरुजी ने उनको अंतिम शिक्षा इस प्रकार दी थी—

"देश का उपकार करो। अविद्या का नाश करो। सत् शास्त्रों का उद्धार करो। मतमतान्तरों की अविद्या को मिटाओ और वैदिक धर्म फैलाओ।" ऋषि दयानंद जैसा गुरुभक्त और कर्त्तव्य परायण व्यक्ति गुरु के अंतिम उपदेश को किस प्रकार भूल सकता था। गुरु को अंतिम बार प्रणाम करते समय उन्होंने संकल्प किया कि गुरु के आदेश को पूरा करने में वे कुछ उठा न रखेंगे।

अपने विद्यार्थी जीवन में ऋषि को केवल एक धुन थी। सत्य ज्ञान की खोज और उसके लिये सच्चे गुरु की तलाश। इसके लिये ऋषि ने बड़े कष्ट सहे—मां बाप की लाड़भरी गोद छोड़ी, घर का सुखपूर्ण जीवन छोड़ा, भावी सांसारिक सुखों को लात मारी, दिन रात, धूप-छांह, ग्रीष्म-शीत-वर्षा आदि का विचार न कर नंगे पैरों बिना किसी उपकरण अथवा सहायक के नगरों, ग्रामों, बनों और पहाड़ों में घूमे। उनकी तपस्या सफल हुई—उनको ज्ञान मिला। संसार का नियम है कि जो वस्तु जितने अधिक परिश्रम से मिलती है वह उतनी ही अधिक प्रिय होती है। ऋषि के मन में यह बैठ गई कि मनुष्य की उन्नति के लिये शिक्षा आवश्यक वस्तु है। उन्होंने भी तो उसकी प्राप्ति के लिये इतना यत्न किया था और उसीसे उनके जीवन में प्रभात का उदय हुआ था। फिर भारत का उद्धार करते समय अथवा संसार के उपकार का स्वर्गीय स्वप्न देखते समय वे शिक्षा सम्बन्धी उन्नति को किस प्रकार भूल सकते थे। ऋषि ने शिक्षा सुधार को अपनी कार्य प्रणाली में मुख्य स्थान दिया।

अपनी भावनाओं को मूर्त्त रूप देने के लिये जब १६३२ विक्रमी संवत् के चैत्र मास में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की तब आर्यसमाज के २८ नियम बनाये। उनमें से १२ वें नियम में आय के शतांश का चन्दे के रूप में देने का विधान रखा गया और बताया गया कि चन्दे की आय से 'आर्यसमाज, आर्यविद्यालय और आर्य समाचार पत्र' चलाये जावें। इसके अतिरिक्त १६ वें नियम में 'आर्य विद्यालय' के उद्देश्य को इस प्रकार स्पष्ट किया गया—'आर्य विद्यालय में वेदादि सनातन आर्यग्रंथों का पठन पाठन हुआ करेगा और वेदोक्त रीति से ही सत्य शिक्षा सब पुरुष और स्त्रियों को दी जावेगी।' कुछ समय के पश्चात् जब अन्य स्थानों पर समाज स्थापित होने लगे और कार्य करने पर अनुभव का विकास हुआ तब लाहौर में इन नियमों पर पुनर्विचार हुआ और आवश्यक कांट छांट के बाद इन्हें वर्तमान १० नियमों का रूप दिया गया। नवीन नियमों में ८ वां नियम इस प्रकार रखा गया—'अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।" इस सबसे यह स्पष्ट है कि शिक्षा का प्रसार ऋषि दयानंद के कार्य क्रम का एक अंग था। साथ ही शिक्षा में वे कुछ विशेषतायें चाहते थे—उनके बारे में लेख के अगले भाग में प्रकाश डाला जावेगा।

ऋषि ने अपने प्रमुख ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश का तृतीय समुल्लास शिक्षा-विषय के विवेचन में लगाया है। उसके प्रारम्भ में यह वाक्य आता है—'सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है।" इसके आगे लिखते हैं—'इसलिये आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेज देवें।' अगले पृष्ठ पर लिखा है—'इसमें राजनियम और जातिनियम

होना चाहिये कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।' इन वाक्यों से स्पष्ट है कि ऋषि शिक्षा को एक अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण वस्तु समझते थे। शिक्षा के बारे में उनके अपने विशेष सिद्धान्त थे, जिनकी ओर बाद में संकेत किया जावेगा।

ऋषि के लिये यह आवश्यक था कि वे अपने विचारों को क्रियात्मक रूप देते-ऐसा किये बिना विचारों का कोई विशेष महत्व नहीं होता। उनके कार्यक्रम का यह एक भाग था कि 'आर्य-विद्यालयों' अथवा 'वैदिक शिक्षणालयों' की स्थापना की जावे, किन्तु कार्याधिक्य के कारण यह सम्भव न था कि वे इस प्रकार की अधिक संस्थायें स्थापित कर सकते अथवा इस दिशामें विशेष कार्य कर पाते। उन्होंने काशी, फरुखाबाद आदि कुछ स्थानों पर पाठशालायें स्थापित की थीं, पर उस कार्य को विशेष न बढ़ा पाये। यह आशा की जा सकती है कि यदि वे असमय मृत्यु के ग्रास न हुये होते तो इस कार्य को अच्छी प्रगति मिलती। फिर जो भी कार्य उन्होंने इस दिशा में किया उससे उनकी भावना का पर्याप्त दिग्दर्शन हो जाता है और उनके अनुयायियों के लिये यह मार्ग प्रदर्शन का कार्य करता है।

३० अक्तूबर १८८३ को ऋषि का स्वर्गवास हुआ और ८ नवम्बर १८८३ को लाहौर में आर्यसमाजियों की एक सभा हुई, जिसमें इस बात पर विचार किया गया कि ऋषि की स्मृति में कोई कार्य करना चाहिये। विचार के पश्चात् निश्चय किया गया कि ऋषि की स्मृति को स्कूल एवं कालिज की स्थापना के द्वारा स्थायी किया जावे। इस विचार ने शीघ्र ही क्रियात्मक रूप धारण कर लिया और कार्य धीरे २ पल्लवित एवं पुष्पित हो गया। परन्तु कार्य के विस्तार में जाने से पूर्व हम शिक्षा के उससे अधिक महत्वपूर्ण पहलू की ओर संकेत करना चाहेंगे। ऋषि दयानन्द के समय में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार प्रारम्भ हो गया था। अनेक स्थानों पर सरकारी शिक्षा संस्थायें स्थापित हो चुकी थीं और कुछ स्थानों में अन्य सुधारक संस्थाओं की ओर से शिक्षा कार्य होता था। पिछली संस्थाओं में ईसाई लोग मुख्य थे। इसमें संदेह नहीं कि ईसाई संस्थाओं ने भारत में शिक्षा का पर्याप्त प्रसार किया, परन्तु यह भी सत्य है कि उनके इस शिक्षा प्रसार की तह में भारत का हित न होकर अपने धर्म और सभ्यता के आदर्शों का प्रचार था। उनका प्रयत्न यही रहता था कि जैसे भी हो शिक्षा, अनाथ सेवा, औषधालय आदि के द्वारा भारतवासियों को शीघ्र से शीघ्र ईसाई बना लिया जावे। उनके इस विषैले स्वप्न के पूरे होने का अर्थ पृथ्वीतल से वैदिक धर्म, वैदिक संस्कृति एवं वैदिक सभ्यता का सदा के लिए अन्त हो जाना था। वैदिक आदर्श का सच्चा पुजारी ऋषि दयानन्द जैसा व्यक्ति इस बात को कैसे सह सकता था। इसलिये जहां उन्होंने यह अनुभव किया कि भारत में शिक्षा का अधिक से अधिक प्रचार किया जावे वहां साथ में 'शिक्षा का रूप' क्या होना चाहिये इस की भी अवहेलना न की, अपितु इसको प्रमुख स्थान दिया। केवल पुस्तकों का पढ लेना शिक्षा नहीं इसी प्रकार पुस्तकों को पढ़ने योग्य हो जाना पर अपने आदर्शों से विमुख हो जाना और भी बुरा है। इस बात को ऋषि ने अनुभव किया और उनके बाद उनके उत्तराधिकारी आर्यसमाज ने।

ऋषि दयानन्द के जीवनकाल में ही यह प्रश्न उठ चुका था कि आर्यसमाज को शिक्षा-प्रचार का कार्य करना चाहिये अथवा नहीं, यदि करना चाहिये तो किस प्रकार से—अर्थात् शिक्षा का रूप क्या हो। उसमें क्या विशेषता होनी चाहिये अथवा वह तत्कालीन प्रचलित पद्धति के अनुरूप ही हो। शिक्षा के आदर्शों पर ऋषि के अपने विचार थे—उनका दिग्दर्शन उन्होंने अपने सत्यार्थप्रकाश में कर दिया था। संक्षेप में ऋषि दयानन्द अथवा आर्यसमाज के शिक्षा सम्बन्धी आदर्श इस प्रकार प्रकट किये जा सकते हैं।

शिक्षा का प्रयोजन है व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास। संस्कृत का ब्रह्मचर्य शब्द इस प्रयोजन को बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त करता है। 'ब्रह्म' का अर्थ वीर्य, ज्ञान एवं ब्रह्म है। इन तीनों की प्राप्ति के लिये निभाये जाने वाले जीवन को ब्रह्मचर्य आश्रम कहते हैं। इन तीनों वस्तुओं की प्राप्ति मनुष्य के उपर्युक्त तीनों विकासों का कारण बनती है। अतः दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य शब्द एक प्रकार से शिक्षा के आदर्श रूप का पर्यायवाची है। सम्भवतः इसके लिये उससे अधिक उपयुक्त अन्य कोई शब्द नहीं। ऋषि दयानन्द ने संस्कृत के प्राचीन खंडहरों में से इस अमूल्य रत्न को खोज निकाला और हमारी सम्मति में, शिक्षा के लिये उनकी यह एक बड़ी देन है। शब्द पहिले से उपस्थित था, प्राचीन काल में विद्यार्थी के लिये प्रयुक्त होता था, परन्तु वर्तमान युग उसे भूल चुका था। ऋषि ने उसका प्रथम प्रयोग किया और अब वह हरएक मुंह पर है। ब्रह्मचर्य की भावना बहुत विस्तृत है—शिक्षा शब्द से कहीं अधिक। शायद अन्य कोई शब्द उसके पूरे भावों को प्रकट भी नहीं कर सकता। ऋषि दयानन्द ने अपने शिक्षा सम्बन्धी आदर्शों को इसी शब्द के द्वारा व्यक्त किया। संक्षेप में इसमें अन्तर्हित भाव इस प्रकार लिखे जा सकते हैं—

सामान्यतया शिक्षा का काल ७–८ वर्ष की आयु से २५ वर्ष तक का होना चाहिये।

शिक्षा काल में विद्यार्थी को शरीर का स्वस्थ, कष्टसहिष्णु अथवा तपस्वी बनाना चाहिये।

ज्ञान प्राप्ति के साथ २ मन को उच्च संकल्पों का केन्द्र बनाना चाहिये।

आत्मिक उन्नति के लिये आस्तिक होना आवश्यक है।

इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिये विस्तृत नियम हैं जिन्हें प्राचीन ऋषि मुनियों ने निर्धारित किये थे। ऋषि दयानंद की भावना थी कि वर्त्तमान काल में उनका पालन होना चाहिये—उनके बिना शिक्षा अधूरी होगी। ऋषि ने और आर्यसमाज ने उन्हें क्रियात्मक रूप देने का भागीरथ प्रयत्न किया।

इसके अतिरिक्त आर्यसमाज की अन्य शिक्षा की विशेषताओं को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

अनिवार्य शिक्षा—आर्यसमाज का यह विचार है कि शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये। ऋषि दयानंद ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा है—'पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।'

निःशुल्क शिक्षा—शिक्षा निःशुल्क अथवा बिना कुछ लिये होनी चाहिये, जिससे धनी, निर्धन सभी की सन्तान पढ़ लिख सके। शिक्षा के निःशुल्क किये बिना उसका अनिवार्य करना कठिन है। आर्यसमाज के गुरुकुलों में शिक्षा निःशुल्क दी जाती है। ब्रह्मचारियों से जो धन लिया जाता है वह अन्य व्ययों के लिये होता है—पढ़ाई की फीस नहीं ली जाती।

आश्रम जीवन—विद्यार्थी जीवन में बालक बालिकाओं का गुरुओं के पास आश्रम में रहना आवश्यक होना चाहिये। केवल कुछ घण्टे विद्यालय में बिता कर शेष समय अपने घर पर रहने से विद्यार्थी का चरित्र ठीक नहीं बन पाता। आश्रम में रहने से विद्यार्थी चौबीसों घण्टे नियन्त्रण में रहता है—उसके हरएक कार्य पर अध्यापक की दृष्टि रहती है। आश्रम का वातावरण विद्यार्थी के विकास में अधिक सहायक होता है। ये आश्रम नगर से दूर एकान्त में होने चाहियें। ऋषि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं—'उनके माता पिता अपने सन्तानों से वा संतान अपने माता पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र व्यवहार एक दूसरे से कर सकें। जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिंता रक्खें। विद्यार्थी जीवन की समाप्ति तक अविवाहित रहना चाहिये। आज यह बात उतनी विचित्र नहीं प्रतीत होती जितनी उस समय थी। अब तो कहीं कहीं यह नियम हो गया है कि मैट्रिक अथवा हाई स्कूल की परीक्षा तक कोई विवाह नहीं कर सकता, पर जब आर्यसमाज ने यह बात प्रारम्भ की थी उस समय भारत में प्रायः ८, १० वर्ष से ऊपर विरले अविवाहित रहते थे। विद्यार्थियों के विवाह रोकने का बहुत कुछ श्रेय आर्यसमाज को है। डी०ए०वी० हाई स्कूल के आश्रम के १८८६ ई० में बने नियमों में से एक नियम यह था कि आश्रम में रहते हुए कोई बालक विवाह नहीं करा सकता था। गुरुकुलों में तो यह नियम और कड़ाई से काम में लाया गया। आश्रम में रहने वालों का जीवन अधिक से अधिक सीधा सादा एवं एक जैसा होना चाहिये। ऋषि ने लिखा है —'सबको तुल्य वस्त्र, खान पान, आसन दियें जावें, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिये।' आश्रम जीवन के इस उच्च आदर्श को आर्यसमाज ने गुरुकुलों द्वारा मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न किया।

धार्मिक शिक्षा—शिक्षा में धर्म का प्रमुख स्थान मिलना चाहिये। धार्मिक चेतना के अभाव में शिक्षा अधूरी होती है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के आलोचकों के मुख से हमने प्रायः सुना है कि धर्म की शिक्षा का अभाव उसका एक प्रमुख दोष है। हमने विश्वविद्यालयों के अनेक दीक्षांत भाषणों में यह पढ़ा और सुना है कि शिक्षा में धार्मिकता का पुट होना चाहिये। परन्तु अब तक यह आलोचना भाषणों और लेखों तक ही सीमित रही है। आर्यसमाज ने इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया। गुरुकुलों और तत्सदृश अन्य स्वतंत्र शिक्षणालयों में तो धर्म को प्रमुख स्थान दिया गया उनमें संध्या हवन से लेकर वेद-उपनिषद् तक के अध्ययन का प्रबंध किया गया। उनके अतिरिक्त स्कूल तथा कालेजों में भी अन्य सामान्य शिक्षा के साथ धर्मशिक्षा को अनिवार्य रखा गया। 'विद्या धर्मेण शोभते' अनेक आर्यसामाजिक संस्थाओं का आदर्श वाक्य है। इस धार्मिक शिक्षा का

उद्देश्य आस्तिकता तथा अन्य धार्मिक भावों का बनाये रखना है। लिखने की आवश्यकता नहीं कि आजकल के भौतिक युग में इसकी कितनी आवश्यकता है।

स्व-संस्कृति-प्रेम—भारत में कतिपय सुधार के आन्दोलन ऐसे हुए हैं जिनमें सुधार की भावना तो है पर वे अपनी सभ्यता और संस्कृति से विमुख हैं। ऐसे आन्दोलन न तो बल पकड़ पाये और न हितकर सिद्ध हुए। ऋषि दयानन्द इस निर्बलता के शिकार न हुए। उनका विश्वास था कि संसार में वैदिक संस्कृति और सभ्यता सबसे पुरानी है और उन्हीं का अनुसरण करने से मनुष्य सुख शान्ति से जीवन यापन कर सकता है। ऋषि के जन्म के समय वेदों का नाम था, परन्तु उसके आदर्शों का धूमिल रूप भी कहीं न दिखाई देता था। ऋषि से यह न देखा गया और उन्होंने प्रयत्न किया कि भारतीयों के जीवन में वैदिक आदर्श मूर्त्त रूप धारण करें। बालक बालिकाओं के लिये उन्होंने वेद तथा अन्य सत् शास्त्रों की शिक्षा आवश्यक बताई। उन्होंने जो पाठशालाएं खुलवाईं उनमें वेदों का अध्ययन आवश्यक रखा। उनके बाद और उनके समय में भी आर्यसमाज ने भी इस बात का ध्यान रखा। १८८२ और १८८३ ई० में पञ्जाब और युक्तप्रान्त के आर्यसमाजियों में "वैदिक शिक्षणालयों" के स्थापना का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। वैदिक शब्द उस आन्दोलन का प्राण था। भावना थी कि ऐसे शिक्षणालय स्थापित किये जावें जिनमें वेदों की शिक्षा दी जावे और संस्थाओं का वातावरण वैदिकपूत भावनाओं से ओतप्रोत हो। १८८३ में ऋषि की स्मृति में जिस संस्था की स्थापना का निश्चय किया गया उसका नाम भी 'दयानन्द एङ्गलो–वैदिक स्कूल' रखा गया। इस स्कूल की सभा की रजिस्ट्री कराते समय तीन उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह रखा गया था 'प्राचीन संस्कृत और वेद के अध्ययन को उत्साहित और आवश्यक करना।' आर्यसमाजों के स्कूलों और कालेजों ने इस उद्देश्य को पूरा करने की चेष्टा की। परन्तु आर्यसमाज के अन्दर एक दल ऐसा था जो उस चेष्टा से सन्तुष्ट न हो सका। उसे यह सह्य न हुआ कि अंग्रेजी, विज्ञान आदि की शिक्षा को मुख्य स्थान देकर 'संस्कृत और वेद के अध्ययन' को गौण बना दिया जाय। यही असन्तोष गुरुकुलों की स्थापना का कारण बना, जहां संस्कृत एवं वेद को प्रमुख स्थान दिया गया। गुरुकुलों ने एक बार भारत की प्राचीन वैदिक संस्कृति को मूर्त्त रूप दे दिया। ये गुरुकुल कलियुगी विस्तृत रेगिस्तानी प्रदेशों के बीच सतयुगी ऊसर थे। इनके निर्माण में आर्यसमाज को महान् यत्न करना पड़ा—पर ऋषि के भक्तों ने उसका विचार नहीं किया।

आर्यसमाज के जन्म का एक विशेष कारण था। भारत पर पश्चिमीय संस्कृति और सभ्यता का बवंडर आया हुआ था। आर्यसमाज का जन्म उसे रोक उसके स्थान पर वैदिक संस्कृति और सभ्यता का प्रचार करने को था। आर्यसमाज की संस्थायें उनका केन्द्र बनीं, जहां से वैदिक संस्कृति के प्रभात सूर्य की किरणें इधर उधर फैलने लगीं।

संस्कृत-प्रचार—संस्कृति की रक्षा के लिये भाषा की रक्षा आवश्यक है। भारत की प्राचीन संस्कृति संस्कृत भाषा में सुरक्षित थी। उसके प्रचार का तात्पर्य उसकी संस्कृति का पुनरुद्धार

था। इसी दृष्टि से आर्यसमाज ने संस्कृत का प्रचार किया। गुरुकुलों में संस्कृत को प्रथम स्थान दिया गया। पंजाब तथा युक्तप्रान्त में आर्यसमाज के द्वारा संस्कृत प्रचार को बहुत प्रोत्साहन मिला।

मातृभाषा द्वारा शिक्षा—भारत ऐसा दुर्भागी देश है कि जहां इस बात पर भी वाद विवाद चला करता है कि शिक्षा का माध्यम क्या होना चाहिये। आज से २०, २५ वर्ष पूर्व सभी सरकारी अथवा अन्य स्कूल तथा कालेजों में शिक्षा अंग्रेज़ी भाषा के द्वारा दी जाती थी, परन्तु अब कहीं २ हाई स्कूल और एफ० ए० तक की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा बना दी गई है। आर्य-समाज ने प्रारम्भ से ही इस बात का प्रयत्न किया कि शिक्षा बालक की मातृभाषा द्वारा दी जावे। ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के सदस्यों के लिये आर्यभाषा (हिन्दी) जानना आवश्यक बताया था। गुरुकुलों ने शिक्षा हिन्दी द्वारा देना प्रारम्भ किया। गणित विज्ञान आदि की पुस्तकें हिन्दी में लिख-वायीं गयी, जिससे इस कार्य में बड़ी सहायता मिली। आज यह बात साधारण सी लगती है, पर उस समय यह एक अनहोनी बात थी। माननीय श्रीनिवास शास्त्री ने गुरुकुल को देखकर यह विचार बनाया कि महाविद्यालय (कालेज) विभाग में भी भारतीय भाषायें शिक्षा का माध्यम हो सकती हैं।

जातीयता अथवा राष्ट्रीयता की भावना—आर्यसमाज की शिक्षा नीति में राष्ट्रीयता का प्रचार मुख्य था। भारत और भारत के हित की बातों से प्रेम आर्यसमाज की घुटी में मिला हुआ था। फिर आर्य समाज की शिक्षा में इसका अभाव किस प्रकार हो सकता था। आर्य-समाज की संस्थाओं का वातावरण राष्ट्रीयता के भावों का उत्पादक बन गया। राष्ट्रीयता में बाधक बातों को वहां से दूर रखा गया और राष्ट्रीयता को अपनाने वाली बातों को वहां स्थान दिया गया। पश्चिमीय विद्वानों के लिखे भारत के इतिहास राष्ट्रीयता के लिये घातक समझे गये-उनके स्थान पर ऐसे इतिहास तैयार कराये गये जिनसे भारत का गौरव बढ़े और राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन मिले। विद्यार्थियों पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार के अन्य अनेक कार्य किये गये।

विज्ञान आदि की शिक्षा—ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में विद्यार्थियों को पढ़ाये जाने वाले विषयों की सूची का संकेत किया है। उसमें अनेक विषय आ जाते हैं। आर्यसमाज ने उससे एवं समय की प्रगति से लाभ उठाया। संस्कृत, वेद, धर्म आदि की शिक्षा के साथ २ आधु-निक विज्ञान आदि की शिक्षा को भी उचित स्थान दिया गया।

उद्योग, कला कौशल की शिक्षा—की ओर भी आर्य समाज ने ध्यान दिया। १८८३ में निर्धारित हुए डी. ए. वी. स्कूल की स्थापना के उद्देश्यों में से दूसरा उद्देश्य यह था—औद्योगिक शिक्षा के लिये यथाशक्ति प्रबन्ध करना। इस प्रकार आज जिस शिक्षा को इतना महत्वपूर्ण समझा जा रहा है उसका सूत्र पात भारत के आधुनिक उत्थान के युग के उषाकाल में ही आर्यसमाज ने कर दिया था।

स्त्री शिक्षा—ऋषि दयानन्द के समय में भारत में स्त्री शिक्षा का एकदम अभाव था। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति हीनतम दशा को पहुँच चुकी थी। अत्यन्त छोटी आयु में उनका

विवाह हो जाता था और वे केवल गृहस्थी की वस्तु समझी जाती थीं। वे पठन पाठन के एकदम अयोग्य मानी जाती थीं। वैदिक आदर्श की आत्मा को समझने वाले ऋषि से स्त्रियों की यह दयनीय दशा न सही गयी। उन्होंने उनकी उन्नति का भी बिगुल बजा दिया। उन्होंने वेद में से खोज कर निकाला कि 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'। जब कन्या ब्रह्मचर्य आश्रम में रह सकती है तब शिक्षा एवं वेदादि सत् शास्त्रों के अध्ययन से किस प्रकार वञ्चित की जा सकती है। आर्यसमाज ने लड़कों के गुरुकुलों के साथ २ लड़कियों के गुरुकुल भी खोले और लड़कों के स्कूलों के साथ साथ लड़कियों की पाठशालायें खोली गईं। इनमें लड़कियों को लड़कों के समान शिक्षा दी गई—वे लड़कों के समान पढ़ने-लिखने, सन्ध्या-हवन आदि करने लगीं, जिसे जनता ने आश्चर्य और प्रसन्नता के साथ देखा।

अछूतों की शिक्षा—समाज का एक दूसरा अङ्ग जिसकी शताब्दियों से अवहेलना की गई थी अछूतों का विभाग था। हिन्दू समाज में चतुर्थ वर्ग के लोग अस्पृश्य समझे जाते थे; उनके साथ उच्चवर्ण के हिन्दुओं के कोई सामाजिक सम्बन्ध न थे। सामाजिक दृष्टि से हीन होने के साथ २ वे शिक्षा आदि में भी पिछड़े हुए थे। हिन्दू मनोवृत्ति उनकी शिक्षा के विरुद्ध थी—उनमें स्वयं शिर उठाने की क्षमता न थी। ऋषि दयानन्द से मनुष्यों के एक भाग की यह दशा न देखी गई। उन्होंने उनकी उन्नति का भी बीड़ा उठाया। आर्यसमाज ने उनकी शिक्षा का भी प्रबन्ध किया। सैंकड़ों की संख्या में उनके लिये दिन अथवा रात्रि की पाठशालायें खुल गईं। इसके अतिरिक्त अछूत बालक बालिकायें सवर्ण हिन्दुओं के बच्चों के साथ भी पढ़ने लगीं। इससे पहिले तो जनता चौंकी, पर बाद में उसे यह सहना पड़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यसमाज ने शिक्षा को अधिक से अधिक उपादेय एवं विस्तृत बनाने की चेष्टा की। उसने शिक्षा की आत्मा और शरीर दोनों की ओर ध्यान दिया। यहां तक हमने आर्यसमाज के शिक्षा-कार्य की आत्मा की ओर संकेत किया है—आगे की पंक्तियों में उसके शरीर का दिग्दर्शन मिलेगा।

आर्यसमाज की शिक्षा संस्थायें कई प्रकार की हैं। हम उनका अलग २ परिचय देंगे।

वैदिक शिक्षणालय एवं पाठशालायें—जैसा ऊपर कहा जा चुका है ऋषि दयानन्द ने अपने जीवन में ही काशी, फर्रुखाबाद, मथुरा आदि में कुछ ऐसी पाठशालायें खुलवायी थीं जिनमें संस्कृत एवं वेदादि की शिक्षा दी जाती थी। ये पाठशालायें अधिक उन्नत न हो सकीं। बाद में अनेक इस प्रकार की पाठशालायें खुल गयीं जो अब भी चल रही हैं।

दयानन्द एङ्गलो-वैदिक स्कूल्स तथा कालेज—पहिले संकेत किया जा चुका है कि ऋषि दयानन्द की मृत्यु के १० दिन बाद ही लाहौर में यह निश्चय किया गया कि उनकी स्मृति में दयानन्द एङ्गलो-वैदिक स्कूल खोला जावे। स्कूल का उद्देश्य उसके नाम से स्पष्ट हो जाता है। पहिला शब्द दयानन्द है, जिसका तात्पर्य है कि संस्था ऋषि दयानन्द के कार्य की प्रशंसा में, उनके

आदर्शों को क्रियात्मक रूप देने के लिये खोली गयी थी। एङ्गलो शब्द इस बात का द्योतक है कि उसमें अंग्रेजी तथा पश्चिमीय विज्ञान आदि की शिक्षा के लिये भी स्थान था। वैदिक शब्द बताता है कि संस्था में वेद, संस्कृत, धर्म, सदाचार आदि की शिक्षा दी जावेगी और उसमें वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति का वातावरण रहेगा। स्कूल सोसायटी के कर्णधारों ने संस्था के जो उद्देश्य रजिस्टर्ड कराये उनमें यही बात कही गयी थी। संक्षेप में वे उद्देश्य ये थे—

(१) आर्य (हिन्दू) साहित्य के स्वाध्याय को उन्नत एवं उत्तेजित करना।

(२) संस्कृत तथा वेद की शिक्षा को उत्तेजित एवं प्रचलित करना।

(३) अंग्रेजी तथा पश्चिमीय विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध करना।

इन उद्देश्यों के साथ जून १८८६ को स्कूल की स्थापना की गयी। पहिले महीने में ही छात्रों की संख्या ६०० होगई। धीरे २ स्कूल उन्नति करता चला गया। जून १८८९ में कालेज विभाग खोल दिया गया। कुछ वर्षों में ही वह भी एक बड़ी संस्था होगई और कालान्तर में छात्रों की संख्या की दृष्टि से वह उत्तरीय भारत का प्रथम और सम्पूर्ण भारत का, सम्भवतः, द्वितीय कालेज होगया। उसमें संस्कृत, हिन्दी और धर्म की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध किया गया। संस्था में पढ़ाने वाले सभी भारतीय रखे गये। सरकार से किसी प्रकार की आर्थिक सहायता नहीं ली गयी। यह बात संचालकों की स्वतन्त्र मनोवृत्ति की परिचायक है। संस्था की उन्नति का सबसे अधिक श्रेय महात्मा हंसराज जी को है, जो २९ वर्ष तक पहिले स्कूल के अवैतनिक हैडमास्टर और बाद में कालेज के अवैतनिक प्रिन्सिपल रहे।। आपके त्याग और कर्मण्यता का प्रभाव औरों पर भी अच्छा पड़ा और अनेक लोग सामान्य जीविकामात्र लेकर कार्य करने को उद्यत हो गये। कालेज का आश्रम भी खोल दिया, जिसमें ७०० से अधिक छात्र रहने लग गये।

लाहौर की देखा देखी पञ्जाब के अन्य स्थानों पर भी स्कूल तथा कालेज स्थापित किये जाने लगे और अब इन संस्थाओं का पंजाब में एक जाल सा बिछ गया है। गवर्नमेण्ट के अतिरिक्त अन्य किसी एक संस्था के आधीन अथवा प्रबन्ध में इतने स्कूल और कालेज न होंगे। पंजाब की आर्यसामाजिक संस्थाओं का बजट पंजाब के शिक्षा विभाग के बजट से टक्कर लेता है—यह कम गौरव की बात नहीं है। पंजाब के बाद संयुक्तप्रान्त में भी 'दयानन्द एङ्गलो वैदिक ट्रस्ट एण्ड मैनेजमैण्ट सोसायटी, यू०पी की स्थापना की गई। सोसायटी ने पहिले मेरठ में डी०ए०वी० स्कूल खोला जो १९०४ में देहरादून चला गया और अब वहीं एक इन्टरमीडियेट कालेज के रूप में है। इसके बाद इसी सोसायटी ने १९१८ में कानपुर में एक डी०ए०वी० कालेज स्थापित किया जो प्रान्त की प्रमुख संस्थाओं में है। इसी सोसायटी का कानपुर में एक डी०ए०वी० हाई स्कूल भी है। इसके अतिरिक्त प्रान्त में अन्य अनेक स्थानों पर स्कूल खोले गये और बनारस तथा लखनऊ में कालेज भी। आर्यसमाज के प्रचार के साथ २ राजपूताना, मध्यप्रदेश, बम्बई बिहार आदि में भी आर्यसमाज की शिक्षा संस्थायें स्थापित होगईं।

गुरुकुल—दयानन्द ए० वैदिक स्कूल और कालेज की स्थापना के समय यह भावना अवश्य थी कि उनमें संस्कृत, वेद, धर्म आदि की शिक्षा भी दी जावे। वह दी भी गयी, पर अंग्रेजी आदि के कारण उसको वह महत्व न मिल सका जिसके वह योग्य थी। यह देखकर कुछ आर्यसमाजियों में असन्तोष पैदा होने लगा। वे इस प्रकार की शिक्षा के विरोधी होगये और कहने लगे कि इन संस्थाओं में संस्कृत, वेद आदि को प्रमुख स्थान मिलना चाहिये। पर दूसरे दल के सामने उनकी न चली। तब उन्होंने अलग कार्य करने का विचार किया। १८९८ में आर्यप्रतिनिधि सभा, पंजाब ने एक उपदेशक विद्यालय की रूप रेखा बनायी, जिसमें आर्य ग्रन्थों की पढ़ाई का प्रबन्ध किया गया। बढ़ते २ इसी भावना ने महात्मा मुंशीराम की देखरेख में गुरुकुल का रूप धारण कर लिया। १९०२ ई० में उन्होंने हरद्वार में गुरुकुल की स्थापना की और उसके लिये जीवन दान दे दिया। अपने इस कार्य से म० मुंशीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) अमर होगये। इधर युक्तप्रान्त में इससे ३ वर्ष पूर्व ही सिकन्दराबाद में स्वामी दर्शनानन्द जी एक गुरुकुल की स्थापना कर चुके थे—जो बाद में फर्रुखाबाद पहुँचा और अब वृन्दावन में है। इसके बाद पंजाब, युक्तप्रान्त, गुजरात, बम्बई आदि प्रान्तों में अनेक गुरुकुलों की स्थापना होगई।

डी०ए०वी० स्कूल्स में उतनी मौलिकता और विचित्रता न थी जितनी गुरुकुलों में। गुरुकुल तो एकदम नई चीज़ थी। इनके बारे में प्रो० सिडनी वेब ने लिखा है कि 'गुरुकुल सम्भवतः सारे संसार में शिक्षासम्बन्धी सबसे अधिक आकर्षक परीक्षण है'। इङ्गलैण्ड के भूतपूर्व प्रधान सचिव श्री रैम्से मैकडोनल्ड ने लिखा है कि "मैकाले के बाद भारत में शिक्षा के क्षेत्र में जो सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक प्रयत्न हुआ है वह गुरुकुल है।" संयुक्तप्रान्त के तत्कालीन गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने लिखा था कि 'गुरुकुल एक आदर्श शिक्षा संस्था है।" बात यह है कि इन गुरुकुलों में भारत के प्राचीन शिक्षा के आदर्श को सामने रखकर कार्य होता है, जिसकी ओर ऋषि दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश में संकेत किया था। इनकी आश्रम व्यवस्था अनोखी है। सब वर्गों और श्रेणियों के बालक बिना किसी भेदभाव के एक जैसे रहते हैं। उनका भोजन, रहन सहन, वस्त्र, वेषभूषा सब एक जैसा होता है। ब्रह्मचारी पैसे नहीं रखते, घर नहीं जाते, छाता, जूता, टोपी आदि का प्रयोग नहीं करते। नगर से दूर जंगल में रहते हैं। शहर के लोगों से, यहां तक कि अपने सम्बन्धियों से भी कोई संपर्क नहीं होता। शिक्षा का माध्यम हिन्दी। पाठ्य पुस्तकें अपनी। न तो सरकार से सहायता लेना न उसकी पुस्तकें पढ़ानी। यह कोई साधारण कार्य नहीं। इसकी जितनी प्रशंसा की जावे कम है।

कन्या पाठशालायें—कन्याओं की शिक्षा के लिये स्थान २ पर अनेक गुरुकुल, कालेज, हाईस्कूल तथा पाठशालायें खोली गईं, जिनमें सहस्रों बालिकायें शिक्षा प्राप्त करती हैं। इन सब संस्थाओं में आर्यसामाजिक वातावरण न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता है।

अछूत पाठशालायें—इसी प्रकार अछूतों की अनेक पाठशालायें स्थापित की गईं। इनसे अछूतों की दशा सुधारने में बड़ी सहायता मिली।

अनाथालय—उपर्युक्त प्रकार की संस्थाओं के अतिरिक्त आर्यसमाज ने अनेक अनाथालय अथवा अन्य ऐसी संस्थायें खोलीं जिनमें अनाथों के पालन पोषण के अतिरिक्त उनकी शिक्षा का भी प्रबन्ध है।

औद्योगिक शिक्षणालय—पहिले डी. ए. वी. स्कूल लाहौर के साथ ही दर्जी विभाग आदि खोले गये, फिर अन्य संस्थाओं ने भी ऐसे विभाग खोले और इस प्रकार की अनेक स्वतन्त्र संस्थायें भी खोली गयीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यसमाज के शिक्षा कार्य का शरीर भी विशाल है। नीचे के चित्र से उसका अनुमान हो सकता है—

प्रान्त का नाम	कालेजों की संख्या	स्कूलों की संख्या	गुरुकुलों की संख्या	कन्या गुरुकुलों तथा पाठशालाओं आदि की सं०	अनाथालय	अन्य	योग
१. पंजाब	९	५३	१३	१०३	११	५१	= २४०
२. संयुक्त प्रान्त	५	२९	११	६८	१६	३०	= १५९
३. राजपूताना	१	४	१	९	१	८	= २४
४. मध्यप्रदेश		१	१		१	४	= ७
५. बिहार		१३	२	१४	३		= ३२
६. बंगाल		३		३		१०	= १६
७. मद्रास			१				= १
८. बम्बई	१		४	१	२	५	= १३
९. हैदराबाद		१	१	४		११	= १७
१०. सिन्ध		१		१		६	= ८
११. ब्रह्मा		५		२	१		= ८
योग	१६	११०	३४	२०५	३५	१२५	= ५२५

उपर्युक्त संख्यायें मुख्यतया 'आर्य डायरेक्टरी' (१९४१) से ली गई हैं। हमारे विचार से ये अपूर्ण हैं। सब संस्थाओं की संख्या ५२५ से कहीं अधिक होगी। यदि इतनी ही मान ली जावे तब भी यह आर्यसमाज के लिये गौरव की बात है।

आशा है भविष्य में आर्य समाज इस कार्य में और उन्नति करेगा।

आर्यसमाज की गति विधि

(लेखक—श्री प० भीमसेन जी विद्यालंकार लाहौर)

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी का जीवन, ऋषि दयानन्द जी द्वारा पुनरुज्जीवित आर्य-धर्म के आदर्शवाद और व्यवहारवाद का जीवित जाग्रत चित्र है। महात्मा नारायण स्वामी जी ने वैदिक आदर्शवाद और वैदिक व्यवहारवाद का प्रचार करने के लिये वाणी तथा लेख द्वारा लगातार प्रयत्न किया। इसी भावना से प्रेरित होकर आपने ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम में क्रमशः दीक्षित होते हुए, आर्यभाइयों के सामने वैदिक आश्रम मर्यादा के पालन करने का आदर्श पेश किया आर्यसमाज की वर्तमान गतिविधि में उनका काफी भाग है। परन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि जिन अवस्थाओं और वातावरण में उन्होंने कार्य आरम्भ किया था—वह अवस्थाएं और वातावरण बदल चुका है—

इस समय तक आर्यसमाज मुख्यतया समाज सुधार और प्राचीन वैदिक साहित्य प्रचार के कार्य में लगा रहा। भारतीयों को इन दोनों की अत्यन्त आवश्यकता थी। इन दो कार्यों ने भारतीयों में सामाजिक जाग्रति और भारतीयता के लिये गौरवपूर्ण भावनाएं राष्ट्र में पैदा कर दी हैं। परन्तु अब राष्ट्र के सामने नये २ प्रश्न पैदा हो रहे हैं। रशियन साम्यवाद, युरोपियन राष्ट्रीयता की विचार धाराओं के कारण भारतवर्ष में अनेक प्रकार की विचार धारायें पैदा हो रही हैं। यही नहीं भारतीय जनता के विविध समुदायों में सामुदायिक और राजनैतिक जाग्रति पैदा होने के कारण नई २ समस्यायें पैदा हो रही हैं। इसके कारण आर्यसमाज के सामने भी अनेकों प्रश्न उपस्थित हैं। प्रश्न यह है कि क्या आर्यसमाज अब भी इन्हीं समाज सुधार तथा शिक्षा प्रचार सम्बन्धी कार्यों तक अपनी शक्तियों को सीमित रखे या अपने कार्य क्षेत्र को विस्तृत करे।

हमारी सम्मति में, समाज सुधार तथा शिक्षा प्रचार के कार्यक्षेत्र को कोई भी प्रगतिशील समाज नहीं छोड़ सकता। इस समय तो देश तथा विश्व की राजनैतिक संस्थायें भी, इन क्षेत्रों को राजनैतिक उन्नति का मूल मानकर उनमें प्रवेश कर रही हैं। कांग्रेस अछूतोद्धार तथा शिक्षा क्षेत्र में इसी दृष्टि से विशेष ध्यान दे रही है। हमारी सम्मति में आर्यसमाज के लिये कार्य क्षेत्र परिवर्तन का प्रश्न नहीं है। उसके सामने कार्य करने की पद्धति अर्थात् साधनों में परिवर्तन करने का प्रश्न है। इस समय आर्य समाज जिन साधनों का प्रयोग कर रहा है–उन साधनों की कार्यक्षमता पर विचार करने की आवश्यकता है। यह भी सोचना चाहिये कि वर्तमान परिस्थिति में उन साधनों में परिवर्तन होना चाहिये या नहीं। यदि कोई व्यक्ति इस कला प्रधान युग में केवल बैलगाड़ी पर चलकर दुनिया की भाग दौड़ में नाम लेना चाहेगा तो विचार शील व्यक्ति उसे मूर्ख कहेंगे। इसी प्रकार से अब धर्म समाज के सामने भी साधनों में परिवर्तन करने की आवश्यकता उपस्थित है।

प्रचार क्षेत्र में हम वैतनिक या अवैतनिक उपदेशकों द्वारा व्याख्यानों से प्रचार करा रहे हैं। इन वैतनिक या अवैतनिक उपदेशकों की कार्य पद्धति तथा योग्यता को देखते हुए नयी युवक शक्ति इस लाइन में इस ढंग से काम नहीं करना चाहती। कोई उपदेशक-वैतनिक अवैतनिक अपने पुत्र को सभा का वैतनिक या अवैतनिक उपदेशक नहीं बनाना चाहता। साधारणतया वह किसी

शिक्षा संस्था में काम करता हुआ थोड़ा बहुत समय प्रचार के काम में लगाना चाहता है। वैतनिक, या अवैतनिक उपदेशकों के स्थान पर वानप्रस्थी तथा सन्यासी इस काम को कर सकते हैं परन्तु वह पर्याप्त संख्या में नहीं मिलते। इस समस्या को हल करने के लिये हमारी सम्मति में दो ही उपाय हो सकते हैं—प्रथम मौखिक प्रचार के स्थान पर लेख बद्ध प्रचार-अर्थात् साहित्य निर्माण द्वारा (स्वदेशी विदेशी भाषाओं में) आर्यसमाज का प्रचार किया जाय। योग्य व्यक्तियों को, विद्वान् शास्त्रियों को तथा स्नातकों को पर्याप्त मासिक पुरस्कार देकर उन्हें पुस्तक लिखने के कार्य पर नियत किया जाय। इस काम के लिये धन संग्रह का काम उनके सुपुर्द न किया जाय। यह कार्य सभा, समाजों के अधिकारी करें। आर्य शिक्षा संस्थाओं में भी अध्यापन कार्य के साथ २ साहित्य निर्माण का कार्य किया जाय। इसके लिये अध्यापकों को नियत वेतन के अतिरिक्त पुरस्कार दिया जाय। इसी प्रकार से आर्यसमाजी समाचार पत्रों द्वारा किये जा रहे साहित्य निर्माण के कार्य में भी परिवर्तन होना चाहिये। आर्यसमाजी समाचार पत्रों के मालिक व संचालक लेखकों से मुफ्त में लेख लिखाकर अपना कार्य चलाना चाहते हैं। इसलिये आर्य समाजी अखबारों के लेखों में गम्भीरता दिखाई नहीं देती।

दान प्रणाली—हमारी सम्मति में आर्य समाज में चन्दा इकट्ठा करने की प्रथा अब अपनी मर्यादा को लांघकर बुराई का रूप धारण कर चुकी है। हिन्दू सनातनियों की दान प्रणाली में भारी दोष यह था कि वह पात्र कुपात्र का विवेक किये बिना दान देते थे। आर्यसमाज की चन्दा प्रणाली में यह भी दोष आ रहा है कि वह हरेक से दान व चन्दा लेने की धुन में, पाप से रुपया कमाने वाले व्यक्तियों को केवल धन के कारण अनुचित सम्मान दे देते हैं, इससे आर्यसमाज जैसी क्रान्तिकारी संस्था बदनाम हो जाती है। इस दिशा में परिवर्तन होना चाहिये। ज्यादातर आर्य भाइयों से अपनी आवश्यकता अपने दशांश व शतांश के शुल्क द्वारा पूरी करनी चाहिये।

शिक्षित समाज और साधारण जनता—आर्य समाज ने अपने शिक्षणालयों में विदेशी भाषा का माध्यम हटाकर स्वदेशी भाषा द्वारा शिक्षा देकर आज के शिक्षित समाज और साधारण जनता के भेद भाव को मिटाने की कोशिश की थी। इसमें गुरुकुल जैसी संस्थाओं के द्वारा थोड़ी बहुत सफलता हुई। परन्तु शिक्षापद्धति के शिक्षा देने वाले शिक्षणालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी भाषा होने से वही बुराई अभी तक कायम है। इस बुराई ने अब एक नया रूप स्वीकार कर लिया है। पढ़े लिखे लोग हाथ का, शिल्प का काम नहीं करते। हाथ का काम करने वाले कारीगर शिक्षित नहीं होते। परिणामतः दोनों में भेद भाव बढ़ रहा है। इस भेद भाव को दूर करने के लिये शिक्षा-पद्धति में शिल्प को विशेष स्थान होना चाहिये। ऋषि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य के भावार्थों में स्थान २ पर शिल्प विद्या पर विशेष बल दिया है परन्तु अभी तक आर्यसमाज इस दिशा में गहरी उपेक्षावृत्ति से काम कर रहा है। इस दिशा में भी परिवर्तन होना चाहिये। तभी आर्यसमाज साधारण जनता का धर्म बन सकेगा।

हम आशा करते हैं कि आर्य भाई आर्य समाज की गतिविधि में परिवर्तन करने के लिये इन प्रस्तावित विचारों पर विशेष रूप से ध्यान देंगे।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली

(लेखक—श्री पं० देवराज जी विद्यावाचस्पति)

वर्तमान समय में भारतवर्ष के अन्दर विदेशी प्रभाव को निरन्तर बढ़ते हुए देख कर ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में यहां के विद्वान् नेताओं को पुनः गुरुकुल शिक्षण प्रणाली द्वारा शिक्षा देने का आदेश दिया है। वर्तमान सरकारी स्कूलों और कालिजों में शिक्षण का माध्यम इङ्गलिश भाषा को रक्खा गया है। इङ्गलिश भाषा को माध्यम रखने से भारतीय विद्यार्थी पाठ्य विषयों को सरलता से ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिये उनकी ज्ञान वृद्धि सरलता से नहीं हो सकती। विद्यार्थियों को परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये बहुत सा पाठ्य विषय इङ्गलिश टीकाओं के आधार पर केवल याद कर लेना पड़ता है। इङ्गलिश भाषा का बोझ प्रारम्भ से ही विद्यार्थियों पर पड़ने से और उसी के अभ्यास में उनका समय व्यतीत होने से विद्यार्थी अपनी मातृभाषा, राष्ट्रभाषा और उस संस्कृत से भी सर्वथा वञ्चित रह जाते हैं जिसके अन्दर भारतीय पुरातन आर्य संस्कृति का द्योतक सम्पूर्ण संस्कृत और वैदिक साहित्य विद्यमान है। अपनी भाषा के अभ्यास से वञ्चित हुए किसी देश के वासी अपनी संस्कृति और धर्म दोनों को खो बैठते हैं। अपनी संस्कृति और धर्म को खो देने का परिणाम उस देश के निवासियों की दूसरे विदेशियों के द्वारा अत्यन्त पराधीनता होती है। मैकाले के दिमाग से निकली हुई सरकारी शिक्षण पद्धति का भारत में यही परिणाम हुआ। ऐसी घातक शिक्षण प्रणाली और उसके परिणाम को देखते हुए ऋषि दयानन्द ने भारतीयों को गुरुकुल शिक्षण प्रणाली को अनुसरण करने का आदेश दिया है। यद्यपि भारतवर्ष में भारतीयों के सौभाग्य से सरकारी शिक्षण पद्धति का प्रचार अत्यधिक मात्रा में नहीं हो सका है तो भी विदेशियों को यहां पक्का करने में थोड़े ही प्रचार से पर्याप्त बल मिला है।

ऋषि दयानन्द की गुरुकुल सम्बन्धी प्रेरणा से प्रेरित होकर महात्मा मुन्शीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) ने सन् १९०२ ई० के प्रारम्भ में गुरुकुल शिक्षण प्रणाली के मूर्तिमान् स्वरूप गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना गङ्गा के किनारे शिवालय पर्वतमाला की तराई में हरिद्वार के समीप में की। प्रारम्भ में बत्तीस ब्रह्मचारी त्याग, तपस्या और विनय के रूप में ब्रह्मचर्य व्रत का अभ्यास करने के लिये उपस्थित हुए। सचमुच पहले पहले जिन माता पिताओं ने अपने छोटे छोटे प्रिय पुत्रों को अपने से अलग करके जङ्गल में तपस्या करने के लिये महात्मा मुन्शीराम जी को सौंप दिया, निस्सन्देह उन लोगों के मन में गुरुकुल शिक्षण प्रणाली का आदर्श उपस्थित था। वैसा ही आदर्श प्रत्येक माता पिता के हृदय में उपस्थित होना आवश्यक है।

गुरुकुल शिक्षण प्रणाली का आदर्श समाज सेवा है। समाज सेवक बनने के लिये गुरुकुल शिक्षण प्रणाली प्रत्येक प्रकार का बल प्राप्त करने का आदेश देती है। ज्ञान, धन और शरीरबल समाज सेवा के लिये प्राप्त किया जाता है। ज्ञान प्राप्त करो अज्ञानियों को जीवन का सच्चा मार्ग बताने के लिये धन प्राप्त करो, निर्धन देश जाति धर्म सेवकों के पोषण के लिये और देश धर्म जाति सेवा के साधनों को उपस्थित करने के लिये, शरीरबल प्राप्त करो दुर्बलों और अबलाओं की रक्षा के लिए। गुरुकुल शिक्षण प्रणाली का आदर्श समाज सेवा होने से यह प्रणाली संघर्ष और विषमता को दूर कर समन्वय और समता को स्थापन करती है, इसी लिए इसका उद्देश्य लोक कल्याण है। लोक कल्याण की दृष्टि से यह शिक्षण प्रणाली सत्य के प्रचार का विशेष साधन है।

गुरुकुल शिक्षण प्रणाली में भिक्षाचरण का विशेष महत्व है। भिक्षाचरण की पद्धति का निर्देश ब्रह्मचारी को उपनयन और वेदारम्भ संस्कारों के समय ही कराया जाता है। ब्रह्मचारी भिक्षा मांग कर लाता है और उसे आचार्य के अर्पण कर देता है। आचार्य उसमें से कुछ ग्रहण करके ब्रह्मचारी के लिये जो कुछ उचित समझता है वह उसे भोजन के लिये दे देता है। इस प्रकार आचार्य और ब्रह्मचारी दोनों का भरण सुचारुरूप से चलता है।

इसके अतिरिक्त गुरुकुल शिक्षण प्रणाली की एक विशेषता वेदारम्भ संस्कार के समय बालक को धारण कराये जाने वाले दण्ड आदि निर्भयता और वीरता के सूचक साधनों से प्रतीत होती है। दण्ड दमन का निर्देश कर सकता है। आन्तर सूक्ष्म सात्विक प्रेममयी वृत्तियों की साधना ब्रह्मचर्याश्रम में करनी है तो बाह्यस्थूल राजस तामस कलहकारिणी भोग प्रधान वृत्तियों का दमन करो। दमन करने का अर्थ है भोग प्रदान वृत्तियों की शक्तियों को मोड़कर पारस्परिक त्यागमय वृत्तियों के रूप में बदल दो।

प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्ति तैयार करने के लिये आवश्यक है कि गुरुकुल में सर्व प्रकार की शिक्षा दी जावे अर्थात् प्रत्येक वर्ण की ऊंची से ऊंची शिक्षा दी जावे, ब्राह्मण वर्ण में दीक्षित स्नातक ज्ञान और कर्म में इस प्रकार सम्पन्न हों कि सम्पूर्ण समाज को यथायोग्य ज्ञान और कर्म के मार्ग पर चला सकें। क्षत्रिय वर्ण में दीक्षित स्नातक इस प्रकार दयाभाव से सम्पन्न हों कि किसी के दुःख को देखकर उसके निवृत्त करने में अपनी जान और माल की भी परवाह न करें। वैश्य वर्ण में दीक्षित स्नातक अर्थसञ्चय करते हुए दान धर्म के लिये इतने उत्सुक रहते हों कि अर्थ की दृष्टि से राष्ट्र की किसी प्रकार की उन्नति रुके नहीं। गुरुकुल ऐसे श्रमजीवियों को भी तैयार करे जो राष्ट्रहित के लिये अपने आपको न्योछावर कर सके। इसी पूर्वोक्त विषय को हम यूं कह सकते हैं कि सच्चे नागरिक तैयार करना गुरुकुल का उद्देश्य है। नागरिकों में सचाई का स्वरूप यह है कि परस्पर अत्यन्त विश्वास हो और शत्रु भी उनकी सचाई पर आक्षेप न कर सकते हों। निष्कपटता उनके जीवन में रम रही हो।

इस प्रकार गुरुकुल ज्ञानी, रक्षक वीर, धनी और श्रमी सब प्रकार के मनुष्य उत्तम से उत्तम रूप में तैयार करना चाहता है। गुरुकुल का उद्देश्य अत्यन्त विस्तृत है। समाज को सुसंस्कृत करने के लिये गुरुकुल का प्रयत्न है।

कुछ विशेषतायें—

१—सदाचार की शिक्षा का पूर्ण प्रयत्न करना।

२—ब्रह्मचर्याश्रम के नियम पालन करने से और नियमित दिनचर्या के अनुसार अपना जीवन रखने से स्वस्थ और पवित्र जीवन बन जाना।

३—बच्चे दुर्व्यसनों से बच जाते हैं। तम्बाकू, चाय, पान, सिगरेट, हुक्का, भांग, चरस, गांजा, अफीम, शराब और मान्स आदि दुर्व्यसन उनके पीछे नहीं लगते। गाली और दुराचार से वे नितान्त दूर रहते हैं। २५ वर्ष की अवस्था से पहिले वे विवाह नहीं कर सकते।

४—ब्रह्मचारी प्रकृति की गोद में रहते हुए शहरों के अपवित्र वायुमण्डल से बच जाते हैं।

५—जङ्गलों में रहने से ब्रह्मचारियों में निर्भयता और साहस के गुण विशेष बढ़ जाते हैं। धैर्य और उत्साह उनमें विशेष दिखाई देता है। उनका जीवन स्वतन्त्रता का जीवन होता है। गुलामी का भाव उनसे कोसों दूर भागता है।

६—राष्ट्रनिर्माण की दृष्टि से गुरुकुल शिक्षण पद्धति सच्ची राष्ट्रीय संस्था है। गुरुकुल में शिक्षण का आधार वेद (आर्य विज्ञान) निःसंकोच होकर स्वीकार किया गया है और वैदिक संस्कृति के जल से राष्ट्र वृक्ष को सींचने का सतत प्रयत्न किया जा रहा है। वे ही सच्चे अर्थों में राष्ट्र के हितैषी हैं जो वेद और वैदिक संस्कृति के आधार पर राष्ट्र निर्माण करना चाहते हैं। अतः गुरुकुल पद्धति सच्चे अर्थों में राष्ट्र निर्माण का कार्य करने वाली राष्ट्रीय संस्था है।

७—विदेशी सरकारी सहायता से गुरुकुल सर्वथा अलग रहते हैं। अतः गुरुकुल से शिक्षित व्यक्तियों को अपनी योग्यता के आधार पर जीवन संघर्ष में अपने जीवन के लिये अपने आप रास्ता निकालना पड़ता है। गुरुकुल पद्धति के द्वारा देश का बालक स्वावलम्बी बनता है। इस प्रकार गुरुकुल ही सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय शिक्षणालय है।

८—स्वामी दयानन्द ने भारत में आर्यसमाज की स्थापना, विदेशी शासन के अन्दर, स्वशासन के रूप में की है। स्वामी दयानन्द के द्वारा निर्दिष्ट आर्यसमाज का स्वरूप विदेशी शासन के साथ पूर्ण असहयोग को प्रदर्शित करता है। राष्ट्र के हित चिन्तक लोग आर्यसमाज के स्वरूप का अध्ययन करें तो उन्हें स्पष्ट पता लगेगा कि आर्यसमाज ही राष्ट्र को सच्चे अर्थों में निर्माण करने वाली एक मात्र संस्था है। आर्यसमाज ने राष्ट्रीय कार्यकर्ता तैयार करने के लिये देश में गुरुकुल पद्धति का प्रसार किया है। अतः गुरुकुल आर्यसमाज की संस्था होने से, आर्यसमाज के लक्ष्य का साधन होने से, निस्सन्देह गुरुकुल पूर्ण अर्थों में राष्ट्रीय शिक्षणालय है।

९—दयानन्द ने आर्यसमाज को जिस प्राचीन वैदिक संस्कृति का उद्धार करने के लिए जन्म दिया है वह संस्कृति ही भारतीय संस्कृति वा राष्ट्रीय संस्कृति है। उसी संस्कृति का प्रसार करना गुरुकुल का ध्येय है। इस कारण गुरुकुल एक उत्तम राष्ट्रीय शिक्षणालय है।

१०—गुरुकुल की स्थापना सरकार के सब प्रकार के सम्बन्धों को पृथक् रख कर की गई

है। सरकार की डिग्री का मोह छोड़े बिना और सरकारी पैसे का लोभ छोड़े बिना सरकार के पंजे से पृथक रहना असम्भव है।

११—गुरुकुल के विद्यार्थियों में देश प्रेम की उमंग और भारत को स्वाधीन देखने की इच्छा विशेष पाई जाती है। देश प्रेम का रस स्वच्छन्दता से उसी संस्था में बह सकता है जो सरकार से सर्वथा असम्बद्ध हो। गुरुकुल के विद्यार्थी ऐसे स्वाधीन खुले वायु मण्डल में पलते है जो स्वराज्य का सा वायुमण्डल हो। विद्यार्थियों के लिये ऐसे वायुमण्डल को उपस्थित करने के कारण गुरुकुल सचमुच एक राष्ट्रीय संस्था है।

१२—भारतीय संस्कृति के प्रचार के लिये भारत का गौरवपूर्ण सच्चा इतिहास पढ़ाया जाना आवश्यक है। गुरुकुल में भारत का गौरवपूर्ण इतिहास का पढ़ाया जाना गुरुकुल के राष्ट्रीय शिक्षणालय होने की सच्ची पहिचान है।

इसी के साथ मातृभाषा व राष्ट्रभाषा (हिन्दी वा आर्यभाषा) द्वारा उच्च से उच्च शिक्षा देना गुरुकुल की भारी विशेषता है।

१३—गुरुकुल में शुद्ध खादी के व्यवहार का प्रयत्न रहना गुरुकुल के राष्ट्रीय शिक्षणालय होने को सूचित करता है।

१४—किसी भी संस्था के राष्ट्रीय जीवन का निर्माण केवल राजनैतिक आधार पर नहीं हुआ करता प्रत्युत उस राष्ट्र की संस्कृति के आधार पर हुआ करता है जिस संस्कृति के द्वारा उस राष्ट्र का अन्य राष्ट्रों से पृथक् अपनापन प्रतीत हुआ करता है। इस प्रकार गुरुकुल के जीवन का निर्माण भारतीय संस्कृति को लेकर है जो अखण्ड भारत-राष्ट्र की संस्कृति है। अतः राष्ट्र निर्माण की दृष्टि से गुरुकुल एक सच्ची राष्ट्रीय संस्था है। गुरुकुल उस स्वराज्य को स्वीकार करता है जो आदर्श वैदिक संस्कृति के आधार पर बना हुआ है। वैदिक संस्कृति के आधार पर प्राप्त स्वराज्य राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार के स्वराज्यों को प्राप्त कराने वाला है।

१५—गुरुकुल अपने वास्तविक रूप में सर्व श्रेष्ठ राष्ट्रीय संस्था है। संस्कृत भाषा, वेद की शिक्षा तथा ब्रह्मचर्य आदि विशेषताएं गुरुकुल की गम्भीर राष्ट्रीयता के ही परिचायक हैं।

वर्तमान काल में गुरुकुल शिक्षण प्रणाली का स्वरूप आर्यसमाज का दिया हुआ है। आर्यसमाज के सामने राजनैतिक, आर्थिक, औद्योगिक और धार्मिक समस्यायें हैं। उनके हल करने में आर्यसमाज सतत प्रयत्नशील है। आर्यसमाज को ऐसे विद्वानों की आवश्यकता थी जो प्राचीन वैदिक संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने के लिये लोगों के मिथ्या विश्वासों को शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियों से दूर कर सकें। इसके लिये आर्यसमाज ने गुरुकुलों की खूब उन्नति की।

वर्तमान गुरुकुल शिक्षण प्रणाली में चर और स्थिर तत्वों का योग (Synthesis) हुआ है। यह यौगिक प्रणाली मानव जगत् का परम कल्याण करने वाली है। वेद में इसी भाव को इस प्रकार कहा है—

"भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम् ।"

भूत स्थितिशील और भव्य (भविष्यत्) गतिशील है । दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और एक दूसरे के रूप में बदल जाते हैं । स्थिर और चर तत्वों का योग शिव और शक्ति का योग है । गुरुकुल शिक्षण प्रणाली के द्वारा शिव शक्ति के योगमय तत्व की उपासना गुरु शिष्य के अध्यात्म योगमय सम्बन्ध के रूप में अच्छी तरह हो रही है । इसी उपासना के फलस्वरूप विशेषताओं से भरी हुई विप्र बुद्धियां उत्पन्न हुआ करती हैं ।

लार्ड मैकाले द्वारा प्रचलित की गई शिक्षा प्रणाली का आज यह परिणाम है कि भारत के विश्व विद्यालय बेकारों को पैदा करने के कारखाने बन गये हैं । सर तेजबहादुर सप्रू और सच्चिदानंद सिन्हा ने कहा है कि आज कल के शिक्षणालय बेकारों के कल कारखाने हैं । सी.वाई. चिन्तामणि ने लिखा है कि शिक्षित लोग फैशन के पुतले हैं । जैसे रोटी के टुकड़े पर हज़ारों भिखमंगे लपकते हों वैसी ही दशा शिक्षित ग्रेजुएटों की है । चालीस रुपये की पोस्ट पर चार हज़ार ग्रेज्युएट्स के प्रार्थना पत्र आते हैं । जिनके पास ऐसी नौकरी के लिये ऐसे प्रार्थना पत्र जाते हैं वे कहते हैं कि हमें अधिक शिक्षित व्यक्तियों से काम लेने में लज्जा आती है ।

अपने देश की शिक्षा में परिवर्तन देखकर भी राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द ने अपनी संस्कृति और विचार को नहीं छोड़ा । राजा राममोहनराय ने पश्चिम की ओर बहते हुए युवकों का ध्यान उपनिषदों के पवित्र आदर्शों और सन्देशों की ओर खींचा, किन्तु स्वामी दयानन्द ने अपनी गहरी दृष्टि से भारतीय कल्याण के सूत्र का केन्द्र वेद को रक्खा । वेद जिससे सब धर्म की गंगा बही है । वेद जहां पर आकर सब मतमतान्तर अपनी विरूपता को त्याग कर एक रूप हो सकते हैं । वेद जिस पर सब भारतीय और सब संसार गर्व कर सकता है, और जो सबको एक सूत्र में संगठित कर सकता है, उस वेद की ओर स्वामी दयानन्द का ध्यान गया । शान्तिदायिनी वैदिक शिक्षा के प्रचार के लिये दयानन्द ने सतत प्रयत्न किया । और उसे स्थिर करने के लिये गुरुकुल पद्धति का प्रस्ताव संसार के सामने रक्खा । स्वामी दयानन्द के शिष्य और अन्य भक्त महात्मा मुन्शीराम जी ने ४४ वर्ष पहले अपना तन मन धन लगाकर गुरुकुल पद्धति के प्रस्ताव को क्रियात्मक रूप दे दिया । आज भारत में और देश विदेश में गुरुकुल पद्धति का अद्भुत प्रसार हो चुका है और होता चला जा रहा है । स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुन्शीराम) ने अनुभव किया कि सरकार द्वारा संचालित वर्तमान शिक्षणालय सदाचार की शिक्षा में असफल है अतः गुरुकुलों की आवश्यकता है । स्वामी श्रद्धानन्द जी गुरुकुल कांगड़ी के १६ वें वार्षिकोत्सव पर अपने दीक्षान्त भाषण में गुरुकुल की विशेषतायें गिनाते हुए कहते हैं ' गुरुकुल की अन्यतम विशेषता यह है कि बाल विवाह की जड़ यहां कट जाती है ।" गुरुकुल के नियमानुसार कोई भी विद्यार्थी २४ वर्ष की उमर तक विवाह नहीं कर सकता । गुरुकुल का अनुकरण करते हुए देवी एनीबीसेन्ट ने सेन्ट्रल हिन्दु कॉलिज में यह नियम प्रचलित

किया था कि मिडिल तक कोई लड़का दाखिल न किया जाय जो विवाहित हो। अब तो यह नियम कहीं कहीं एन्ट्रेन्स क्लास तक के विद्यार्थियों के लिये कर दिया गया है।

श्रीयुत पं० चिन्तामणी विनायक वैद्य एम.ए.,एल.एल.बी, प्रिन्सिपल तिलक राष्ट्रीय विद्यापीठ, पूना गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के २४ वें वार्षिकोत्सव पर अपने दीक्षान्त अभिभाषण में कहते हैं—'गुरुकुल का सबसे बड़ा महत्व जो कि दिल पर गहरा असर डालता है वह हरेक शिक्षार्थी विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य पालने का है'।

जिस समय भारतवर्ष के अन्दर गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का पुनरुज्जीवन हुआ तब अब से ३५ वर्ष पूर्व लेखराम और श्रद्धानन्द के उस युग में वेद और दर्शन को पढ़ाने वाला पण्डित भी नहीं मिलता था। आज के आर्यसमाज में अनेकों व्यक्ति वेद मंत्रों की व्याख्या करते हैं। पं० सातवलेकर गुरुकुल में पहिले चित्रकला के अध्यापक थे, आज उसी गुरुकुल से वेद का विचार लेकर वह वेद के व्याख्याता हैं। पं० चन्द्रमणी विद्यालंकार पालीरत्न ने निरुक्त की वह अपूर्व व्याख्या लिखी है जो बड़े सम्मान के साथ देखी जाती है। पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार मीमांसा तीर्थ ने चारों वेदों का भाष्य करके एक अपूर्व कार्य किया है। पं० देवशर्मा 'अभय' विद्यलङ्कार ने चारों वेदों से मन्त्र चुनकर ऐसी सुन्दर व्याख्या "वैदिक विनय" के नाम से की है जिसकी प्रशंसा में महात्मा गांधी जैसे दिव्यात्मा कह उठते हैं कि आर्यसमाज ने अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में यदि कोई चीज दी है तो वह "वैदिक विनय" है।

कहने वाले कहा करते हैं कि स्नातक आर्यसमाज की आवश्यकता को पूर्ण नहीं कर सके परन्तु देखने से मालूम होता है कि प्रायः सब आर्य प्रतिनिधियों के मन्त्री स्नातक हैं। उत्तम उत्तम पुस्तकें लिखकर हिन्दी की सबसे अधिक सेवा की तुलना करें तो वह गुरुकुल के स्नातकों ने की है। नास्तिकवाद तथा विकासवाद के विरुद्ध पहिली पुस्तक यदि कहीं से निकली तो वह गुरुकुल से। गुरुकुल के स्नातक सारे भारत में फैले हुये हैं और सभी प्रकार के सामाजिक राजनैतिक तथा धार्मिक कार्यों में योग दे रहे हैं।

गुरुकुल का अधिकार—

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के लिये सन् १६२० में "गुरुकुल का अधिकार भारतवासियों पर" इस रूप में एक लघु पुस्तिका प्रकाशित की थी वे गुरुकुल की विशेषताएं प्रगट करते हुये लिखते हैं—

१—असहयोग आन्दोलन में कहे गये असहयोग सम्बन्धी व्रत कठिन मालूम होते हैं, परन्तु एक प्रकार का असहयोग है जो कि सरकार रूपी पूर्ण पुरुष की नसें भी ढीली कर सकता है—वह यह कि कोई भी भारत निवासी अपनी सन्तान को सरकारी पाठशालाओं में पढ़ने न भेजे। यह एक संस्था है जिसने १६ वर्षों से असहयोगिता का प्रमाण देकर जातीय शिक्षा को स्वतन्त्र बना छोड़ा है।

२— गुरुकुल में प्राचीन ब्रह्मचर्याश्रम को पुनरुज्जीवित करने का यत्न किया जा रहा है। प्राचीन गुरुकुलों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि आचार्य और ब्रह्मचारी में पिता पुत्र का सम्बन्ध होता था। दोनों का जीवन बड़ा सरल, भोग रहित होता था और तप की प्रधानता रहती थी।

३—बाल विवाह की जड़ यहां कट जाती है। गुरुकुल के नियमानुसार कोई भी विद्यार्थी २४ वर्ष की आयु तक विवाह नहीं कर सकता।

४—जाति बन्धन की गुलामी से गुरुकुल भारतीय जनता को आज़ाद कराता है। एक कुल में १५ वर्ष तक रहकर सब भाई जाति भेद को भूल जाते है। देखने वालों को भी यह निर्णय करना कठिन होता है कि कौन ब्राह्मण का कौन शूद्र का और कौन अछूत का लड़का है।

५—जिस श्रद्धा की स्कूलों और कालिजों में जड़ कट रही है, उसका उज्वल मुख गुरुकुल में और भी परिमार्जित हो रहा है।

६—ब्रह्मचारी का तप का जीवन है। बूट कोट के बन्धनों से मुक्त, सिर पैर से नंगे, जंगलों और पर्वतों की यात्रा करने में निपुण ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त और कौन तपस्वी हो सकता है।

७—देश में गुरुकुल ही एक विश्व विद्यालय है, जिसमें शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को बनाया गया है।

गुरुकुल के विषय में विद्वानों की उच्च भावनायें—

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के ३४ वें वार्षिकोत्सव पर सर डा० गोकुलचन्द नारंग एम. ए., पी. एच. डी. अपने दीक्षान्त अभिभाषण में कहते हैं—

"मैं गुरुकुल को पुरातन संस्कृति की ध्वजा को धारण करने वाला समझता हूँ. मैं गुरुकुल को वह दीप्तिमान् केन्द्र समझता हूँ जिससे प्राचीन आलोक अब भी प्रकाशित हो रहा है, मैं गुरुकुल को उस अद्भुत शक्ति का स्रोत समझता हूँ. जो अब भी हमें उत्कृष्ट बनाये हुए है और हमें इस आशा से उत्साहित करती है कि प्राचीन आर्य सभ्यता का सूर्य एक बार फिर चमकेगा और सन्देह तथा निराशा की घन घोर घटा को छिन्न भिन्न कर देगा।"

२—गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगड़ी के २८वें वार्षिकोत्सव में (सन् १६२६) श्री मेजर वामनदास वसु आई. एम. एस. अपने अभिभाषण में कहते हैं।

'मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि जिस प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपने आदर्श और अपने सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत किया और अन्त में उन्हीं सिद्धान्तों के लिये अपने प्राणों की आहुति देने के लिये तत्पर रहे। निःसन्देह बिना शहीदों के रक्त के किसी महान् कार्य की नींव पक्की नहीं हो सकती।"

३—श्रीयुत पं० चिन्तामणि विनायक वैद्य एम.ए.एल.एल.बी प्रिन्सिपल तिलक राष्ट्रीय विद्यापीठ पूना ने गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के २४ वें वार्षिकोत्सव (सन् १६२३) में अपने दीक्षान्त अभिभाषण में प्रगट किया—

"आपकी संस्था (गुरुकुल) का सब से बड़ा महत्व जो कि दिल पर गहरा असर डालता है वह हरेक शिक्षार्थी विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य पालन करने का है।"

संस्कृत भाषा संसार की अन्य भाषाओं जैसे कि ग्रीक और लेटिन भाषाएं हैं, वैसी मृतप्रायः भाषा नहीं है। दक्षिण भारत में अब भी यह धारा प्रवाह बोली जाती है। अब भी इसमें बड़ी प्रभावोत्पादक शक्ति विद्यमान है। संस्कृत भाषा की प्रवीणता प्राचीन ऋषियों के आशय समझने में बहुत सहायक होती है।

४—श्रीयुत नरेन्द्र देव जी आचार्य काशी विद्यापीठ गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के २६ वें वार्षिकोत्सव (१६३० सन्) में अपने दीक्षान्त अभिभाषण में कहते हैं:—

"ईश्वर करे वह सुदिन शीघ्र आवे जब भारतीय स्वतन्त्र हों भारत का सन्देश संसार को सुनावें और इस प्रकार मानव जाति की सेवा करें। गुरुकुल की स्थापना इसी पवित्र उद्देश्य को लेकर हुई। सरकारी शिक्षा में जो त्रुटियां थीं उनको दूर करने के लिये तथा जातीय आदर्शों की स्थिर रक्षा के लिये ही स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल की नींव डाली थी। राष्ट्रीय शिक्षा का यह पहिला ही प्रयोग था। जिन लोगों ने गुरुकुल को नहीं देखा है उनका यह भ्रम हो सकता है कि यहां साम्प्रदायिकता का राज्य होगा और यहां से निकले स्नातक संकुचित विचार के होंगे, परन्तु जिन्होंने एक बार भी गुरुकुल को देख लिया है या जो गुरुकुल के स्नातकों की मनोवृत्ति से परिचित हो चुके हैं। उनको इस प्रकार का कोई भ्रम नहीं हो सकता। यहां उदार आर्य भाव का वायु मण्डल सदा प्रवाहित होता रहता है।"

५ - शिक्षण शास्त्री मिस्टर मायरन एच० फैल्प्स लिखते हैं—अन्य कालिजों में एम.ए. पास किये हुए विद्यार्थियों की अपेक्षा बौद्धिक शक्ति में गुरुकुल का १० वीं श्रेणी पास किया हुआ अर्थात् १७, १८ वर्ष की उम्र का विद्यार्थी अधिक उन्नत होता है, इसका कारण यह है कि गुरुकुल के ब्रह्मचारी शहरों की खटपट से रहित शान्त और प्रकृति के पवित्र वातावरण में पलते हैं, उनको शुद्ध हवा मिलती है. वे नियमपूर्वक दैनिक व्यायाम करते हैं, और नियमित जीवन व्यतीत करते हैं, इसके विरुद्ध भारतीय सरकारी कालिजों के विद्यार्थी शहरों के शोरगुल और सघन वातावरण में रहते हैं, व्यायाम की उपेक्षा उनके लिये साधारण बात है। अनियमित और असंयमी जीवन व्यतीत करना उनका स्वभाव है। परीक्षा के पहिले रातों रात जागकर मेहनत करते हैं, इस प्रकार अपने स्वास्थ्य का हनन करते हैं और जीवन में किसी गम्भीर कार्य के करने के सर्वथा अयोग्य हो जाते हैं।

गुरुकुल की बहुत सी विशेषताओं में यह बड़ी भारी विशेषता है कि वहां विद्यालय और महाविद्यालय में प्रत्येक विषय का शिक्षण मातृभाषा अथवा हिन्दी में दिया जाता है। इससे विद्यार्थी कठिन से कठिन विषय को बड़ी सुगमता से ग्रहण कर लेते हैं और अधिक योग्य बन जाते है।'

नियंत्रण—

प्रत्येक मनुष्य कैसे उठना, कैसे बैठना, कैसे सोना, कैसे, जागना, कैसे खाना, कैसे पीना इत्यादि किसी भी इन्द्रिय की क्रिया को कैसे करना, अर्थात् सब विषयों में वह बाह्य नियम से, मर्यादा से सीमा से बंधा हुआ है। अज्ञान से वा अश्रद्धा से उसको उलंघन करने के लिये प्रवृत्त होता है तो दुःख को प्राप्त होता है।

प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक विषय में उसका अपना क्षेत्र और दूसरे का क्षेत्र [illegible] और मर्यादा में रहने के लिये उसको अभ्यस्त कर देना शिक्षा का स्वरूप है और शिक्षक का कर्तव्य है। शिक्षा का स्वरूप मनुष्य को स्वतन्त्र बनाना है। बालकों तथा मनुष्यों को भी स्वतन्त्र बनाना शिक्षकों का कर्तव्य है। शिक्षार्थियों को स्वतन्त्र बनाने के लिये आवश्यक है कि प्रतिपद उनके स्वतन्त्रता के क्षेत्र को भय से सीमित कर दिया जाय, अर्थात् उनकी क्रियाओं में उन्हें स्वतन्त्र बनाते हुये बतला दिया जाय कि इसके आगे अमुक क्रिया करने में क्षति हो जाती है और भय उपस्थित होता है। यह भय मृत्यु का स्वरूप है इससे अप्रवृत्ति होती है, और मनुष्य वापिस लौटकर संकोच करके मर्यादा में आ जाता है, धर्म में स्थिर हो जाता है, स्वतन्त्र और निर्भय हो जाता है। इसलिये शिक्षा में प्रतिपद स्वतन्त्रता के विकास के साथ २ भय को उपस्थित करने की आवश्यकता है। विकास के अमर्यादित स्वरूप को उपस्थित करने वाली शिक्षा वस्तुतः उच्च शिक्षा नहीं कही जा सकती, वह शिक्षा भयावह है।

परीक्षा प्रणाली—

प्रसिद्ध शिक्षण शास्त्री मिस्टर मायरन एच. फैल्प्स लिखते हैं:—

गुरुकुल के विद्यार्थियों को बड़ा भारी लाभ यह है कि उनके शिक्षक ही उनके परीक्षक होते हैं। यह बड़ा ही अस्वाभाविक है कि शिक्षकों से बिलकुल स्वतन्त्र और परीक्षार्थियों के लिये सर्वथा अपरिचित व्यक्ति परीक्षार्थियों के परीक्षक हुआ करें, जबकि ऐसे अपरिचित व्यक्तियों को कुछ मालूम नहीं होता कि कौन सा विषय किस दृष्टि से पढ़ाया गया है और उस विषय के सम्बन्ध में क्या आवश्यक समझा गया है और क्या अनावश्यक। वस्तुतः योग्य अध्यापक ही योग्य परीक्षक हो सकता है। जिन योग्य परीक्षकों ने अपनी अध्यापन शैली की पूरी योग्यता के अनुसार किसी विषय में छात्रों को योग्य बनाया है, उस विषय में छात्रों की योग्यता को जांच, योग्य शिक्षक ही कर सकता है दूसरा नहीं। शिक्षकों से अतिरिक्त अन्यों के हाथ में परीक्षार्थियों की जांच सौंप देने से शिक्षण का उत्तम परिणाम आना असम्भव है।

सरकारी विद्यालय और गुरुकुल—

१. संस्था की मुख्य भाषा संस्कृत है इंगलिश नहीं।
२. शिक्षण का उद्देश्य संस्कृत और वेद विद्या में पूर्ण योग्यता प्राप्त करना है।
३. शिक्षण के सम्बन्ध में संस्था का स्वरूप बिलकुल भिन्न है।

४. शिक्षण का माध्यम हिन्दी वा मातृभाषा है।

५. संस्था के अपने ध्येय के अनुसार उसकी अपनी ही पाठ्य पुस्तकें हैं।

६. शिक्षण के उत्तम परिणामों की दृष्टि से आदर्श परीक्षा प्रणाली के अनुसार संस्था का अपना ही अभ्यास क्रम है।

इन पूर्वोक्त कारणों के कारण संस्था सहायता से रहित स्वतन्त्र रूप में खड़ी है। इसके अतिरिक्त संस्था के उद्देश्य और उनको प्राप्त करने के उपाय मूलतः भिन्न हैं इसलिये भी उसका पृथक् रहना ही श्रेयस्कर है।

हिज़ औनर सर जेम्स मैस्टन, के. सी. एस. आई. यू. पी. और अवध के लैफ्टीनैण्ट गवर्नर चार बार गुरुकुल कांगड़ी में पधारे। इन्होंने गुरुकुल के शिक्षा क्रम आदि को देख कर उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की। दूसरी बार सर जेम्स मैस्टन १६ फर्वरी सन् १६१४ को गुरुकुल में पधारे, इस बार उनकी धर्मपत्नी भी उनके साथ थीं। उन्होंने भी प्रगट किया :—

"यह गुरुकुल मेरे आदर्श विश्वविद्यालय सम्बन्धी विचार का मूर्त स्वरूप है।"

मिस्टर जे. रैम्जे मैक्डौनल्ड, एम. पी. भी गुरुकुल कांगड़ी में पधारे, और वहां की प्रत्येक बात से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने पूछा था कि 'गुरुकुल कहां स्थापित किया गया है ?" इसका उत्तर उन्हें यह दिया गया—"मनुष्यों से दूर"। इसके साथ साथ उन्हें गुरुकुल की विशेषता इस प्रकार बताई गई, "यह सरकारी कालिज नहीं है जहां उत्तम भारतीयों को निकम्मे अंग्रेज़ों के रूप में बदलने का प्रयत्न किया जाता हो और उन के हृदयों में से उनकी पवित्र संस्कृति के प्रेम को निर्मल करके उसके स्थान में कूड़ा कचरा भरा जाता हो। गुरुकुल में जो बालक प्रविष्ट होते है उन्हें भारतीय संस्कृति का अध्ययन कराया जाता है। उन्हें उसकी मातृभाषा वा हिन्दी में ज्ञान दिया जाता है। संस्कृत उसकी प्रधान भाषा रहती है जिससे उसके विचारों से पक्का रंग चढ़ता है। पवित्र वैदिक धर्म उसका वातावरण बनाता है! पाश्चात्य भाषा और ज्ञान का शिक्षण भी वह प्राप्त करता है परन्तु उनका प्रभाव उस पर बिलकुल तुच्छ रूप में रहता है। गुरुकुल में शिक्षा समाप्त करके स्नातक भारत के विभिन्न स्थानों में भ्रमणार्थ जाते हैं। वे पवित्र वैदिक साहित्य के विद्वान् होते हैं। धर्म उनके हृदयों में घर किये रहता है। स्वामी दयानन्द की शिक्षा के वे मूर्तिमान् स्वरूप होते हैं। गवर्मेंट की नौकरी करके प्रायः वे अपनी आजीविका प्राप्त करना नहीं चाहते हैं। वकील बनकर नियमों को तोड़ मरोड़ कर झूठ के द्वारा भी वे आजीविका प्राप्त करना अच्छा नहीं समझते हैं! आयुर्वेद के द्वारा निर्बलों और रोगियों की सेवा करके, कृषि विद्या और अध्यापन कार्य के द्वारा मनुष्यों के साथ उनके दैनिक जीवन में सम्पर्क में रहते हुए आजीविका प्राप्त करना उत्तम समझते हैं। इस कारण गुरुकुल को बड़ी २ सड़कों से और शहरों से दूर रक्खा गया है। गुरुकुल संसार की हलचल से परे और संसार के धुएं की छाया से दूर रहना चाहिये।

गुरुकुल कांगड़ी में २१ अक्टूबर सन् १६१६ को भारत के वायसराय लार्ड चैम्सफोर्ड अपनी पत्नि सहित पधारे। उनकी पत्नि ने गुरुकुल का निरीक्षण करके अपना विचार इस प्रकार

प्रगट किया :—"गुरुकुल एक महान् विचार का मूर्त स्वरूप है। शिक्षकों और शिष्यों के बीच में जीवित सम्बन्ध ने और ब्रह्मचारियों के उज्ज्वल स्वास्थ्य ने मुझे बड़ा प्रभावित किया है।"

वायसराय महोदय गुरुकुल के आतिथ्य से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने भी प्रसन्नता प्रगट की और कहा, "गुरुकुल के सम्बन्ध में मुझे तीव्र रुचि उत्पन्न होगई है"।

वर्तमान कालिज शिक्षा—

यहां यह प्रगट कर देना भी उचित ही होगा कि भारत के अनेकों विद्वानों ने वर्तमान स्कूल व कालिज शिक्षा की कड़ी आलोचना की है। इसे भारत के लिये भयंकर रोग और मनुष्यों के मस्तिष्क को खराब कर देने वाली प्रगट किया है। हम यहां संक्षेप में कुछ ऐसी सम्मितियां उद्धृत कर देना आवश्यक समझते हैं।

प्रसिद्ध रसायन शास्त्र प्रफुल्लचन्द्र राय—

"विश्वविद्यालय की मोहर के लिए हमारे विद्यार्थियों की, और विशेषतः विद्यार्थियों के संरक्षकों की व्यग्र लालसा इस दृढ़ विश्वास का परिणाम है कि एक अच्छी सरकारी नौकरी पाने के लिए और वकालत, चिकित्सा एव इञ्जिनियरिङ्ग जैसे व्यावसायिक जीवन के लिए विश्वविद्यालयों की डिग्रियां ही एक मात्र साधन हैं। किन्तु ऐसे उपाधिधारियों की दशा कितनी दयनीय बना दी गई है, इसका सविस्तार वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। बेकारों की एक बहुत बड़ी संख्या को दृष्टि क्षेत्र में रखते हुए इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि एक ग्रेज्युएट का बाज़ारू मूल्य औसतन २५ रु० प्रति मास से अधिक नहीं।"

श्रीयुत के. श्रीनिवास आयंगर—

"मद्रास यूनिवर्सिटी के १६५०० स्नातकों की जीवन-यात्रा के विषय में जांच करने से पता चला कि उनमें से कोई ३७०० स्नातकों ने अपना जीवन सरकारी अथवा शासन सम्बन्धी सेवा में व्यतीत किया है और लगभग इतनी ही संख्या में दूसरे अध्यापन कार्य में नियुक्त हैं। ६००० वकालत में और केवल ७०५ चिकित्सा विभाग में, तथा व्यापारिक क्षेत्र में तो केवल १०० ने प्रवेश किया है। विज्ञान के क्षेत्र में तो समष्टि को देखते हुए बहुत ही परिमित अंश विद्यमान है, वह है केवल ५६। १६५०० की इस विशाल संख्या में से मानव ज्ञान की वृद्धि में किसी ने वास्तविक, भागदान किया हो इसको ढूंढने का प्रयास करना व्यर्थ है।"

उपसंहार

आर्यसमाज ने ऋषि दयानन्द के आदेशों के अनुसार आदर्शों का अनुसरण करके शिक्षा प्रणाली में संसार में अपूर्व क्रान्ति की है। सब प्रान्तों में क्रमशः गुरुकुल स्थापित करके शिक्षण शास्त्रियों की आंखें खोल दी हैं कि भारत की उन्नति के लिये पुरातन भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान हो सकता है तो गुरुकुल शिक्षा प्रणाली से ही हो सकता है। संसार अन्धा हुआ २ अपने सर्वनाश के लिये एक मात्र भौतिक उन्नति की ओर दौड़ा जा रहा था। आर्यसमाज ने बड़ी दृढ़ता के साथ इस बात को बतलाया है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल भौतिक उन्नति नहीं किन्तु आध्यात्मिक उन्नति है।

शिक्षा-क्षेत्र में क्रान्ति

(लेखक-श्री पं० शिवदयालु जी मंत्री गुरुकुल डौरली मेरठ)

—:o:—

भारत की पराधीनता को स्थिर एवं अक्षुण्ण बनाये रखने के निमित्त यह आवश्यक था कि भारत के बालक बालिकाओं की शिक्षा दीक्षा का अभारतीय वातावरण में पालन पोषण किया जाय। भारत के युवकों के मस्तिष्कों को पाश्चात्य विचार भावनाओं से परिपूरित कर दिया जाय तथा भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी को शिक्षा का माध्यम न बनाकर विदेशी भाषा को यह स्थान प्रदान किया जाय। भारत की पराधीनता जिनको अभीष्ट थी उन्होंने पूरे मनोयोग से अपना कार्य किया और उन को अपने उद्देश्य में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई।

इस गर्हित अभीष्ट के विरुद्ध क्रान्ति का शंखनाद बजाने की भावना भारतीय संस्कृति के पुजारियों एवं स्वाधीनता के प्रेमियों के मन मन्दिरों में जागृत हो रही थी और उसी भावना ने समय पाकर गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का पावन स्वरूप धारण कर लिया। यह ठीक है कि इस शिक्षा-प्रणाली का पावन बीज महर्षि स्वामी दयानन्द जी महाराज ने अपने शिक्षोद्यान में वपन किया, किन्तु इसको अंकुरित करने का सर्वप्रथम श्रेय शास्त्री श्री महारथी आदर्श सन्यासी श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज को और दूसरे कर्मठ कर्मयोगी वीर शिरोमणि स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज को है।

भारतवर्ष में सर्वप्रथम गुरुकुल स्वामी दर्शनानन्द जी के प्रताप से सन् १८६८ ई० में सिकन्दराबाद में स्थापित हुआ जो बाद को सन् १६०७ ई० में फरुखाबाद में चला गया फिर भारतीय स्वाधीनता के अनन्य पुजारी राजा महेन्द्रप्रताप की विशेष सहायता एवं सहयोग से १६ दिसम्बर १६११ ई० को वृन्दावन में ले जाया गया। वहां पहुँचने के बाद महात्मा भगवानदीन तथा महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज के अनथक परिश्रम के फलस्वरूप उसने एक विशाल विश्व विद्यालय का स्वरूप ग्रहण किया।

गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन से इस समय तक ८० के लगभग स्नातक निकल चुके है जो शिक्षा, साहित्य, समाज-सेवा एवं आयुर्वेद आदि के क्षेत्रों में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर रहे हैं। गुरुकुल जगत में आज दिन सर्व प्रथम स्थान गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगड़ी को है जो सन् १६०१ ई० में गुजरांवाला में स्थापित हुवा और वहां से आगामी वर्ष भागीरथी के उस पार कांगड़ी ग्राम की भूमि में ले जाया गया और पुनः १६३० ई० में गंगा की भीषण बाढ़ द्वारा क्षति-ग्रस्त होने के कारण ज्वालापुर के निकट गंगा के इस पार ले आया गया है।

कांगड़ी विश्वविद्यालय को भारतवर्ष में तथा विदेशों में भी गौरवान्वित बनाने में अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी के अतिरिक्त दूसरे जिस तपस्वी महापुरुष का दान था उनका नाम आचार्य रामदेव जी है। कांगड़ी के निर्माण में हम और एक बाल ब्रह्मचारी तपस्वी योगी का हाथ देखते हैं जिनका शुभ नाम आचार्य देवशर्मा और वर्तमान स्वामी अभयदेव जी है।

कांगड़ी विश्वविद्यालय में सम्प्रति वेद-आयुर्वेद तथा सिद्धान्त के तीन महाविद्यालय हैं और उनकी छात्र संख्या १०० के लगभग है। कांगड़ी की एक शाखा देहली के निकट तुग़लकाबाद की पहाड़ी पर गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें कक्षा ६ से १० तक के छात्र शिक्षा पाते हैं। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के अतिरिक्त कांगड़ी की निम्न स्थानों में शाखाएं हैं:—मुल्तान, कुरुक्षेत्र मटिण्डू, सूपा, रायकोट-कमालिया भटिण्डा एवं झज्झर। कांगड़ी विश्व विद्यालय की छात्र संख्या उसकी शाखाओं सहित १००० से ऊपर है। कांगड़ी से इस समय तक ४०० से ऊपर स्नातक बन चुके हैं जो उपर्युक्त प्रकार से स्वतन्त्रता के साथ कार्य कर रहे हैं।

महाविद्यालय ज्वालापुर—

गुरुकुल विश्व का तीसरा चमकता सितारा है। स्वामी दर्शनानन्द जी के अनथक परिश्रम का यह सुन्दर फल है। इस गुरुकुल को उन्नत करने में देशभक्त पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ जी को विशेष गौरव प्राप्त है। इसकी छात्र संख्या २५० के लगभग है। गुरुकुल ज्वालापुर एक विशाल सुन्दर रम्य वाटिका में स्थापित है और संस्कृत के प्रौढ पाण्डित्य के नाते विशेष ख्याति प्राप्त है। ज्वालापुर से इस समय तक २०० के ऊपर स्नातक निकल चुके हैं।

दयानन्द महाविद्यालय गुरुकुल डौरली को स्थापित हुए अभी केवल २१ वर्ष ही हुए हैं किन्तु धर्म, समाज एवं राष्ट्र की सेवा और तन्निमित्त किये हुए त्याग के कारण इसको विशेष ख्याति उपलब्ध है। इसकी स्थापना वीर तपस्वी पं० अलगूराय शास्त्री ने की थी। डौरली की छात्र संख्या १०० से ऊपर रही है। सन् १९४२ के पिछले आन्दोलन में प्रांतीय सरकार ने इसको गैरक़ानूनी घोषित कर दिया था। तेरह मास तक यह बिलकुल बन्द पड़ा रहा। २९ जनवरी सन् १९४४ से पुनः चालू हुआ है।

सिकन्दराबाद से हट कर गुरुकुल फर्रुखाबाद होता हुवा वृन्दावन चला गया और वहां उसने विश्वविद्यालय का भव्य रूप धारण किया किन्तु स्वर्गीय पं० मुरारीलाल शर्मा जी के प्रताप से सिकन्दराबाद में दूसरे गुरुकुल की स्थापना हो गई और शनैः २ उन्नति कर गया। पं० मुरारीलाल जी के बाद उनके पुत्र स्वर्गीय पं० देवेन्द्रनाथ शास्त्री जी को सिकन्दराबाद गुरुकुल चलाने का विशेष गौरव प्राप्त है इस गुरुकुल से लगभग १०० स्नातक इस समय तक निकल चुके हैं।

जिला मुज़फ्फ़रनगर के विरालसी ग्राम में अब से लगभग ४० वर्ष पूर्व पूज्य स्वामी दर्शनानन्द जी ने और एक गुरुकुल स्थापित किया था जिसको आगे चलकर स्व० अग्निहोत्र शिरोमणी महात्मा सुमेरसिंह जी काली कमली वालों ने अपने विशेष श्रम से सींचा। अयोध्या नगरी में श्री स्वामी त्यागानन्द जी महाराज के उद्योग से एक गुरुकुल स्थापित होगया है इस गुरुकुल में भी लगभग १०० ब्रह्मचारी शिक्षा पाते हैं। गुरुकुल अयोध्या को संस्कृत भाषा भाषी आर्यों की एक सुन्दर बस्ती होने का गौरव प्राप्त है।

भारत के प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान बलिदान की पुण्य भूमि एवं संसार के सब से विशाल दुर्ग चित्तौड़ की तलहटी में स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के परमशिष्य गुरुकुल कांगड़ी के आदर्श स्नातक श्री व्रतानन्द जी ने आमरण ब्रह्मचारी रहने का पावन व्रत धारण कर संवत् १६८४ ई० में एक गुरुकुल की स्थापना की। राजस्थान में यह एक विशेष मान्य संस्था है।

आर्यजगत के प्रसिद्ध कर्म योगी शिक्षा-प्रेमी डा० श्यामस्वरूप जी सत्यव्रत बरेली निवासी ने आर्पोला ग्राम के निकट वनस्थली में एक गुरुकुल लगभग २० वर्षों से स्थापित किया हुआ है।

भारतवर्ष में बालकों के निमित्त स्थापित इन उपर्युक्त गुरुकुलों के अतिरिक्त भैंसवाल, गुजरानवाला, पोयेहार जेहलम, देहली, सूर्यकुण्ड बदायूं, गोरखपुर, घासीपुरा, वैद्यनाथधाम (सन्थाल परगना) हरपुरजान (सारन) होशंगाबाद (मध्य भारत) आणन्द (बम्बई) सूपा सोनगढ़ (काठियावाड़) कंगेरी बंगलौर (मद्रास) अनन्तगिरि (निजाम हैदराबाद) आदि स्थानों में भी भारतीय संस्कृति एवं शिक्षा के उपासकों ने गुरुकुल स्थापित किए हुए हैं।

आर्यसमाज जाति के द्वितीय एवं प्रधान अंग नारी समाज की शिक्षा दीक्षा से उदासीन नहीं है अपितु सजग है। उसने जहां सैंकड़ों की संख्या में कन्यापाठशालाएं एवं कालेज स्थापित किये हुए हैं वहां उनकी शिक्षा के निमित्त गुरुकुल भी कितने ही स्थापित किये हुए हैं। इनमें कन्यागुरुकुल देहरादून को सम्प्रति विशेष महत्व प्राप्त है। यह गुरुकुल हिमालय की तलहटी में एक अत्यन्त रम्य स्थान में स्थापित है। यह गुरुकुल आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब के आधीन कार्य कर रहा है। भारत के विभिन्न भागों से आकर कन्याऐं यहां आकर शिक्षा पाती हैं। कन्या गुरुकुल देहरादून में लगभग २५० कन्याऐं शिक्षा पाती हैं। इस समय तक १०० से अधिक कन्याऐं स्नातिका एवं उपाधि परीक्षा पास कर चुकी हैं। यहां कन्याओं को वेद-उपनिषद्-दर्शन धर्मशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, पाकशास्त्र, मनोविज्ञान, संगीत, शिल्प, चित्रकला (शिशु पालनादिक) उच्च कोटि की शिक्षा की व्यवस्था है।

स्त्रीशिक्षा के प्रसिद्ध महारथी ला० देवराज जी के प्रयत्न से अब से लगभग ६० वर्ष पूर्व जालन्धर जिले में एक संस्था का सूत्रपात किया गया जिसने बाद में कन्या महाविद्यालय का रूप धारण किया; इस महाविद्यालय में भी कई सौ कन्याऐं उच्चकोटि की शिक्षा प्राप्त करती हैं। इस महाविद्यालय से इस समय तक कई सौ कन्याऐं स्नातक बनकर देश के अन्दर विभिन्न क्षेत्रों में सफलतापूर्वक काम कर रही हैं।

अलीगढ़ जिले के अन्दर हाथरस नगर के निकट सासनी में एक कन्या गुरुकुल कितने ही वर्षों से कार्य कर रहा है। इसके बनाने में श्रीमती लक्ष्मीदेवी का विशेष हाथ है यहां भी कन्याओं की उच्च कोटि की शिक्षा की व्यवस्था की गई है। यहां कन्याओं की संख्या १२५ के लगभग है।

महात्मा गांधी की जन्मभूमि पोरबन्दर (काठियावाड़) प्रान्त में भी एक कन्या गुरुकुल लगभग ८ वर्षों से कार्य कर रहा है। श्री नानजी भाई कालीदास मेहता को इस गुरुकुल को बनाने

का मुख्य श्रेय प्राप्त है कितने ही लाख रुपये व्यय करके यह गुरुकुल बनाया गया है यहां १०० के लगभग कन्याऐं शिक्षा पाती हैं।

इसी प्रकार बड़ौदा में भी एक विशाल कन्याओं का गुरुकुल स्थापित है जो कई सौ की संख्या में कन्याओं को महाविद्यालय तक की शिक्षा देता है। स्वर्गीय मास्टर आत्माराम जी बड़ौदा निवासी को इस संस्था को बनाने का विशेष गौरव प्राप्त है।

हरिद्वार आदि में भी कन्या गुरुकुल स्थापित हुए हैं और निरन्तर उन्नति पथ पर अग्रसर हो रहे हैं।

आर्यसमाज द्वारा स्थापित भारतवर्ष भर के गुरुकुलों की संख्या ६० के लगभग है। यह शिक्षा प्रणाली अब केवल आर्यसमाज तक ही सीमित नहीं रही अपितु सनातनधर्मी जैनी भाइयों ने भी अब ऋषिकुल तथा जैन गुरुकुल स्थापित किये हैं।

शिक्षा का माध्यम प्रत्येक गुरुगुल में महर्षि स्वामी दयानन्द जी के आदेशानुसार देवनागरी (हिन्दी भाषा) को रखा गया है। प्रत्येक बालक एवं बालिका को हिन्दी का ऊंचा ज्ञान इन गुरुकुलों में कराया जाता है।

संसार की समस्त भाषाओं की जननी एवं भारत की प्राचीन राष्ट्रभाषा तथा आर्य ज्ञान की पवित्र ज्ञानवाहिनी गंगा संस्कृत के अध्ययन का इन गुरुकुलों में विशेष आयोजन किया गया है। विदेशियों एवं उनकी शिक्षा के उपासकों ने जिस पावनी संस्कृत भाषा को मृतभाषा कहकर पुकारा है उसको व्यवहारिक रूप से जीवित सिद्ध करके दिखाना गुरुकुलों का काम है। प्रत्येक गुरुकुल में संस्कृत की उच्च शिक्षा की व्यवस्था की गई है गुरुकुलों में संस्कृत का अध्ययन अर्वाचीन एवं प्राचीन दोनों ही क्रमों से किया जाता है।

भारतीय इतिहास की जो दुर्दशा विदेशीय लोगों ने की है। वह किसी से छिपी नहीं, किंतु भारत के बालक बालिकाओं की शिक्षा को उनको सौंप कर हमने स्वयं विषैले एवं तथ्य से शून्य आजकल के शिक्षणालयों में अपनाया हुआ है। गुरुकुल इस विषैले इतिहास से बालकों के मस्तिष्क को दूषित करने के पाप से मुक्त हैं और शुद्ध एवं वास्तविक इतिहास का ज्ञान ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारियों को कराते हैं।

अंग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली ने हमारे धर्म कर्म पर पूरा २ चौका लगा दिया है। बी. ए., एम. ए. तक भारतीय नवयुवक पढ़ जाता है, किंतु उसको अपने धार्मिक सिद्धान्तों एवं धार्मिक कर्तव्यों का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं होता। यह गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को श्रेय प्राप्त है कि वह छात्र छात्राओं को उनके धर्मशास्त्र, दर्शन आदि का पूरा २ ज्ञान कराती एवं उनको व्यवहारिक रूप से धार्मिक जीवन व्यतीत करने का पाठ पढ़ाती है।

गुरुकुल का ब्रह्मचारी अपनी संस्कृति एवं धार्मिक प्रतिक्रियाओं का केवल ज्ञाता ही नहीं अपितु उनका दृढ़ उपासक होता है और अपने भावी जीवन में उनका विस्तार रखने का गौरव अनुभव करता है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली ने राष्ट्र के नवयुवकों का जीवन विलासप्रिय बना दिया है एवं उनकी वेशभूषा, रहन सहन, खान पीन को सर्वथा अप्राकृतिक एवं विदेशीय अनुकरण प्रिय बना छोड़ा है। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली छात्र छात्राओं का जीवन तप त्याग युक्त बनाती एवं उनको अधिक से अधिक भारतीय भेषभूषा रहन सहन आदि का क्रियात्मक उपासक बनाती है।

अंग्रेज़ी शिक्षा का ध्येय जहां विदेशी साम्राज्य चक्र को चलाने वाले क्लर्क आदि उत्पन्न करना है वहां गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का ध्येय राष्ट्र के बालक बालिकाओं को सच्चा देशभक्त एवं भारतीय संस्कृति का पुजारी पुजारिन बनाना तथा भारतवर्ष को पराधीनता पाश से मुक्त कर आध्यात्मिक एवं अधिभौतिक स्वतन्त्रता पथ का पुनीत पान्थ बनाना है।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के इन पवित्र उद्देश्यों को लक्ष्य में रख भारत के विभिन्न भागों में तथा विभिन्न नामों से नाना शिक्षा संस्थाएं बन रही हैं यह बड़े ही हर्ष की बात है।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का लक्ष्य उस दिन ही पूर्ण होगा जब भारतवर्ष के इन वर्तमान कालीन समस्त स्कूल कालेजों में क्रांति होगी और यह सब शिक्षणालय विदेशी भाषा, दीक्षा के प्रभाव से निकलकर शुद्ध भारतीय राष्ट्रभाषा हिन्दी एवं भारतीय शिक्षा दीक्षा का विस्तार करने वाले सुन्दर केन्द्र बन जावेंगे।

जब अपनी ही शिक्षा होगी और अपना ही विचार। जब अपने देश के अनुकूल शिक्षा क्रम होगा और अपने ही अनुकूल शिक्षा की समस्यायें सुलझाने का प्रयत्न। ऋषियों, तपस्वियों, आचार्यों और गुरुओं की गोद में जिस प्रकार किसी युग में भारतीय बालक शिक्षा प्राप्त करते थे, उस युग का भारतीय बालक बालिकाओं को फिर दर्शन होगा ऐसी हमारी धारणा है।

इतना तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि वर्तमान शिक्षा को तो भारत को निश्चय ही छोड़ना पड़ेगा। यह शिक्षा तो केवल हमारी गुलामी के कारण बलात् हमारे सिर मंढी हुई है। इस सत्य को भारत के सभी शिक्षा-प्रेमियों ने अनुभव किया है। हम तो उसी महान् क्रान्ति का उदय चाहते हैं जिसमें पूर्ण रूप से हमारी स्वतन्त्र शिक्षा होगी।

आर्य समाज की गति-विधि

[लेखक -आचार्य श्री० नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ, महाविद्यालय ज्वालापुर, हरिद्वार]

आर्य समाज एक प्रबल शक्ति है इस बात को सभी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करेंगे। उस प्रबल शक्ति का यथार्थ रूप में उपयोग हो रहा है अथवा नहीं इस विषय में मतभेद हो सकता है। आर्य समाज में जितनी भी शक्ति है उस सबका भी हम उपयोग कर रहे हैं अथवा नहीं इस विषय में भी विप्रतिपत्ति हो सकती है। कहीं ऐसा तो नहीं हो रहा कि हम आर्य समाज की शक्ति के कुछ अंश को तो उपयोग में ला रहे हैं और कुछ अंश व्यर्थ जा रहा है अथवा हमको नहीं सूझ रहा है कि उस बचे-खुचे अंश का किस प्रकार उपयोग करें—ये बातें गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं। जिस जिस प्रकार हम कार्यक्षेत्र में आगे बढ़ते जा रहे हैं उस उस प्रकार उपर्युक्त प्रश्न हमारे संमुख आ खड़े होते हैं। इन प्रश्नों के यथार्थ उत्तर पर ही आर्य समाज की गति-विधि का उत्तर निर्भर है। आर्य समाज की गति-विधि का अर्थ यह हुआ कि आर्य समाज की गति अर्थात् चाल कैसी रही है, जिस चाल से आर्य समाज चला था वही चाल चली जा रही है, अथवा उस चाल में कुछ न्यूनाधिक्य हुआ है। विधि का अर्थ यह हुआ कि आर्य समाज की गति किस विधि की है। गति भी कई प्रकार की हो सकती है। एक तो निरुद्देश गति एक उद्देशपूर्वक गति। आर्य समाज की गति-विधि के विषय में हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि आर्य समाज को गति मिली है श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी से, वह गति भी किसी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर है और वह विधिपूर्वक है। यदि गति ठीक है, विशिष्ट महापुरुष द्वारा मिली है, विधिपूर्वक मिली है तो प्रश्न यह है कि गति एक जैसी क्यों नहीं रहती, उसमें न्यूनाधिक्य क्यों हो जाता है, कभी कभी यह भास होने लगता है कि गति मन्द होगई, रुक गई। इसका कारण यह है कि आर्य समाज चक्र को जब उसकी गति मन्द हो जाती है अथवा रुकी-सी प्रतीत होती है तब उसको वेग से फिर गतिशील बनाने वाले विशिष्ट व्यक्तियों का आर्य जगत में अभाव सा होने लगा है। लगाने वाले जोर लगा ही रहे हैं, धक्का देकर आगे सरकाने वाले अपना सम्पूर्ण बल लगा ही रहे हैं, पर सबकी शक्ति लगने पर भी चक्र थोड़ी देर के लिए तेजी से घूमकर फिर मन्द पड़ जाता है। इसलिए इस अभिनन्दन ग्रन्थ द्वारा मैं आर्य जगत् को यह सन्देश देना चाहता हूं कि आर्यसमाज के प्रारम्भिक प्रचार युग में उस समय के प्रचारक उपदेशक महोपदेशक जिस धुन से काम करते थे उसी धुन से काम करना सीखिये जिससे आर्य समाज की गति-विधि में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो सके। उस समय के प्रचारक, उपदेशक, महोपदेशक इतने विद्वान नहीं थे। हां उनमें आर्य समाज के लिए विचित्र लगन थी। वैसी लगन के लोग अब कहां देखने में आते हैं। आजकल आर्य

जगत् में पण्डितों, विद्वानों की कमी नहीं है, मांगने के लिए निकलो तो धन भी प्रचुर मात्रा में मिल जाता है, आर्य जगत् में प्रभावशालिनी संस्थाओं की भी कमी नहीं है। यदि हम किसी कमी को देखते हैं तो वह है लगन की, धुन की, आन पर मर मिटने की।

आज जिस चरित्र नायक को यह अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है वह भी आर्य जगत के उन धुनी मानी व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने आर्यसमाज के लिए यथा शक्ति—नहीं नहीं स्वशक्ति से भी कई गुना कार्य करके दिखलाया है। स्वर्गीय आत्माओं में श्री १०८ स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती, श्री स्वामी योगेन्द्रपाल जी, श्री पं० लेखराम जी आर्य मुसाफिर, स्वामी श्रद्धानन्द जी, महात्मा हंसराज जी, पं० पूर्णानन्द जी, पं० आर्य मुनि जी, स्वामी तुलसीराम जी, पं० भोजदत्त जी, महात्मा भगवान् दीन जी, श्री १०८ स्वामी शुद्ध बोधतीर्थ जी आदि महानुभावों का उल्लेख किया जा सकता है।

यह युग शिक्षा युग है इस युग ने शिक्षा का तो खूब प्रचार किया पर इस युग से प्रचार युग का सर्वथा लोप होगया। विद्वत्ता तो बढ़ गई, बातें तो बढ़ गईं, दिखावा तो बढ़ गया पर आर्यों में कष्ट-सहिष्णुता और प्रचार के भाव कम होगये। अब जब कि सैंकड़ों संस्थाओं के खुलने पर भी यह अनुभव होने लगा है कि धुन के लगन के लोग कम होते जाते हैं, नये धुन के लोग नहीं मिल रहे हैं तब आर्यसमाज के विशिष्ट पुरुषों को चिन्ता हो रही है कि:— "बातें तो बन रही हैं, पर घर बिगड़ रहे हैं।"

अब वे फिर सोच रहे हैं कि किसी प्रकार प्रारम्भिक प्रचार युग आये तो काम चले। अब तो आर्यों की सम्मिलित शक्ति का बहुत सा भाग अंगरेजी पद्धति की शिक्षा दीक्षा में लग रहा है, उससे आर्यसमाज को इतना लाभ नहीं। प्राचीन शिक्षा-दीक्षा में भी कुछ शक्ति लग रही है पर वह इतनी कम शक्ति है कि उससे भी अभीष्ट फल सिद्धि की आशा नहीं है इस तरह आर्य जगत् बड़े सन्देह में पड़ा है। आर्य जगत त्याग-तपस्या की अपेक्षा संसार के वर्तमान प्रबल प्रवाह में विवश होकर बहा जा रहा है। आर्यसमाज का उद्देश्य महान है "संसार का उपकार करना।" अभी तो हम संसार भर में तो क्या भारत में ही पूर्ण रूप से कृतकार्य नहीं हो सके। आर्य समाज के प्रवर्तक की इच्छा को पूर्ण करना है तो त्याग-तपस्या का ही मार्ग लेना पड़ेगा। पर वर्तमान काल में तो, इस वैश्य युग में तो, आर्यसमाज भी त्याग-तपस्या की अपेक्षा धन-प्रधान समाज बनता जा रहा है। इस प्रकार गति-विधि पलट गई है इसको सच्चे लगन के (चाहे वे इतने विद्वान् न सही) त्यागी-तपस्वी जन ही ठीक कर सकेंगे। आर्यसमाज को प्रचारयुग की आवश्यकता है। प्रचार की गति विधि बदलनी पड़ेगी सही, पर लेखक का अनुभव यह है कि प्रचार युग के बिना कोरा शिक्षायुग भी हमको अपेक्षित फल न दे सकेगा। कोरा शिक्षायुग किसी अंश में निराशा का कारण बना है और बना रहेगा जब तक प्रचारयुग और शिक्षा युग साथ साथ न चलेंगे—आर्यसमाज के धनी मानी, आर्यजगत् के विद्वान् महात्मा, संन्यासी, प्रचारक, महोपदेशक, शिक्षाशास्त्री सभी मिलकर गम्भीरतापूर्वक विचार करें।

शुद्धि और दलितोद्धार

[लेखक—ला० ज्ञानचन्द्र जी आर्य, ठेकेदार नई देहली]

"ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुवरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।"

आर्य समाज ने जिस समय पतित तथा दलित हिन्दुओं और ईसाई आदियों की शुद्धि का काम शुरू किया, तो दुर्भाग्यवश उससे कुछ काल पूर्व ईसाइयों और मुसलमान शासकों के शुद्धि से रोकने के लिये किये गये अत्याचारों तथा वंशीय वर्ण को जन्म सिद्ध श्रेष्ठता के अभिमानियों की संकीर्णता के कारण भारत में पतित-उद्धार का काम बंद हो चुका था। इसलिये प्राचीन वेदादि शास्त्रों की मर्यादा तथा वैदिक धर्मियों के धार्मिक इतिहास से अपरिचित लोगों को यह भ्रम हुआ था कि आर्य समाज ने शुद्धि आन्दोलन का जो काम प्रारम्भ किया है वह ईसाइयों और मुसलमानों को अनुकरण कर के शुद्ध किया है। क्योंकि वे सज्जन यह समझते थे कि आर्य समाज से पहिले हिन्दुओं में शुद्धि की प्रथा प्रचलित नहीं थी। और ईसाई तथा मुसलमान हिन्दुओं को ईसाई तथा मुसलमान बनाते जा रहे थे । इसलिये आर्य समाज ने हिन्दुओं के बचाव के लिये शुद्धि का कार्य जारी किया है।

किन्तु यह उनकी भूल थी, क्योंकि आर्य समाज वैदिक धर्मी हैं। वह कोई मत अथवा सम्प्रदाय नहीं है। वैदिक आज्ञाओं का पालन करना ही उसका कर्तव्य है, न कि आधुनिक अवैदिक मत मतान्तरों का अनुकरण करना और यह भी हो नहीं सकता कि जो वेद मनुष्यों को लौकिक तथा पारमार्थिक सारी आवश्यकताओं को पूरा करने की शिक्षा न दें। चूंकि वेद मनुष्य जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य को धर्मात्मा बनने की शिक्षा देते हैं और मनुष्यों को धर्मात्मा बनाने के लिये अत्यन्त आवश्यक है, कि वैदिक धर्म का प्रचार किया जाय तथा मनुष्यों के प्रमाद से जो दोष व्यक्तियों तथा समाज में आवें, उनके दूर करने के लिये समाज सुधार का कार्य भी बराबर जारी रक्खा जाय। अतः यह निश्चित है कि शुद्धि अथवा पतित उद्धार करना वैदिक मर्यादा है। और वह वैदिक काल से ही वैदिक धर्मियों में बराबर प्रचलित है। इसके अतिरिक्त यह मन्तव्य भी निर्विवाद है और विपक्षियों को भी मानना पड़ता है कि वैदिक काल में न तो वैदिक धर्मी आर्यों में ही हिन्दुओं के वर्तमान मतमतान्तर थे, और न ईसाई, मुसलमान आदि हिन्दु इतर मजहब थे, तथा न देश सीमा से बनी हुई वर्तमान समय की भिन्न भिन्न कौमें थीं। इसलिये यह भी स्पष्ट और निश्चित है कि ऐसे समय में जब कि वर्तमान काल के मतमतान्तरों का जन्म भी नहीं हुआ था अर्थात् सृष्टि के आदि में वेद प्रदर्शित शुद्धि मर्यादा अथवा पतित उद्धार करना न तो किसी के अनुकरण में था और न किसी मत अथवा सम्प्रदाय के अनुयायियों का मत परिवर्तन करना था। किन्तु

वेद प्रतिपादित शुद्धि अथवा पतित उद्धार की मर्यादा का अनुष्ठान केवल वैदिक विचार तथा आचार से भ्रष्ट हुये पतितों के सुधार के लिये ही किया जाता था और वैदिकधर्मी आर्य समाज भी इसी उद्देश्य को अपना धार्मिक कर्तव्य समझकर वैदिक धर्म से पतित हुये भाइयों की शुद्धि अथवा पतित उद्धार का काम करता है। सच तो यह है कि ईसाई और मुसलमान पतित उद्धार नहीं करते बल्कि ये लोग तो दूसरे मत वालों को ईसाई और मुसलमान बनाकर अपने मत वालों की संख्या वृद्धि करते हैं। इसलिये आर्य समाज का शुद्धि आन्दोलन ईसाइयों और मुसल्मानों की नकल कदापि नहीं हो सकता।

वेदों में शुद्धि अथवा पतित उद्धार का विधान—

"दैव्यायकर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै। यद्वोऽशुद्धा पराजघ्नुरिदं वः तत् शुन्धामि।

यजु० ।१।१३।

अर्थ—हे विद्वानो! (दैव्यायकर्मणे) दिव्य गुण सम्पादन करने वाले शुभ कर्मों और (देवयज्यायै) देव यज्ञ अथवा परोपकार करने वाले यज्ञीय कर्मों के करने के लिये अशुद्धों अथवा पतितों को (शुन्धध्वं) शुद्ध करो, और उनको हे (अशुद्धाः) हे अशुद्धो! अथवा पतितो! (वः) तुमको (यत्) जो दोष (पराजघ्नुः) गिराते अथवा पतित करते हैं।। (वः) तुम्हारे (इदं तत्) इस गिराने वाले दोष समुदाय को (शुन्धामि) शुद्ध करता हूं।

इस मंत्र में ईश्वर आर्य विद्वानों को आज्ञा देते हैं कि जो लोग आत्मशुद्धि के लिये दिव्य अथवा सुकर्मों तथा परोपकार करने वाले देव यज्ञ आदि कर्मों को नहीं करते और पापाचरण करते हैं, उन (दस्युओं) को पापाचरण से बचाने तथा आत्मशुद्धि और परोपकार करने वाले कर्मों में प्रवृत्त करने के लिये शुद्ध करो।

"इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः, कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तो अराव्णः।।

ऋग० । ६ । ६३ । ५ ।

अर्थ – (इन्द्रं वर्धन्तः) ईश्वर की महिमा को बढ़ाते हुये अर्थात् आस्तिकता का प्रचार करते हुये (अराव्णः) बुरों की बुराइयों का (अपघ्नन्तः) नाश करते हुये (विश्वम्) सारे संसार को (आर्यम्) आर्य (कृण्वन्तः) बनाओ। इस मन्त्र में आदेश किया गया है कि, बुरों की बुराइयों को दूर करके सारे संसार को आर्य अर्थात् सज्जन अथवा धर्मात्मा बनाओ।"

"उतदेवाअवहितं देवा उन्नयथापुनः। उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः।।

ऋग० । १० । १३७ । १ ।

अर्थ—हे (देवा देवाः) दिव्यगुणसम्पन्न विद्वानो! (अवहितं) गिरे हुए मनुष्य को (पुनः) फिर (उन्नयथाः) उन्नत करो अथवा ऊपर उठाओ (देवा देवाः) हे विद्वानों

(आगः चकृषं) पाप अथवा अपराध के करने वाले को (उत) भी (पुनः) फिर (जीवयथाः) जीवन से युक्त करो।

अर्थात् हे विद्वानो! जो गिर गये हैं उनको ऊपर उठाओ। अपराध और पाप करने से जिनका जीवन मैला होगया है उनको फिर से शुद्ध जीवन प्रदान करो।

पूर्वोक्त तीनों मंत्रों से स्पष्ट है कि शुद्धि अथवा पतित उद्धार करना वैदिक मर्यादा के अनुकूल है।

स्मृतियों में शुद्धि का विधान—

क्योंकि स्मृतिकार भी वैदिक धर्मी थे। इसलिये उन्होंने भी अपनी स्मृतियों में वेद प्रतिपाद्य शुद्धि का विधान किया। मन्वादि स्मृतियों में पतित उद्धार के नियमों तथा प्रायश्चित्तों का विस्तृत वर्णन है। उदाहरण के लिये केवल दो प्रमाण नीचे दिये जाते हैं :—

"अकुर्वन् विहितं कर्म, निन्दितञ्चसमाचरन्, प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयतेनरः॥
मनुः। ११। ४४।

अर्थात् विहित कर्मों के न करने और निन्दित कर्मों का सेवन करने तथा इन्द्रिय आसक्ति से मनुष्य पतित होकर प्रायश्चित्त के योग्य होजाता है।

"अभक्ष्य परिहारश्च, संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः। आचारेषु व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते॥
अत्रि। ३५।

अर्थात् अभक्ष्य (मद्यमांसादि) के छुड़ाने, निन्दित संसर्ग से पृथक् करने और सदाचार में लगाने का नाम शुद्धि है। पूर्वोक्त वेद तथा स्मृति वाक्यों से हमें निम्नलिखित शिक्षा मिलती है :—

(क) पतित और समाज सुधार के लिये पतितों अथवा अशुद्धों की शुद्धि करनी चाहिये।

(ख) पतित वे हैं जो कि धर्माचरण अर्थात् आत्म सुधार तथा परोपकार के करने वाले दैव तथा यज्ञीय कर्मों को नहीं करते बल्कि उसके विपरीत अपने आप तथा दूसरों को हानि पहुंचाने वाले पाप कर्म करते हैं।

(ग) पतितों को पापाचरण से हटाकर पुण्याचरण में लगाना ही उनकी शुद्धि है।

(घ) संसार को आर्य अथवा धर्मात्मा बनाना आर्यों का धार्मिक कर्तव्य है।

वैदिक शुद्धि का उद्देश्य—

पीछे उद्धृत किये गये वैदिक तथा स्मृति प्रमाणों से स्पष्ट है कि वैदिक शुद्धि का उद्देश्य मनुष्यों को न तो किसी मत विशेष का अनुयायी बनाना है, और न किसी सम्प्रदाय विशेष की संख्या बढ़ाना। बल्कि वैदिक शुद्धि का उद्देश्य पतितों अर्थात् गिरे

दुखों को ऊपर उठाना, पापात्माओं को पुण्यात्मा बनाना अथवा भ्रष्ट आचार और विचार वाले स्वार्थियों को शुद्ध तथा पवित्र आचार और विचार वाले परोपकारी सज्जन बनाकर उनको अपने तथा मानव समाज के लिये उपयोगी बनाना है। वेद के अपने शब्दों में—

"मनुर्भव जन्यां दैव्यं जनम्।" ऋग्०। १०। ५३। ६।

अर्थात्— स्वयं मनुष्य बन और दिव्य मनुष्यों को उत्पन्न कर। शुद्धि शब्द भी इसी उद्देश्य का बोधक है और अनार्यों को आर्य बनाने का अभिप्राय भी यही है।

वैदिक शुद्धि का सार्वभौम नियम

यदि किसी को यह संदेह हो कि ऊपर वर्णन की गई शुद्धि का नियम आर्यों (हिन्दुओं) पर ही लागू हो सकता है। आर्येतर भारतवर्ष के आदि निवासी दलित जातियों तथा ईसाइयों और मुसल्मानों पर लागू नहीं हो सकता तो यह उसकी भूल है। और वह वेद तथा प्राचीन आर्य जाति के इतिहास को नहीं जानता। क्योंकि वेद ईश्वर प्रदत्त ज्ञान मनुष्यमात्र की संपत्ति तथा सब के लिये कल्याणकारी है। जैसा कि— इस वेद मंत्र से प्रगट है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्या ँ शूद्रायचार्याय च स्वायचारणाय च। यजुः। २६। २॥

अर्थात्—वेद, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि मनुष्य मात्र के लिये कल्याणकारी है और वेद में सब मनुष्यों की एक ही मनुष्य जाति और एक ही वैदिक अथवा मानव धर्म अर्थात् मनुष्य जीवन की मर्यादा पद्धति भी एक ही मानी जाती है, और वेद सब मनुष्यों को जन्म से एक समान ही मानते हैं। उनमें किसी प्रकार का कोई भी भेद नहीं मानते। जैसा कि वेद के नीचे लिखे मन्त्रों से विदित है।

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदो ऽमध्यमासो महसा विवावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवोमर्या आनो अच्छाजिगातन॥ ऋ० ५। ५९। ६।
अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥ ऋग्। ५। ६०। ५॥

इन दोनों मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि मनुष्यों में जन्म से कोई बड़ा कोई छोटा और कोई दर्म्याना नहीं है। इसलिये कोई ऊंच और नीच छूत और अछूत भी नहीं है। यह सब ईश्वर तथा भूमि माता की संतान आपस में बराबर के भाई हैं। वह सब मिल कर ही पुरुषार्थ करते हुये (भगाय) अर्थात् लौकिक और पारमार्थिक ऐश्वर्य अथवा अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं और वेद में मनुष्यों के आर्य और दस्यु जो दो भेद बतलाये गये हैं वे भी विचार और आचार में भिन्नता के कारण ही हैं, वंशीय नहीं है।

यथा—"विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धयाशासद व्रतान।

ऋग। मं०। १। सू० ५१। मं० ८॥

अर्थ—हे मनुष्य! तू (बर्हिष्मते) उत्तम सुख सिद्धि करने वाले यज्ञीय अर्थात परोपकार परायण कर्मों की सिद्धि के लिये (आर्यान) आर्यों अर्थात परोपकारी धार्मिक विद्वान् मनुष्यों को (विजानीहि) जान और (ये) जो (दस्यवः) दूसरों को दुःख देने वाले हिंसक दुष्ट अधर्मी मनुष्य हैं उनको जानकर (बर्हिष्मते) धर्म अथवा यज्ञ की सिद्धि के लिये (रन्धया) ताड़न कर।

"अकर्मा दस्युरभिनो अमन्तरन्यव्रतो अमानुषः। ऋग०। १०। २२। ८॥

अर्थात् जो व्यक्ति यज्ञीय अथवा परोपकार के कर्म नहीं करता जो व्रतों अथवा वैयक्तिक तथा सामाजिक मर्यादाओं और नियमों का पालन नहीं करता जो मननशील और जिसमें मनुष्यत्व नहीं है वह "दस्यु" है।

महाभारत शान्ति पर्व अ० ६५ में भी लिखा है:—

"दृश्यन्ते मानवे लोके सर्व वर्णेषु दस्यवः।
लिंगान्तरे वर्तमानाः आश्रमेषु चतुर्ष्वपि"॥ २३॥

अर्थात मनुष्यों के चारों वर्णों और चारों आश्रमों में दस्यु पाये जाते हैं। ऊपर उद्धृत किये गये प्रमाणों से सिद्ध है कि आर्यों तथा दस्युओं में वंशीय भेद नहीं है। बल्कि आर्य और दस्यु एक ही वंश के हैं। अर्थात मनुष्यों में जो लोग उत्तम विचार आचार से हीन होकर पतित हो जाते हैं। उन्हीं को दस्यु कहते हैं। वेद में उन्हीं को शुद्ध करके आर्य बनाने का आदेश किया गया है। उक्त प्रमाणों से यह भी सिद्ध होता है कि यूरोपियन इतिहास लेखकों ने आर्य और दस्युओं का जो वंशज भेद मान कर उनकी दो भिन्न भिन्न जातियों की कल्पना की है वह मिथ्या है।

वैदिक साहित्य और धार्मिक इतिहास बतलाता है कि न केवल यह कि दलित हिन्दू श्रेणियां ही आर्यों के वंशज हैं बल्कि संसार के भिन्न भिन्न देशों के निवासी भी आर्यों में से ही निकले हुये हैं। इसकी सिद्धि निम्नलिखित प्रमाणों से होती है।

शनकैस्तु क्रिया लोपादिमाः क्षत्रिय जातयः।
वृषलत्त्वं गताः लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥ ४। ४३॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविड़ाः कांबोजा यवनाः शकाः।
पारदा पल्हवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः॥ मनु०। १०। ४४॥

अर्थात ये क्षत्रिय जातियां ही जब दूसरे उपनिवेशों को बसाने के लिये आर्यावर्त से बाहर गई तब धार्मिक धर्म मार्ग बतलाने वाले ब्राह्मणों के न मिलने से आहिस्ता २ क्रिया के लोप होजाने पर पतित होगई और पौड्रक, औड्र, द्रविड़ (दक्षिणी) कांबोज, (पामीरी) यवन, (यूनानी) शक, (मंगोलियन) (महात्मा बुद्ध भी इसी

शक जाति में से थे इसीलिये उन्हें "शाक्यमुनि" भी कहते हैं। पारद, पल्हव, (ईरानी) चीनी, किरात, (गोंड भील) दरद, खश (खशिया आसामी) आदि नामों से प्रसिद्ध हुईं। महाभारत शान्ति पर्व राजप्रकरण अध्याय ६५ में भी लिखा है—

यवनाः किराताः गांधाराः चीनाः शबर बरबराः।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च पल्हवाश्चान्ध्र मद्रकाः॥ १३॥
चौड्रा पुलिन्दा रमठा काम्बोजाश्चैव सर्वशः।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्या शूद्रा च मानवा:॥ १४॥

अर्थात्—यवन, किरात, गांधार, चीनी, शबर, (भील) बर्बर (अल्जेरियन) शक, तुषार, कंक, (कोंकण) पल्हव, आंध्र, मद्रक (मद्रासी) औड्र, पुलिन्द, रमठ और कांबोज आदि सारी संसार की जातियां, ब्राह्मणादि चारों वर्णों से पैदा हुई हैं। नीचे लिखे प्रमाणों से भी इसकी पुष्टि होती है।

क्षत्रियाश्चते धर्मपरित्यागात् ब्रह्मणैश्चपरित्यक्ताः म्लेच्छतां ययुः।
(विष्णु पुराण) ४। ३।

अर्थात्—सब क्षत्रिय ही अपने धर्म और ब्राह्मणों के त्याग से म्लेच्छ बन गये।

तत्कायात् मध्यमानात्तु निपेतुर्म्लेच्छजातयः।
शरीरे मातुरंशेन कृष्णांजन समप्रभाः॥ ८॥म०। अ० १०॥

अर्थात्—उस बेन राजा से माता के अंश के कारण कृष्णवर्ण म्लेच्छ जातियां उत्पन्न हुईं। इस प्रमाण से उन लोगों की भ्रांति भी दूर हो जानी चाहिये जो यह कहते हैं कि काले रंग के दस्यु आर्यों से भिन्न वंश के हैं।

पुत्रो गृत्समदस्याऽपि शुनको यस्य शौनकाः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च॥ (हरिवंश अ० २९।)

अर्थात्—गृत्समद का पुत्र शुनक हुआ और शुनक का पुत्र शौनक, और उस शौनक की संतान, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (चारों वर्ण) की हुई—

एतेह्यांगिरसः पुत्राः जाता वंशेऽथ भार्गवे।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चभरतर्षभ॥ (हरिवंश अ० ३२।)

इस श्लोक में भी बतलाया गया है कि भार्गव वंशी भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र (चारों वर्ण के) हुये। शुक्र नीति में भी यह लिखा है।

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य न।
न शूद्रो न च म्लेच्छो भेदिता गुण कर्मभिः॥

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और म्लेच्छ इनका भेद जाति से नहीं है किन्तु गुण और कर्म से है।

"बलात्कार भी द्विजातियों को पतित किया गया"--

इतना ही नहीं कि जो क्षत्रिय आदि उपनिवेशों के बसाने के लिये भारतवर्ष से बाहर गये, वे और उन्हीं की संतान ही ब्राह्मणों के न मिलने से वैदिक धर्म के छूट जाने पर पतित होगईं, बल्कि भारत में भी अत्याचार से चारों वर्णों के लोगों को पतित किया जाता रहा है। निम्नलिखित उद्धरणों से इसका प्रमाण मिलता है—

"ताननु व्याजहार अन्तान वः प्रजाभक्षीष्ठेत तऐतेंध्रा पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दाः मूतिवा इति उदंत्या बहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः।

ऐतरेय ब्रा० ७।१८।

अर्थात आन्ध्र, पौण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतव और अन्य अनेक सीमा प्रांत के निवासी विश्वामित्र के उन पुत्रों की संतान हैं जो कि उसकी आज्ञा न मानने के कारण दस्यु होगये थे अथवा चारों वर्णों से बाहर कर के दस्यु बना दिये गये थे।

विष्णु पुराण अंश-४ अध्याय-३ में लिखा है कि त्रिशंकु के वंश में बाहु नाम का राजा हुआ, वह हैहय, ताल, जंघादिकों से पराजित होकर अपनी गर्भवती स्त्री के साथ जंगल में भाग गया, और वहीं और्व ऋषि के आश्रम के पास उसकी मृत्यु हुई। जब उसकी स्त्री अपने आपको निराश्रय देख पति के साथ जलने लगी तो और्व ऋषि ने उसको समझाया कि तुम मत जलो, क्योंकि तुम गर्भवती हो तुम्हारे उदर से एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा, जो शत्रुओं को जीतकर चक्रवर्ती राजा बनेगा, इस प्रकार समझा बुझाकर ऋषि उसको अपने आश्रम में ले आया। कुछ दिन पश्चात् उसके पुत्र उत्पन्न हुआ, ऋषि ने जातकर्मादि संस्कार कराकर उसका नाम "सगर" रक्खा और विधिपूर्वक समयानुसार उपनयन संस्कार कराकर शास्त्र और शस्त्र विद्या की शिक्षा देकर निपुण किया। जब वह लड़का ज्ञानवान हुआ तो उसने अपनी माता से वंश और बन में आने का कारण पूछा, तब माता ने सम्पूर्ण वृत्तान्त उसको बताया,—

"ततश्चपितृराज्यहरणाय हैहयताल जंघादि वधाय प्रतिज्ञामकरोत्। अथैतान् वशिष्ठो जीवन्मृतकान् कृत्वा सगरमाह वत्स! अलमेभिर्जीवनमृतकैरनुमृतैरेते च मयैवत्वत्प्रतिज्ञा परिपालनाय निजधर्म द्विजसंग परित्याग कारिताः॥ २५॥

अर्थात् तब उसने अपने पिता का राज्य वापिस लेने के लिये शत्रुओं के मारने की प्रतिज्ञा की, और जब बहुत से हैहय तालजंघादिकों का नाश किया तब वे लोग सगर के कुलगुरु वशिष्ठ की शरण में गये, तब वशिष्ठ ने उनको जीते हुये ही मरे हुओं के समान करके सगर को कहा कि अब इन मरे हुओं को मत मारो, मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्ति के लिये, इनको अपने धर्म और द्विजों से निकाल दिया है। अथवा जाति से बाहर कर दिया है। "स तथेति तद्गुरु वचनमभिनन्द्य तेषां वेशान्यत्वमकारयत, यवनान् मुण्डित, शिरसोऽर्द्ध मुण्डान, शकान् प्रलम्बकेशान् पल्हवांश्च श्मश्रुधरान् निःस्वाध्यायवषट्कारान्

एतानन्याश्च क्षत्रियांश्चकार । ते चात्मधर्म परित्यागात् ब्राह्मणैश्च परित्यक्ताः म्लेच्छतां ययुः ॥ २६ ॥ अर्थात् तब सगर ने अपने गुरु के वचन को स्वीकार करके उनके वेशों में परिवर्तन कर दिया जैसे— किसी का शिर मुंडवाकर "यवन" नाम रख दिया, किसी के केश रखवा दिये और "शक" नाम रक्खा, और किन्हीं की दाढ़ियां रखवा दीं उनका "पल्हव" नाम रक्खा, और उनको स्वाध्याय आदि से बाहर कर दिया, इस प्रकार वे सब अपने धर्म और ब्राह्मणों के त्याग से म्लेच्छ होगये। ऊपर लिखे ऐतिहासिक प्रमाणों से विदित है कि जहां क्षत्रिय आदि आर्य लोग विदेश में नई २ बस्तियां बसाने के लिये गये और ब्राह्मणों के न मिलने से संस्कारों तथा धर्म से रहित होकर पतित होगये, वहां ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने अपने क्षत्रिय भाईयों को भी बलात् धर्म, कर्म और विद्या से शून्य करके उन्हें पतित बना दिया। इसके अतिरिक्त पीछे उद्धृत किये प्रमाणों से यह भी भली प्रकार सिद्ध हो चुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र एक वंश के हैं, और भील, गोंड, द्रविड़ आदि दलित हिन्दू जातियां भी आर्यों के ही वंशज हैं।

"अब यहां पर यह देखना है कि लुहार, बढ़ई, चमार, कुम्हार, जुलाहा आदि भारत की वर्तमान दलित जातियां कैसे बनीं; और आर्यों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) से इनका क्या सम्बन्ध है, अर्थात् इनका परस्पर विदेशी और स्वदेशी अथवा विजेता तथा विजित का ही सम्बन्ध है, जैसा कि पाश्चात्य ऐतिहासिक बतलाते हैं अथवा ये भी आर्यों में से ही हैं। यदि ऐतिहासिकों की इस मिथ्या कल्पना को थोड़ी देर के लिये सत्य मान भी लिया जाय तो यह प्रश्न होता है कि जो विजेता आर्य लोग बाहर से आये क्या भारत में आने से पूर्व उनमें लुहार, चमार, महमार, तृखाण, जुलाहा आदि २ कारीगर लोग नहीं थे। अगर नहीं थे तो आर्य जाति का निर्वाह उनके बिना क्योंकर होता था क्या वे अपने जूते, हथियार, वस्त्र तथा बर्तन आदि यूरोप से मंगाया करते थे, परन्तु यह तो हो नहीं सकता, क्योंकि जिस समय (पाश्चात्य ऐतिहासिकों के कथनानुसार) आर्य लोग भारत में आये, उस समय तो वर्तमान यूरोपियन जातियों का जन्म भी नहीं हुआ था, और यदि उनमें चमार, लुहार आदि कारीगर थे (अवश्य थे)। क्योंकि आर्य जाति संसार में सर्वोपरि सभ्य और सुशिक्षित जाति थी। उनके पास हथियार थे। वे कपड़े और जूते पहनते थे। उनके आलीशान मकान थे और सब से बढ़कर उनके पास ईश्वर प्रदत्त वेद थे, जिनकी पथप्रदर्शिता में उन्होंने सब प्रकार की उन्नति की थी और उन वेदों में लुहार, चमार, तृखाण आदि कारीगरों के काम की भी शिक्षा दी गई है।

अतः यह मानना अनिवार्य होजाता है कि आर्य जाति में लुहार, चमार आदि शिल्पकार भी अवश्य थे। यदि थे तो वे कहां से आये क्योंकि पाश्चात्य ऐतिहासिकों के कथनानुसार अछूतों की खान भारतवर्ष तो अभी उनके हाथ में आई नहीं थी। इसलिये आर्यों के बाहर से आकर भारत के आदि निवासियों को जीतने और उन्हें अछूत बना

कर लुहार, चमार आदि बनाने आदि की मिथ्या कल्पना को छोड़कर इस सचाई के मानने के लिये बाधित होना पड़ेगा, कि न तो आर्य लोग कहीं बाहर से आये और न भारत के आदि निवासी आर्यों के सिवाय कोई और थे। बल्कि भारतवर्ष के आदि निवासी आर्य लोग ही थे। उन्होंने ही आर्यावर्त अथवा भारतवर्ष को आबाद किया, और जीवन सम्बन्धिनी आवश्यक वस्तुओं के बनाने के लिये आवश्यकतानुसार आर्यों में से ही लुहार, चमार और कुम्हार आदि शूद्र शिल्पकार भी बने थे। उनके आर्यों में से होने का प्रत्यक्ष और प्रबल प्रमाण यह है कि द्विजों तथा चमार भङ्गी आदि कर्मण्यों की जाति और गोत्र परस्पर मिलते हैं। जिला रोहतक, हिसार और गुड़गांवा में रहने वाले लोगों की जातियों की नीचे लिखी सूची से इसका प्रमाण मिलता है :—

नाम गोत्र या जाति	उस गोत्र या जाति के जो जो लोग हैं
१-खण्डेलवाल	चमार, ब्राह्मण, वैश्य, मेहतर — इस जाति के वैश्य और चमार जयपुर रियासत और देहली में भी हैं।
२-भंभोरिया	गौड़ ब्राह्मण—चमार
३-वशिष्ठ	ब्राह्मण जम्मू रियासत में, वसिष्ठ-चमार
४-झंझोटिया	गौड़ ब्राह्मण, भंगी। चमार-
५-बाबिलिया	ब्राह्मण। चमार
६-चोपड़ा	क्षत्री, राजपूत और चमार
७-गोयल	वैश्य और चमार
८-सेंगल	वैश्य, गूजर, जाट, मेव-सुनार
९-खत्री	क्षत्रिय और चमार
१०-ब्राह्मणिया	ब्राह्मण और चमार
११-मायल	गूजर और चमार
१२-चांदीला	गूजर, सुनार और चमार
१३-बोयत	जाट, धाणक, भंगी, चमार और हेड़ी
१४-निरबान	जाट, चमार
१५-मैहता	ब्राह्मण, जाट और चमार
१६-बाहज	सुनार और चमार
१७-सिंहमार	जाट, कुम्हार और चमार
१८-लाम्बा	खत्री, जाट और चमार
१९-तूणीवाला	अहीर और चमार
२०-आफ़रिया	अहीर और चमार
२१-गौड़	ब्राह्मण, राजपूत, चमार

नाम गोत्र या जाति	उस गोत्र या जाति के जो जो लोग हैं।
१२-गहलोत	राठौर-भट्टी-सोलंकी, तँवर-चौहान-पनवार-हाड़ा-खेची, चायल और सांखला—इन ग्यारह जातियों के राजपूत भी हैं और चमार भी हैं।
१३-सोंहदा	मोयल-बड़गूजर-बड़हार, इन चार जातियों के राजपूत भी हैं और चमार भी हैं।
१४-धय्या	गठवाल, कटारिया, डुबास, पूनिया, कड़वासर, गौरा, बांदरा, भांभू, डीलू, चूनबुक, मान -- इन १३ जातियों के जाट भी हैं और चमार भी हैं।

पाठक महोदय ! यदि ऊपर दिये गये जाति विवरण को ध्यानपूर्वक देखेंगे तो उन्हें मालूम होगा कि चमारों और कुम्हारों आदि की जातियें तो वही हैं जो कि दूसरे हिन्दुओं की हैं और चमड़े तथा बर्तन बनाने आदि के काम से उनको चमार और कुम्हार कहते हैं अर्थात्-चमार तथा कुम्हार आदि उनकी जाति नहीं बल्कि उनके पेशे का नाम है। जिस प्रकार अब प्रत्येक जाति का व्यक्ति वकील, डाक्टर और इञ्जिनीयर बन सकता है, उसी प्रकार पहले प्रत्येक मनुष्य चमार और कुम्हार आदि भी बन सकता था। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि न केवल यह कि भारतवर्ष भील, गौंड और द्रविड़ आदि दलित हिन्दू श्रेणियां ही आर्यों की वंशज हैं बल्कि यूनान, ईरान. चीन आदि दूसरे सारे देशों के निवासी भी आर्यों की ही संतान हैं और भारतीय ईसाइयों और मुसलमानों का आर्यों की संतान होने में तो कोई संदेह ही नहीं।

यूरोपियन ऐतिहासिकों का यह लिखना है कि आर्य मध्य एशिया से भारत में आये और यहां के आदि निवासियों को परास्त करके यहीं रहने लगे, सर्वथा मिथ्या है। इसके सम्बन्ध में अनेकों प्रमाण मिले हैं जिनसे सिद्ध होता है कि आर्य ही भारत के प्रथम निवासी थे। पंजाब में सप्तसिन्धु को सबसे पहिला स्थान माना गया है जहां जीवन का आविर्भाव हुआ। इसका प्रमाण श्री अविनाशचन्द्रदास का "ऋग्वैदिक इंडिया" पुस्तक में मिलता है।

भूमण्डल के सभी देशों के निवासियों को आर्यों की संतान माना गया है। इसके प्रमाण हम विस्तारपूर्वक यहां दे रहे हैं। क्योंकि यह अलग ही एक विषय है।

नोट—जिन चमार भंगी आदि जातियों के ऊपर नाम दिये गये हैं उनके आर्यों में से होने का प्रमाण यह भी है कि वे सब हिन्दू कहलाती हैं और उनमें आर्य संस्कृति तथा हिन्दुओं के से रीति रिवाज विद्यमान हैं। वे हिन्दु पर्व मनातीं और तीर्थ यात्रा भी करती हैं।

मैक्सीको, असेरिया, फ़िलस्तीन आदि २ देशों में प्राचीन भग्नावशेष मिले हैं तथा जो २ वस्तुएं और शिला लेख मिले हैं उनसे यह सिद्ध हुआ है कि पृथिवी के अधिकतर प्रदेशों में आर्य लोग बसते थे। अतः यह तो निश्चित है कि मनुष्य जाति का आदि स्रोत भारतवर्ष है और वहां से प्रस्थान करके आर्यों ने ही संसार के भिन्न २ देशों को बसाया और जलवायु तथा खान-पानादि के दीर्घ कालीन परिवर्तन से इन देशों के निवासियों में आकृति भेद होता गया है और मनुस्मृति तथा महाभारत के कथनानुसार ब्राह्मणों के न मिलने से ये लोग वैदिक विचार और आचार से शून्य होकर पतित होगये। अतः संसार भर की जातियों का आर्यों में से निकला हुआ होने के कारण वैदिक शुद्धि मर्यादा का नियम सारे संसार पर ही लागू होता है।

प्राचीन शुद्धि की मर्यादा—

यह बात नहीं थी कि केवल स्वदेशी पतितों की ही शुद्धि की जा रही हो बल्कि जो विदेशी अर्थात् यवन, शक, आभीर, तुरुष्क, हूण, मघ, गुर्जर, मैत्रक और काम्बोज आदि आदि जातियों के लोग भी भारतवर्ष में आये। उनको भी शुद्ध करके आर्यों ने अपने में मिला लिया और इस समय वह भारत में अहीर, हूण, मेकग या सेवक, गूजर और मेहर आदि कहलाते हैं और हिन्दुओं के चारों वर्णों में ऐसे मिल गये हैं कि उनके बाहर से आकर हिन्दुओं में मिल जाने का पता ही नहीं चलता।

भारत के प्रसिद्ध विद्वान् श्री डाक्टर भाण्डारकर एम० ए० जी ने २६ अगस्त १६०६ को पूना में अनार्यों को आर्य बनाने पर जो व्याख्यान दिया था उसको "आर्य प्रभा" के प्रथम वर्ष के २२ वें तथा २४ वें अङ्क का सारांश इस प्रकार है :—

१—चुन्नर के शिलालेख में "चिट्स" और "चन्दान" नामक यवनों को शुद्ध करके चित्र और "चन्द्र" बनाना सिद्ध होता है और इनके जीवन में उनका आर्य लोगों से खान पान होना भी प्रतीत होता है।

२—नासिक (जिला) में एक शिला पर यह लेख लिखा है :—

"सिधं ओतराहम दत्तामिति यकस योपकस धर्मदेव पुतस इन्द्राग्नि दतस धर्म्मात्मना"॥

इससे प्रतीत होता है कि उत्तर (सरहद) से आये हुये यवन के पिता को (संस्कार करके) धर्मदेव और पुत्र को इन्द्राग्निदत्त बनाकर आर्य बनाया गया।

३—नासिक के एक और शिलालेख से प्रसिद्ध क्षत्रिय राजवंश के "दिनीक" नहपान "क्षहशात" आदि राजाओं को शुद्ध किया गया, और "नहपान" की कन्या से "ऋषिभदत्त" (उषवदात) नामी आर्य का विवाह हुआ था। इन राजाओं के नाम से २४ हजार सिक्के अभी मिले हैं। 'नहपान' के जामाता ने एक बार तीन लाख गौवें दान करके दी थीं और वह हर वर्ष लक्ष ब्राह्मणों को भोजन कराया करता था। इनका राज्य ५०वर्ष तक नासिक में रहा। इनका समय ईसा के सम्वत् से ३२६ वर्ष पहिले का है।

(४) "ठालेमी" नामक प्रसिद्ध भूगोल ग्रन्थकार ने "उज्जयिनी" का वर्णन करते २ "तियस्थनीज" और "पुलुमाई" तत्कालीन राजाओं का आर्य होना लिखा है।

(५) नासिक के एक और शिलालेख में लिखा है कि—

"सिद्धं राज्ञः माढ़री पुत्रस्य शिवदत्ताभीरपुत्रस्य आभीरेश्वरसेनस्य संवत्सरे नवम ६ गिम्हपखे चौथे ४ दिवस त्रयोदश एताय पुवय शकाग्निवर्मणः दुहित्रा गणपकस्य रेमिलस्य भार्यया गणपकस्य विश्ववर्म मात्रा शकनिकया उपासिकया विष्णुदत्तया गिलान भेषजार्थं अक्षयनीवी प्रयुक्ता"।

इस लेख से प्रतीत होता है कि अग्निवर्म की कन्या और विश्ववर्मा की माता 'विष्णुदत्ता' ने रोगियों की औषध के लिये अक्षयनीवी (धर्मार्थफंड) कायम किया था, यह स्त्री शक जाति की थी और इसका विवाह आर्य क्षत्रिय वंश से होने के कारण इसका पुत्र भी 'वर्मा' कहलाया। इस लेख में आभीर राजा का संवत् दिया है। आभीर लोगों का राज्य शक लोगों के पीछे हिन्दुस्तान में हुआ। आभीर लोग 'मध्य एशिया' से हिन्दुस्तान में आये थे। विष्णु पुराण में इनको म्लेच्छों में गिना है। 'वराहमिहर' भी इन्हें 'म्लेच्छ' ही कहते हैं। परन्तु अब तो ये चारों वर्णों में मिलते हैं।

(६) "काठियावाड़" के "गुंडा" गांव के शिलालेख से भी आभीर राजाओं के राज्य का पता लगता है। जिस समय अर्जुन श्रीकृष्ण की पत्नी को लारहा था उस समय इन्हीं लोगों ने अर्जुन को लूटा था। ये लोग ही पीछे से "अहीर" बन गये हैं और आज सुनारों, तर्खाणों, ग्वालों और ब्राह्मणों तक में पाये जाते हैं। इनमें बहुत से लोग शूद्र होने पर भी जनेऊ डालते हैं। पूना के अहीर, सुनार जनेऊ पहिनते हैं।

(७) "तुर्क हिन्दु बन गये" हिन्दुस्तान के उत्तर की ओर तुर्क लोगों का राज्य था, उनको "राजतरङ्गिणी" में तुरुष्क वा कुषण के नाम से लिखा है। इस वंश का "हिमकाडफिस" नाम का एक राजा हिन्दू होकर "शैव" बन गया था। यह ईसा की दूसरी सदी में राज्य करता था। इसके विशेषणों में "राजाधिराजस्य सर्व लोकैकेश्वरस्य माहेश्वरस्य" लिखा है। इसका नाम हिन्दुओं का सा नहीं है परन्तु यह पक्का "शैव" हिन्दू था। इसके सिक्कों पर एक तरफ़ तुर्की टोपी और दूसरी तरफ नन्दी बैल तथा त्रिशूल सहित शिव की तस्वीर है।

८—'मग लोग ब्राह्मण होगये' शालीवाहन के १०२८ शक संवत् के एक शिलालेख से सिद्ध होता है कि "शाकद्वीप" में मग लोग रहते थे। वहां से शाम्ब इन्हें यहां लाया। इस वंश में ६ पुरुष प्रसिद्ध कवि थे। इनका कुछ वर्णन "भविष्य पुराण" में भी मिलता है। शाम्ब ने "चन्द्रभागा" नदी के तट पर एक मंदिर बनवाया था उस समय ब्राह्मण लोग "देवपूजन" को निन्दनीय समझते थे। इसलिये शाम्ब को कोई पुजारी न मिला, और

उसने शाकद्वीप से आये हुये "मग" जाति के लोगों को पुजारी बना दिया। मुलतान के निकट जो सुवर्ण का भारी मंदिर था जिसे पिछली सदी में मुसलमानों ने तोड़ फोड़ दिया यह वही मंदिर था जिसे शाम्ब ने बनवाया था।

९—"देवस्थान में मगों का अधिकार" आहिस्ते २ मगों का देवपूजन में यहां तक अधिकार बढ़ा कि "वराहमिहिर" जैसे पंडितों ने भी इनकी बाबत यह लिखा है :-

"विष्णोर्भागवतान् मगांश्च सवितुर्शम्भोः स भस्मद्विजान"

अर्थात् विष्णु की मूर्ति को स्थापना भागवत लोगों के हाथ से और "सूर्य देवता" की "मग" लोगों के हाथ से करानी चाहिये।

१०—"हूण लोगों का हिन्दू होना" ईसा के पांचवें शतक में हूण लोग हिन्दुस्तान में आये और कुछ काल बाद इस कुल के नर वीरों ने भारत के कई भागों का राज्य प्राप्त किया। शिलालेखों से "तोरमाण" तथा "मिहरकुल" दो राजाओं का वर्णन अब तक मिलता है। छत्तीसगढ़ के राजा "कर्णदेव" ने एक हूण कन्या से विवाह किया था। राजपूतों की बहुत सी जातियों में "हूण" जाति भी है। इन घटनाओं से प्रतीत होता है कि हूण लोगों को आर्यों ने आर्य बना लिया।

११—"गुज्जर लोग क्षत्रिय बन गये" गुजरात प्रान्त का पहिला नाम "लाट" था, लाटी भाषा और "लाटी रीति" बड़ी प्रसिद्ध थी "काव्य प्रकाश" आदि में इसका वर्णन भी है। मसीह की बारहवीं सदी के पीछे इसका नाम "गुजरात" पड़ा। गुज्जर लोगों का भारत के भिन्न २ प्रान्तों पर राज्य था। इस वंश के देवशक्ति, रामभद्र, भोजराज, महेन्द्रपाल, महीपाल, छः राजा थे। इसमें कन्नौज के राजा "महेन्द्रपाल" के वंश को उसके गुरु कविराज "शेखर" ने अपने "बालरामायण" में रघुवंश की शाखा मानकर उसको "रघुकुलचूड़ामणि" लिखा है। परन्तु वास्तव में ये विदेशी (म्लेच्छ) लोग थे और इनकी जाति के बहुत लोग "गुज्जर" नाम से एशिया के "अजाब समुद्र" के किनारे अब तक बस रहे हैं। गुज्जर भी चारों वर्णों में प्रवेश कर गये हैं। राजपूताना आदि प्रान्तों में बहुत से "गौड़ ब्राह्मण" क्षत्रिय, लुहार, तर्खाण, सुनार और जाट आदि बन गये।

"गुज्जर राजपूत"—राजपूत वंशों में पड़िहार, परमार, चौहान, सोलंकी, आदि जातियां "गुज्जर" हैं।

जिन विदेशी जातियों ने भारतवर्ष में आकर वैदिक धर्म को ग्रहण किया तथा वैदिक सभ्यता और संस्कृति को अपनाया, विशाल हृदय आर्यों ने उन्हीं को अपने में मिला लिया और अपने जैसे ही ब्राह्मणादिक उच्च सामाजिक अधिकार भी दे दिये। बल्कि आर्य विद्वानों ने विदेशों में जाकर वहां के लोगों को भी विद्या पढ़ाकर शुद्ध किया।*

---

* टिप्पणी- स्थानाभाव से प्रमाणों को उद्धृत नहीं किया गया है। पाठक क्षमा करें। सम्पादक

इस लेख में हमने यह बात प्रकट की है कि भारत में ईसाइयों और मुसलमानों के आने से युद्ध का क्या रूप था। ईसाई तथा मुसलमानों ने भारत में किस प्रकार हिन्दुओं को बलात् ईसाई व मुसलमान बनाया यह एक अलग विषय है। स्व० स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज ने "अंधा एतक़ाद" और "खुफ़िया जहाद" में इसका विस्तृत उल्लेख किया है।

बड़े बड़े परिवारों को ईसाइयों ने प्रलोभन देकर ईसाई बनाया। मुसलमानों ने जिन घृणित साधनों को काम में लाकर हिन्दुओं को मुसलमान बनाया उन्हें ध्यान में लाने से ही हृदय कम्पायमान हो जाता है। कितने ही मुसलमान शासकों ने तो हजारों हिन्दू स्त्रियां, बच्चों और पुरुषों को बलात् मुसलमान बनाया। कत्ल किये हिन्दुओं की लाशें कुओं में डलवा दी गईं। परन्तु ऋषि दयानंद के स्थापित आर्य समाज ने इस दिशा में युग परिवर्तन कर दिया। उसने हिन्दुओं को सावधान किया। इतना ही नहीं कि हिन्दुओं को मुसलमान ईसाई होने से बचाया किन्तु ईसाई व मुसलमान हुये भाई बहिनों को पुनः हिन्दुओं में सम्मिलित कराया। मुसलमानों ने घोर विरोध किया और आर्य समाज ने उस विरोध का उत्तर देते हुये अपनी बड़े से बड़ी आहुति दी।

आर्य समाज ने शुद्धि सभा स्थापित करके जो महत्वपूर्ण कार्य किया है वह भुलाया नहीं जा सकता। सैंकड़ों वर्षों के बिछड़े भाइयों को गले लगाकर उनको फिर से हिन्दुओं में सम्मिलित कराने का श्रेय आर्य समाज को है। ओड़, मेघ, रहतियों, डूमनों आदि की शुद्धियां की गईं और उनको फिर से हिन्दु बनाया गया। मलकाना राजपूतों की शुद्धि ने तो सारे भारत में ही हलचल मचा दी थी। आर्य समाज ने दलित जातियों में भी बहुत कार्य किया है। आज तो हजारों दलित जाति के युवक शिक्षा प्राप्त करके उच्च जातियों के समान अपना जीवन बिता रहे हैं। आर्य समाज दलितों तथा दूसरे हिन्दुओं के बीच का भेदभाव मिटाने का प्रशंसनीय कार्य कर रहा है।

अन्त में हम आशा करते हैं कि आर्य समाज इस दिशा में पूर्ण रूप से सतर्क शुद्धि के कार्य को आगे बढ़ाने का यत्न करेगी।

यज्ञमय जीवन

(लेखक श्री० बा० पूर्णचन्द जी ऐडवोकेट आगरा)

इच्छन्त देवाः सुन्वन्तं स्वप्नाय स्पृहयन्ति।

यन्ति प्रमादं अतन्द्रा ॥ ऋग् वेद ८ – २ – १८ अथर्व २० – १८ – ३

श्री पूज्य नारायण स्वामी जी का जीवन यज्ञमय जीवन है। उनका जीवन तप, त्याग, स्वाध्याय और संयम का एक उच्चतम समन्वय है। उनकी उन्नति का आधार उनका स्वयं का परिश्रम और अपनी आन्तरिक शक्तियों का विकास है। उन्होंने किसी बाह्य शक्ति का सहारा नहीं लिया।

बहुधा लोग गर्मियों की ऋतु में किसी पहाड़ के यात्रा की अभिलाषा रखते हैं, या किसी पहाड़ पर रहने के इच्छुक रहते हैं। उनमें से बहुत से मनोरंजन के लिये पहाड़ पर जाते हैं, कोई गर्मी की बला से बचने के लिये, कोई मनोरंजन के लिये, कोई स्वास्थ्य लाभ के लिये। इन सबका उद्देश्य उनके हित के लिए है। परन्तु जो किसी पर्वत के स्थान पर या एकान्त बास करके अपने को सुख पहुंचाने के लिये नहीं, परन्तु अपने स्वाध्याय और तप से दूसरों को अपनी शक्ति से लाभ पहुँचाने की याचना करता है, उसका उद्देश्य सर्वहित के लिये है। स्वामी जी महाराज ने रामगढ़ में नारायण आश्रम की स्थापना अपने मनोरंजन या सुख प्राप्ति के लिये नहीं की, उनका लक्ष्य स्वाध्याय का अवसर प्राप्त करना था। और इसी अभिप्राय से उन्होंने अपने आश्रम में पुस्तकों का संग्रह किया।

स्वामी जी अपनी शिक्षा और दीक्षा की दृष्टि से बहुत साधारण परस्थिति के थे और उनका गृहस्थ जीवन भी सांसारिक दृष्टि से विशेष वैभव का नहीं था। उन्होंने वैदिक मर्यादा को पालन करते हुए वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया, और वहां शक्तियों का संचय करके लोक उपकार के लिये सन्यास आश्रम में प्रवेश किया। हम इस अवसर पर श्री स्वामी जी के चरणों में श्रद्धाञ्जलि भेंट करने का एक ही उपाय उचित समझते हैं, और वह यह कि यज्ञ सम्बन्धी कुछ विचार जनता के सामने रक्खें, जिस से श्री स्वामी जी का अनुकरण करके अन्य सज्जन भी उत्साहित हों और अपने जीवन को यज्ञमय बनाने का उद्योग करें।

जीवन को यज्ञमय बनाने के लिये एक विशेष प्रकार के मनोविज्ञान की आवश्यकता है। और वह मनोविज्ञान विस्तार प्राप्त करके ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देगा कि यज्ञमय जीवन सार्वजनिक रूप धारण करे।

यज्ञ के तीन भाव–

यज्ञ शब्द से तीन भाव प्रकट होते हैं। देव पूजा, सङ्गतीकरण और दान सङ्गती-

करण या संगठन सब से मुख्य है। हम चाहे अपने शरीर में देखें या अपने ब्रह्माण्ड में सङ्गतीकरण ही जीवन है और सुख और शान्ति का केन्द्र है। शरीर में स्वास्थ्य का नाम सङ्गतीकरण है और संगतीकरण में अड़चन का पैदा होना रोग है। और बिल्कुल संगतीकरण का अन्त होजाना मृत्यु है। समुदाय या समाज के शरीर की भी यही दशा है। पारस्परिक प्रेम रहना और एकता रहना सामाजिक स्वास्थ्य है। और कलह और युद्ध का उत्पन्न होजाना सामाजिक रोग है और इन्हीं रोगों का भयङ्कर रूप बिल्कुल सामाजिक संगठन का लोप हो जाना है।

केवल सङ्गतीकरण पर्याप्त नहीं—

हम चाहे पशु जगत को लें या पक्षियों को लें या मनुष्य समुदाय को लें केवल एक स्थान पर संगतीकरण या इकट्ठा होजाना पर्याप्त नहीं, और नहीं हितकर है। दो, चार, दस चींटियों से रक्षा सहज में हो जाती है। परन्तु यदि चींटियां दल बनाकर आजायें तो हाथी तक का नाक में दम करदें, और मनुष्य के हित की खाने पीने की चीजों का अन्त करदें। यही दशा टीड्डी दल के आक्रमण की है। डाकुओं के रूप में मनुष्यों का संगती करण एक भयानक चीज़ है। युद्ध में दोनों ओर की सेना अपने संगतीकरण के आधार पर ही नाश का कारण बनी हुई है। वास्तविक संगतीकरण के लिये दो बातों की आवश्यकता होगी। एक आधार दूसरा व्यवहार। वास्तविक व अस्थाई संगतीकरण के लिये आधार सार्वजनिक होना चाहिये। संगतीकरण राष्ट्र निर्माण के लिये अनेक आधार माने जाते हैं। देश भी आधार है जातीय आधार भी है। रूप और रंग का आधार भी है, लिङ्ग का आधार भी है और भाषा और भेष का आधार भी है, एतिहासिक आधार भी है, और भौगोलिक भी।

उपरोक्त आधारों में दो विशेष त्रुटियां हैं। एक संकुचित भावना उत्पन्न होने की और दूसरे कलह और द्वेष की। यदि हमारा आधार किसी एक देश का निवास होगा या किसी विशेष देश का प्रेम होगा तो एक ओर तो यह सम्भव है और यह भय रहता है कि हमारी देश की परिभाषा या भावना संकुचित होकर प्रान्त, नगर, या परिवार तक ही सीमित रह जावे। दूसरी ओर यह भय है कि जिस समुदाय का लक्ष्य उनके देश का प्रेम है उस समुदाय का दूसरे देश से प्रेम करने वालों से संघर्ष में आना स्वाभाविक सा हो जाता है। और कलह बढ़ती है इसलिये यह आवश्यक है कि संगती करण का आधार इस प्रकार होना चाहिये कि जो रूप, रंग, जातीय, लिंग, भाषा और भेष के बन्धनों से मुक्त हो।

संगतीकरण का सार्वजनिक आधार देव पूजा ही हो सकता है। अर्थात् यह विचार न केवल मनुष्य मात्र परन्तु प्राणी मात्र एक दयालु और न्यायकारी परमात्मा की प्रजा या सन्तान है सारे संसार में लागू हो सकता है। इस आधार में देश, काल,

इतिहास और भूगोल, विचार और व्यवहार बाधित नहीं हो सकते।

इस स्थल पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धार्मिक क्षेत्रों के काम करने वालों ने अपने संगतीकरण का आधार एक ईश्वर को न रख कर किसी पैगम्बर, रसूल, या अवतार विशेष को मान लिया है। और उनके अन्दर भी संकुचित भाव और कलह के भाव भी उत्पन्न हो गये हैं। इसका दूषित परिणाम यह हुआ है कि राष्ट्र निर्माण या संगतीकरण उत्पन्न करने वाले धर्म के नाम से कान पर हाथ धरते हैं और धर्म को तिलाञ्जलि देना ही एकता उत्पन्न करने का साधन समझते हैं। इसका उपाय धार्मिक जगत की रूप रेखा का परिवर्तित करना है, धर्म को छोड़ना नहीं।

महाभारत के युद्ध के समय से पूर्व तक संगठन या संगतीकरण का आधार धर्म ईश्वर विश्वास था। और संसार सुख और शान्ति से परिपूर्ण था। जब धार्मिक विचार क्रियात्मक जीवन का अग न रहे और धर्म और जीवन पृथक् पृथक् होगये तो कलह संघर्ष उत्पन्न हो गया जिसका परिणाम दुःख और अशान्ति हुआ।

उपरोक्त विचारों से यह प्रकट होता है कि संगठन का आधार देव पूजा ही होना चाहिये। परन्तु केवल आधार निर्धारित होना ही पर्याप्त नहीं है। क्रियात्मक जीवन का सम्बन्ध तो व्यवहार से है। व्यवहार में यज्ञमय जीवन हो इसके लिये दान की भावना आवश्यक है।

इस प्रकरण में दान शब्द एक विस्तृत अर्थ रखता है। साधारणतया दान शब्द का अभिप्राय कुछ देना समझा जाता है। परन्तु यज्ञ की परिभाषा में दान से अभिप्राय उन मानसिक वृत्तियों का है जिनसे मनुष्य का आचार विचार और व्यवहार परस्पर के सम्बन्ध में परोपकार और देने की भावना से ओतः प्रोत हो।

मनुष्य समुदाय के लिए यदि जीवन निर्वाह करना है तो यह आवश्यक है कि वह दूसरों से कुछ ले। और दूसरों को कुछ दे। मनुष्य स्वभाव से असहाय और दूसरों पर आश्रित उत्पन्न हुआ है। उसको अपने ज्ञान-कर्म और भोग के लिए दूसरों का सहारा अनिवार्य है। अकेले न उसका प्रयत्न सफल हो सकता है, और न पुरुषार्थ। इस लिए मनुष्य को सामाजिक पशु कहा गया है, जहां मनुष्य का मनुष्य से सहायता प्राप्त करना अनिवार्य है वहां यह भी अनुभव है कि जब मनुष्य से मनुष्य सम्पर्क में आते हैं, तो उनमें संघर्ष भी हो ही जाता है। मनुष्य की न सब इच्छाएं पूर्ण होती हैं न सब द्वेष और न सब उसके परिश्रम सफल होते हैं। चाहे उसकी असफलता उसके ही कारण से हो। परन्तु वह दूसरों को उसका कारण समझता है उससे बदला लेने की चेष्टा करता है। सफल जीवन का रहस्य इसमें है कि मनुष्य समाज का निर्माण इस प्रकार हो कि उनमें कलह न्यून से न्यून और आनन्द अधिक से अधिक हो। इस के लिए मानसिक वृत्तियां और हृदय के भाव यज्ञ की भावना के सांचे में ढालने होंगे। परस्पर का व्यवहार

लेने की भावना से हो सकता है और देने की भावना से, और परिणाम भी दोनों का एक ही है। परन्तु भाव में बहुत अन्तर है। लेने और देने के लिए तीन ही चीजें हैं अर्थात् तन, मन और धन और तन, मन, धन यदि लेने की भावना से प्रयोग में लाया जायगा तो उनको देने पर भी लेने की भावना रखने वाले के हृदय में कभी संतोष नहीं होगा। लेने की भावना से लेने की भावना में वृद्धि ही होगी और जिससे लिया जायगा उसको भी देने से प्रसन्नता नहीं होगी। अर्थात् लेने की भावना से दोनों ओर अप्रसन्नता और असंतोष रहता है। इसके प्रतिकूल यदि देने की भावना से कोई व्यवहार या कार्य होगा तो देने वाले को प्रसन्नता होगी। और उसके प्रतिकार में जो दूसरों से उसको मिलेगा उसको दूसरों को देने में आनन्द होगा। और उसको लेने में तृप्ति। मानसिक भावना के भेद को समझने के लिये हम यह ध्यान में रक्खें कि यदि एक रुपया टैक्स में दिया जाय और एक रुपया चन्दे में और एक रुपया चढ़ावे में तीनों प्रकार से देने वाले की जेब से एक ही रुपया गया और उसके बदले में उसको कुछ न कुछ मिल ही गया। परन्तु तीनों दशाओं में भावना बिलकुल पृथक् है। यदि कपड़े बनाने वाला कपड़ा बनाने और बेचने में यह भावना रक्खे कि वह संसार को सुखी बनाने के लिए कपड़ा बनाएगा और बेचेगा, तो वह सांसारिक सुख में वृद्धि करेगा। यदि कपड़े के व्यापार में अनुचित लाभ की चेष्टा होगी तो अधिक से अधिक कपड़ा बन जाने और बिक जाने पर भी न बेचने वाले को आनन्द और न खरीद ने वाले को तृप्ति। यही दशा सब व्यापार व्यवहारों की है।

भारतवर्ष में सम्प्रति यह एक प्रसिद्ध कहावत है कि घोड़ा दाने घास से यारी नहीं करेगा जिसका अर्थ वह यह लेते हैं कि हर व्यक्ति को अपने व्यवसाय में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने और अर्थ सञ्चय करने का अधिकार है। वकील, डाक्टर, रेल के बाबू और डाकखाने के बाबू जमींदार और किसान-पूञ्जीपति और मजदूर सब इसी भावना से व्यवहार करते हैं, इसका परिमाण यह हुआ कि घोड़े ने घास से यारी नहीं की और घास ने घोड़े से यारी छोड़ दी है और सब घोड़े अपने अपने अस्तबलों में पैर पीटते और हिनहिनाते रहते हैं। लखपति और कंगाल एक समान भूखे और दुखी हैं और लखपति के लिए केवल उसकी दूषित मनोवृति का यह परिणाम है कि उस का लाख खाक में परिवर्तित हो जाता है।

परस्पर के कलह और संघर्ष को देखकर बहुत से विचारक तो ऐसे हैं जो वस्तु के भाव या अभाव को कलह का कारण समझते हैं और समाज की व्यवस्था के लिये वस्तुओं के बटवारे की विचित्र विचित्र विधियां निकालते हैं। कोई तो यह सोचते हैं कि वस्तुओं का बटवारा यदि बराबर बराबर होजाय तो झगड़ा निबट जाय। उनकी दृष्टि में यही साम्यवाद है। परन्तु ऐसा विचार भ्रम मूलक है। ऐसा वही विचार रख सकते हैं

जिनका दृष्टिकोण बाह्य है। कलह का मूल तो हृदय के अन्दर है, और उधर ध्यान देकर बाह्य परस्थिति की विवेचना की जा रही है। वृक्ष की जड़ बिना पानी के सूख रही हैं और पत्तों को धोया और झाड़ा जा रहा है। संसार में कलह-कंजूस-अमीर और वे-सबरे ग़रीबों के कारण हैं। ग़रीबी और अमीरी कोई अस्वाभाविक नहीं है। जातीय, आयु और भोग तो पूर्व जन्म के आधार पर निश्चित होते हैं। लाख प्रयत्न करने पर भी धन की मात्रा का भेद मिटाया नहीं जा सकता। कोई अमीरों की दौलत को जबरदस्ती छीनकर गरीबों को बांटना चाहते हैं। आवश्यकता इसकी है कि धनवानों से कंजूसी की भावना छुड़ाई जाय, और निर्धनों से असंतोष की। योगदर्शन की परिभाषा में इसी का नाम अपरिग्रह और ईश्वर प्रणिधान है। यज्ञ की भावना का अभिप्राय यही है।

प्राचीन वैदिक पद्धति यह है कि धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का समन्वय होना चाहिये। सबसे पहले धर्म की भावना हो, और उससे अर्थ संचय हो, और उस अर्थ से सांसारिक कामनाएं और सबसे विशाल कामना मोक्ष रूपी कामना पूरी की जाय अब इस के स्थान में उल्टी प्रथा है। अर्थ-काम-धर्म-मोक्ष अर्थात् पहले खूब अर्थ सञ्चय करलो चाहे धर्म से हो चाहे अधर्म से और उस धन से अपनी सांसारिक कामनाएं पूरी करो और बचे हुए धन में से कुछ धर्म का ढोंग रचा जाए, और मोक्ष के लिए पेशगी दी जाय। यह उल्टी प्रथा-यज्ञमय भावना के न होने कारण है।

वैदिक परिभाषा में सन्यासी को स्वामी कहते हैं अर्थात् जिसने त्यागा है वह स्वामी और जिसने पकड़ा है वह दास।

मनुष्यों में यज्ञमय भावना उत्पन्न करने के लिए शिक्षा और संस्कारों की आवश्यकता है, और पंच महायज्ञ अचूक उपाय हैं। पांचों महायज्ञों का क्रियात्मक रूप से करने वाला, संसार में सबके साथ प्रेम और शान्ति का व्यवहार ही करेगा।

मनुष्य की दुनिया--

हरएक मनुष्य की दुनिया निम्नलिखित विभागों में विभाजित समझी जा सकती है- (अ) ईश्वर, (ब) ईश्वर की दैविक शक्तियां, (स) मनुष्य, (द) अन्य प्राणी और मनुष्य दो विभागों में विभाजित किए जा सकते हैं। एक हम से सम्बन्ध रखने वाले और दूसरे वह जो हम से सम्बन्ध नहीं रखते। अपनों को पितृ और दूसरों को अथिति कह सकते हैं। यदि मनुष्य का सम्बन्ध उपरोक्त पांच विभागों से मर्यादित है तो उसको शान्ति प्राप्त होगी और यदि मर्यादित नहीं है इन्हीं से अशान्ति है। यही उसके सुख के साधन हैं और यही दुःख के कारण। पञ्च यज्ञ करने से यह सुख के साधन हो जायेंगे। जीवन निर्वाह के लिए इससे छुटकारा नहीं है। इनसे तो मर कर भी पीछा नहीं छूटना है। यदि इन से यज्ञमय भावना सहित सम्बन्ध स्थापित होग, तो यह सुख के साधन

होंगे। क्या यह प्रसिद्ध कहावत नहीं कि बन में विचरने वाले योगी न सिंह से डरते हैं और न सर्प से। ऋषि दयानन्द भी तो गंगा के तट पर मगर से निर्भीक रहे थे।

यज्ञमय भावना को जीवन का अंग बनाने के लिए और चरितार्थ करने के लिए ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना एक विशाल यज्ञ के रूप में की है। आर्य समाज के दस नियमों में पहले चार नियम देव पूजा सम्बन्ध के हैं। उनमें ईश्वर-ईश्वर का स्वरूप और उसके पवित्र ज्ञान वेद का विवेचन है। और नियम पांच से लेकर नौ तक संगतीकरण के नियम हैं। इनमें संगतीकरण का लक्ष्य और उपाय दोनों वर्णन किए गए हैं। और दसवां नियम दान का वाचक है। दसवे नियम में व्यक्ति को समाज की वेदी पर सर्वस्व अर्पण करने की शिक्षा है।

इस विशाल यज्ञ के प्रज्वलित रखने के लिए नित्य प्रति और विशेषतया आहुतियों की आवश्यकता है। क्या ही अच्छा हो कि श्री पूज्य नारायण स्वामी जी के जीवन से प्रभावित होकर हम सब अपने जीवन को यज्ञमय बनाने में सफल हों।

आर्य समाज में बलिदान की भावना

[लेखक—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति, आचार्य दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर]

आर्य समाज एक धर्म प्रचारक संस्था है। धर्म स्वभावतः मनुष्य में आत्म त्याग की भावना को उत्पन्न करता है। धरती के सब मनुष्यों और अन्य सब प्राणियों को परमात्मा ने उत्पन्न किया है। परमात्मा हम सब का उत्पादक पिता और माता है। हम सब उसके पुत्र हैं। इसलिये हम सब आपस में भाई भाई हैं। अपनी लौकिक माता के पेट से उत्पन्न होने वाले भाई को जिस प्रकार हम अपना भाई समझते हैं, उसके सुख को जिस प्रकार अपना सुख और उसके दुख को जिस प्रकार अपना दुःख समझते हैं, उसी प्रकार हमें संसार के सब मनुष्यों और प्राणियों को उस जगज्जननी की सन्तान होने के कारण अपना भाई समझना चाहिये और उनके सुख को अपना सुख और उनके दुःख को अपना दुःख समझना चाहिये। जिस प्रकार हम अपनी लौकिक माता से उत्पन्न अपने भाई के दुःखों को दूर करने और सुखों को बढ़ाने के लिए शक्ति भर प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार उस जगज्जननी से उत्पन्न अपने भाइयों के दुःखों को दूर करने और उनके सुखों को बढ़ाने के लिये हमें सदा शक्ति भर यत्न करते रहना चाहिये। इसके लिये हमें जितना त्याग करने की आवश्यकता हो उसे करने के लिये सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। धर्म का अनुसरण स्वभावतः मनुष्य में इस प्रकार की भावनायें जागृत करता है और इन भावनाओं के अनुसार कार्य करने के लिये उसे प्रेरित करता है। धर्म का धर्मत्व इसी में है। किसी पुरुष के धार्मिक होने की यही वास्तविक कसौटी है।

आर्य समाज वेद के धर्म का प्रचार करता है। वेद का धर्म वह शुद्ध और पूर्ण धर्म है जिसका जगदुत्पत्ति के आरंभ में भगवान् ने मनुष्यों को उपदेश किया था। इसलिये आर्य समाज द्वारा प्रचारित इस शुद्ध धर्म में तो विश्व बन्धुत्व और आत्म-त्याग की इन भावनाओं का उत्पन्न होना और भी अधिक अनिवार्य है। फलतः वेद के धर्म का प्रचार करने वाले आर्य समाज में ये भावनायें आरम्भ काल से उत्पन्न होती रही हैं और वह इन धार्मिक भावनाओं के अनुसार सदा शक्ति भर कार्य करता रहा है।

जब धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर कोई मनुष्य दूसरे लोगों के कल्याण के लिये अग्रसर होता है तो उसके लिये अपनी शक्तियों और सामग्री का कम या अधिक त्याग करना नितांत आवश्यक होता है। अपने पदार्थों का त्याग किए बिना हम दूसरों का कल्याण और सुख साधन नहीं कर सकते। सभी प्रकार के त्यागों में हमें अपने स्वार्थ को, अपने सुख आराम को, छोड़ना होता है। सभी प्रकार के त्यागों में हमें अपनी आत्मा की ममत्व-प्रधानता को दबाना होता है। इस प्रकार सब त्यागों की तह में आत्म त्याग की भावना काम करती है। जब आत्म त्याग की यह भावना इस सीमा तक बढ़ जाती है कि आवश्यकता होने पर हम अपने प्राणों तक का उत्सर्ग करने के लिये उद्यत हो जाते हैं तो इस पराकाष्ठा के आत्मत्याग को सामान्य भाषा में "आत्माहुति" या "बलिदान" कहते हैं। जब तक अन्न, वस्त्र, धन आदि की स्थूल सामग्री द्वारा कष्टापन्न लोगों का दुःख दर्द दूर करके हम उनके सुख साधन का प्रयत्न करते हैं तब तक "बलिदान" की नौबत हमारी प्रायः नहीं आती है। परन्तु अनेक बार लोगों का वास्तविक सुख साधन करने के लिये हमें उनके प्रचलित विचारों को बदल कर उनके स्थान में नये विचार देना आवश्यक होता है। लोगों के जो कष्ट अज्ञान पर आश्रित हैं वे अज्ञान को दूर किये बिना दूर नहीं हो सकते। परन्तु मनुष्य के स्वभाव में यह दोष है कि वह अपनी भूल सुझाया जाना पसन्द नहीं करता है। वह अपनी भूल बताने वाले से चिढ़ जाता है। वह भूल बताने वाले का अपकार तक करने के लिये तय्यार हो जाता है। यदि भूल बताने वाला अपना काम निरंतर करता चला जाय तो उससे मनुष्य यहां तक क्रुद्ध हो जाता है कि भूल बताने वाले के प्राण तक लेने के लिये तय्यार हो जाता है। धार्मिक भावना से प्रेरित भूल बताने वाला पुरुष लोगों के इस क्रोध से घबराता नहीं है। उसने तो परमात्मा के पुत्रों का, अपने भाइयों का दुःख संकट दूर करना है और वह अपने इन भाइयों का प्रचलित अज्ञान दूर करने से ही हो सकता है। इसलिये वह अपनी सच्ची, खरी बातें निर्भीक भाव से सुनाता चला जाता है। यदि उसके ये ना समझ भाई क्रुद्ध होकर उसके प्राणों को ही ले लेना चाहते हैं तो वह इसके लिये भी उद्यत रहता है। अज्ञानान्धकार को हटाकर ज्ञान का प्रकाश फैलाने के इस कार्य में वह हंसते हंसते अपने आपको "बलिदान" करने के लिये भी तय्यार रहता है। ऐसी अवस्था में एक धार्मिक पुरुष के

लिये अपनी "बलि" दे देने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता है। एक और प्रकार के अवसर भी हैं जब मनुष्य को 'बलिदान' होने के लिये तय्यार रहना पड़ता है प्रत्येक मनुष्य और मनुष्य समाज के कुछ जन्मसिद्ध अधिकार हैं। ये अधिकार छिन जाने पर न कोई मनुष्य वास्तव में मनुष्य कहलाने का अधिकारी रहता है और न कोई मनुष्य समाज ही मनुष्यों का समाज कहलाने का अधिकारी रह जाता है। बहुत बार स्वार्थ और शक्ति के मद में चूर लोग हमारे इन अधिकारों को कुचलने के लिये तत्पर हो जाते हैं। हमें इन लोगों से अपने अधिकारों की रक्षा करनी होती है। अपने अधिकारों की रक्षा के इस काम में हमें भारी से भारी आत्म-त्याग करने की आवश्यकता पड़ती है। धन-सम्पत्ति का तो कहना ही क्या, हमें प्राणों का मोह छोड़कर ऐसे अवसरों पर अपने जीवनों का भी बलिदान करना पड़ता है। धार्मिक वृत्ति के पुरुष ऐसे अवसरों पर भी हंसते २ अपना 'बलिदान' कर देते हैं।

आर्य समाज द्वारा किये गये जीवनों के बलिदानों की चर्चा करने से पहले, समय समय पर लोक कल्याण के लिये आर्य समाज जो भारी त्याग करता रहा है उनमें से कुछ की ओर निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसा करने से आर्य समाज की बलिदान-भावना का वास्तविक स्वरूप समझने में बहुत सहायता मिलेगी। इससे हमें आर्य समाज के बलिदानों की तह में छिपी हुई मौलिक प्रेरणा का समझना सुगम हो जायेगा।

धार्मिक भावना स्वभावतः धार्मिक पुरुषों के भीतर प्राणिमात्र के दुःख दर्द में समवेदना के भाव उत्पन्न करती है। इसीलिये हम देखते हैं कि जब कभी मनुष्य समाज के किसी अंश पर कोई विपत्ति आई है आर्य समाज उसी समय पीड़ित लोगों की सहायता करने के लिये आगे बढ़ा है। ऐसे अवसरों पर आर्य समाज सदा कष्टापन्न लोगों की सेवा करने के लिये उनके पास अपनी स्वयं सेवकों की सेनायें भेजता रहा है और उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये मुक्तहस्त से धन की सहायता भेजता रहा है। आर्य समाज का जीवन अभी छोटा ही है। आर्य समाज की स्थापना ऋषि दयानन्द ने सन् १८७५ में की थी। अपने जीवन के इन ६८ सालों में आर्य समाज ने कष्टापन्न जन-समाज की सेवा का कोई अवसर हाथ से न जाने दिया है। सन् १८९७-९८ और १८९९-१९०० में हमारे देश में भयङ्कर अकाल पड़े थे। अन्न न मिलने से अनगिनत आदमियों को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े थे। असंख्य बसे हुये घर उजड़ गये थे। भूख से विह्वल होने के कारण पति को पत्नी की, माता को सन्तान की सुध न रही थी। सर्वत्र त्राहि त्राहि मच गयी थी। आर्य समाज अभी अपने आरंभिक काल में ही था। उसकी शक्ति का अभी बहुत विकास नहीं हुआ था। फिर भी आर्य समाज ने अकाल से आक्रान्त प्रदेशों में अपने सेवक भेजे, पीड़ित लोगों को अन्न, वस्त्र और धन की शक्ति भर

सहायता दी। सैंकड़ों अनाथ बच्चों की रक्षा की और असहाय अबलाओं की लज्जा को ढका। हजारों रुपया इस काम में आर्य समाज ने खर्च किया। उस समय पीड़ितों की सहायता करने वाला एक मात्र भारतीय समाज आर्य समाज था। सन् १६०८ के अकाल में भी आर्य समाज ने इसी प्रकार हजारों रुपया व्यय करके पीडितों की सहायता की। कांगड़ा की घाटी में १६०४ ई० में एक भयङ्कर भूकम्प आया था। भूकम्प से जन और धन की घोर हानि हुई थी। हजारों आदमी निराश्रय और बे घर बार के हो गये थे। उस समय की आर्य समाज सब से पहले पीड़ित लोगों की सहायता और सेवा करने के लिये पहुँचा था।

सन् १६१८ में गढ़वाल के प्रदेश में भीषण अकाल पड़ा था। एक भीषण अकाल में जनता की जो दुःखपूर्ण शोचनीय स्थिति हो जाया करती है वही स्थिति गढ़वाल के लोगों की होगई थी। लोगों को खाने पहनने को नहीं मिलता था। सर्वत्र हाहाकार मच गया था। उस समय भी आर्यसमाज दुःखाकुल जनता की सेवा के लिये तत्काल आक्रान्त प्रदेश में पहुंचा। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने वहां जाकर डेरे लगा लिये। उनके नेतृत्व में गुरुकुल के ब्रह्मचारी और स्नातक तथा अन्य आर्यसमाजी लोग आक्रांत प्रदेश के गांव गांव में घूम कर पीडित लोगों को सहायता देते थे। इस काम में अकेले श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज द्वारा आर्यसमाज ने ७०३३० रु० व्यय किये थे। महात्मा हंसराज जी की अध्यक्षता में वहां अलग काम हो रहा था। उसके द्वारा जो हजारों रुपया व्यय हुआ वह अलग है।

जून १६३४ में बिहार में भयङ्कर भूकम्प आया। नगरो के नगर नष्ट-भ्रष्ट हो गये। इस दुर्दैव का यहां वर्णन हो सकना कठिन है। आर्यसमाज के लोग इस समय भी विपद्ग्रस्त जनता की सेवा के लिये दौड़कर पहुँचे। लोगों की सब प्रकार की सहायता की गई। भूखों और नंगों को अन्न और वस्त्र दिये गये। बे-घरबारों के लिये निवासार्थ झोंपड़े बनवाये गये। अकेली आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने इस काम में कोई १०००० रु० व्यय किये थे। अन्य प्रान्तों की समाजों और सभाओं ने जो खर्च किया था वह अलग है। पुनः १६३५ में क्वेटा में भीषण भूकम्प आया। सारा क्वेटा विनष्ट होगया। हजारों लोग दबकर मर गये। सब की चल और अचल सम्पत्ति नष्ट हो गई। आर्यसमाज इस समय भी विपदाक्रान्त लोगों की सहायता और सेवा के लिये तत्काल पहुंचा। जिनको अन्न की जरूरत थी उन्हें अन्न दिया गया। जिन्हें वस्त्रों की आवश्यकता थी उन्हें वस्त्र दिये गये। जिन्हें दवा दारु और मरहम-पट्टी की आवश्यकता थी उन्हें वह दी गई। जिन्हें रुपये की आवश्यकता थी उन्हें वह दिया गया। जिन्हें देश में अपने घरों में पहुंचाने की आवश्यकता थी उन्हें पहुंचाने का प्रबन्ध किया गया। इस कार्य में भी आर्यसमाज ने हजारों रुपया खर्च किया। अकेले आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने ही कोई १६००० रु०

खर्च किया।

सन् १९४२ में सिन्ध नदी के चढ़ जाने से सिंध प्रान्त में भयङ्कर बाढ़ आई। गांव के गांव पानी में दब गये और बह गये। हजारों आदमी बे-घरबार के और अन्न, वस्त्र से विहीन हो गये। मलेरिया भयङ्कर रूप से फूट पड़ा। इस विपत्ति के समय भी आर्य समाज झट पीड़ित लोगों की सहायता के लिये वहां पहुंचा। लोगों को हजारों रुपये के वस्त्र और दवायें वितरण की गईं। चिकित्सा के लिये केन्द्र स्थापित किये गये। अन्य सब प्रकार की आवश्यक सहायता भी दी गई। इस अवसर पर भी आर्यसमाज ने हज़ारों रुपया खर्च किया। अकेले आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने ही इस समय कोई २३००० रु० खर्च किया। सेवा के इन सब अवसरों पर आर्यसमाज जाति और सम्प्रदाय के भेद भाव को भुलाकर कष्टापन्न मात्र की सहायता करता रहा है। सिंध प्रान्त में तो सब काम हुआ ही प्रधानतः मुस्लिम-प्रधान देशों में है।

जनता की सेवा के अन्य अवसरों पर भी आर्यसमाज ने भारी काम किया है। उदाहरण के लिये १९३२ में जम्मू प्रदेश में वहां के मुसलमानों ने हिन्दुओं पर अकथनीय अत्याचार किये थे। प्राणों की हत्या, माल असबाब की लूट, स्त्रियों और बच्चों पर बलात्कार आदि कोई ऐसी पशुता न थी जो उस उपद्रव में हिन्दुओं पर न की गई हो। पीड़ितों की संख्या हजारों तक पहुंच गई थी। इस संकट से बचने का उपाय एक मात्र इस्लाम को स्वीकार कर लेना था। इस घोर विपत्ति के समय भी आर्यसमाज पीड़ितों की सहायता के लिये तत्काल वहां पहुंचा। स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी की अध्यक्षता में दयानन्द उपदेशक विद्यालय के विद्यार्थी और अध्यापक तथा अन्य आर्यसमाजी पुरुष इस निर्दयता के क्षेत्र में जा पहुँचे। पीड़ितों की अन्न, वस्त्र द्वारा सहायता की गई। जो लोग डर कर अपने धर्म से गिर गये थे उन्हें वापिस अपने धर्म में लाया गया। दक्षिण भारत के मालाबार प्रांत में मोपला मुसलमानों ने प्रसिद्ध मोपला काण्ड के समय भी वहां के हिन्दुओं पर इसी प्रकार के अत्याचार किये थे। उस समय भी आर्यसमाजियों ने वहां पहुंच कर पीड़ितों की भरपूर सहायता की थी। इन दोनों अवसरों पर भी आर्यसमाज ने हजारों रुपया खर्च किया था। जब जब जनता पर किसी प्रकार की कोई विपत्ति आई है तब तब आर्य-समाज विपद्ग्रस्त लोगों की सेवा के लिये इसी प्रकार आत्म-त्याग करता रहा है।

आर्यसमाज की त्यागमयी भावना का परिचय देने के लिये उसके एक अन्य क्षेत्र में किये हुये कार्य की ओर भी संकेत कर देना उचित प्रतीत होता है। वह क्षेत्र है शिक्षा का। जन-समाज का अज्ञानान्धकार दूर करना आर्यसमाज का एक प्रधान उद्देश्य है। इसके विना लोगों का वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता। इसलिये शिक्षा का काम अपने प्रारम्भ काल से आर्यसमाज ने अपने हाथ में ले रखा है। इस लोक-कल्याण के

काम में आर्यसमाज बेहद शक्ति खर्च कर रहा है। इस काम में आर्यसमाज पानी की तरह अपना रुपया बहा रहा है।

इस समय आर्यसमाज के ३२ गुरुकुल चल रहे हैं। इसमें से अकेले गुरुकुल काङ्गड़ी का वार्षिक खर्च १५०००० रु० है। गुरुकुल वृन्दावन का वार्षिक खर्च ५०००० रु० है। गुरुकुल काङ्गड़ी की शाखाओं में से कइयों का वार्षिक व्यय बीस पच्चीस हजार रुपया है। हिसाब लगाया जाय तो सब गुरुकुलों पर मिलाकर आर्यसमाज प्रतिवर्ष कोई ४००००० रु० व्यय कर रहा है। आर्यसमाज के ४ कन्या गुरुकुल चल रहे हैं। इनमें से अकेले कन्या गुरुकुल देहरादून पर प्रतिवर्ष कोई ६६००० रु० खर्च होता है। आर्यसमाज के तीन उपदेशक विद्यालय हैं। इनमें से अकेले दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर पर प्रति वर्ष कोई ८००० रु० व्यय होता है। आर्य समाज के ११ कालेज और ८५ स्कूल चल रहे हैं। इन में से अकेले लाहौर एंग्लो वैदिक कालेज पर हर साल ५००००० रु० व्यय होता है। आर्यसमाज के कन्याओं के विद्यालयों, स्कूलों और पाठशालाओं की संख्या १०६ है इन में से कई पाठशालाओं में हजार हजार कन्यायें पढ़ती हैं। इन सब गुरुकुलों, विद्यालयों, कालेजों, स्कूलों और पाठशालाओं पर आर्यसमाज प्रतिवर्ष कोई बीस पच्चीस लाख रुपया खर्च कर रहा होगा। शिक्षा संस्थाओं की यह संख्या सार्वदेशिक सभा के विवरण के आधार पर लिखी गई है।

आर्यसमाज संख्या की दृष्टि से भारतवर्ष की ४० करोड़ जनता में कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखता है। १९३० की जनगणना में आर्यसमाजियों की जन संख्या केवल ९९०२३३ थी। १९४० की संख्या पता नहीं लग सकी है। इतने थोड़े आर्यसमाजी शिक्षा के क्षेत्र में इतना अधिक रुपया बहा रहे हैं। आर्यसमाज का लोक-कल्याण की महनीय भावना से दिया हुआ यह त्याग सचमुच अद्भुत है। आर्यसमाजियों में पाई जाने वाली यह त्याग की अद्भुत भावना ही बढ़ते बढ़ते जीवन बलिदान का रूप धारण कर लेती है। आर्यसमाज द्वारा किये गए और किये जा रहे पार्थिव पदार्थों के बलिदान की ओर संकेत करके अब हम उसके जीवन-बलिदानों की कथा संक्षेप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं।

आर्यसमाज का सब से पहला बलिदान उसके संस्थापक स्वयं ऋषि दयानन्द का है। मानव-समाज के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ऋषि दयानन्द ने सत्य का चक्र हाथ में लिया था। उनके सत्य के प्रचार के आगे असत्य, अधर्म, झूठ आदि पाखण्ड के दुर्ग धड़ा धड़ गिरने लगे। उनके द्वारा की हुई सत्य की गर्जना को दुर्बल और तुच्छ हृदय वाले लोग सहन न कर सके। अनेक लोग उनके शत्रु होकर उनके प्राणों के प्यासे हो गये। अनेक बार ऋषि को मारने के प्रयत्न किये गये। न जाने कितनी बार ऋषि शस्त्रों के प्रहार से बाल बाल बचे और कितनी बार ब्रह्मचर्य और तपस्या से बलिष्ठ

उनके शरीर ने दिये गये हलाहल विष को हज्म किया। ऋषि सत्य का नाद बजाते बजाते जोधपुर पहुँचे। राजमहलों में भी प्रचार हुआ। एक दिन ज्योंही ऋषि उपदेश के लिये महलों में पहुंचे त्योंही महाराज के अङ्क से निकलकर जा रही नन्हीजान नामक वेश्या पर ऋषि की दृष्टि पड़ी। ऋषि ने तमक कर महाराज को कहा— "सिंह कुतिया के साथ नहीं रहा करते, क्षत्रिय को वेश्या के साथ नहीं रहना चाहिये" वेश्या ने ऋषि का यह वाक्य सुन लिया। वह क्रुद्ध होगई। ऋषि के प्रचार से अनेक लोग पहिले ही क्रुद्ध थे। वेश्या ने षड्यन्त्र करके ऋषि को विष दिलवा दिया। इस बार के विष को ऋषि का शरीर न पचा सका। योग की क्रियाओं से भी विष को बाहर न कर सके। उनके रोम रोम में असह्य यंत्रणा देने वाले फोड़े निकल आये। ऋषि असीम धैर्य से असह्य पीड़ा को सहते रहे। योग्य डाक्टरों से इलाज कराया गया। पर कोई लाभ न हुआ। अंत में ३० अक्टूबर १८८३ की दिवाली की रात को "प्रभु! तूने अच्छी लीला की, तेरी इच्छा पूर्ण हो" इन शब्दों के साथ हंसते हंसते योग की विधि से समाधिस्थ होकर ऋषि ने अपने इस नश्वर शरीर को त्याग दिया और ब्रह्म लीन हो गये।

ऋषि दयानंद के बलिदान के पश्चात् आर्यसमाज के बलिदानों में धर्मवीर पंडित लेखराम जी का बलिदान बहुत ऊंचा स्थान रखता है। ऋषि दयानंद के दर्शन और उपदेशों से पं० लेखराम में धर्म प्रचार की भावना प्रबल वेग से जाग उठी थी। वे अपनी सरकारी नौकरी छोड़कर आर्य समाज के उपदेशक बन कर धर्म प्रचार के मैदान में उतर आये थे। उनके प्रचार में अद्भुत जादू होता था। जहां जाते थे धाक जम जाती थी। आप अरबी और फारसी के विशेष विद्वान् थे। इससे आपके प्रचार में मुसलमान भाइयों के अज्ञान और भूलों को विशेष रूप से दिखाया जाता था। उनके प्रचार से अनेक लोग इस्लाम छोड़कर शुद्ध होकर वैदिक धर्म ग्रहण कर लेते थे। इससे मुसलमानों के कुछ साम्प्रदायिक लोग पंडित जी से क्रुद्ध रहने लगे। एक दिन एक छद्मवेशी मुसलमान नवयुवक उनके पास आया। वह कहने लगा कि मैं आपके पास रहकर वैदिक धर्म का स्वाध्याय करना चाहता हूं और इस्लाम छोड़कर आर्य बनना चाहता हूं। पंडित जी को और क्या चाहिये था, उस युवक को पास रख लिया। हितैषियों ने युवक की चाल ढाल देख कर पंडित जी को सावधान भी किया पर धर्म के मतवाले पंडित जी किसकी सुनते थे। उन दिनों पंडित जी ऋषि दयानंद के जीवन को लिखने का काम कर रहे थे। ६ मार्च १८९७ की सायंकाल को पंडित जी लिखने का कार्य समाप्त करके उठे। उन्होंने अंगड़ाई ली। उसी समय मौका पाकर उस नराधम युवक ने पण्डित जी के पेट में छुरा घोंपकर उसे चारों ओर घुमाकर उनकी अंतड़ियों को चाक-चाक कर दिया। पण्डित जी ने असीम धैर्य दिखाया। उन्हें अस्पताल में ले जाया गया। पर कोई लाभ न हुआ। उसी रात को उनका देहान्त

हो गया। उनके मृत मुख मंडल पर अद्भुत शान्ति और कान्ति विराज रही थी।

आर्य समाज के बलिदानों में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का बलिदान विशेष स्थान रखता है। पंडित लेखराम की भांति ही ऋषि दयानन्द के दर्शनों और उपदेशों ने स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन में भी क्रान्ति मचा दी थी। वे वैदिक धर्म के दीवाने हो गये थे। आपका प्रारम्भिक नाम ला० मुंशीराम था। आप जालंधर के प्रसिद्ध वकील थे। वकालत के काम से जो समय बचता था उसे आप वैदिक धर्म के प्रचार में लगाया करते थे। आप व्याख्यान भी दिया करते थे और शास्त्रार्थ भी करते थे। इसके अतिरिक्त सद्धर्म प्रचारक नाम का साप्ताहिक पत्र भी निकाला करते थे। इस पत्र के लेखों से धर्म की गङ्गा बहा करती थी। थोड़े ही समय में आप आर्य समाज के अद्वितीय नेता बन गये। फिर आपने वकालत पर भी लात मार दी और सारा समय आर्य समाज के प्रचार में देने लगे। लोग आपके काम और चरित्र को देखकर आपको महात्मा मुंशीराम कहने लगे। ४ मार्च १९०२ को आपने हरद्वार में प्रसिद्ध विश्वविद्यालय गुरुकुल काङ्गड़ी की स्थापना की। गुरुकुल की स्थापना शिक्षा के क्षेत्र में अद्भुत बात थी। इससे आपका नाम देश विदेशों में प्रसिद्ध हो गया। गुरुकुल के आचार्य के रूप में आपकी अद्भुत आभा थी। कई योरोपीयन यात्रियों ने उस समय आपकी ईसामसीह से तुलना की थी। गुरुकुल की स्थापना के समय आपने त्याग की पराकाष्ठा कर दी थी। आपने अपनी सारी सम्पत्ति गुरुकुल को अपने जीवन के साथ ही दान कर दी थी। देर तक गुरुकुल की सेवा करने के पश्चात आपने सन्यास ले लिया। तब से आप स्वामी श्रद्धानंद कहलाने लगे। अब आपकी सेवाओं का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया था। कुछ समय आपने कांग्रेस के साथ मिलकर राजनैतिक क्षेत्र में भी भारी काम किया था। १९१९ के रौलट एक्ट के आन्दोलन के दिनों में आप ने अद्भुत कार्य किया था। ३० मार्च १९१९ के दिन आपके नेतृत्व में देहली में की जा रही सभा पर जब सरकारी सैनिक गोलियें चलाने आये थे तो आप छाती तानकर उनके आगे खड़े हो गये थे और कह दिया था कि "लो मेरी छाती खुली है चला लो गोलियें।" उस समय हिन्दू और मुसलमानों में गहरी एकता थी। उस समय की स्वामी जी की देश की सेवाओं से मुसलमान भी बहुत प्रसन्न हुये थे। ४ अप्रैल १९१९ को स्वामी जी का दिल्ली की सुप्रसिद्ध जामा मस्जिद की वेदी से धर्मोपदेश हुआ था। इस्लाम के इतिहास में शायद यह एक मात्र घटना है जबकि किसी गैर मुस्लिम ने किसी मस्जिद की वेदि से धर्मोपदेश दिया हो। १९१९ की अमृतसर में होने वाली कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष आप ही बने थे। इसके अनन्तर आपने अछूतोद्धार के सम्बन्ध में विशेष आन्दोलन चलाया था और इसके लिये सारे भारत की यात्रा की थी। हिन्दु महासभा के संगठन और आन्दोलन को भी आपने भारी बल दिया था। अन्तिम दिनों में आप को धर्मान्ध मुसलमानों से हिन्दुओं

की रक्षा के लिये शुद्धि के आन्दोलन को विशेष रूप से हाथ में लेने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। इस आन्दोलन को आपने सारे भारतवर्ष का विषय बना दिया था। धर्मान्ध मुसलमानों की आंख में स्वामी श्रद्धानंद कांटे की तरह खटकने लगे। उन्होंने उन्हें मार्ग से दूर कर देने का निश्चय कर लिया। १६२६ के दिसम्बर में स्वामी जी निमोनिया से रोगी होकर उठे थे। उस वृद्धावस्था के रोग के कारण शरीर अभी बहुत दुर्बल था। २३ दिसम्बर की शाम को अब्दुल रशीद नामक एक मुसलमान स्वामी जी के स्थान पर आया। आकर कहने लगा कि मैंने स्वामी जी से धर्म के संबंध में कुछ बातें करनी हैं। स्वामी जी के सेवकों ने आपकी दुर्बलता को देखकर उसे वापस भेजना चाहा। स्वामी जी ने कमरे से यह बात सुन ली। उन्होंने अब्दुल रशीद को अपने पास बुला लिया। उसने पानी मांगा। स्वामी जी ने उसे पानी पिलाया। पानी पीते ही उसने स्वामी जी की छाती पर पिस्तौल से गोलियें दाग दीं। तत्काल उनका आत्मा नश्वर शरीर को छोड़कर उड़ गया। अब्दुल रशीद को पानी पिलवाने और उसकी धर्म जिज्ञासा को शांत करने की भावना से स्वामी जी के चेहरे पर जो कृपा, संतोष और शांति की मुस्कराहट पूर्ण मुद्रा आ विराजी थी वह उनके मृत मुख मण्डल पर भी उसी प्रकार झलक रही थी।

प्रभु की वाणी वेद के उपदेशों का अनुसरण करते हुये आत्माहुति की जो लहर ऋषि दयानंद ने चलाई थी उसने उनके शिष्यों में बहुत गहरा प्रभाव किया है। उससे आर्य समाज की सर्व साधारण जनता में भी बहुत गहरी बलिदान की भावना उत्पन्न हो गई है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले सर्व साधारण आर्य समाज की आवश्यकता होने पर बात की बात में अपने जीवन का बलिदान कर देते हैं पर अपने सिद्धांतों और धर्म को नहीं छोड़ते, जितने चाहे उतने उदाहरण इस संबंध में यहां दिये जा सकते हैं। स्थानाभाव से निर्देश के रूप में केवल एक दो उदाहरण ही हम यहां दे सकेंगे।

आर्य समाज के इतिहास के प्रारंभिक दिनों की घटना है। आर्य समाज का अस्पृश्यता निवारण का आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। पंजाब के रोपड़ नगर में एक पंडित सोमनाथ रहा करते थे। वे अपने नगर और आसपास के प्रदेश में अछूतोद्धार का काम बड़े बल और उत्साह से कर रहे थे। शहर और बिरादरी के लोग उनसे नाराज हो गये। उन्हें और उनके परिवार को बिरादरी से गिरा दिया गया। शहर के सब कुओं से उनके लिये पानी भरना बंद होगया। पं० सोमनाथ इससे विचलित नहीं हुये। उन्होंने जोहड़ों और नहर से पानी लेकर पीना आरंभ कर दिया। यह पानी साफ नहीं होता था। इसके कुछ दिन निरन्तर सेवन से उनकी माता रोगी पड़ गई। डाक्टरों का इलाज आरम्भ हुआ। पर रोगिणी को लाभ न हुआ। डाक्टरों के यह पूछने पर कि रोगी को पानी कैसा

दिया जाता है उन्हें सब स्थिति बताई गई। उन्होंने कहा कि रोगी को जब तक कुए का पानी नहीं पिलाया जायेगा तब तक उसे आराम नहीं होगा। पर कुए का पानी तो बिरादरी वालों से अछूतोद्धार के काम में क्षमा मांगने से और भविष्य में यह काम न करने की प्रतिज्ञा करने से मिल सकता था। पं० सोमनाथ इसके लिये तैयार न थे। उधर माता अच्छी नहीं हो रही थी। सोमनाथ उदास रहने लगे। माता ने उनकी चिंता भांप ली। उसने पुत्र से चिंता का कारण पूछा। पुत्र ने सब सच सच कह दिया। वीर माता ने रोग शय्या पर से मुसकराकर कहा--"बेटा! मैं कब तक जीती रहूंगी? मैंने तो एक दिन मरना ही है। अभी सही। तुम मेरी खातिर धर्म न छोड़ना। धर्म जान से प्यारी चीज है। वह मेरी जान से भी प्यारी है। तुम अपने धर्म पर डटे रहो बेटा! मैं धर्म की खातिर हंसते २ मरूंगी।" और पं० सोमनाथ की माता सचमुच हंसते २ मर गईं। पीछे से बिरादरी वालों ने सोमनाथ के परिवार के लिये स्वयं ही कुओं से पानी भरने की स्वीकृति दे दी।

सन १९०३ की एक घटना है। फरीदकोट रेलवे स्टेशन में पण्डित तुलसीराम नाम के एक स्टेशन मास्टर थे। ये दृढ़ आर्य समाजी थे। अपने काम से जो समय खाली मिलता था उसमें आर्य समाज का प्रचार किया करते थे। शहर के जैनी लोगों से इनका विशेष रूप से वाद विवाद रहा करता था। जैनी लोग इनकी युक्तियों से बड़े तंग रहा करते थे। वे इन्हें मार्ग से हटा देना चाहते थे। एक बार पंडित तुलसीराम ने बाहर से आर्य उपदेशक बुलाकर आर्य समाज के सिद्धान्तों का खूब प्रचार कराया। नास्तिक वाद का खूब खंडन हुआ। इस पर जैनी लोग पंडित तुलसीराम से बेहद चिढ़ गये। एक दिन पण्डित जी कहीं अकेले जा रहे थे। गोपीराम नाम के एक जैनी ने मौका देखकर पिसी हुई लाल मिर्चें इनकी आंखों में झोंक दीं। इस प्रकार इनके देखने में असमर्थ होजाने पर उस नृशंस ने इनके पेट में छुरा घोंप दिया। लोगों को पता चलने पर इन्हें अस्पताल में लाया गया। बहुत औषधोपचार किया गया। पर आप बच न सके। इस प्रकार अपने धर्म की सेवा करते हुये आपने अपने जीवन की आहुति दे दी।

काश्मीर राज्य के महाशय रामचंद्र नामक एक महाजन थे। ये राज्य की तहसील में खचानची थे। आपको दलितोद्धार के काम से अगाध प्रेम था। तहसील के काम से जो वक्त बचता था उसमें आप यही काम किया करते थे। अखनूर तहसील में बुटहरा नामक एक ग्राम है। वहां के मेघ अछूतों में आपने वैदिक धर्म के प्रचार का खूब काम किया। वहां के राजपूत लोग इन के इस काम से क्रुद्ध रहने लगे। म० रामचन्द्र जी ने अछूत बालकों के लिये एक पाठशाला खोलनी चाही। राजपूतों ने इसका घोर विरोध किया। नौबत यहां तक आपहुंची कि १४ जनवरी १९२३ के दिन राजपूतों ने इकट्ठे होकर

इन पर लाठियों की वर्षा आरम्भ करदी । लाठियों की वर्षा से इनका अंग अंग टूट गया । ये मूर्छित हो गये । पता लगने पर लोग इन्हें उठाकर अस्पताल में लाये । इलाज बहुत हुआ । पर चोटें इतनी सख्त थीं कि ये बच न सके । २० जनवरी को इनका प्राणान्त होगया । इनके बलिदान से राजपूतों के हृदय बदल गये । जो विरोधी थे उन्होंने पाठशाला के लिये भूमि और धन दिया । इनकी स्मृति में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्त्वावधान में बुटहरा में प्रति वर्ष एक शहीदी मेला लगता है ।

आर्य समाज के इतिहास से इसी प्रकार के २०-२२ बलिदानों की कथा यहां और लिखी जा सकती है । पर स्थानाभाव हमें ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता ।

सन् १९३९ में आर्य समाज की ओर से हैदराबाद रियासत में जो सत्याग्रह संग्राम लड़ा गया था उसके बलिदानों की कहानी ऊपर निर्दिष्ट बलिदानों से अलग है । वह सारा सत्याग्रह ही महान् बलिदान था । धर्म के इतिहास में वह सत्याग्रह एक अद्भुत कथा है । वह आर्य समाज का अमर गौरव है । हैदराबाद रियासत की प्रजा में हिन्दुओं की संख्या कोई ६० प्रतिशत है । रियासत का राजा मुसलमान है । धर्मान्ध मुसलमानों को रियासत में हिन्दुओं की इतनी भारी संख्या सहन नहीं होती है । वे हिन्दुओं की संख्या को कम करना चाहते हैं । इसके लिये कई प्रकार के उपाय किये जाते हैं । आर्य समाज का प्रचार मुसलमानों के मनसूबों में रुकावट डालता है । आर्य समाज के प्रचार से जब हिन्दुओं को अपने सच्चे धर्म का पता लग जाता है तो वे फिर मुसलमानों के बहकाने में नहीं आते । और जो भूल से मुसलमान होगये थे वे फिर अपने धर्म में आजाते हैं । मुसलमान प्रचारकों को यह स्थिति असह्य प्रतीत हुई । उन्होंने आर्य समाज के विरुद्ध राज्य के अधिकारियों के कान भरने आरम्भ कर दिये । मुस्लिम शासक मुल्लाओं के बहकाने में आगये । उन्होंने आर्य समाज को राजद्रोही संस्था समझ लिया । धीरे धीरे राज्य की ओर से आर्य समाज के काम में रुकावटें डाली जाने लगीं । अवस्था यहां तक आगई कि आर्य समाज के लिये अपने धर्म का प्रचार कर सकना सर्वथा असंभव हो गया । प्रचार तो दूर रहा आर्य समाजियों के लिये अपने धार्मिक कृत्य और साप्ताहिक सत्संग कर सकना भी असंभव हो गया । राज्य की आज्ञा बिना न मन्दिर बन सकते थे, न अग्निहोत्र हो सकते थे, न मंदिरों पर "ओ३म" की ध्वजायें लग सकती थीं, न वार्षिक उत्सव, न सत्संग और न कोई व्याख्यान हो सकते थे । ऐसा नियम कर देना ही आर्य समाज के जन्म सिद्ध अधिकारों पर कुठाराघात था । इस पर विचित्र बात यह कि मांगने पर राज्याधिकारी ऐसी आज्ञा नहीं देते थे । रियासत के आर्य समाजी लोग सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में निरन्तर ६ साल तक चिट्ठी पत्री द्वारा तथा राज्याधिकारियों से मिलकर अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये यत्न करते रहे । पर राज्य की ओर से कोई सुनवाई न हुई ।

अन्त में तंग आकर ३० जनवरी १६३६ के दिन महात्मा नारायण स्वामी जी की अध्यक्षता में आर्य समाज के जन्मसिद्ध अधिकारों की रक्षा के लिये आर्यों की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने सत्याग्रह संग्राम छेड़ दिया। भारत के प्रत्येक प्रान्त से आर्यों के दल के दल आकर रियासत में घुसने लगे और वहां अपने धर्म का प्रचार करने लगे। रियासत के अधिकारियों ने इन आर्य वीरों को मारना पीटना और जेलों में ठूंसना शुरू कर दिया। जेलों में असह्य यन्त्रणायें दी जाने लगीं। घोर यन्त्रणायें सह कर भी आर्य वीर स्वयं शान्त रहते थे। किसी को कटुवचन तक भी नहीं कहते थे। कष्ट सहते थे और राज्याधिकारयों को सद्बुद्धि देने के लिये भगवान् से प्रार्थना करते थे। इस समय प्रत्येक आर्य वीर ने ब्राह्मण वृत्ति धारण करली थी। सत्याग्रह संग्राम युद्ध ही ब्राह्मणों का है। सत्याग्रह का योद्धा प्रतिद्वन्दी पर प्रहार नहीं करता है। उसके प्रहार सहता है। प्रहार सहकर अपने हृदय को सद्भावना और भगवान् से प्रार्थना द्वारा विरोधी के हृदय को जीतना चाहता है। इस युद्ध में आर्य वीरों ने ब्राह्मणत्व के इसी हथियार से काम लिया। राज्याधिकारियों द्वारा सत्याग्रही आर्य वीरों पर होने वाले अत्याचारों का समाचार सुन कर आर्य जनता भयभीत नहीं हुईं। इन समाचारों से जनता में जोश, उत्साह और उमंग और अधिक बढ़ने लगे। रियासत में जाकर सत्याग्रह करने वाले आर्य वीरों के दलों का तांता बंध गया। आर्य समाज के नेता, प्रचारक और जनता धड़ाधड़ सत्याग्रह के लिये जाने लगे। माताओं ने अपने पुत्रों को, पत्नियों ने अपने पतियों को और बहिनों ने अपने भाइयों को उनके माथे पर तिलक लगा और प्रेम का पाथेय देकर स्वयं सत्याग्रह के लिये प्रस्थापित किया। सत्याग्रही आर्य वीरों से रियासत की जेलें भर गईं। रियासत के लिये सत्याग्रहियों का संभालना भारी हो गया। उसके हाथ पैर फूल गये। इसके साथ ही आर्यों के त्याग, तप, कष्ट सहिष्णुता और विशुद्ध धर्म प्रेम ने राज्याधिकारियों के हृदयों को हिलाना आरम्भ किया। उन्होंने स्थिति पर गम्भीरता से सोचना आरंभ किया। उन्हें अपनी भूल पता चली। परमात्मा ने उनके हृदयों में बल दिया। उन्होंने आर्य समाज के धर्म प्रचार के जन्मसिद्ध अधिकार को उसे फिर से देकर अपनी भूल को सुधारने का निश्चय कर लिया। १६ जुलाई को रियासत की सरकार ने इस सम्बन्ध में अपनी घोषणा प्रकाशित कर दी। इस घोषणा की शब्द रचना से आर्य समाज सन्तुष्ट न हुआ। सत्याग्रह अबाध गति से चलता रहा। पुनः ८ अगस्त को राज्याधिकारियों की ओर से १६ जुलाई की घोषणा का और अधिक स्पष्टीकरण किया गया। इस स्पष्टीकरण से आर्य समाज को सन्तोष हो गया और उसी ८ अगस्त के दिन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने सत्याग्रह समाप्त करने की घोषणा करदी। औ इस प्रकार आर्यों के धर्म प्रेम और तज्जन्य तप, त्याग और कष्ट सहिष्णुता ने अधर्म और अत्याचार पर विजय प्राप्त की।

मुट्ठी भर आर्य समाजियों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिये इस सत्याग्रह के समय जिस आत्म-त्याग और बलिदान की भावना का परिचय दिया था उससे सब देखने वाले स्तम्भित रह गये थे। ८ अगस्त तक १०५७६ सत्याग्रही जेलों में जा चुके थे। इसके अतिरिक्त कोई ३००० सत्याग्रही उस समय भिन्न भिन्न केन्द्रों में कूच करने के लिये तैयार बैठे थे और नये सत्याग्रही धड़ाधड़ भरती हो रहे थे। जो सहसा सत्याग्रह के बन्द हो जाने के कारण जेलों में न जा सके। फिर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि सत्याग्रह का स्थान सत्याग्रहियों के अपने नगरों के समीप न था। सत्याग्रहियों के अपने नगरों से वह स्थान सैकड़ों और हजारों मील दूर था। सत्याग्रहियों को हजार-हजार डेढ़-डेढ़ हजार मील तक चलकर सत्याग्रह के स्थान में पहुँचना होता था। इस से सत्याग्रह के संचालन और उसके प्रबन्ध की कठिनाइयों का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। इस सत्याग्रह में आर्य समाज को ११ लाख रुपये खर्च करने पड़े थे।

इस सत्याग्रह में राज्याधिकारियों के हाथों आर्य वीरों ने जो घोर कष्ट सहे उनकी कथा यहां लिख सकना सम्भव नहीं है। कोई ऐसा कष्ट नहीं था जो सत्याग्रहियों को न दिया गया हो। उनके रहने के स्थान मैले से मैले थे। उन्हें भोजन खराब से खराब और अव्यवस्थित रूप में दिया जाता था। चक्की पिसवाने और पत्थर कुटवाने जैसे घोर परिश्रम के काम उनसे लिये जाते थे। अनेक अवस्था में सत्याग्रहियों को भयंकर रूप से मारा और पीटा जाता था। विवस्त्र करके उनके शरीरों पर कई-कई दर्जन बेंत भी अनेक अवस्थाओं में लगवाये जाते थे। रोगी हो जाने पर औषधोपचार की कोई समुचित व्यवस्था न थी और भी अनेक प्रकार के कष्ट सत्याग्रहियों को रियासत की जेलों में सहने पड़ते थे, और यह सब कुछ उन्हें सहना पड़ता था अपने धर्म प्रेम के कारण। धर्म प्रेम के अतिरिक्त आर्य वीरों का और कोई दूसरा अपराध न था।

इन अमानुषिक अत्याचारों के कारण २८ सत्याग्रहियों का रियासत के जेलों के अन्दर ही प्राणान्त हो गया। इन २८ बलिदानों में से एक एक की कहानी रोमांच-कारिणी है। स्थानाभाव से हमें इन कहानियों के लिखने के लोभ का संवरण करना पड़ता है। सत्याग्रह के इतिहास में इनका विस्तृत वर्णन मिल सकता है। इतना भारी बलिदान करके आर्य समाज ने हैदराबाद के धर्म युद्ध में विजय प्राप्त की थी।

आर्य समाज में यह तो आत्म त्याग और बलिदान की भावना है, आर्य समाज इस प्रकार भारी से भारी त्याग करके जो लोक सेवा का कार्य करता रहता है, उससे वह जनता में सर्वप्रिय हो गया है। आर्य समाज के स्थापना काल से लेकर अब तक प्रति दसवें वर्ष में आर्य समाजियों की संख्या दुगनी होती जा रही है। १६३१ की जन-गणना में आर्य समाजियों की संख्या ६६०२३ थी। १६४० की गणना प्रकाशित नहीं हुई है। प्रभु करें कि आर्य समाज इसी प्रकार फलता फूलता रहे।
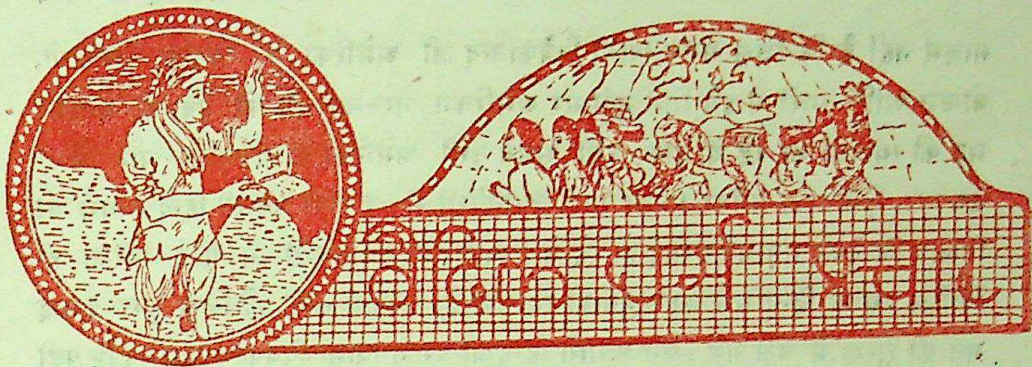
विदेशों में वैदिक धर्म प्रचार

[लेखक—श्री स्वामी भवानीदयाल जी संन्यासी, प्रवासी भवन अजमेर]

ऋषि दयानन्द के जीवन का लक्ष्य था—सारे संसार में वैदिक धर्म का प्रचार और आर्य संस्कृति का विस्तार। उन्होंने आर्य समाज की स्थापना इसी उद्देश्य से की थी कि उनके पश्चात भी यह कार्य अबाध-गति से होता रहे, किन्तु इस आवश्यक कार्य की ओर समष्टि रूप से आर्य समाज को जितना ध्यान देना चाहिये, उतना अब तक नहीं दिया गया, यह आश्चर्य और खेद की बात है। कुछ आर्य नेताओं का अभिमत है कि जब तक स्वदेश का सुधार न हो जाय तब तक विदेश-प्रचार में आर्य समाज की परिमित शक्ति का व्यय अवांछनीय है। इस विचार-विन्दु से एक अंश में स्वयं सहमत हूं कि जब तक स्वदेश के करोड़ों प्राणियों के हृदय-मंदिर में वेद-ज्ञान का आलोक न फैल जाय, जात पांत के भस्मावशेष पर एक आर्य राष्ट्र का निर्माण न हो जाय और दासता एवं परवशता के बन्धन—चाहे वे धर्म के नाम पर हों, सामाजिक रूढ़ियों के रूप में हो अथवा किसी भी ढङ्ग के क्यों न हों—खण्ड खण्ड होकर समता और स्वाधीनता की भावना उदित न हो जाय, तब तक मदान्ध यूरोप तथा अर्थलोलुप अमेरिका में वैदिक धर्म प्रचारार्थ अपनी शक्ति को लगाना ठीक वैसा ही है जैसा कि घर को निविड़ अन्धकार में छोड़कर वन में दीपक द्वारा प्रकाश फैलाना। पर प्रश्न तो यह है कि जो पचीस-तीस लाख प्रवासी हिन्दुस्तानी विदेशों और उपनिवेशों में जाकर स्थायी रूप से बस गये हैं, उनके प्रति आर्य समाज का क्या कर्तव्य है? यह प्रश्न ऐसा है, जिसकी उपेक्षा किसी भी दृष्टि से उचित नहीं। स्वामी विवेकानन्द का उदाहरण देकर यह बात कही जाती है कि जिस प्रकार उन्होंने अमेरिकन जनता को आध्यात्मिकता की सुधा पिलाकर उस देश में वेदान्त का सिक्का जमाया उसी प्रकार आर्यसमाज को भी यूरोप और अमेरिका में वैदिक धर्म की पवित्र-पताका फहरा देनी चाहिये। किन्तु हमारे भाइयों को शायद यह

मालूम नहीं है कि जिस समय स्वामी विवेकानन्द जी अमेरिका के न्यूयार्क, चिकागो, बोस्टन आदि नगरों में इने गिने मुट्ठी भर अमेरिकन नर-नारियों को वेदान्ती बनाकर मठ की स्थापना कर रहे थे, ठीक उसी समय उसी अमेरिका के दक्षिणीय भाग में—डेमरारा, ट्रिनीडाड, जमैका, ग्रनेडा आदि उपनिवेशों में हजारों प्रवासी हिन्दू स्वधर्म को तिलाञ्जलि देकर धड़ाधड़ ईसाई हो रहे थे। आज उन उपनिवेशों में कोई बिरला ही शिक्षित व्यक्ति हिन्दू धर्म का अनुयायी रह गया है, अन्यथा सभी पढ़े-लिखे युवक ईसाई मत की शरण में चले गये। उन अभागे हिन्दुओं पर न स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि पड़ी और न उनके किसी भी शिष्य की, जो दक्षिणीय अमेरिका के उपनिवेशों में शर्तबन्दी मजदूरी का पट्टा लिखाकर गये थे और जो लावारिस माल की भांति सबकी ठोकरें खा रहे थे।

विदेशों और उपनिवेशों में स्थायी-रूप से बसे हुए प्रवासी भारतीयों को आर्य समाज के आधार और आश्रय की अत्यन्त आवश्यकता है। भारत में आर्य समाज ही एक ऐसी संस्था है, जो उनकी धार्मिक आकांक्षाओं की तृप्ति, सामाजिक त्रुटियों की पूर्ति और राष्ट्रीय भावनाओं की अभिवृद्धि कर सकती है। यद्यपि आर्य समाज ने समष्टि और सुचारु रूप से विदेशों में प्रचार का कार्य नहीं किया है तो भी व्यक्तिगत हैसियत से कुछ प्रचारकों ने उपनिवेशों में पहूंचकर प्रवासी भाइयों की जो सेवा की है, उसकी सभी प्रशंसा करते हैं। प्रवासी हिन्दुओं में नवजीवन और नवजागृति उत्पन्न करने का अधिकांश श्रेय आर्य समाज को है। स्वर्गीय साधु सी० एफ० एण्ड्रूज ने ऋषि दयानन्द की पुण्य स्मृति पर श्रद्धाञ्जलि चढ़ाते हुए लिखा था—"उपनिवेशों में प्रवासी भारतीयों के लिये आर्यसमाज जो कुछ कर रहा है, उससे मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा है। आर्य समाज ही एक ऐसी संस्था है, जो मातृ भूमि भारत के प्रति प्रवासियों के हृदय में अनुराग पैदा करती है, राष्ट्र भाषा हिन्दी का विशेष रूप से प्रचार करती है और पुरातन आर्य संस्कृति की, जिस पर प्रत्येक भारतीय का जन्म सिद्ध अधिकार है, हित की रक्षा पर खास ध्यान रखती है। दक्षिण अफ्रिका और रोडेसिया, केनिया और यूगाण्डा, जंजीबार और टंगेनिका, फिजी और मोरिशस, मलाया और सिंगापुर इत्यादि सभी उपनिवेशों में आर्यसमाज द्वारा वैदिक धर्म और आर्य सभ्यता का प्रचार और रक्षण हुआ है। कई वर्षों से मैंने अखबारों में लेख लिख-लिखकर जनता को आर्यसमाज के कार्यों से परिचित कराने का प्रयास किया है। इन लेखों का हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराके भी मैंने प्रकाशित कराया है जिससे अंग्रेजी जानने वालों के अतिरिक्त अन्य भाषा भाषियों को भी आर्यसमाज की सेवाओं की जानकारी प्राप्त हो। आर्य समाज में जीवन-शक्ति और उत्साह है, अतएव मुझे विश्वास है कि उसका भविष्य उज्ज्वल एवं आशाप्रद है। भारत के जो समाज प्रवासी भारतीयों

की सेवा कर सकते हैं; उनमें आर्य समाज से बढ़कर क्रिया शील, उत्साही और शक्तिशाली दूसरा कोई नहीं है।"

अतीत अवस्था—विदेशों और उपनिवेशों में प्रवासी भारतीयों के कल्याण और उत्थान के लिये आर्य समाज ने जो कुछ किया है उसका महत्व समझने के लिये अतीत अवस्था पर एक विहङ्गम् दृष्टि डालना आवश्यक है। आधुनिक युग में जब संसार से गुलामी की प्रथा उठ गई हबशियों को दासता के बन्धन से मुक्ति मिली, तब उपनिवेशों के गोरे किसानों को मजदूरों का अभाव अखरने लगा, उनको सस्ते और मेहनती मजदूरों की आवश्यकता पड़ी। इसलिये गुलामी का पुनर्जन्म शर्तबन्दी कुली प्रथा (Indentured Labour System) के रूप में हिन्दुस्थान में हुआ और यहां से संसार को सभ्यता सिखाने वालों की सन्तान एवं राम-कृष्ण के वंशज औपनिवेशिक श्वेताङ्गों की गुलामी करने के लिये भारत की विदेशी सरकार द्वारा भूमण्डल के भिन्न २ भागों में भेजे जाने लगे। सन् १८३४ में इस अर्द्ध गुलामी प्रथा का जन्म हुआ, एक शताब्दी तक यह अबाध रूप से प्रचलित रही और गत महायुद्ध के समय घोर आन्दोलन के प्रताप से इसका अन्त हुआ। इस प्रकार सन् १८३४ से सन् १९१८ तक नेटाल, मोरिशस, फिजी, ट्रिनीडाड, डमरेरा, ग्रनेडा आदि उपनिवेशों में जो भारतीय शर्तबन्दी का पट्टा लिखाकर गये उनमें लगभग पचीस लाख वहीं स्थायी रूप से बस गये।

यद्यपि भारत से शर्तबन्द मजदूरों को भिन्न भिन्न उपनिवेशों में भेजा गया तो भी उनकी धार्मिक और सामाजिक अवस्था में कोई अन्तर नहीं था। कलकत्ते के कुली डिपो में ही उनके धार्मिक विश्वास एवं सामाजिक रूढ़ियों पर असह्य आघात किया गया। अब युग बदल गया है, समाज की स्थिति सुधर रही है और जनता धीरे धीरे समझने लगी है कि छूआछूत एक भारी ढोङ्ग और पाखण्ड है, किन्तु उनकी दशा की तो कल्पना कीजिये, जो रूढियों के गढ़—गांवों से बहका कर लाये गये थे और जिनकी यह अटल धारणा थी कि अपने से भिन्न जात का छुआ खाते ही धर्म की नौका डूब जायगी, जात की हस्ती मिट जायगी। कलकत्ते के डिपो में सर्व जातियों को एक पंक्ति में बैठाकर जस्ते के बर्तन में दाल-भात परोसा जाना और तिस पर बंगाली बाबू का बूट चढ़ाये चौके में चक्कर लगाते फिरना, उनके धार्मिक विश्वास पर कैसा निष्ठुर प्रहार था—सामाजिक रूढ़ियों की कैसी अवहेलना थी, इसका ठीक-ठीक अनुमान वे ही कर सकते हैं, जो भारत के ग्रामीण जीवन से परिचित हैं।

उन अभागी अबलाओं की अवस्था की कल्पना कीजिये, जो घर की चहार-दीवारी से कभी बाहर नहीं गई थीं, किन्तु जो जात के जानवरों की पंचायत से निर्वासन का दण्ड पाकर अथवा मेले-ठेले में आरकाटियों द्वारा बहकाई जाकर डिपो रूपी नरकपुरी में पहुंचाई गई थीं। जब उनको अपनी असली अवस्था का पता लगता तो दुःख से हृदय

और भय से शरीर प्रकम्पित हो उठता। पर जिस तरह कसाई के घर में बंधी हुई गाय उसकी पैनी छुरी को देखकर डकारने के सिवा और कुछ नहीं कर सकती, उसी प्रकार इस कुली डिपो में सतीत्व बचना अथवा छुटकारा पाकर भाग जाना उन अबलाओं के लिये सर्वथा असंभव था।

गांवों के वातावरण में पले हुए भोले भाले हिन्दुओं का धर्म नष्ट हो गया, जो चूल्हे-चौके में ही रमा हुआ था, उनकी वह जात चली गई, जो दाल-भात में चिपटी हुई थी। डिपो में जोड़ा-जोड़ी का क्या कहना? जिस मर्द का मन जिस औरत से लग गया, उसी से जोड़ी मिल गई, धर्म-कर्म, आचार विचार, जातपांत और छुआछूत का एक बारगी दिवाला निकल गया। रहा-सहा धर्म-भाव उस समय कूच कर गया, जब वे जहाजों पर जानवरों की तरह लादकर उपनिवेशों को भेजे गये। हिन्दुओं ने सोचा कि धर्म गया, जांत गई, फिर अब जनेऊ को क्यों बिगाड़ें? अतएव उसे उतार कर गङ्गा सागर की गोद में सौंप दिया। अज्ञानता ने गजब ढाया, अनाचार का मार्ग प्रशस्त होगया।

उपनिवेशों में पहुंचने पर उनका यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि टापुओं में धर्म का पालन और रक्षण असंभव है। जिन वस्तुओं को हिन्दू छूना भी पाप समझते थे, वे सहज ही उनके पेट में हजम होने लगी। मुर्गे का मांस और मदिरा की प्याली सब से बड़ी नियामत समझी जाने लगी। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या बहुत कम थी। सरकारी विधान के अनुसार सौ पुरुष पीछे चालीस स्त्रियां भर्ती करके उपनिवेशों में भेजी जाती थीं। अतएव स्त्रियों के लिये लड़ाई-झगड़े होते थे, सिर फूटते थे, सजाएं मिलती थीं, हत्याएं होती थीं और फांसियां लगती थीं। इस वीभत्स दृश्य से "भारतीय हृदय" दहल कर पुकार उठा था—

"दस नर पीछे तीन नारियां, थकी और शङ्कित सी?
देखो, लोट रही हैं कैसी, पत्थर में अङ्कित सी?
बुझे हुए दीपक हैं मनके, नहीं निकलती वाणी?
हे भगवान्? मनुज हैं ये भी अथवा गूंगे प्राणी?"

कुलीशास्त्र के अनुसार हिन्दुओं का धर्म-विहित विवाह नाजायज था। पुरोहित थे प्रोटेक्टर साहब और उनका ओफिस था. विवाह मंडप। यहीं पर विवाहों की रजिस्ट्री हुआ करती थी। इसके बिना पत्नी पर पति का कोई अधिकार नहीं होता था।

हिन्दु अपने त्योहारों को भी भूल बैठे। होली, दिवाली, रामनवमी और कृष्णाष्टमी आदि त्योहार विस्मृति के वारिधि में डूब गये। कौन कब आता है, और कब जाता है— इसकी न किसी को जरूरत थी और न पर्वाह। हिन्दुओं के लिये सबसे बड़ा त्योहार मुहर्रम बन गया। हिन्दुओं के घर ताजिये बनते, उनकी स्त्रियां मर्सिया गातीं

और इमाम हसैन-हुसैन साहब पर शीरनी, पञ्जे और मलीदे आदि चढ़ातीं। यही हिन्दुओं का प्रमुख त्योहार माना जाता और इसी अवसर पर कोठियों में कुलियों को भी छुट्टी मिलती थी। सब से अधिक मजा तो यह कि ताजिये के दायें-बायें या आगे पीछे का बखेड़ा उठाकर हिन्दू लोग आपस में लड़ पड़ते थे और हर साल अनेक हिन्दुओं के सिर फूटते, टांगें टूटतीं और मौत भी हो जाती। स्वर्गीय महादेव गोविन्द रानाडे ने एक घटना का उल्लेख करते हुये अपनी पुस्तक में लिखा था:— 'सन् १८८४ में ट्रिनीडाड में एक भयंकर झगड़ा हो गया था। मुहर्रम के मौके पर यह मारपीट हुई थी। इस तकरार में बारह हजार मजदूरों ने भाग लिया था। पुलिस को गोली चलाकर बखेड़ा शांत करना पड़ा। बारह कुली जान से गये और ४०० घायल हुए। ट्रिनीडाड में जितने हिन्दुस्तानी रहते हैं, उनमें पांचवें हिस्से से भी कम मुसलमान हैं, शेष हिन्दू हैं। हिन्दु कुलियों ने ही ताजिया निकालने और परस्पर मारपीट करने में प्रमुख भाग लिया था।"

हिन्दुओं में मृतक-दाह के स्थान पर मुर्दे जमीन में गाड़ने और कब्रों पर फूल पत्तियां चढ़ाने की प्रथा भी प्रचलित हो गई। शनैः शनैः हिन्दुत्व का लोप होता ही गया। यद्यपि ब्राह्मणों की भर्ती वर्जित थी, तो भी कुछ नामधारी ब्राह्मण पापी पेट की आग बुझाने के लिये नाम और जात बदलकर उपनिवेशों में पहुंच ही तो गये। वे हिंदुओं को अपने पुराने पथ की ओर प्रेरित करने में असमर्थ सिद्ध हुए। फिर भी उन्होंने हनुमान चालीसा, दानलीला, अर्जु न गीता, सूर्य पुराण और सत्य नारायण की कथा के प्रताप से यत्र तत्र हिन्दुत्व का चिन्ह बनाये रखा।

प्रवासी हिन्दुओं के लिये सबसे भयंकर बात यह हुई कि उनकी आत्मा का धर्म भाव लोप होता गया और धार्मिकता के नष्ट हो जाने से उनके नैतिक आचार विचार की मट्टी पलीत हो गई। परिणाम यह हुआ कि हिंदुओं की इस दुरवस्था से ईसाई और मुसलमानों ने खूब लाभ उठाया। हिन्दू युवकों को हिंदुत्व से ऐसी घृणा हुई कि वे धड़ाधड़ ईसाई और मुसलमान बनते जाते थे। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि निकट भविष्य में शर्तबंदी में गए हिंदुओं के वंशजों में हिंदुत्व का चिन्ह ही मिट जायगा, ठीक उसी समय उपनिवेशों में आर्य समाज की ओर से वैदिक धर्म का संदेश पहुँच गया और हिंदुओं के अस्तित्व की रक्षा हो गई।

मोरिशस-

मोरिशस-द्वीप हिन्द-महासागर में स्थित है। हमारे देश में मोशिस दो नामों से प्रसिद्ध है; एक तो 'मोरिस' और दूसरा 'मिर्च का मुल्क'। भारत की दृष्टि में मोरिशस एक अत्यन्त उपयोगी उपनिवेश है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि इस द्वीप की जनसंख्या में ७० प्रतिशत भारतवासी हैं और दूसरा यह कि संसार से गुलामी की प्रथा

उठ जाने पर सबसे पहले भारतवासी सन् १८३४ में अर्द्ध गुलाम स्वरूप इसी द्वीप में भेजे गये थे। पुराने प्रवासी अपनी कुछ रूढ़ियों से चिपटे हुए थे। दम्भ और पाखण्ड का अखण्ड आधिपत्य था, धूर्त ब्राह्मणों ने स्वर्ग का ठेका ले रक्खा था। जो उनसे कान फुंकवाता, गुरूमंत्र लेता, पैरों की गंदगी धोकर सिर पर चढ़ाता और पी जाता, कर्ज काढ़ कर भी दक्षिणा देता उसको स्वर्ग में जाने की सनद मिल जाती। जो 'निकुरा' रह जाता वह इस लोक में निन्दा का पात्र और परलोक में नरक का निवासी समझा जाता। होली में परस्पर कीचड़, कंदई उछालना, मदिरा पीकर मतवाला बनना और मां-बहनों को गंदी से गंदी गालियां सुनाना, स्त्रियों को 'रंडी' कहना, मुर्दों को कब्र में दफनाना, उनके हिन्दुत्व के सर्वोपरि लक्षण थे।

वहां की लगभग चार लाख की जन संख्या में तीन लाख हिन्दुस्तानी हैं। रोमन कैथोलिक मिशनरियों के प्रयत्न से हिन्दू युवक धड़ाधड़ ईसाई होने लगे। कुछ ही काल में ११६१७ (ग्यारह हजार छः सौ सत्रह) हिन्दुओं ने ईसाई मत स्वीकृत कर लिया। जो भारतीय मोरिशस में जन्मे हैं वह 'इण्डो-मोरिशियन्स' कहलाते हैं। ६० फी सदी इण्डो मोरिशियन्स 'क्रिओल' भाषा, जो एक बिगड़ी हुई फ्रेञ्च जबान है, बोलते हैं। यही इनकी आम भाषा बन गई है। हिन्दी इनके लिये विदेशी भाषा बन रही थी। वहां के जन्मे हुये हिन्दू मोरिशस को अपना देश और भारत को विदेश मानने लगे। उनमें जो थोड़े बहुत पढ़ लिख गये, वह प्रायः कहा करते:—'यह विदेशी (हिन्दुस्थानी) यहां आकर हमारे देश मोरिशस को भारी हानि पहुंचाते हैं, व्यापार आदि के द्वारा यहां का धन खींचकर भारत ले जाते हैं।" कैसी आत्म विस्मृति ? हा! जिस भारत से इनके पूर्वजों ने आकर मोरिशस में इनको जन्माया था उस देश को विदेश समझना आत्म-प्रवंचना के सिवा और क्या है?

सन् १६०३ में आर्य समाजी पं० रामफल शर्मा भारत से मोरिशस पहुंचे। उन्होंने वहां से विदा होते समय अपने सारे ग्रंथ पं० जगन्नाथ जी को अर्पण कर दिये। पं० जगन्नाथ जी 'नमस्ते' कहकर पौराणिक पंडितों को ललकारा करते। श्री खेमलालजी के प्रयत्न से समाज का प्रचार होने लगा।

सन् १६०७ में बैरिस्टर मणीलालजी मोरिशस पहुंचे। हिन्दुओं की अधम अवस्था देखकर उनका अंतःकरण तिलमिला उठा। सन् १६०८ में उनका 'हिन्दुस्तानी' अखबार प्रकाशित हुआ। जनता में जागृति फैलने लगी। सुधार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। डाक्टर साहब के मकान के एक कमरे में आर्य समाजियों की बैठक होती और भावी कार्यक्रम पर विचार किया जाता। आखिर १७ वीं अप्रैल सन् १६१० ईस्वी में डाक्टर मणीलाल जी के प्रोत्साहन और प्रेरणा से मोरिशस की राजधानी 'पोर्टलुईस' में प्रथम आर्य समाज की विधिपूर्वक स्थापना हो गई। पहले मणीलाल जी के दफ्तर में समाज का

अधिवेशन होता था तत्पश्चात् श्री रामजीलाल के मकान पर। श्री मणीलाल जब भारत वापिस गये तो उन्होंने "हिन्दुस्तानी प्रेस" आर्य समाज को प्रदान कर दिया।

सन् १६१२ के प्रारंभ में स्वर्गीय स्वामी मङ्गलानन्द जी पुरी मोरिशस गये। स्वामी जी को वहां के हिन्दुओं की अधोगति पर बड़ा ही मनस्ताप हुआ था। सन् १६१२ की "मर्यादा" के जुलाई अङ्क में उन्होंने मोरिशस पर जो लेख छपाया था वह उनकी हार्दिक वेदना का सच्चा प्रतिबिम्ब है। उस समय श्री लक्ष्मण पंडा भी आर्यसमाज के प्रचार कार्य में उत्साह से संलग्न थे। इसके बाद ही डाक्टर चिरंजीव भारद्वाज जी अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सुमङ्गली देवी के साथ वहां पहुंच गये। डाक्टर साहब जैसे प्रकाण्ड पंडित के प्रताप से मोरिशस में आर्य समाज का सिक्का जमा गया। पुरी जी स्वदेश लौट आये और डाक्टर साहब ने आर्य समाज का नेतृत्व ग्रहण किया।

डाक्टर भारद्वाज की वाणी और क्रिया से मोरिशस द्वीप में सर्वत्र वैदिक धर्म का सन्देश पहुंच गया। श्री माधवलाल हरिवंश और श्री बी० शिवसरन पोर्टलुईस में लेखबद्ध प्रचार कर रहे थे। वाकुआमें श्रीरामेश्वर पतारू, श्री भोला मास्टर, श्री मोती मास्टर प्रभृति समाज की शरण में आ गये थे। संस्कृत के विद्वान् होने के कारण डाक्टर भारद्वाज का वहां के नामधारी ब्राह्मणों पर भी गहरा प्रभाव पड़ा था। श्रीमती सुमङ्गली देवी के भाषण ने वहां की जनता में अद्भुत जागरण उत्पन्न किया।

सन् १६१३ में डाक्टर भारद्वाज ने मोरिशस में 'आर्य परोपकारिणी सभा' की स्थापना की। उसके लिये चन्दा करके आपने एक छोटा सा मकान भी खरीदा। उसी साल डाक्टर भारद्वाज की उपस्थिति में ही श्री स्वामी स्वतंत्रानन्द जी का मोरिशस में शुभागमन हुआ। स्वामी जी को आर्य समाज की बागडोर थमाकर डाक्टर साहब मोरिशस से विदा होगये थे।

सन् १६१६ में पं० काशीनाथ भारत से विद्या प्राप्त कर मोरिशस लौटे। उन्होंने भी अनेक स्थानों पर आर्य समाज की स्थापना की। कुछ उत्साही कार्य कर्ताओं ने पोर्ट-लुईस में दयानन्द धर्मशाला व आर्य वैदिक विद्यालय स्थापित किया।

इसके बाद ही आपस में मतभेद फैला, किन्तु सौभाग्यवश उसी समय महता जैमिनी जी वहां पहुंच गये और दयानन्द जन्म शताब्दी मनाने का अद्भुत उत्साह भी फैला हुआ था, इसलिये फूट की ज्वालामुखी फूटने नहीं पाई। बड़ी धूमधाम से शताब्दी मनाई गई। जैमिनीजी ने अपने व्याख्यानों से जनता को यथेष्ट लाभ पहुँचाया। सन् १६२६ में स्वामी विज्ञानानन्द जी मोरिशस द्वीप में गये। उनके आगमन के साथ ही फूट की आग धधक उठी।

मोरिशस में आर्य समाज के प्रताप से एक नया युग प्रारंभ हो गया है। समाजों और संस्थाओं की संख्या के सहारे आर्य समाज की शक्ति और प्रभाव का थाह लगाना

कठिन है किन्तु मोरिशस की आधुनिक जागृति का सारा श्रेय आर्य समाज को है।

नेटाल-

दक्षिण अफ्रीका में चार प्रदेश हैं—नेटाल, ट्रांसवाल, केप और औरञ्ज फ्रीस्टेट। एक करोड़ की आबादी में दो लाख हिन्दुस्तानी हैं, जिनमें डेढ़ लाख हिन्दू हैं। सन् १८६० में पहले पहल भारतीयों का आगमन नेटाल में हुआ। शर्तबन्द मजदूर की हैसियत से। इस समय भी दो लाख भारतीयों में डेढ़ लाख से कुछ अधिक नेटाल में हैं। हिंदुओं में मद्रासियों की संख्या सबसे अधिक है, उनके बाद हिन्दी भाषियों की तादाद है जो विशेषतः बिहार और युक्त प्रदेश के निवासी हैं। गुजराती भी एक अच्छी संख्या में हैं, कुछ पंजाबी भी हैं और इने गिने भारत के अन्य प्रांतों के निवासी हैं। जहां मद्रासी और हिन्दी भाषी शर्तबंद मजदूर के रूप में वहां गये वहां गुजराती भाई स्वतंत्र व्यापारी की हैसियत से। कुली प्रथा के शिकार होने से उन्होंने यज्ञोपवीत को उतार फैंका, वर्णान्तर विवाह या संबंध कर लिया, छुआछूत को तिलाञ्जलि दे डाली। चमार की हांडी का भात खाने में ब्राह्मण को कोई आपत्ति नहीं रही, मुर्गे-अण्डे पेट में हजम होने लगे, मदिरा के प्याले ढलने लगे, हिन्दू त्यौहारों के स्थान पर ताजियेदारी की प्रथा चली, मुर्दे कब्र में गाड़े जाने लगे, तात्पर्य यह है कि हर दृष्टि से हिंदुत्व का ह्रास होता गया। हिंदुओं का सब कुछ छूट गया लेकिन रूढ़ियों ने उनका पिण्ड नहीं छोड़ा। नेटाल में भूतप्रेत पूजना, ओझा जुटाना, काली माई को बकरे चढ़ाना, विवाह के अवसर पर गालियां गाना, शरीर में हल्दी का लेपन करना, सिर पर मौर बांधना, स्त्रियों के मांग में सिंदूर लगाना, दुल्हिन का मुंह ढपकर मंडप में लाना, लौंडों का नाच कराना, स्वाङ्ग भरना इत्यादि वाहियात बात ही हिंदुत्व की विशेषतायें बन गईं। फल यह हुआ कि वहां की नई पीढ़ी हिंदु धर्म से विरक्त होकर सच्चे धर्म की खोज में भटकने लगी। हिन्दुओं की प्रचलित रूढ़ियों से उनकी घृणा बढ़ने लगी। हिंदुओं की डांवाडोल स्थिति से ईसाइयों ने यथेष्ट लाभ उठाने की चेष्टा की। हिन्दू युवक धीरे धीरे ईसाई धर्म की शरण में जाने लगे।

सन् १६०५ में भाई परमानंद जी को वहां बुलाया गया। भाई जी उस समय लाहौर के दयानंद एंग्लो वैदिक कालिज के प्रोफेसर थे। यद्यपि भाई जी केवल चार सप्ताह दक्षिण अफ्रीका में ठहर सके, तत्पश्चात् उनको विशेष अध्ययन के लिये विलायत चला जाना पड़ा, तो भी हिंदुओं में नवीन जीवन और जागृति का संचार हो आया।

भाई जी ने अपने व्याख्यानों से उनकी धार्मिक-तृषा को और भी तीव्र कर दिया। वे एक ऐसे धर्मोपदेशक की खोज में प्रवृत्त हुए, जो उनको वैदिक धर्म का गूढ़ रहस्य बताकर कल्याण का मार्ग दिखा दे, सबको एक सूत्र में संगठित कर दे और उनकी सामाजिक स्थिति को उच्च और उन्नत बनाने में सहायता पहुंचावे। सौभाग्य से स्वामी

शंकरानंद जी मिल गये, जो उस समय लण्डन में थे। सन् १९०८ में हिन्दुओं के विशेष आग्रह से स्वामी जी नेटाल पधारे। उनका आगमन हिंदुओं के लिये बड़ा हितकर सिद्ध हुआ। उन्होंने ४ वर्ष तक प्रचार कार्य किया।

स्वामी जी के प्रयत्नों से नेटाल के हिन्दुओं के लिये एक नवीन युग का आरम्भ हुआ। स्वकीय के स्वीकार और परकीय के परित्याग का सिद्धान्त कार्यान्वित होने लगा। मुहर्रम और क्रिसमस की जगह होली और दिवाली प्रचलित हुई पादरियों से हिन्दू युवक टक्कर लेने लगे।

जिस समय स्वामी शंकरानन्द जी दक्षिण अफ्रीका में गये थे, उस समय वहां के हिन्दुओं की बड़ी दुर्गति हो रही थी। स्वामी जी ने उनको एकत्र करने के लिये हिन्दू संगठन का आन्दोलन उठाया। दक्षिण अफ्रिका के भिन्न भिन्न स्थानों में चार सौ व्याख्यान दिये; सात सौ यज्ञोपवीत और ढाई सौ हवन कराये। मुख्य मुख्य नगरों और कस्बों में वेद-धर्म सभाओं की स्थापना की, जिसमें हिन्दू मात्र सम्मिलित हो सकते थे। नेटाल की राजधानी पीटर मेरित्सबर्ग में वैदिक-आश्रम बना और हिन्दुओं की व्यापारिक प्रगति के लिये नेटाल इण्डियन ट्रेडर्स कायम हुआ। सबसे मार्के की बात यह हुई कि स्वामीजी की ही अध्यक्षता में दक्षिणीय अफ्रिका हिन्दू परिषद् हुई, जिसमें देश भर के २५० हिन्दू प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। सन् १९१२ में वहां हिन्दू महासभा कायम होगई। सन् १९०८ से १९१२ तक स्वामी शंकरानन्द ने दक्षिण अफ्रिका में वैदिक धर्म का प्रचार किया।

सन् १९१३ में स्वामी मंगलानंद जी पुरी भी देशाटन करते हुए ट्रांसवाल पहुंच गये। आप दक्षिण अफ्रिका में लगभग छः महीने और ट्रांसवाल एवं नेटाल प्रदेश में यदाकदा प्रचार भी करते रहे। स्वामी शंकरानंद जी के वहां से बिदा होने के पांच मास पूर्व ही मैं दक्षिण अफ्रिका पहुंच गया और आर्यसमाज के नेतृत्व का भार मेरे निर्बल कंधों पर आ पड़ा। एक ओर मैंने वैदिक धर्म का प्रचार आरम्भ किया और दूसरी ओर हिन्दी भाषा का भी। जर्मिस्टन, न्यूकासल, डेनहौसर, हार्टिङ्गस्प्रुट, ग्लंको, बर्नसाइड, लेडीस्मिथ, विनेन, जेकब्स आदि नगरों में हिन्दी प्रचारिणी सभाएं और हिन्दी पाठशालाएं खुलवाईं। डरबन शहर के निकट क्लेरइस्टेट में हिन्दी (आर्य) आश्रम बनवाया, जिसमें पुस्तकालय और पाठशाला की व्यवस्था की गई। दक्षिणीय अफ्रीका में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बुनियाद डाली, जिस का प्रथम अधिवेशन लेडीस्मिथ में हुआ और दूसरा अधिवेशन पीटर मेरित्सबर्ग में। श्री आर० जी० भल्ला नामक एक पंजाबी सज्जन ने "धर्मवीर" नामक साप्ताहिक पत्र डरबन से मेरे सम्पादन में निकाला।

सन् १९२१ में कांगड़ी-गुरुकुल के स्नातक पं० ईश्वरदत्त जी विद्यालङ्कार ने अपने सहकारी लाल सांईदास (पश्चात् श्री सत्यव्रतजी) के साथ दक्षिणी अफ्रिका में पर्यटन

और प्रचार किया। आप शारीरिक व्यायाम का भी प्रदर्शन करते थे किन्तु दक्षिण अफ्रीका में यह प्रदर्शन स्थगित रहा। राधेश्यामी ढंग से जब आप रामायण की कथा कहते तो श्रोता मुग्ध होकर झूमने लगते थे। नेटाल के प्रायः सभी नगरों और गांवों में आप के व्याख्यान हुए। आपने वैदिक धर्म की जो सेवा की, वह स्तुत्य है। वहां से आप अमेरिका चले गये। उसी समय आर्यसमाज के वयोवृद्ध भजनीक ठाकुर प्रवीण सिंह भी नेटाल पधारे और अपने भजनों द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे।

सन् १९२२ में मैंने अपनी स्वर्गीय धर्मपत्नी की स्मृति में "जगरानी प्रेस" खोला और हिन्दी तथा अंग्रेजी में "हिन्दी" नामक साप्ताहिक पत्र निकालना आरम्भ किया। वैदिक धर्म का प्रचार करना भी इस पत्र का उद्देश्य था। सन् १९२५ में मेरे ही सभापतित्व में ऋषि दयानंद की जन्म शताब्दी डरबन नगर में मनाई गई। इसी अवसर पर नेटाल प्रादेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा की भी स्थापना हुई, जिसका प्रथम प्रधान मुझ को ही चुना गया। प्रतिनिधि सभा के उपदेशकों को नेटाल के जेलखानों में जाकर हिन्दू कैदियों में वैदिक धर्म प्रचार करने की सरकारी आज्ञा मिल गई। सन् १९२७ में मैंने भारत में संन्यास ग्रहण किया और इसके बाद दक्षिण अफ्रिका लौटकर देहली की सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से दो साल वैदिक धर्म का प्रचार करता रहा।

सन् १९२९ में डाक्टर भगतराम सहगल अपनी पत्नी और बच्चों के साथ पूर्व अफ्रीका में प्रचार करते हुए दक्षिण अफ्रीका गये। आपने नेटाल में यथाशक्ति प्रचार किया। आपका एक मात्र लक्ष्य था—आर्य समाजों की स्थापना करना। कई सभाओं के नाम बदल कर आपने 'आर्य समाज रखवाये और कई नये समाजों की भी स्थापना की।

सन् १९३३ में मुझे दूसरी बार आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रधान चुना गया और मेरी ही अध्यक्षता में ऋषि दयानन्द निर्वाण अर्द्ध शताब्दी बड़ा धूम धाम से मनाई गई। उस से कुछ काल पूर्व हुशियारपुर के दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज के प्रोफेसर रल्लारामजी, एम०-ए० भी दक्षिण अफ्रीका में प्रचार कर आये थे। आपकी सादगी और साधुता का जनता पर अच्छा असर पड़ा था। आपके व्याख्यानों से आर्य समाज की प्रगति में बड़ी सहायता पहुंची। उसी समय महता जैमिनी जी ने दक्षिण अफ्रीका आने का संकल्प कर लिया। जब आर्य प्रतिनिधि सभा महताजी को आमंत्रण देकर बुलाने में असमर्थ सिद्ध हुई तो हिन्दु महासभा की ओर से आपको बुलाया गया। आप दक्षिण अफ्रीका में हिन्दू महासभा के प्रचारक की हैसियत से प्रचार करते रहे किन्तु उसके साथ ही आर्य समाज की सेवा में भी सन्नद्ध रहे।

सन् १९३४ में प० आनन्द प्रियजी बड़ौदे के अपने आर्य कन्या महा विद्यालय की छात्राओं के साथ दक्षिण अफ्रीका में उपस्थित हुये। इन कन्याओं के व्यायाम प्रदर्शन से देश भर में सनसनी फैल गई क्योंकि इस से पूर्व वहां किसी ने भारतीय कन्याओं को

व्यायाम कला का प्रदर्शन करते हुए नहीं देखा था। जहां आपकी संस्था को लाखों रुपये दान के रूप में मिले, वहां आर्य जनता को भी अभिमान से मस्तक उठाने का अवसर मिला। सन् १९३७ में पं० यशपालजी वहां गये थे और सन् १९३८ में लाहौर के ब्राह्म महाविद्यालय के आचार्य पं० ऋषिरामजी बी० ए० भी।

पिछले ३७ वर्षों में दक्षिण अफ्रीका प्रवासी भारतीयों में वैदिक धर्म का यथेष्ट प्रचार हुआ है। अनेक आर्य समाज, आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्य युवक सभा, आर्य अनाथाश्रम, वेद धर्म सभा, युवक आर्य समाज आदि सभाओं एवं संस्थाओं के द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार होता रहता है किन्तु दक्षिण अफ्रीका में आर्य संस्थाओं और सभाओं से आर्य-समाज के कार्यों का अनुमान करना सर्वथा भ्रमात्मक है।

फिजी—प्रशांत महासागर में आस्ट्रेलिया से पूर्व और न्यूजीलेण्ड से उत्तर दिशा में फिजी-द्वीप-समूह है, जो लगभग २५० भागों में विभक्त है। लगभग ८० द्वीपों में मनुष्य की बस्ती है, शेष उजाड़ पड़ा है। फिजी का क्षेत्रफल ७०८३ वर्ग मील है। सन् १८७९ में शर्तबन्द भारतीय मजदूरों का फिजी में प्रवेश हुआ और १९१६ तक यह सिलसिला जारी रहा। सन् १९३२ तक भारतीयों की संख्या ७६,७०२ तक पहुंच गई थी। इनमें ८० प्रतिशत से अधिक हिन्दू हैं।

शर्तबन्दी प्रथा की बुराइयों के सम्बन्ध में हम जो कुछ पिछले अध्यायों में लिख चुके हैं उससे पाठकों को हिन्दुओं के नैतिक पतन का पर्याप्त परिचय मिल गया होगा। जिस स्थिति में मजदूरों को रहना पड़ता था वह अत्यन्त भयंकर थी। धर्म सम्बन्धी सारे नियम तोड़ डाले जाते थे; समाज के दण्ड का कोई भय था ही नहीं। परिणाम यह हुआ कि ईसाइयों ने परिस्थिति से लाभ उठाने में कोई कोर-कसर नहीं की, किन्तु पादरियों के लिये यह काम अत्यन्त कठिन था। पादरी बर्टन साहब ने लिखा है कि "भारतवासी ऐसे भोले भाले मनुष्य नहीं हैं, जो झट ईसाई हो जावें। यह संसार के एक सब से अधिक सूक्ष्मदर्शी और तीव्र बुद्धि राष्ट्र के व्यक्ति हैं। भारतवासी फिजियन लोगों की तरह जिनके पुरखे थोड़े दिन पहले नरमांस खाते थे, नहीं हैं। ये लोग उस समय में पूर्ण-तया सभ्य होने का अभिमान कर सकते हैं, जब हमारे पूर्वज भेड़ियों की खाल पहने हुये और अपने शरीर को चित्रित किये हुये जंगलों में घूमते थे। भारतीयों का इतिहास धर्म सम्बन्धी घटनाओं से भरा पड़ा है। सम्भवतः इस समय भी भारतवासी दुनिया भर में सब से अधिक धार्मिक हैं। इनके हृदय में अदृश्य और अध्यात्म के लिये अद्भुत धी-शक्ति है। यह लोग बराबर ध्यान मग्न रहे हैं और इन लोगों ने पृथ्वी पर ही स्वर्ग है और सब स्थानों में परमात्मा व्यापक है, इस बात का अनुभव किया है। यह लोग सदा से गूढ़ बातों को सोचते रहे हैं, इन्हीं के यहां गौतम बुद्ध और उनके बराबर के दस-बारह ऋषि उत्पन्न हुये थे। इन लोगों ने ऐसे ऐसे मन्दिर बनवाये, जिन के जोड़ के मन्दिर दुनिया में और कहीं नहीं पाये जाते। इनका साहित्य इतना उत्तम और विस्तीर्ण है कि

उसके अध्ययन में कितने ही यूरोपियन विद्वानों के जीवन व्यतीत हो गये हैं। हम भले ही अपने शेक्सपियर, शैली और ब्राउनिङ्ग का अभिमान करते रहें, लेकिन जब तक वेद, रामायण, महाभारत और भगवद्गीता विद्यमान हैं, तब तक हिन्दुस्तान को अपना माथा नीचा करने की आवश्यकता नहीं। यह लोग धर्म के लिये यूरोपियनों की शरण में नहीं आ सकते। इनके मार्ग में अनेक बाधाओं के होते हुए भी, इन्होंने अंग्रेजों के मुकाबले में जो बुद्धिमत्ता दिखलाई है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। फिजियन लोगों ने तो जो कुछ अंग्रेजों ने कहा उसपर विश्वास कर लिया और झट ईसाई हो गये, क्योंकि अंग्रेज उनसे अधिक तीक्ष्ण बुद्धि जाति के हैं, लेकिन भारतवासी इस तरह कभी नहीं मान सकते, गौराङ्गों की प्रत्येक बात पर प्रश्न करते हैं और कहते हैं कि यह अंग्रेज लोग जो कल जंगलियों की तरह घूमते थे, जो मृत गाय और सूअर का मांस भक्षण करते हैं, जो बड़ी बेहूदा तरह से भद्दी हंसी हंसते हैं, जिनके आचरण अशिष्ट हैं और जिनकी स्त्रियां उद्दण्ड स्वभाव वाली हैं; यह लोग जिनका कि लालन-पालन चन्द रोज के नवीन धर्म की गोद में हुआ है, भला हम भारतवासियों को, जोकि अत्यन्त प्राचीन जाति के हैं, और जिनके यहां तत्व विद्या के सैकड़ों सिद्धान्त अविष्कृत हुये थे, क्या धर्म पढ़ावेंगे।

अन्त में बर्टन साहब ने अपने मिशन कार्य से अत्यन्त निराशा प्रकट करते हुये लिखा है कि "भारतवासी विना ईसाई धर्मके बिल्कुल सन्तुष्ट हैं, बाइबिल उनके लिये किस्सा-कहानी मात्र है। और उसे वह उसी दृष्टि से देखते हैं, जिस दृष्टि से कि वे किसी हिन्दू-धर्म की कल्पित कथाओं को देखते हैं। जिन लोगों का भारतवासियों से घनिष्ट सम्बंध नहीं रहा, वह इस बात को कदापि नहीं जान सकते कि उन पर धार्मिक प्रभाव डालना कितना कठिन है।" इस स्थिति में भी फिजी में ईसाई धर्म का विस्तार होता ही गया। भारतीय युवक अनेक कारणों से ईसाइयत का आश्रय ग्रहण करने लगे, जिनमें मुख्य अपने धर्म के प्रति उनका अज्ञान ही है।

सन् १९१२ में बिहार के दानापुर आर्य समाज के वार्षिकोत्सव पर स्वामी राम-मनोहरानंद सरस्वती से मेरी मुलाकात हुई। मैंने स्वामी जी को डमरेरा, ट्रिनीडाड, सुरीनाम अथवा फिजी जाने की सम्मति दी और प्रवासी भारतियों की तत्कालीन परिस्थिति का भी पूर्ण परिचय दे दिया। मैं सन् १९१२ के अन्त में दक्षिण अफ्रीका पहुंचा और स्वामी राम मनोहरानंद जी सन् १९१३ में फिजी पहुँच गये। आपने अपने धर्मोपदेश से प्रवासी भाइयों का ध्यान आर्य समाज की ओर आकर्षित किया। आर्यसामाजिक विचार के भाइयों को भारी प्रोत्साहन और सहारा मिला। उस समय वहां के प्रवासी भाइयों में शिक्षा का बड़ा अभाव था। स्वामी जी ने "लटौक" नामक स्थान में एक गुरुकुल की स्थापना की। स्थान २ पर आर्य समाज खुल गये, प्रवासी युवक वैदिक धर्म के झंडे के नीचे एकत्र होने लगे और हिन्दुओं में अभूतपूर्व जागृति

उत्पन्न हो गई। स्वामी जी ने फिजी में आर्य समाज की जो सेवाएं कीं, वह स्वर्णाक्षरों में अंकित होने योग्य हैं किन्तु अन्त में स्वामी जी मानवी निर्बलता के शिकार हो गये थे। जहां वे सन्यासी के रूप में फिजी में गये थे वहां अब अपने आपको ब्रह्मचारी कहकर प्रसिद्ध करने लगे और एक प्रवासी कन्या के साथ उन्होंने विवाह भी कर लिया। आप के इस कृत्य से आर्य समाज को ऐसा धक्का लगा कि उसका अस्तित्व ही संकट में आ पड़ा। स्वामी जी के कारण आर्य समाज बदनाम हुआ और जनता की दृष्टि से गिर गया। स्वामी जी की टीका टिप्पणी की गई जिसके कारण वे ईसाई हो गये।

मैं १९१९ में भारत में था। गुरुकुल वृन्दावन में ठहरा था। मैंने फिजी में आर्य समाज के प्रचार के लिये पं० गोपेन्द्र जी को भेजा। गोपेन्द्र जी ने फिजी द्वीप में जाकर बड़ा कार्य किया। जहां उन्होंने मृतप्राय गुरुकुल को संभाल लिया वहां आर्य समाज की स्थिति भी दृढ़ हो गई उनकी प्रेरणा पुरुषार्थ और प्रयत्न से फिजी के अनेक विद्यार्थी भारत आये और जालन्धर के कन्या महाविद्यालय देहरादून के दयानन्द कालिज एवं वृन्दाबन के गुरुकुल प्रभृति संस्थाओं में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। उनके फिजी लौटने पर प्रवासियों के सार्वजनिक जीवन में विशेष प्रगति हुई। गोपेन्द्रजी के ही उद्योग से पं० श्री कृष्ण शर्मा आर्य मिशनरी, पं० अमी चंद्र विद्यालङ्कार, ठाकुर कुंदन सिंह, श्री सरदार सिंह आदि प्रचारकों ने भारत से वहां जाकर प्रवासी हिन्दुओं के सुधार और उद्धार के कार्य में पर्याप्त परिश्रम किया। श्री महता जैमिनी जी (अब स्वामी ज्ञाना-नंद जी) ने भी अपने उपदेशों से प्रवासी भारतियों को लाभ पहुंचाया।

इस समय फिजी द्वीप के सभी नगरों में आर्य समाज स्थापित है। सन् १९१६ में ही आर्य प्रतिनिधि सभा की बुनियाद पड़ गई थी। जो देहली की सार्वदेशिक सभा से सम्बंधित है। सन् १९०४ में वहां पहले पहल आर्य समाज कायम हो गया था किन्तु सन् १९१३ से पूर्व उसका क्षेत्र 'समबूला, नामक स्थान में ही सीमित रहा। सन् १९१३ में जब आर्य समाज कार्य क्षेत्र में अग्रसर हुआ तो उस पर सरकार की वक्रदृष्टि पड़ी। पुलिस ने समाज के कागज पत्रों को जब्त कर राजद्रोह का मसाला ढूंढने में बहुत कुछ माथापच्ची की किन्तु उसको हताश ही होना पड़ा। सन् १९१२ में आर्य समाज ने ही हिन्दू त्यौहारों का फिजी में पुनरुद्धार किया। इस समय आर्य प्रतिनिधि सभा के पास लगभग एक लाख रुपये की सम्पत्ति है। माननीय पं० विष्णुदत्त जी ने पं० श्रीकृष्ण शर्मा के सहयोग से 'वैदिक-सन्देश" नामक एक अखबार भी निकाला था जो कुछ दिनों तक वैदिक धर्म का प्रचार कर बंद हो गया। आर्य समाज के उद्योग से स्त्री शिक्षा का भी यथेष्ट विस्तार हुआ। फिजी में अब आर्य समाज की शक्ति दृढ़ होती जा रही है।

बृटिश गायना।

दक्षिणीय अमेरिका के निकट यह उपनिवेश है—डेमारा, इसक्वाबो एवं बेरवाइस टापू बृटिश गायना के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १८३३ में गुलामी की प्रथा नष्ट होने के बाद ही वहां शर्तबंद भारतीय मजदूरों का जाना प्रारम्भ हुआ और इस समय वहां प्रवासी भारतीयों की संख्या ढेढ़ लाख के करीब पहुंच चुकी है।

यहां के हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक अवस्था ऐसी करुणाजनक थी कि उसकी कल्पना मात्र से रोमाञ्च हो आता है। जब भाई परमानंद जी पहले पहल डेमरारा की राजधानी जार्जटाउन में पहुंचे तो एक हब्शी पादरी ने उनको भारतीयों की बस्ती में पहुंचाया। भाई जी ने अनुभव का वर्णन करते हुये लिखा 'एक छोटासा मंदिर था मैं वहां गया। अहाते में एक बड़ा कमरा सा था। आधे भाग में मूर्ति पड़ी हुई थी और बाकी में दो तीन चटाइयां बिछी थीं। रात हो गई थी। मैंने वहां पहुंचकर अपना बेग रख दिया। एक लम्बे बाल रखे हुये भारतीय पुजारी आया, और मुझ से पूछा कि कहां से आये हो? कौन हो? मैंने बताया मैं ब्राह्मण हूं और देश से आया हूं। उसने कहा, क्या कुलियों में भर्ती होकर आये हो? क्या नया जहाज आ गया है? मैंने बताया नहीं, मैं ऐसे ही आया हूं। उसने कहा, ऐसे तो आज तक देश से कोई आदमी इधर नहीं आया।"

दो चार दिन के बाद जब भाई जी ने हिन्दु मजदूरों से पूछा कि क्या यहां कोई पढ़ा लिखा और प्रतिष्ठित भारतवासी भी है? तो उत्तर मिला, "हां है, डाक्टर हैं—बड़े पादरी बने हैं, सौदागर भी हैं परन्तु बहुत करके ईसाई हैं।" भाईजी एक हिन्दू का पता लगाकर उससे मिलने गये। उस भेंट की कहानी भाई जी की जबानी सुनिये—"कहा कि मैं यहां लैक्चर देना चाहता हूं, तुम कुछ प्रबंध करो। उसने कहा, मैं कैसे विश्वास करूं कि तुम लैक्चर दे सकते हो। ...... वह मुझे साथ लेकर ईसाइयों के पास गया और उनसे मेरा उद्देश्य कहा। उनमें एक डाक्टर भी था जो लण्डन में रह आया था वह बड़ा प्रसन्न हुआ और लैक्चर दिलाने पर तैयार होगया। उन्होंने कोई बीस डालर खर्च करके एक रात के लिये 'टाउन-हाल' किराये पर लिया और समाचार पत्रों में नोटिस दिया कि देश से एक पंडित आया है उसका लैक्चर होगा। दूर दूर के गांवों से भारतीय लोग सहस्रों की संख्या में इकट्ठे हो गये। गोरे भी बहुत थे। लैक्चर के पश्चात् यह हुआ कि वह आदमी मुझे अपने मकान पर ले गया, और सारे इलाके में मैंने जाकर लैक्चर दिये। ईसाइयों के अन्दर बड़ी खलबली पड़ गई। मैंने खास बात नोट यह की कि दक्षिण अफ्रीका में चाहे पोलिटिकल शिकायतें थीं, परंतु क्योंकि स्वतंत्र व्यापारी हिन्दू मुसलमान वहां पहुंचते रहे, लोग प्रायः अपने धर्म पर खड़े थे। बृटिश गायना में पोलिटिकल शिकायतें थोड़ी थीं; परंतु पढ़े-लिखे लोग सबके सब ईसाई हो गये थे। प्रारंभिक शिक्षा लड़के और लड़कियों के लिये आवश्यक थी और शिक्षा का चार्ज

पादरियों के हाथ में था और सारे स्कूल गिरजों के अन्दर लगते थे।"

भाई परमानंद ने ही बृटिश गायना के प्रवासी भारतीयों को पहले पहल वैदिक धर्म का संदेश सुनाया किन्तु वास्तव में तब तक बहुत देर हो चुकी थी और उन्हीं के शब्दों में "पढ़े-लिखे लोग सबके सब ईसाई हो गए थे"। खैर, जब से वहां आर्य समाज का प्रचार आरंभ हुआ, प्रवासी हिन्दुओं में नवजीवन का प्रादुर्भाव हो आया। पं० अयोध्याप्रसाद जी और पं० महता जैमिनी जी ने वहां पहुँच कर गिरे हुये हिन्दुओं को उठाने और आगे बढ़ाने में यथेष्ट प्रयत्न किया। पं० चन्द्रशेखर जी और पं० लक्ष्मण प्रसाद जी ने भी वहां आर्य समाज की कीर्ति पताका फहराने में विशेष उद्योग किया। पं० रामजीलाल शर्मा भी यथाशक्ति वैदिक धर्म और वैदिक साहित्य के प्रचार में बद्धपरिकर हैं। पं० गिरजादयाल का प्रचार-कार्य भी सराहनीय रहा है।

यद्यपि वहां आर्य समाज का थोड़ा बहुत प्रचार हो चुका है। विधि पूर्वक आर्य समाज की स्थापना भी हो चुकी है, फिर भी मोरिशस, फिजी, नेटाल इत्यादि की भांति बृटिश गायना में आर्य समाज की स्थिति दृढ़ नहीं है।

ट्रिनीडाड-

बृटिश गायना के पड़ोस में ही ट्रिनीडाड नामक उपनिवेश है। ट्रिनीडाड और टोबागो में प्रवासी भारतीयों की संख्या लगभग डेढ़ लाख है। सन् १८४५ में शर्तबंद भारतीय मजदूरों का इस देश में प्रथम प्रवेश हुआ था। हिन्दुत्व की रक्षा के लिये किसी ने कोई ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि बृटिश गायना की भांति यहां के हिन्दू युवकों को अपने धर्मका ज्ञान बिल्कुल नहीं रहा. अपनी संस्कृति से सर्वथा अनभिज्ञ होगये। छोटे २ बच्चों में हिन्दु धर्म के विरुद्ध घृणा के विचार पैदा किये। परिणाम यह हुआ कि जो थोड़ा बहुत भी पढ़ लिख जाता, वह ईसाई हुए बिना नहीं रहता। आज वहां कदाचित भाग्य ही से कोई ऐसा युवक मिल सके जो हिन्दू धर्म को तिलाञ्जलि न दे चुका हो?

सन् १९२८ में महता जैमिनी जी ट्रिनीडाड में गये और आपने वहां के हिंदुओं को वैदिक धर्म का संदेश सुनाया। आपके व्याख्यानों की वहां धूम मच गई। आर्यत्व का नवीन रूप देखकर युवकों के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। ईसाइयों के संसर्ग और शिक्षा से उद्भूत उनकी विचार-धारा में भारी क्षोभ पैदा हुआ। कहां हिन्दुस्तान और हिन्दु धर्म के प्रति उनकी पुरानी धारणा और कहां आर्यावर्त, आर्यत्व और आर्य संस्कृति की यह दिव्य रूप-रेखा।

महता जी वहां स्थायी रूप से प्रचार करने के लिये तो गये नहीं थे, उन्होंने देश का एक चक्कर लगाकर वहां से प्रस्थान कर दिया। इसके बाद पं० गिरजादयाल जी यथा शक्ति यत्र तत्र प्रचार करते रहे।

सन् १९३४ में आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान पं० अयोध्याप्रसादजी दैवयोग से वहां

जा पहुंचे। वे वास्तव में गये तो थे अमेरिका की सार्वभौमिक सर्व धर्म परिषद् में सम्मिलित होने के लिये, किन्तु वहां उनके पासपोर्ट की अवधि समाप्त होगई और उससे अधिक समय ठहरने की आज्ञा नहीं मिल सकी, अतएव विवश होकर ट्रिनीडाड का आश्रय लेना पड़ा। आपने बड़ी लगन और उत्साह से वैदिक धर्म का प्रचार किया। लगभग डेढ़ हजार मनुष्य आर्य समाज में प्रविष्ट हुए। छगुआनस, प्रिन्सेज़ टाउन, सेन्ट जोसफ आदि नगरों में आर्य समाज की स्थापना हुई। छगुआनस को प्रचार का केन्द्र बनाया गया। यहां समाज-मंदिर भी बना। नवदीक्षित आर्यों ने इस मंदिर के निर्माण में जिस त्याग और तत्परता का परिचय दिया वह आर्य समाज के प्रति उनके प्रेम का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है। लगभग ३०० ईसाई और मुसलमानों की शुद्धि हुई। प्रिन्सेज़ टाउन के एक धनाढ्य और विद्वान् सज्जन ने ईसाई मत को परित्याग कर वैदिक धर्म ग्रहण किया और अपने व्यय से उस नगर में आर्य मंदिर बनवाने और चलाने का शुभ संकल्प भी किया। प्रसिद्ध मुसलमान श्रीवाजिद अली की शुद्धि से ट्रिनीडाड में हलचल मच गई। वह बड़े मालदार सुशिक्षित और सुवक्ता हैं। देश भर में उनका पर्याप्त प्रभाव है। उनके परिवार वालों तथा अन्य मुसलमानों ने हर प्रकार से रोकने का प्रयत्न किया किन्तु सफलता नहीं मिली। उन पर आर्य समाज का ऐसा गहरा रङ्ग चढ़ चुका था कि वे शुद्ध होकर 'सत्यपाल' बन गये और बड़े उत्साह से आर्य समाज के कार्य में जुट पड़े।

कार्य का विस्तार होता गया। इसलिये पं० अयोध्या प्रसाद जी की प्रेरणा से देहली की सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने प्रचार के लिये दो और उपदेशक भेजे— एक तो पं० सत्याचरण शास्त्री एम० ए० और दूसरे पं० भास्करानन्द जी, एम० ए०। इनके जाने से आर्य समाज का बल और प्रभाव और भी बढ़ गया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि ट्रिनीडाड, बृटिश गायना और डच गायना में आर्य समाज की बुनियाद मजबूत हो गई और उसके प्रताप से सारे ईसाई युवक अपने पुरातन धर्म में लौट आवेंगे किन्तु दुर्भाग्यवश एक ऐसी दुर्घटना हो गई कि जिससे आर्य समाज की प्रतिष्ठा पर भयंकर आघात पहुंचा। शास्त्री जी विवाहित होते हुए भी किसी प्रवासी कन्या के प्रेमपाश में फंस गये, जिसका परिणाम आर्य समाज के लिये अत्यन्त हानिकारक हुआ।

पं० अयोध्या प्रसाद जी वहां की बाडगोर पं० सत्याचरण शास्त्री को थमाकर स्वदेश लौट चुके थे, दुर्घटना के बाद सभा ने शास्त्री जी को भी वापिस बुला लिया। भास्करानंद जी डमरारा में प्रचार कार्य करते रहे। ट्रिनीडाड में उपदेशक के अभाव से आर्य समाज की प्रगति मन्द पड़ गई।

डच गायना—

सन् १८७३ में भारतीय मजदूर पहले पहल डच गायना गये और सन् १६१२ तक यह सिलसिला जारी रहा। सन् १६३२ में सुरी नाम में कुल ३७,६३३ भारतीय थे जिनमें

पुरुषों की संख्या २०, ४१२ और स्त्रियों की १७, ५२१ थी। वहां की कुल आबादी लगभग १४०,००० है।

इस प्रदेश के प्रवासी हिन्दुओं की हालत भी अच्छी नहीं थी। वास्तव में हिन्दुत्व एक ऐसा रहस्य है जिसको समझ लेना प्रवासी युवकों के लिये साधारण बात नहीं है। जहां मुसलमानों की कुरान नामक एक ही खुदाई किताब है और ईसाइयों की बाइबिल नामक एक ही मजहबी पुस्तक है, वहां हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों का हिसाब लगाना मुश्किल है। इस भेदभाव से ईसाइयों और मुसलमानों ने खूब फायदा उठाया और हजारों-लाखों प्रवासी हिन्दुओं को अपने मजहब में दाखिल कर लिया।

सन् १९२६ में सुरी नाम के कुछ हिन्दुओं ने महर्षि दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश इत्यादि ग्रन्थ मंगाकर पढ़ना शुरू किया, इससे उनकी आंखें खुलने लगी और समाज सुधार की इच्छा बलवती होती गई। उसी काल में श्री शीतल प्रसाद दुबे ने वहां के कुछ उत्साही कार्य कर्ताओं के सहयोग से "भारतोदय" नाम की एक सभा बनाई और हिन्दी में एक अखबार भी निकला जो दो चार अङ्क के बाद बन्द हो गया।

श्री लक्ष्मणसिंह जी अब इस लोक में नहीं रहे किन्तु सिंह जी की विधवा पत्नी ने अपने पति की स्मृति में "श्री लक्ष्मणसिंह धर्मशाला" डच गायना के मुख्य नगर पारामारिबो' में स्थापित की है।

सुरी नाम के हिन्दुओं में जिस समय आर्य समाज की काफी चर्चा हो रही थी उसी समय सन् १९२९ में डमरारा से महता जैमिनीजी वहां जा पहुंचे किन्तु आप वहां ठहर नहीं सके, केवल एक सप्ताह में कुछ व्याख्यान देकर बृटिश गायना लौट गये। जब ट्रिनीडाड से पं० अयोध्याप्रसाद जी वहां गये तो आर्य समाज की धूम मच गई। डच गायना की राजधानी पारामारिबो में नियमपूर्वक समाज की स्थापना हुई। मंदिर के वास्ते जो जमीन खरीदी गई उसकी रजिस्ट्री देहली की सार्वदेशिक सभा के नाम से हुई। श्रीमती महादेवी जी पर पं० अयोध्या प्रसाद के व्याख्यानों का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अकेला ही अठारह-बीस हजार रुपये खर्च करके आर्य मंदिर बनवा दिया।

इसके बाद पं० सत्याचरण शास्त्री ने भी वहां पहुंचकर यथेष्ट प्रचार किया था। हिन्दी भाषा का वहां अच्छा प्रचार है। मद्रासी भाई भी हिन्दी समझते और बोल लेते हैं। आर्य समाज की सफलता देखकर सनातनधर्म की बेचैनी बढ़ गई। इतने दिनों तक किसी ने वहां के प्रवासी हिन्दुओं की खोज-खबर नहीं ली, उनको खुशी से ईसाइयों की शरण में जाने दिया लेकिन आर्यसमाज की सफलता पर सनातनधर्मियों का आसन डोल उठा। भारत से कोई पं० परशुराम शर्मा वहां जा धमके और गला फाड़ फाड़कर आर्य समाज को भला-बुरा सुनाने लगे, किन्तु जिस प्रकार गङ्गा की धारा को रेत से रोकने का प्रयत्न करना पहले दर्जे का पागलपन है वैसी ही सामाजिक क्रांति की

आर्य समाज रूपी चिनगारी को भी। अभी वहां की साधारण जनता अज्ञानता के अंधकूप में पड़ी हुई है। सुरी नामक एक प्रसिद्ध सनातनी पंडित ने हाल ही में मुझे लिखा था— "भारत से एक पं० नारायणदत्त पत्नी सहित आये हैं। अच्छे हैं लेकिन इनका कोई असर मनुष्य पर नहीं बंधता है। पत्नी जी छोटी उमर की हैं और उघारे सिर चलती हैं। इससे भारतीय दिल्लगी उड़ाते हैं"।

इन भोले भाले भाइयों को यह भी पता नहीं कि स्त्रियों का सिर ढकना या उघारे रखना कोई धार्मिक सिद्धान्त से सरोकार नहीं रखता। महाराष्ट्र और मद्रास की स्त्रियां सिर उघारे रखती हैं किन्तु उनके हिन्दुत्व में कोई बट्टा नहीं लगता। इस समय डच गायना में अनेकों प्रवासी भाई वैदिक धर्म प्रचार का कार्य कर रहे हैं।

केनिया—

पूर्व अफ्रिका में केनिया नामक एक उपनिवेश है जो भारतवर्ष से बहुत दूर नहीं है; बम्बई से ब्रिटिश इंडिया स्टीम नैवीगेशन कम्पनी के जहाज केवल आठ दिन में मोम्बासा पहुंचा देते हैं जो केनिया का मुख्य बन्दरगाह है। इस प्रदेश से भारतियों का बहुत पुराना सम्बन्ध है। ईस्वी सन् से पूर्वकाल में वहां भारतियों के जाने और व्यापार करने का इतिहास मिलता है। सन् १४९८ में जब वास्कोडिगामा भारत की खोज में मौम्बासा के बन्दरगाह पर पहुँचा था तो वहां भारतीयों के अगणित जहाज और विस्तृत व्यापार देखकर दंग रह गया था। वास्तव में एक भारतीय नाविक ने ही मार्ग दिखाकर वास्कोडिगामा के जहाज को कालीकट तक पहुँचाया था।

सन् १८८५ में जब इम्पिरियल ईस्ट अफ्रीका कम्पनी से ब्रिटिश सरकार ने केनिया का शासन-सूत्र ग्रहण किया तो केनिया-यूगाण्डा-रेल बनाने का काम शुरू किया गया। देशी मजदूरों से काम निकालने की चेष्टा की गई किन्तु अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकी। आखिर भारत सरकार को मजदूर देने का आदेश मिला और पंजाब के मजदूरों ने ही नाना प्रकार के कष्ट झेलकर इस काम को पूरा किया।

पूर्वीय अफ्रीका के उपनिवेशों में नेटाल, मोरिशस, फिजी, ट्रिनीडाड, डमरारा, सुरीनाम आदि की तरह केवल मजदूर ही नहीं गये किन्तु उनके साथ ही कारीगर, व्यापारी और शिक्षित भारतीय भी स्वतन्त्र रूप से वहां पहुंच गये। जहां नेटाल, मोरिशस आदि में मद्रास, विहार, युक्तप्रांत और मध्यप्रदेशों से मजदूर भर्ती करके भेजे गये वहां पूर्वीय अफ्रिका के प्रदेशों में विशेषत: पंजाब और गुजरात प्रांत के भारतीयों का प्रवेश हुआ। हिन्दी भाषियों और मद्रासियों ने उपनिवेशों में पहुंचकर अपने देश से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया किन्तु गुजरातियों और पंजाबियों का अपनी मातृभूमि से नाता बना रहा। गुजराती धनोपार्जन के अभिप्राय से ही विदेशों में गये हैं— वहां स्थायी रूप से बसने के लिये नहीं। किन्तु मद्रासी और हिन्दी भाषियों की वर्तमान

पीढ़ी अपने बापदादे के गाव के नाम भी भूल चुकी है। इसलिये ट्रिनीडाड, डमरारा, जमैका, ग्रनाडा, फ़िजी, सुरीनाम, नेटाल, मोरिशस इत्यादि उपनिवेशों में हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति के लोप होने की विशेष आशंका है परंतु पूर्वीय अफ्रीका के केनिया, यूगाण्डा, जंज़िवार, टंगेनिका, मोज़म्बिक आदि प्रदेशों में हिन्दुत्व के लिये ऐसा कोई खतरा नहीं है।

केनिया में शिक्षित हिन्दुओं के लिये अच्छा क्षेत्र था। उनको नौकरी-चाकरी प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। वहां के सरकारी और खानगी दफ्तरों में हिन्दू युवकों की एक अच्छी संख्या थी। इन शिक्षित हिन्दू युवकों के साथ आर्यसमाज का सदेश भी वहां पहुंचा। सब से पहले केनिया की राजधानी नैरोबी नगर में सन् १६०३ की तीसरी अगस्त को आर्य समाज की स्थापना हुई। इस समाज की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई, जो पंजाबियों के अदम्य उत्साह और गुजरातियों के धर्मानुराग का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यहां आर्य समाज का ऐसा सुन्दर, शोभाप्रद और भव्य मंदिर है, जिसके जोड़े का मंदिर अफ्रीका महाद्वीप तो क्या, विदेशों में अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इस मंदिर के निर्माण में लाखों रुपये लगे हैं। आर्यसमाज ने अलग मकान बनवाकर उसमें कन्या पाठशाला की स्थापना की है जो स्त्री-शिक्षा की दृष्टि से नैरोबी में सर्वोत्तम संस्था है, इसके संचालन में बारह हजार रुपया वार्षिक व्यय होता है। डेढ़ सो से अधिक कन्याएं शिक्षा ग्रहण करती हैं। दशम श्रेणी तक पढ़ाने की व्यवस्था है। हिन्दी, गुजराती और अंग्रेजी के सिवा सिलाई, संगीत, पाकशास्त्र और धार्मिक शिक्षा भी दी जाती है। समाज के आधीन एक दुमंजिली अतिथिशाला भी है जिसमें १३ कमरे हैं।

आर्य समाज के अन्तर्गत स्त्री समाज भी है जिसका प्रति मंगलवार को नियमपूर्वक अधिवेशन होता है। समाजके पुस्तकालय में दो हजार से अधिक ग्रन्थ हैं और वाचनालय में औपनिवेशिक अखबारों के अतिरिक्त भारत से भी दैनिक साप्ताहिक और मासिक पत्र मगाये जाते हैं। आर्य युवक सभा आर्य वीर दल, आर्य वैण्ड रात्रि पाठशाला आदि संस्थायें आर्य समाज के अन्तर्गत अत्यन्त लोकोपयोगी काम कर रही हैं। पूर्वीय अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख्य कार्यालय भी इसी समाज में है।

भारतवर्ष से वहां अनेक उपदेशक जा चुके हैं और प्रायः जाते ही रहते हैं जिनमें स्वामी स्वतंत्रानन्द पं० पूर्णानन्द पं० महाराणी शंकर, पं० बालकृष्ण शर्मा, पं मणिशंकर पं० सत्यपाल सिद्धांतालंकार, आचार्य रामदेव जी महता जैमिनि जी पं० ईश्वरदत्त विद्यालंकार, पं० चमूपति जी एम० ए०, पं० बुद्ध देव जी विद्यालङ्कार, पं० सत्यव्रत जी विद्यालंकार ठाकुर प्रवीणसिंह, डाक्टर भगत राम, पं० रविदत्त, पं० माथुर शर्मा, पं० हरिशंकर विद्यार्थी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

केनिया में नैरोबी के बाद किसुमू आर्य समाज का दूसरा दर्जा है। मोम्बासा

बन्दरगाह से वहां सीधी रेलगाड़ी गई है। सन् १६१० में श्री मथुरादास जी और पं० पूर्णानन्द जी के उद्योग से इस समाज की स्थापना हुई थी। किसुमू आर्य समाज का मन्दिर लगभग पचीस हजार रुपये की लागत का है। समाज ने लगभग चालीस हजार रुपये लगाकर आर्य कन्या पाठशाला के लिये मकान बनवाया है जिस में अध्यापिकाओं के रहने के लिये भी व्यवस्था है। समाज ने "श्रद्धानन्द आर्य पथिकाश्रम" भी निर्माण कराया है जिसकी लागत लगभग सत्ताइस हजार रुपये है। इस समाज के अन्तर्गत स्त्री समाज और वाचनालय भी है।

केनिया में तीसरा उल्लेखनीय मोम्बासा का आर्य समाज है। मोम्बासा केनिया कलोनी का मुख्य बन्दरगाह है। आज से पाव सदी पहले मोम्बासा में आर्य समाज की स्थापना हुई थी। हाल ही में भव्य आर्य मन्दिर भी बन गया है। केनिया में प्रवेश और प्रचार करने वाले आर्योपदेशकों का मोम्बासा आर्य समाज ही सर्व प्रथम आगत-स्वागत करने का श्रेय प्राप्त करता है। केनिया में नकुरू आदि स्थान ऐसे हैं जहां आर्य समाज तो नहीं है किन्तु आर्य भाई अवश्य रहते हैं और भारतीय उपदेशकों से प्रचार कराते रहते हैं।

यूगाण्डा—केनिया से सटा हुआ यूगाण्डा प्रदेश है। यहां लगभग पन्द्रह हजार भारतीयों की आबादी है। इनमें कुछ व्यापार करते हैं और कुछ नौकरी। केनिया की भांति यहां भी गुजराती और पंजाबियों का बसेरा है।

यूगाण्डा प्रदेश में कम्पाला नामक एक नगर है जो व्यापार के विचार से बड़ा महत्वपूर्ण है। यहां सन् १६०८ में ही पं० पूर्णानन्दजी ने आर्य समाज की स्थापना की थी किन्तु सच्चे कार्य कर्ताओं के प्रभाव से उसका प्रभाव विलीन हो गया था। सन् १६१२ में समाज का पुनरुद्धार हुआ और नियम पूर्वक काम चलने लगा। पिछले विश्व व्यापी महा युद्ध में समाज फिर शिथिल हो गया और सन् १६२० के बाद समाज में नवजीवन आया। सन् १६२६ में कम्पाला में आर्य समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। पं० सुन्दरसिंह कालसी ने मंदिर के लिये भूमि दान में दी और उसी भूमि में पैंतीस-हजार रुपये लगाकर आर्य मंदिर बनाया गया। इस कार्य में यूगाण्डा के प्रसिद्ध व्यापारी सेठ नानजी कालीदास मेहता ने सब से अधिक आर्थिक सहायता दी थी। समाज में एक वाचनालय भी है जिस की जनता को यथेष्ट लाभ पहुंचता है।

यूगाण्डा में दूसरा आर्य समाज जिञ्जा (Jinja) में है। तीसरा आर्य समाज मबेल (Mbale) में है। इसकी स्थापना सन् १६२८ में हुई थी। समाज के आधीन एक आर्य पाठशाला भी है। यूगाण्डा प्रदेश में आर्य समाज का प्रचार और विस्तार का अधिकांश श्रेय सेठ नानजी कालीदास महता को है। वे करोड़ों की कारबार करते हैं। अपनी जन्मभूमि पोरबन्दर में वे अपने खर्च से एक आर्य कन्या गुरुकुल भी चला रहे हैं।

प्रवासी हिन्दुओं में वैदिक धर्म प्रचारार्थ नानजी भाई ने काफ़ी खर्च किया है।

आर्य समाज के प्रसिद्ध प्रचारक पं० पूर्णानन्दजी, स्वामी स्वतंत्रतानंद जी आचार्य रामदेव जी, पं० ईश्वरदत्त विद्यालंकार, पं० बालकृष्ण शर्मा, पं० मणिशंकर, डाक्टर भगतरामजी, महता जैमिनी जी, श्री हरिशंकर विद्यार्थी, ठाकुर प्रवीणसिंह, पं० सत्यपाल सिद्धान्तालङ्कार आदि ने यूगाण्डा के प्रवासी भाइयों में वैदिक धर्म का यथा समय प्रचार कर आर्यत्व का गौरव बढ़ाया है।

जंज़िबार–

मोम्बासा से बारह घण्टे में स्टीमर जंज़िबार पहुंच जाता है। यह एक छोटा सा द्वीप है जो लौंग की खेती और कारबार के कारण भारत में बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि यह द्वीप सुलतान का है तो भी शासन-सूत्र बृटिश रेज़िडेण्ट के हाथ में है। जंज़िबार छोटा द्वीप होते हुए भी व्यापार का भारी केन्द्र है। सन् १९३१ में वहां भारतीयों की संख्या १५,२४६ थी। यह एक ऐसा शहर है जो भारत का ही एक खण्ड प्रतीत होता है। इसकी बनावट और सजावट भी भारत के पुराने शहरों की अनुवर्ती है। जंज़िबार में प्रवेश करने पर नवीन आगन्तुक को यही भासित होगा कि वह अफ्रीका के नहीं प्रत्युत भारत के ही किसी कोने में विराजमान है।

यहां आर्य समाज की स्थापना सन् १९०७ में हुई थी। तत्कालीन आर्य बन्धुओं ने इसकी स्थापना में पर्याप्त परिश्रम किया था जिनमें श्री भानजी दयालजी, श्रीरावजी नानजी, श्रीगोकलदास जी, श्रीहंसराज जी प्रभृति की सेवाएं स्तुत्य हैं। इसके बाद श्री केशवलाल हरीलाल हिम्मतपुरा, सेठ केशव जी, आनन्द जी, श्री करसन पाला गढ़वी आदि आर्य भाइयों ने इस समाज की प्रगति में विशेष सहायता पहुंचाई। इस समय जंज़िबार में आर्य समाज एक लोकप्रिय संस्था है।

जिस जगह पर गुलामों का बाजार लगता था; हबशी दासों की खरीद और बिक्री होती थी, अवज्ञा करने पर उनका वध किया जाता था, ठीक उसी जमीन पर आर्य समाज मंदिर बना है; वेद की ऋचाएं पढ़ी जाती हैं; यज्ञ होते हैं; मानसिक गुलामी के विरुद्ध क्रांति की लपटें निकलती हैं और स्वतंत्रता की भावना का प्रचार होता है। जो भूमि किसी समय परवश गुलामों के आंसू और खून से भी सींची जाती थी वही भूमि आज आजादी का पैग़ाम सुना रही है। कैसा अद्भुत संयोग है। इस जमीन पर जंज़िबार के सुलतान की उदारता से ही आर्य मंदिर का निर्माण हो सका है।

जंज़िबार का आर्य-मंदिर दुमंज़िला है। प्रचारकों और अभ्यागतों के ठहरने के लिये अतिथिशाला भी है। समाज का वाचनालय भी लोकोपयोगी सिद्ध हो रहा है किन्तु समाज का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है— आर्य कन्या पाठशाला का संचालन। इसमें बिना किसी भेदभाव के सभी सम्प्रदाय की लड़कियां दाखिल हो सकती हैं और

यहां की शिक्षा प्रणाली से लाभ उठा सकती हैं। यद्यपि खोजा लोगों की अपनी अलग कन्या पाठशालाएं हैं तो भी अनेक खोजा लड़कियां इस आर्य कन्या पाठशाला में पढ़ती हैं। खोजा मुसलमानों का एक ऐसा सम्प्रदाय है जो आगाखां को अपना पैगम्बर मानता है। जंजिबार में इनकी बहुत बड़ी आबादी है और प्रायः सभी खोजे व्यापार करते हैं। आर्य समाज के प्रति इनमें विशेष विद्वेष नहीं पाया जाता। यहां से "जंजिबार वौयस" और "समाचार" नामक दो भारतीय अखबार गुजराती और अंग्रेजी में निकलते हैं और इनमें समय समय पर आर्य समाज की प्रवृति की खबरें छपा करती हैं।

भारत से जितने भी उपदेशक केनिया और यूगाण्डा में प्रचारार्थ गये उनके उपदेशों में जंजिबार निवासी वंचित नहीं रहने पाये। यहां के आर्य समाज ने आचार्य रामदेव जी, पं० ईश्वरदत्त विद्यालङ्कार, महता जैमिनि जी, पं० सत्यपाल सिद्धान्तालङ्कार, डाक्टर भगतराम, ठाकुर प्रवीणसिंह, पं० आनन्द प्रिय, पं० महाराणी शंकर, पं० हरिशंकर विद्यार्थी, पं० मणिशंकर आदि अभी प्रचारकों को समय समय पर आमंत्रित कर जनता को उनके व्याख्यानों से लाभ पहुंचाया है।

टंगेनिका--

जंजिबार के समीप ही टंगेनिका नामक प्रदेश है। पूर्वकाल में यह जर्मनी का उपनिवेश था किन्तु महायुद्ध के बाद राष्ट्र संघ ने इसका शासन-सूत्र ब्रिटिश सरकार को सौंप दिया। इस प्रदेश की राजधानी, सब से बड़ा शहर और बन्दरगाह का नाम दारस्सलाम है। टंगेनिका प्रदेश के उत्तर में केनिया और यूगाण्डा है; पश्चिम की ओर बेलजियन कांगो, रोडेसिया और न्यासालेण्ड है; पूर्व में हिन्द महासागर और दक्षिण दिशा में पोर्तुगीज पूर्व अफ्रीका है। इसका क्षेत्रफल ३६५,००० वर्ग मील है और सन् १६३१ में टंगेनिका में २३,४२२ भारतीयों की आबादी थी।

सन् १६१६ में दारस्सलाम नगर में आर्य समाज का विधिपूर्वक प्रतिष्ठान हुआ। स्वर्गस्थ श्री करसनदास द्वारकादास ने इस समाज की स्थापना और उत्तरोत्तर उन्नति में विशेष रूप से योग दिया था। यहां का समाज-मंदिर भव्य और आकर्षक है; उसके निर्माण में तीस हजार रुपये के लगभग खर्च हुए हैं। मंदिर दुमंजिल है। समाज की ओर से संचालित "देवकुंवर आर्य कन्या पाठशाला" प्रवासी आर्यों के लिये गौरव-स्तम्भ है।

टंगेनिका प्रदेश में दारस्सलाम के अतिरिक्त टबोरा और म्वांजा (Mwanza) शहर में भी आर्य समाज हैं। इनका नियमित अधिवेशन होता है और इनके द्वारा भारतीय जनता में वैदिक धर्म का निरन्तर प्रचार होता रहता है। इस प्रदेश में अनेक विद्वानों ने वैदिक धर्म का प्रचार किया है जिनमें स्वामी स्वतंत्रानंदजी, आचार्य रामदेवजी,

पं० ईश्वरदत्त विद्यालंकार, पं० सत्यपाल जी, श्रीमती शन्नोदेवी, महता जैमिनि जी, पं० आनन्द प्रिय जी, डाक्टर भगतराम जी, ठाकुर प्रवीणसिंह जी आदि मुख्य हैं।

टंगेनिका में आर्यसमाज की गौरव-वृद्धि करने में सेठ मुथरादास कालीदास मेहता का विशेष भाग है। इनकी सरलता, उदारता और दानशीलता से समाज को बहुत कुछ लाभ हुआ है। आप ही के कर-कमलों से आर्यसमाज-मंदिर की बुनियाद पड़ी थी। आपके सिवाय श्री गोविन्द जी पुरुषोत्तम, पं० शालिग्राम शर्मा, श्री उधव भाई, श्री कानजी जयराम, श्री नानूराम शर्मा आदि के सत्साहस, सदुद्योग और सेवा से दारस्सलाम में वैदिक धर्म की पताका शान से फहरा रही है।

पोर्तुगीज पूर्व अफ्रीका--

टंगेनिका की दाक्षिणीय सरहद पर पोर्तुगीज पूर्व अफ्रीका है। इस प्रदेश का क्षेत्रफल २९७,७३५ वर्ग मील है जन संख्या ४०,०६,०११ है, जिनमें ३९,६०,२६१ तो केवल मूल निवासी हवशी हैं और शेष ४५,७५० विदेशी लोग हैं। भारतीयों की तादाद ८,३०४ है जिनमें ४४८४ पोर्तुगीज भारतीय और ३८२० ब्रिटिश भारतीय हैं। पोर्तुगीज भारतीयों में कुछ तो नौकरी करते हैं और कुछ मकान आदि बनाने का स्वतंत्र धंधा। ब्रिटिश भारतीयों में कुछ थोक और फुटकर माल के व्यापारी हैं, कुछ शाक-भाजी तथा फल-फूल की फेरी करते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो नौकरी से निर्वाह करते हैं।

लगभग पौन फी सदी पहले भारतीयों ने इस प्रदेश में पहले पहल प्रवेश किया था। उन्होंने केवल शहरों और गावों में ही डेरा नहीं जमाया प्रत्युत ऐसे बीहड़ बनों में भी अपने कारबार का जाल फैलाया, जहां और किसी में जाने की हिम्मत नहीं थी। वे वहां स्थायी रूप से बसने के विचार से नहीं गये थे किन्तु धन कमाकर स्वदेश लौट आना ही उनका एक मात्र लक्ष्य था। इसलिये स्त्री-बच्चों को साथ ले जाना उनको उचित नहीं जंचा। नैतिक दृष्टि से इसका बड़ा बुरा परिणाम हुआ। अनेक प्रवासी भाइयों ने हवशी औरतों से नाजायज सम्बन्ध कर लिया। बड़े बड़े सेठ-साहुकार इस पाप-पङ्क में फंस गये, यहां तक कि जो महज नौकरी करने की गरज़ से आते थे—भारत से दो-चार साल के लिये शर्त बन्दी लिखाकर, उनके गले भी हवशी औरत मढ़ दी जाती थी। इससे सेठ को बहुत फायदा होता था। एक तो नौकर को काम-वासना की तृप्ति के लिये इधर उधर बदमाशी के फिराक में घूमने की जरूरत नहीं पड़ती थी और दूसरे थोड़े दाम में सदा के लिये एक दासी मिल जाती थी, जो घर में झाड़ू लगाती, बर्तन मांजती, कपड़े फींचती और दुकान में भी काम करती। इस प्रकार दिन भर सेठ की सेवा करती और रात में उसके नौकर की काम वासना की तृप्ति भी। इन्होंने अपने वर्णसंकर बच्चों को ईसाई और मुसलमानों को सौंपा। यह रिवाज चल पड़ा कि जहां हिन्दू के घर में वर्णसंकर बच्चा पैदा हुआ, फौरन उसका नाम मुसलमानी नाम पर धर

दिया गया और कुछ बड़े होने पर बलात् उसको मसजिद अथवा गिरजे में पहुँचा दिया गया। आज वे वर्णसंकर अपने मुसलमानी नाम के साथ हिन्दू पिता के नाम जोड़कर हिन्दुओं की अदूरदर्शिता, संकीर्णता और हृदय हीनता का खुले आम डंका पीट रहे हैं। पोर्तुगीज पूर्व अफ्रीका में सात-आठ हजार ऐसे वर्णसंकर मिलेंगे।

यद्यपि इस प्रदेश के एक ओर दक्षिणीय अफ्रीका में और दूसरी ओर ब्रिटिश पूर्वीय अफ्रीका में उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही वैदिक धर्म का प्रचार हो रहा था किंतु दुर्भाग्यवश उसके प्रभाव से यह प्रदेश सर्वथा वञ्चित रहा। यहां के कुछ प्रगतिशाली व्यक्तियों को यह स्थिति खटक रही थी। निदान सन् १९३२ में पोर्तुगीज पूर्व अफ्रीका की राजधानी लोरेन्सो मार्क्विस में भारत-समाज की स्थापना हुई और सरकारी नियमानुसार रजिस्ट्री भी होगई। भारत-समाज ने आर्यसमाज के सिद्धान्त, नियम और उद्देश्य को अपनाया। सन् १९३३ में भारत-समाज ने अपने प्रथम वार्षिकोत्सव पर मुझे आमंत्रित किया। मैंने वहां पहुंच कर आर्य-समाज पर अनेक व्याख्यान दिये; हवन-यज्ञ कराये और अनेक व्यक्तियों को यज्ञोपवीत भी पहिनाये। इसके सिवाय मैंने वर्णसंकरों की शुद्धि का भी सूत्रपात किया। लगभग एक दर्जन बच्चों को शुद्ध कर भविष्य के लिये मार्ग खोल दिया।

सन् १९३७ में मैंने वेद मंदिर का शिलान्यास किया। इस वेद मंदिर के निर्माण में पचास हजार रुपये खर्च हुए हैं। यह मंदिर अत्यन्त सुन्दर है मंदिर के अन्तर्गत भारतीय पाठशाला है जिसमें बालकों को हिन्दी, गुजराती और पोर्तुगीज भाषा की शिक्षा दी जाती है। वेद मन्दिर में पुस्तकालय और वाचनालय भी हैं। स्वयं सेवक दल और व्यायाम शाला भी इसके विशेष अङ्ग हैं।

भारत-समाज की स्थापना के बाद दक्षिण अफ्रीका जाने वाले प्रायः सभी आर्य प्रचारकों के उपदेश से यहां की जनता लाभान्वित होती रही है। भारत समाज में अब तक अनेक वर्णशंकर बच्चों की शुद्धि हो चुकी है जिनमें एक लड़की इस समय पोरबन्दर के कन्या गुरुकुल में है और एक बालक सोनगढ़ के गुरुकुल में नियमपूर्वक हवन और साप्ताहिक सत्संग होता है। वेद मंदिर में अतिथिशाला भी है।

पोर्तुगीज पूर्व अफ्रीका में तीन मुख्य शहर हैं— लोरेन्सो मार्क्विस, मोजम्बिक और बैरा। इनमें लोरेन्सो मार्क्विस के वेद मंदिर और भारत समाज का वर्णन हो चुका मोजम्बिक एक छोटे से द्वीप में बसा हुआ बहुत छोटा शहर है। वहां कुछ काठियावाड़ी व्यापारियों के सिवा सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का सर्वथा अभाव है। हां, बैरा में, जो रोडेसिया आने-जाने का मुख्य बन्दरगाह है, कुछ उत्साही प्रवासी भाइयों के उद्योग से आर्य समाज कायम हुआ और कुछ कार्य भी हुआ। परन्तु बाद को वह शिथिल होगया।

पोर्तुगीज पूर्व अफ्रीका में भारत समाज ही एक ऐसी संस्था है जो वैदिक धर्म का

सन्देश-वाहक है, आर्य संस्कृति का अग्रदूत है, नवयुग का प्रतीक है और हिन्दुओं के भविष्य का एकमात्र भरोसा है। सन् १९३३ से १९४१ तक प्रति वर्ष मैंने एक मास पोर्तु गीज पूर्व अफ्रीका में वैदिक धर्म प्रचारार्थ अर्पण किया।

बर्मा—कुछ वर्ष पूर्व ब्रह्मदेश हमारी मातृ-भूमि का राजनीतिक दृष्टिकोण से एक अङ्ग माना जाता था किन्तु बृटिश सरकार ने अपने भविष्य के विचार से उसको भारत से पृथक करना ही श्रेयस्कर समझा, अतएव बृटिश पार्लियामेण्ट के एक कानून द्वारा बर्मा एक स्वतंत्र देश बन गया। आधुनिक महायुद्ध से पहले बर्मा में भारतीयों की बहुत बड़ी संख्या थी। जबकि सुदूर दक्षिण अमेरिका और दक्षिण अफ्रीका तक आर्य समाज का पैगाम पहुँच चुका है तो बर्मा को यदि भारत से कोई अलग करता है तो वह है केवल बंगाल का उपसागर। बर्मा के मूल निवासी बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। साहित्य और प्रचारक के अभाव से उनमें वैदिक धर्म का प्रसार तो नहीं हो सका किन्तु जो भारतीय वहां जा बसे थे, उन्होंने अपने आत्मिक कल्याण और अपनी भावी पीढ़ी के उत्थान के लिये आर्य समाज की स्थापना अत्यावश्यक समझी।

अतएव बर्मा के रंगून, पेगो, मांडले, मीनवा, शीबो, हुपन, मचीना, थियाजी, मीमो, लाशू, निमटु, कल्ल और यम्बू नामक तेरह शहरों और कस्बों में आर्य समाज स्थापित हुए। इन समाजों के संगठन और एकत्रीकरण के अभिप्राय से आर्य प्रतिनिधि सभा भी कायम की गई। आर्यसमाज का नियम ब्राह्मी भाषा में अनूदित हुआ और पं० चुन्नीलाल ने सत्यार्थ प्रकाश को ब्राह्मी भाषा में उल्था करने का कार्यारंभ किया। रंगून में २ आर्य समाज मन्दिर थे और एक दयानन्द वैदिक स्कूल।

मांडले में भी शानदार आर्य समाज था। इस समाज ने जनता की स्तुत्य सेवाएं की थीं। रंगून से इसका कार्यक्षेत्र कुछ कम विस्तृत नहीं था। मांडले आर्य समाज के अधीन एक आर्य अनाथालय था। इसके सिवा हाई स्कूल, रात्रि पाठशाला और कन्या विद्यालय का संचालन भी समाज द्वारा हो रहा था।

जापान के आक्रमण और अधिकार के बाद बर्मा से भारतीयों का अस्तित्व ही लुप्त हो गया है। वहां से कोई पांच लाख से अधिक भारतीय स्वदेश भाग आये, उनका सर्वस्व नष्ट हो गया और उनके साथ ही आर्यसमाज का भी नाम निशान मिट गया।

श्याम (थाईलैण्ड)—

ब्रह्म देश की सीमा पर श्याम देश है जो आज कल थाईलैण्ड के नाम से भी प्रख्यात हो रहा है। इसका भारत से धार्मिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत पुराना है। महाभारत के पश्चात् भारतीयों के वहां जाने का इतिहास मिलता है, श्यामी आख्यायिकाओं तथा भारतीय पुराणों में भी इस सम्बन्ध का वर्णन है।

श्याम में लगभग पांच हजार भारतीय बसते हैं, उनमें कुछ तो व्यापार करते हैं

और कुछ दरबानी या मजदूरी। व्यापारियों में कुछ दूकानदार हैं और कुछ फेरी करने वाले। बिहार, युक्त प्रदेश, और पंजाब के हिन्दू और गुजरात के कुछ मुसलमान श्याम में दृष्टिगोचर होते हैं। मजदूरों में अधिकांश मद्रासी और कुछ गोरखे हैं। बैङ्कोक इस की राजधानी है। बैङ्कोक में २३ मई १६२० को आर्य समाज की स्थापना हुई।

इसकी पहली बैठक बैङ्कोक नगर के सिपिया रोड पर स्थित श्री सीताराम के घर पर हुई और उसका पहला वार्षिकोत्सव सन् १६२१ में होली के अवसर पर हुआ था। समाज मंदिर का अभाव खटक रहा था, सन् १६२२ में इस अभाव की पूर्ति के लिये अपील की गई। जनता ने इस महत्कार्य में पूर्ण योग दिया। सालभर में आर्य मन्दिर बन कर तैयार भी हो गया और सन् १६२३ में समाज का तृतीय वार्षिकोत्सव इसी नव्य भव्य मंदिर में मनाया गया।

बैङ्कोक की आम जनता में आर्य समाज का काफी प्रभाव है। युक्त प्रान्त और बिहार के पढ़े लिखे लोग अधिकतर आर्य समाज के सदस्य हैं और उनके शरीर पर खद्दर के कपड़े दृष्टिगोचर होंगे। जब राजा महेन्द्र प्रताप जी श्याम गये थे और बृटिश राजदूत की प्रेरणा से उनको देश छोड़ने का हुक्म मिला और वह भी ४८ घण्टे के अंदर। तब आर्य समाज के कार्य कर्ताओं ने ही अनेक आपदाओं को झेलते हुए भी राजा जी का शानदार स्वागत किया और उनको प्रेम पूर्वक विदाई दी।

मलाया—मलाया देश की राजधानी और मुख्य बन्दरगाह है सिंगापुर। कुछ साल पहले दरियाई दलदल और सघन बन से यह स्थान आच्छादित था किन्तु अब उसका रूप ही बदल गया है। यहां १४ साल तक तीन हजार मजदूरों ने लगातार मेहनत करके जहाजी अड्डा तैयार किया है जिसके बनने में साढ़े छब्बीस करोड़ रुपये खर्च हुए हैं, जिसमें ३३ लाख घन गज की खुदाई हुई और ८० लाख घनगज मिट्टी से दलदल भरे गये हैं। इसके बाद सिंगापुर में रेल, पार्क, मकान और बड़े बड़े कारखाने बने और यह शहर प्रसिद्ध हो गया। सन् १६२७ में यहां डाक्टर भगतरामजी सहगल के सदुद्योग से आर्य समाज की स्थापना हुई। किराये के मकान में समाज का साप्ताहिक अधिवेशन होता रहा। एक मकान आर्य मंदिर के लिये खरीदा गया था किन्तु वह ऋणमुक्त नहीं हो पाया था।

मलाया में भारतीयों की संख्या सन् १६३१ में करीब ६ लाख थी किन्तु इनमें आधिकांश मद्रासी मजदूर ही हैं। सिंगापुर आर्य समाज में विशेषतः युक्त प्रान्त और बिहार के लोग सम्मिलित रहे हैं।

मलाया में सिंगापुर के सिवा इपो और तंजुमुतान में भी आर्य समाज हैं। कोलालाम्बपुर के निकट ही इपो है। समाज-मंदिर स्टेशन के पास ही है। समाज के अधीन एक हिन्दी स्कूल भी है। इस समाज में मद्रासी भाइयों की अच्छी संख्या है। तंजुमुतान के आर्य समाज द्वारा भी जनता लाभान्वित हो रही है। मलाया भर में

केवल तीन ही आर्य समाज हैं— सिंगापुर, इपो और तंजुमुतान में।

सुमात्रा और जावा—

इस महायुद्ध से पूर्व जावा और सुमात्रा हालैण्ड की डच सरकार के अधिकार में था। अतएव इसका नाम ही 'डच ईस्ट इण्डिस' पड़ गया है। सन् १९३० में यहां भारतीयों की कुल आबादी २७,६३८ थी जिनमें १९,७०१ पुरुष और ७,९३७ स्त्रियां थीं। भारतीयों में अधिकांश व्यापारी हैं और कुछ चाय एवं कहवा के खेतों में मजदूरी करते हैं। किसी समय जावा और सुमात्रा पूर्व एशिया में बौद्ध धर्म और आर्य संस्कृति का केन्द्र था। वहां का प्राचीन साहित्य और मंदिर आज भी उस युग की याद दिला रहे हैं। किन्तु पीछे से वहां के निवासी मुसलमान हो गये।

मेदन शहर में ही अधिकांश भारतीय बसते हैं, अतएव इस नगर में आर्य समाज भी स्थापित है। राय साहब हकीम भक्तराम जी के उद्योग से वहां प्रचार कार्य होता रहता है। भारत से अनेक उपदेशक जावा और सुमात्रा का सैर-सपाटा और वहां प्रचार कर आये हैं किन्तु उनका प्रचार भारतीयों में ही सीमित रहा है।

ईराक—

पिछले महायुद्ध के बाद ईराक बृटिश सरकार के प्रभाव के अन्तर्गत एक स्वतंत्र मुसलिम राज्य बन गया है। इस प्रदेश में तीन मुख्य शहर हैं जिनका नाम बगदाद, बसरा और मोसल हैं। सन् १८५६ में अवध पर अंग्रेजों के अधिकार होने के बाद राजघराने तथा अनेक अमीर-उमरावों के परिवार ईराक में जा बसे। यद्यपि इन हिन्दुस्तानी मुसलमानों को अब पहचानना कठिन है क्योंकि उन्होंने ईराकियों के रस्मोरिवाज और रहन-सहन अख्त्यार कर लिये हैं, फिर भी वे अपनी भारतीय कौमियत को बनाये हुए हैं और अपनी मातृभूमि से उनका सम्बन्ध टूटा नहीं है। सन् १९१४ की लड़ाई के समय वहां सभी वर्ग के भारतीय फौजी काम से गये और लड़ाई के बाद बहुत से वहां स्थायी रूप से बस भी गये।

सन् १९३२ में ईराक में २,५९६ भारतीय थे जिनमें ६० प्रतिशत तो वहां के स्थायी निवासी बन गये हैं। सन् १९१९ में कुछ उत्साही आर्य पुरुषों के उद्योग से आर्य-समाज की स्थापना बगदाद नगर में हुई जिसकी सन् १९२२ में रजिस्ट्री भी हो गई। इस समय बगदाद में दो आर्यसमाज हैं। सन् १९३० में बगदाद का आर्यसमाज देहली की सार्वदेशिक सभा में सम्मिलित हो गया। आर्यसमाज में सभी आवश्यक पर्व्व मनाये जाते हैं जिसमें महिलाएं भी भाग लेती हैं।

ईराक में अनेक उपदेशक जा चुके हैं। उनके उपदेशों से समाज की शक्ति बढ़ी है। समाज के अधीन एक पुस्तकालय भी है, जिसमें वैदिक साहित्य का अच्छा संग्रह है। स्वर्गीय स्वामी मंगलानन्द जी ने पुराने ईराक में कुछ दिनों तक वैदिक धर्म

प्रचार किया था और वहीं के आर्य भाइयों की आर्थिक सहायता से अपना 'अफ्रीका-यात्रा' नामक वृहद् ग्रन्थ छपवाया था।

विदेशों में प्रचार—

विदेशों में जहां जहां आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी है और उनके द्वारा संगठित और सुचारू-रूप से प्रचार कार्य हो रहा है उन देशों का सिलसिलेवार वर्णन संक्षेप में हो चुका है किन्तु संसार में और भी अनेक ऐसे देश हैं जहां आर्योपदेशकों ने पहुंच कर प्रचार तो किया किन्तु परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण आर्यसमाज की स्थापना नहीं हो सकी और यदि कहीं समाज बना भी तो उस नक्षत्र की भांति मिट गया जो एक बार गगन में चमक कर तत्क्षण अस्त हो जाता है।

हम सिलोन (लङ्का) से ही इस प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं। सन् १६२१ में श्रीस्वामी शंकरानंद जी वहां गये थे। आपने कोलम्बो के सिवा मुनीश्वरम्, केण्डी, नवारेलिया, सीताएलिया, ट्रन्कोमाली, अनुराधपुर, जाफ्राना आदि स्थानों में पर्यटन और प्रचार किया किन्तु वहां आर्यसमाज या कोई ऐसी संस्था कायम नहीं हो सकी जो स्वामी जी के लौटने के बाद वैदिक धर्म प्रचार के काम को जारी रख सकती।

अमेरिका में स्वर्गीय पं० केशवदेव जी शास्त्री ने जिस लग्न और उत्साह से प्रचार किया था उससे आर्यजनता अपरिचित नहीं है। उन्होंने न्यूयार्क, वाशिङ्गटन, बोस्टन आदि नगरों में वैदिक धर्म पर अनेक व्याख्यान दिये थे किन्तु स्वामी विवेकानन्द जी के वेदान्त मठ की भांति शास्त्री जी वहां आर्यसमाज को स्थायी बनाने में समर्थ और सफल नहीं हो सके।

लण्डन में भी आर्यसमाज नहीं है। श्री टेकचन्दजी ने लण्डन में समाज कायम करने की कोशिश की थी परन्तु सफलता न मिली।

आर्य समाज ने विदेशों में प्रवासी भाइयों के अन्दर धर्म प्रचार, समाज सुधार और शिक्षा विस्तार का जो आश्चर्यजनक कार्य किया है उसके सामने सभी का श्रद्धा से सिर झुक जाता है किन्तु यह ध्यान से ओझल नहीं करना चाहिये कि आर्य समाज का कार्य प्रवासी भारतीयों तक ही सीमित रहा है— उससे आगे एक डग भी नहीं बढ़ सका है। विदेशों के मूल निवासियों में आर्य समाज का बिलकुल प्रचार नहीं हो सका है। मोरिशस, फिजी, नेटाल, केनिया, टंगेनिका, यूगाण्डा, जंजीवार, ट्रिनीडाड, सुरीनाम, डमरेरा, मोजम्बिक आदि उपनिवेशों में सैकड़ों आर्य समाज कायम हो चुके हैं और दिन पर दिन उसका क्षेत्र और प्रभाव बढ़ता जाता है किन्तु इनमें एक भी ऐसा समाज नहीं है जिसका वहां के मूल निवासियों से सम्बन्ध हो।

सार्वदेशिक सभा को विदेशों में आर्य समाज के प्रचार की ठोस योजना बनानी चाहिये।

टिप्पणी— स्वामी जी का विस्तृत लेख स्थानाभाव से पूर्ण न दिया जा सका। —सम्पादक

अन्तर्जातीय विवाह और आर्य मैरिज ऐक्ट

(लेखक : श्री रघुनाथ प्रसाद जी पाठक)

अन्तर्जातीय विवाहों को आर्य समाज इसलिये प्रोत्साहित करता है कि जन्म की जात पांत की दीवारों को उनके अगणित अभिशापों के साथ छिन्न भिन्न करके वैदिक वर्ण व्यवस्था की स्थापना की जाये और समाज को अपनी स्वाभाविक स्थिति में गति करने दिया जाये। आर्य समाज के इस सिद्धान्त का अर्थ विघातक नहीं है जैसा कि आर्य समाज के विरोधी समझते हैं वरन् रचनात्मक है। विवाह पर समाज का कल्याण और उसकी स्वाभाविकता बहुत कुछ आश्रित है। विवाह का मुख्यतम उद्देश्य समाज को उत्तम सन्तान देना है। इसके लिये आवश्यक है कि योग्य लड़के और लड़कियों में विवाह हों जिनमें गुण, कर्म और स्वभाव इत्यादि की समता हो तथा वे उत्तम कुलों के हों। यह तभी सम्भव है जब विवाह का क्षेत्र विस्तृत हो और समाज का विकाल गुण कर्म, स्वभाव पर आश्रित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के विभाजन पर हो।

वर्तमान ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि वर्ण जन्म की जात-पांत पर आश्रित हैं और इसलिये कृत्रिम हैं। अपने अपने वर्णों में विवाह करने की प्रवृत्ति से आर्थिक, सामाजिक तथा अन्यान्य कई प्रकार की हानियां हो रही हैं। योग्यों का अयोग्यों के साथ विवाह हो रहा है। इतना ही नहीं वरन् इस प्रवृत्ति की वजह से उनका भी विवाह हो रहा है जो विवाह के कतई अधिकारी नहीं हैं। परिणाम यह है कि अयोग्य सन्तानों, मूर्खों, नपुंसकों, वैश्याओं, पागलों, आदि की संख्या बढ़ रही है।

जन्म की जातपांत के कारण विवाह के संकुचित क्षेत्र में एक दूसरी कठिनाई सामने आती है। योग्य लड़कों और लड़कियों के संरक्षकों को धन लूटने का अमोघ अवसर प्राप्त हो जाता है। कुछ जातियों में लड़कियों की तुलना में लड़कों की संख्या अधिक है, दूसरी जातियों में लड़कियों की संख्या अधिक है। इस प्रकार मांग और उसकी पूर्ति का नियम क्रिया में आरहा है। इसलिये हम देखते हैं कुछ जातियों में— आम तौर पर ऊंची जातियों में— लड़कों के अभिभावक लड़कियों के अभिभावकों से इतना अधिक पैसा मांगते हैं कि लड़की की शादी ही होना कठिन होजाती है। दूसरी जातियों में आम तौर पर नीची जातियों में लड़के के अभिभावकों से लड़की के अभिभावक पैसा लिया करते हैं। परिणाम यह है कि बड़ी बड़ी उम्र के लड़के और लड़कियां बिन ब्याहे बैठे रहते हैं और इस प्रकार बैठने के दुष्परिणाम प्रत्यक्ष ही हैं। यह कठिनाई तभी दूर हो सकती है जब विवाह का क्षेत्र विस्तृत हो जाये और यह अन्तर्जातीय विवाहों से ही हो सकता है।

एक ही वर्ण में विवाह करने का एक और दुष्परिणाम है जिसे हम सहज ही नहीं जान सकते हैं। यह गम्भीर अध्ययन और समझ का विषय है। वैज्ञानिकों की

स्थापना है कि एक ही जाति या उपजाति में यदि दीर्घ काल तक विवाह होते रहें तो एक ही रक्त के दौरे से सन्तानों के शरीर और दिमाग का विकास स्थिर हो जाता है। उनमें नये रक्त के न आने से नूतनता नहीं आती और कालान्तर में समाज के विकास का स्रोत कुंठित होकर उसका विनाश हो जाता है। यह बिषय सम्यक विचार की अपेक्षा रखता है और अधिक विस्तार चाहता है। इस समय हम केवल संकेत ही किये देते हैं। इस बात को उन लोगों को विशेष रूप से नोट करना चाहिये जो यह कहते हैं कि जब अपने वर्ण में ही योग्य जोड़ मिल जाये तो क्यों अन्य वर्ण में शादी की जाये।

इन सब बातों को देखते हुये आवश्यक है कि अन्तर्जातीय विवाहों को अपनाया जाये और उनका प्रचार किया जाये। इस सम्बन्ध में एक बात बहुत आवश्यक और विचारणीय है कि लड़के लड़कियों की योग्यता, रुचि, गुण, स्वभाव तथा कुल ही अंतर्जातीय विवाहों में सर्वोपरि होने चाहियें, केवल जन्म की जात-पांत को तोड़ने का ही एक मात्र भाव सर्वोपरि नहीं होना चाहिये अन्यथा लाभ के बदले हानि ही होगी। साथ ही अन्तर्जातीय विवाह आर्य मैरिज एक्ट की स्पिरिट में ही होने चाहिये जिसका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार दिया जाता है। सिविल मैरिज एक्ट या उससे मिलते जुलते एक्ट की स्प्रिट में नहीं जो हमें हमारे शास्त्रों और धर्म और आदर्शों से विमुख करते हैं।

आर्य विवाह एक्ट १९३७ में पास हुआ था। वह इस प्रकार है।

यह कानून असेम्बली तथा कौन्सिल आफ स्टेट में अन्तिम रूप से पास हो चुका है और गवर्नर जनरल द्वारा स्वीकृति भी हो चुकी है।

आर्य समाज में प्रचलित अन्तर्जातीय विवाहों का जायज होना स्वीकार करने और तत्सम्बन्धी शंकाओं को दूर करने के लिये।

चूंकि हिन्दुओं के आर्य समाजी नायक वर्ग के अन्तर्जातीय विवाह का जायज होना स्वीकार करने और तत्सम्बंधी शंकाओं को दूर करने की जरूरत है इसलिये इसके जरिये नीचे लिखे मुताबिक कानून बनाया जाता है।

छोटा नाम और विस्तार।

१ (क) यह कानून आर्य विवाह जायज बनाने वाला एक्ट सन् १९३७ कहलायेगा।

(ख) यह एक्ट तमाम ब्रिटिश हिन्दुस्तान में जिसमें ब्रिटिश ब्लूचिस्तान और संथाल परगने भी शामिल हैं लागू होगा और हिन्दुस्तान के अन्य भागों में सम्राट की समस्त प्रजा और ब्रिटिश हिन्दुस्तान के बाहर और उस पार की समस्त हिन्दुस्तानी प्रजा पर भी लागू होगा।

आर्य समाजियों का विवाह नाजायज नहीं होगा।

२ बावजूद हिन्दू रीति वा रिवाज के किसी विरुद्ध विधान के, हिन्दू कानून या रीति रिवाज में कोई विधान इसके विरुद्ध रहते हुये, विवाह के समय आर्य समाजी कहने वाले व्यक्तियों के बीच का कोई भी विवाह चाहे वह विवाह सम्बन्ध इस एक्ट

के लागू होने के पूर्व हुआ हो या तत्पश्चात हुआ हो केवल इसी बात के कारण कि वे लोग किसी समय हिन्दू समाज के भिन्न भिन्न जाति या भिन्न भिन्न उपजाति के थे या कि उनमें से कोई एक या दोनों ही विवाह के पूर्व किसी समय हिन्दू धर्म के सिवाय किसी अन्य धर्म के थे नाजायज नहीं होगा या कभी भी नाजायज था, रहा हो, ऐसा नहीं माना जावेगा।

इस एक्ट के अनुसार विवाह के समय वर और बधू का आर्य समाजी होना आवश्यक है यदि विवाह के समय दोनों ही आर्यसमाजी न होंगे तो उनका विवाह वैध न होगा विवाह के पहले किसी निश्चित अवधि तक उनका आर्यसमाजी रहना आवश्यक नहीं

अब प्रश्न होता है कि आर्य समाजी कौन हैं। कोई भी व्यक्ति जो इस कानून के उद्देश्य के लिये अपने को आर्य समाजी उद्घोषित करता है वह आर्य समाजी है। प्रमाण और रिकार्ड के लिये आर्य समाजों को ऐसे विवाहों का एक रजिस्टर खोलना कदाचित आवश्यक हो जिसमें इस प्रकार के समस्त विवाह अंकित हुआ करें।

यह केवल प्रमाण के लिये वांछनीय है। विवाह के कानूनी रूप से जायज होने के लिये इसकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है। संदिग्ध मामलों में यह सदैव अच्छा होगा कि विवाह से पूर्व विवाह करने वाले पुरुष और स्त्री इस बात की स्पष्ट घोषणा करदें कि हम आर्य समाजी हैं। ऐसी घोषणा को स्थिर बनाने के लिये यह ठीक होगा कि यह लिखित हो और किसी दस्तावेज या कार्यवाही पुस्तक में लिखदी जाये।

इस ऐक्टसे केवल अन्तर्जातीय वा अन्तर-उपजाति विवाह ही जायज होते हैं यही नहीं वरन् शुद्धि के विवाह भी जायज होते हैं। यदि वर और वधू में से कोई एक अथवा दोनों विवाह से पहले हिन्दू न थे और यदि विवाह से पहले किसी समय हिन्दू धर्म स्वीकार करके वे आर्य समाजी बन गये थे तब इस कानून से उन विवाहों की भी रक्षा होगी। यह ध्यान रखना चाहिए कि शुद्धि विवाह से पहले होनी चाहिए न कि बाद में।

१६३६ के नये कानून के अनुसार जो कि काजमी ऐक्ट कहलाता है किसी मुसलमान स्त्री के धर्म परिवर्तन करने पर उसका मुसलमान पति से विवाह रद्द नहीं होता जैसा कि इस कानून के बनने से पहले कानून था। अब नये ऐक्ट के अनुसार विवाहित मुस्लिम स्त्री को डिस्ट्रिक्ट जज के यहां प्रार्थनापत्र देना होगा। वह जज मुसलमानों के शरीअत कानून के द्वारा स्वीकृत किसी आधार कारण पर विवाह विच्छेद की आज्ञा दे सकता है।

इस कानून से पर्याप्त लाभ उठाया जाने लगा है परन्तु शिकायतें भी आई हैं कि एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरे विवाहों को वैध बनाने के उद्देश्य से लोग इस कानून की शरण लेने लग गये हैं और इस रीति से इस कानून का दुरुपयोग होने लग गया है। इसको रोकने के लिये समुचित यत्न होना चाहिए और इसमें ऐसा सशोधन होना चाहिए कि इसके अधीन कोई व्यक्ति एक पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह न कर सके।

आर्य समाज के इतिहास पर एक दृष्टि

ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव—

(१) संसार में महान पुरुषों और सुधार के जन्म का कारण तत्कालीन परिस्थिति हुआ करती है। यदि भारत में शूद्र और पशुओं पर अत्याचार न होते, लाखों पशु वेदों के नाम पर वध करके उनके रक्त और मांस से यज्ञकुंड अपवित्र न किये जाते, शूद्र यदि शिक्षा और साधारण से साधारण सामाजिक अधिकारों से वंचित न किये जाते तो सभव न था कि गौतम बुद्ध का आविर्भाव होता। देश में नास्तिकता का वायुमंडल उत्पन्न न हो जाता तो संभव न था कि शंकराचार्य आदि महापुरुषों का प्रादुर्भाव होता। ऋषि दयानन्द के आविर्भाव होने का कारण भी तत्कालीन परिस्थिति ही थी।

वेद के नाम से देशवासी परिचित तो थे परन्तु वे हैं क्या, उनकी शिक्षा क्या है, इस बात से सर्वथा अनभिज्ञ थे। यही सबब हुआ कि एक पोर्चगीज पादरी, वेद के नाम से ईसाई मत की शिक्षा देकर, मद्रास प्रान्त में सैंकड़ों लोगों को ईसाई बनाने में सफल हुआ।*

(२) देश में वैदिक सभ्यता का मान घट रहा था और उसका स्थान, अनेक उत्पातों की मूल, पश्चिमी सभ्यता ले रही थी। प्राचीन संस्कृत साहित्य निकम्मा और वेद गडरियों के गीत समझे जाने लगे थे। देशवासी आंखें बन्द करके अंगरेजी साहित्य, अंगरेजी रहन सहन पर मोहित होकर पश्चिमी लोगों के पीछे चलने में गौरव मानने लगे थे। भारत के अनेक स्थानों में, किसी से अथर्ववेद के पढ़ने की बात कहना, गाली समझी जाने लगी थी।

(३) मातृ भाषा हिन्दी और धार्मिक भाषा संस्कृत का पढ़ना फैशन के विरुद्ध था और हिन्दी गंदी कहलाने लगी थी। विदेशी भाषायें उसका स्थान लेने लगी थीं।

(४) बाल विवाह आदि कुरीतियों के प्रचलित और ब्रह्मचर्य के लोप होने से देशवासियों विशेष कर हिन्दुओं में शारीरिक बल का ह्रास हो रहा था और इसीलिये साथ रहने वाली जातियों की अपेक्षा हिन्दु जाति निर्बल समझी जाने लगी थी और इसीलिये उसे समय समय पर अपमानित होना पड़ता था।

[इस पोर्चगीज पादरी का नाम रोबर्टी डि नोवली (Roberto de noble) था। वह यहां के लोगों को ईसाई बनाने के विचार से १६०६ ई० में मदूरा आया था। उसने संस्कृत सीखने के बाद एक वेद गढ़ा जिसका नाम यजुर्वेद रक्खा था। इसमें ईसाई धर्म की शिक्षा संस्कृत वाक्यों में अंकित थी। नोवली का गढ़ा हुआ यह वेद, पैरिस के अद्भुतालय से संबद्धि पुस्तकालय में अब भी मौजूद है।]

(५) कर्म की निरादरता का भाव, मतमतान्तरों की कुशिक्षा से हिन्दू जाति में प्रचलित हो जाने से, सर्व साधारण की आर्थिक अवस्था खराब हो चली थी और अनेक लोग भूखे रहने और भूख से मरने लगे थे। अनाथ और विधवाओं की संख्या नित्य प्रति बढ़ती जाती थी। उनकी रक्षा का प्रबन्ध न होने से उन्हें विधर्मी बनना पड़ता था।

(६) बाल विवाह का एक दूसरा दुष्परिणाम यह था कि जाति में बाल विधवाओं की संख्या नित्य प्रति बढ़ती जाती थी। अनेक विधवायें एक एक दो दो वर्षकी आयु वाली थीं। विधवा विवाह के प्रचलित न होने से भ्रूण हत्या, गर्भपात, नवजात बालक वध आदि अनेक पातक थे जो हिन्दु जाति के लिये कलंक का टीका बन रहे थे।

(७) जन्म की जाति प्रचलित होने और खानपान में छूतछात की मात्रा बढ़ जाने से पारस्परिक मेल और संगठन नष्ट होकर, ऊंच नीच और घृणा का भाव हिन्दुओं में बढ़ता चला जा रहा था।

(८) शूद्र और दलित जातियों के साथ अपने को उच्च कहने वाली जातियों का व्यवहार अत्यन्त आक्षेप के योग्य था और दलितों के लिये तो वह असह्य ही था। इसी लिये उससे तंग आकर अनेक दलित विधर्मी हो रहे।

(९) स्त्रियों का मान बहुत घट चुका और नित्य प्रति घट रहा था। उन्हें शिक्षा पाने का अधिकार नहीं था। मनुष्यत्व के भी अनेक अधिकारों से वे वंचित रक्खी जाती थीं। उन्हें शंकराचार्य जैसे विद्वान् ने एक ओर नरक का द्वार बतया* तो दूसरी ओर तुलसीदास जी ने "ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥" का ढोल पीटा।

(१०) हिन्दु जाति ईश्वर से विमुख हो रही थी। ईश्वर की उपासना को भुलाकर, उसका स्थान अपने हाथ से गढ़ी हुई धात और पत्थरकी मूर्तियों को दे रक्खा था। इन्हीं मूर्तियों की पूजा होती थी। एक ईश्वर मानने की जगह ३३ करोड़ देवता माने जाने लगे थे। और इतने पर भी बस न था। इन ३३ करोड़ की संख्या में मियां मसानी आदि अनेकों की वृद्धि हो रही थी।

ऋषि दयानन्द को इसका ज्ञान कैसे हुआ—

ऋषि दयानन्द जब एक बालक मूल जी दयाराम के रूप में अपने औदीच्य ब्राह्मणों के शैव घराने में, मोरवी राज्यान्तर्गत टंकारा ग्राम में थे और उनकी आयु १४ वर्ष की थी तब उन्हें उनके पिता कर्षन जी तिवारी ने, शिवरात्रि का व्रत रखने के

---

* श्री शंकराचार्य ने प्रश्नोत्तरी नामी एक लघु पुस्तिका में इस प्रश्न का उत्तर कि नरकस्य द्वारं किम्? "नारीय" दिया है और भी इसी प्रकार के अनेक स्त्रियों के लिये अपमान् जनक प्रश्नोत्तर उस पुस्तका में अंकित हैं।

लिये वाधित किया। उन्होंने व्रत रक्खा। रात्रि में जब वे और उनके पिता आदि सब शिव मन्दिर में थे तब पूजा करने और चढ़ावा चढ़ाने के बाद, ये सब शिव की आराधना करने के विचार से, शिव की मूर्ति के सामने बैठे थे। बालक मूल जी दयाराम को छोड़कर प्रायः सभी औंघने लगे। इस बीच में एक चूहा आया जो अच्छी तरह जानता था कि यह शिव की मूर्ति चेतना शून्य और जड़ वस्तु है, इसीलिये निर्भीकता के साथ मूर्ति के ऊपर इधर उधर घूमकर, मजे से चढ़ावे की वस्तुएं चखने लगा, बालक इस घटना को देखकर चकित होगया कि यह कैसा शिव है जो चूहे से भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता। बालक ने पिता को जगाकर अपना संदेह प्रकट कर दिया किन्तु उत्तर डाट डपट के सिवा कुछ नहीं मिला। इस घटना ने बालक मूल जी दयाराम की आंखें खोल दीं और देवी देवता की पूजा के नाम से जो ईश्वरोपासना की मिट्टी पलीद की जा रही थी, उसका उन्हें पूरा ज्ञान हो गया। सर सय्यद अहमद ने इस घटना का उल्लेख करते हुये लिखा है कि यदि यह इलहाम नहीं था तो क्या था? अस्तु: मूल जी दयाराम ने दयानन्द बनकर असली शिव की खोज के लिये घर बार छोड़कर जंगल की राह ली और वर्षों तपस्या और और योगाभ्यास में व्यतीत किये।

अठारह घंटे की समाधि लगा लेने, ब्रह्मचर्य और तप से अपने शरीर को, फौलाद की तरह दृढ़ बना लेने के बाद, ऋषि दयानन्द अपने अन्तिम गुरु श्री विरजानन्द की सेवा में मथुरा पहुंचते हैं। तीन वर्ष तक इस अद्भुत गुरु के चरणों में बैठकर, वे अष्टाध्यायी, महाभाष्य की शिक्षा पाते, अनेक ऋषि प्रणीत ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त करते हुये, सबसे बड़ी वस्तु वेदार्थ करने की कुंजी प्राप्त करते हैं, यहां उनकी शिक्षा और दीक्षा समाप्त होती है।

गुरु दीक्षा और कार्य क्षेत्र में प्रवेश--

शिक्षा और दीक्षा समाप्त होगई सही परन्तु ऋषि दयानन्द का इस अन्तिम गुरु से छुटकारा पा लेना कोई सुगम कार्य न था। इसने दयानन्द से वचन ले लिया कि वे अपना अवशिष्ट सारा जीवन वेद प्रचार, मानव जाति के उद्धार, पाखंड खंडन और प्राचीन आर्य सभ्यता के विस्तार में लगावेंगे। ऋषि दयानन्द इस प्रकार वचन बद्ध होकर कार्य क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं। मथुरा छोड़कर अनेक स्थानों पर प्रचार, शंका समाधान और शास्त्रार्थ करते हुये, वे हरिद्वार पहुँचे। वह कुंभ के मेले का अवसर था। उन्होंने यहीं डेरा लगाकर प्रचार कार्य प्रारंभ किया।

पाखंड खंडनी पताका-

उनके शिविर की विशेषता यह थी कि वहां पताका लगाई गई थी जिस पर पाखंड खंडनी पताका अंकित था। उन्होंने दो मास तक जब तक कुंभ का मेला समाप्त नहीं हो गया, अपना प्रचार जारी रक्खा और बराबर नर नारियों को वैदिक शिक्षा के ग्रहण करने का उपदेश देते रहे। मेला समाप्त होने पर, उनके हृदय में एक विचार आया कि

उनके उपदेशों का जितना चाहिये था उतना प्रभाव नहीं हुआ। कारण अंतरात्मा ने यह बतलाया कि अभी तपस्या की कमी है। अंतरात्मा के इस आदेश के सम्मुख शिर झुकाते हुये, मेले की समाप्ति पर उन्होंने सर्वमेध यज्ञ किया। उनके पास जितनी भी वस्तुयें थीं, एक एक करके दे डालीं केवल एक लंगोटी अपने शरीर पर रक्खी। इस प्रकार गंगा के तट के साथ भ्रमण करते हुये प्रचार करते रहे।

एक अद्भुत दृश्य--

कर्णवास के निकट गंगा तट की विस्तृत रेती है। रात्रि का समय है, चांदनी खिल रही है, शीत ऋतु अपना प्रभाव रेती पर डाल रही है। उसी रेती पर एक नग्न शरीर, केवल कौपीनधारी आदित्य ब्रह्मचारी लेटा हुआ, प्रभु के महान् यश को, आंखें पसार पसार कर देख रहा है। हृदय मग्न है, चित्त प्रफुल्लित है, मन आल्हादित हो रहा है। ऋषि दयानन्द के द्वंद्व से रहित स्वच्छ हृदय में कोई चिन्ता है तो आर्य जाति के भविष्य की, कोई सोच है तो गिरे हुये भारत के उठाने का, कोई कामना है तो वेद प्रचार की।

धन्य है वैदिक सभ्यता की प्रसार कर्त्री भारत भूमि! तेरे सिवा किसमें सामर्थ्य है कि दयानन्द जैसा पुत्र उत्पन्न कर सके? तेरे सिवा किसमें शक्ति है कि ऐसा निष्काम तपस्वी वीर पैदा कर सके? इस प्रकार तपस्या के धन से धनी बनकर ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज की बुनियाद डालने और उसके विस्तार करने का निश्चय किया।

आर्य समाज का प्रारंभ-

ऋषि दयानन्द ने यद्यपि सबसे पहला समाज राजकोट में स्थापित किया था परंतु वह उस समय उन्नत न कर सका इसलिये उसके बाद का स्थापित किया हुआ बम्बई का आर्य समाज ही पहला आर्य समाज समझा और माना जाने लगा। आर्य समाज बम्बई ऋषि दयानन्द ने चैत्र सुदी ५ सं० १९३२ विक्रमी तदनुसार १० अप्रैल सन् १८७५ ई० को स्थापित किया था। उस समय उसके २८ नियम बनाये गये।

पंजाब प्रान्त--

मु० कन्हैयालाल अलखधारी लुधियाना निवासी के द्वारा पंजाब निवासियों ने ऋषि दयानन्द का नाम सुना। अलखधारी जी ने अपने कुल्लियात में एक जगह लिखा है कि "जो हिन्दु अपने आपको प्राचीन शास्त्रों का भक्त रखना चाहते हैं वे अगर किसी को गुरु बनाना चाहें या किसी से किसी शंका के समाधान के इच्छुक हों या किसी से उपदेश ग्रहण करना चाहें या किसी की वक्तृता सुनना चाहें तो वह केवल दयानन्द सरस्वती हैं।" इस को सुनकर पं० लेखराम जी ऋषि के दर्शनार्थ अजमेर गये और उन से शिक्षा ग्रहण की। राजा विक्रमसिंह और सरदार सुचेनसिंह जलंधर ने, देहली में ऋषि दयानन्द को पंजाब में पदार्पण करने का निमन्त्रण दिया था।

ऋषि दयानन्द १९ मार्च १८७७ ई० को, अलखधारी के नगर लुधियाना में आये।

यहां एक ईसाई अध्यापक की शुद्धि करके वे १६ अप्रैल को लाहौर पहुँचे। यहां अनेक उपदेशों के बाद २४ जून १८७७ ई० को, पंजाब में पहला आर्यसमाज स्थाति हुआ। बम्बई के बनाये नियमों में नियम और उपनियम दोनों शामिल थे। लाहौर में इन्हें प्रथक करके आर्यसमाज के प्रचलित १० नियम बनाये गये।

प्रचलित उपनियमों की धारा ३ फुट नोट में इस प्रकार अंकित है :—

"आर्यसमाज में नाम लिखाने के लिये मंत्री के पास इस प्रकार का पत्र लिखना चाहिये कि मैं प्रसन्नतापूर्वक आर्यसमाज के उद्देश्यों को, जैसा कि नियमों में वर्णन किये गये हैं तथा मन्तव्यों को, जो वेदों के आधार पर ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में लिखे गये हैं, मानता और उनके अनुकूल आचरण करना स्वीकार करता हूं। मेरा नाम आर्यसमाज में लिख लेवें।" यह उपनियम जो समस्त आर्यसमाजों का स्वीकार किया हुआ है, स्पष्ट रीति से नियमों के साथ मन्तव्यों का मानना आवश्यक और अनिवार्य ठहराता है।

लाहौर के सिवाय अन्य आर्य समाज—

ऋषि दयानन्द ने लाहौर के बाद अमृतसर, गुरुदासपुर, फ़िरोजपुर, रावलपिंडी, जेहलम, गुजरात, गुजरानवाला और मुलतान में समाज स्थापित किये थे।

आर्य प्रतिनिधि सभा—

उनकी मृत्यु के बाद प्रांतिक संगठन बनाने के उद्देश्य से १८८५ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की स्थापना हुई। प्रशंसित सभा ने वेद प्रचार के उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपना काम बड़े उत्साह से प्रारम्भ किया। प्रारम्भिक कठिनाइयों के दूर करने के बाद १६६७ वै० में सभा की स्थिति इस प्रकार थी :—

१-इस सभा के आधीन ७०० आर्यससाज हैं। इनमें से ५०० अच्छी अवस्था में हैं। इनमें से २०६ आर्यसमाजों के ३५१ प्रतिनिधि इस वर्ष सभा में सम्मिलित रहे।

२-आर्य विद्या सभा— इस सभा के आधीन गुरुकुल कांगड़ी और कन्या गुरुकुल देहरादून आदि आदि संस्थायें हैं।

३-पंजाब शिक्षा समिति—१० हाई स्कूल, ४२ मिडिल स्कूल, ४८ प्राइमरी स्कूल तथा ६ अन्य संस्थायें इस समिति से सम्बिन्धित हैं।

४-सभा का वर्तमान कोष २५ लाख रुपये का है जिसमें से १६ लाख गुरुकुल की सम्पति और ६ लाख वेद प्रचार का धन है।

५-४१ वैतनिक उपदेशक तथा २७ भजनीक हैं। इनके सिवा ५० अवैतनिक उपदेशक तथा संन्यासी सभा के आधीन रहकर काम करते हैं।

६-पंजाब वैदिक पुस्तकालय—इस में १६४८३ पुस्तक अनेक भाषाओं की हैं।

७-आर्य विश्रामशाला। ६०० व्यक्तियों ने इस वर्ष विश्राम किया।

८-श्री चमूपति साहित्य विभाग— इस वर्ष ५ ग्रन्थ और ५ ट्रैक्ट छपवाकर

प्रकाशित किये।

९–श्री दीवानचंद स्मारक संस्थायें सैदपुर— सैदपुर ग्राम में स्वर्गीय दीवानचंद के दान से, औषधालय, पाठशाला आदि चल रहे हैं। औषधालय से इस वर्ष २१११३० रोगियों ने लाभ उठाया और ४३४ आपरेशन हुये।

१०–दयानन्द दलितोद्धार सभा– इस सभा की ओर से १६ प्रचारक भिन्न २ स्थानों में दलितों में काम करते हैं। ७ पाठशालाएं हैं जिनमें २६० बालक पढ़ते हैं। २५ दलित बालक, गुरुदत्तभवन की दरजी श्रेणी में, सीना पिरोना सीखते हैं।

११–दयानन्द मथुरादास कौलिज मोगा, डी० ए० वी० हाई स्कूल मिन्टगौमरी, तथा गुरुकुल वेट सोहनी भी सभा से सम्बन्धित संस्थायें हैं।

१२-सभा का मुख्य कार्यालय गुरुदत्त भवन लाहौर में है। जिस में ६ व्यक्ति काम करते हैं। आर्य नामक साप्ताहिक पत्र हिन्दी में यहीं से प्रकाशित होता है।

१३–दयानंद उपदेशक विद्यालय– यह संस्था भी गुरुदत्त भवन में है इसमें ३५ विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं।

१४–आर्य विद्यार्थी आश्रम—यह भी गुरुदत्त भवन की इमारतों में है। ६० विद्यार्थी इस में रहते हैं।

१५–न्याय सभा– इस सभा की ओर से, झगड़ों के मिटाने तथा निर्णय करने के लिये एक न्यायसभा है।

१६-दयानन्द सेवा सदन– इस सदन के इस वर्ष ३ सदस्य थे।

प्रादेशिक सभा

पंजाब के आर्य समाज दो केम्पों में विभक्त हैं एक को गुरुकुल विभाग और दूसरे को कालिज विभाग कहते हैं। ऊपर जो विवरण दिया गया है वह गुरुकुल विभाग का है। कालिज विभाग की प्रान्तिक सभा का नाम प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा है। इस विभाग की ओर से डी० ए० वी० कौलिज लाहौर तथा अन्य कई कौलिज जालंधर, होशियारपुर और रावलपिंडी आदि स्थानों में हैं।

संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध

इस प्रान्त की एक मात्र प्रान्तिक सभा, जिसका नाम, आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त है २६ दिसम्बर सन् १८८६ ई० को स्थापित हुई थी। उसकी ओर से जो कार्य वेद प्रचारार्थ हो रहा है, उसका विवरण इस प्रकार है: —

(१) इसका मुख्य कार्यालय नारायण स्वामी भवन लखनऊ में है।

(२) ५८० आर्य समाजें सभा में प्रविष्ट हैं, कुछेक अप्रविष्ट भी हैं। इनके ४२० प्रतिनिधि हैं जिनमें से २१६ इस वर्ष की सभा के अधिवेशन में शरीक हुये थे।

(३) २८५ आर्य समाजों के उत्सव मनाये गये।

(४) संपत्ति—इस सभा की संपत्ति साढ़े तीन लाख रुपये की है।

(५) इस सभा की ओर से १० उपदेशक और ६ भजनीक और ४६ सज्जन अवैतनिक काम करते हैं।

(६) सभा से साक्षात् संबंधित संस्थायें :—

१–गुरुकुल वृन्दावन।

२–आर्य नगर बस्ती लखनऊ जिसमें ३३५ स्त्री-पुरुष सुधारार्थ हैं। इनसे खेती कराई जाती है। खेती के लिये पर्याप्त भूमि है। कपड़े की बुनाई भी इन्हें सिखलाई जाती है। करघे आदि आवश्यक साधन उपस्थित हैं। इन के बच्चों की शिक्षा के लिये एक प्राइमरी स्कूल खुला हुआ है।

(७) सभा से असाक्षात् संबंधित संस्थायें :—

१–गुरुकुल ज्वालापुर, सिकन्दराबाद, बिरालसी, डौरली, आर्योला, बदायूं, अयोध्या, गोरखपुर, देवरिया, हापुड़।

२–कन्या गुरुकुल, हाथरस तथा हरिद्वार।

३–दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कौलिज।

(१) कानपुर, (२) देहरादून, (३) बनारस, (४) लखनऊ (५) अनूपशहर।

४–दयानन्द ऐंग्लो वैदिक हाई स्कूल :—

(१) इलाहाबाद, (२) कानपुर, (३) लखनऊ, (४) अलीगढ़, (५) बड़ौत, (६) बरेली, (७) बुलंदशहर, (८) मुजफ्फरनगर, (६) गाजीपुर, (१०) उरई

५–आर्य ऐंग्लो वैदिक स्कूल :—

(१) आजमगढ़, (२) उझियानी, (३) सहसबान, (४) महोबा, (५) सिकन्दरपुर, (६) फ़ैजाबाद, (७) झांसी, (८) बांदा, (६) रुड़की, (१०) फरुखाबाद।

६–कन्या पाठशालायें ६४, अन्य पाठशालायें २६ तथा संस्कृत पाठशालायें ६।

७–अनाथालय :— १–आगरा, २–बरेली, ३–लखनऊ, ४–गंज मुरादाबाद, ५–शाहजहांपुर ६–आजमगढ़ ७–अलमोड़ा ८–सीतापुर ६–कालाकांकर १०–मिरजापुर ११–पडरौना १२–कोटद्वार १३–देहरादून।

८–विधवा आश्रम— १–आगरा २–बरेली ३–शाहजहांपुर ४–बनारस ५–प्रयाग ६–आजमगढ़ ७–बलिया।

६–औषधालय :— १–धनौरा २–जौनपुर ३–बिल्होर ४–कटरा प्रयाग ५–लखनऊ ६–रामपुर ७–समैसी ८–सिमौर ६–टिटौटा वीर गांव।

१०–व्यायाम शाला :— १–सिटी लखनऊ २–फतेहपुर ३–गणेशगंज लखनऊ।

११–दस्तकारी संस्थायें :— १–आर्य समाज टेलरिंग स्कूल लखनऊ

२-खुरजा डी० सी० इन्डस्ट्रीयल स्कूल।

१२-आर्य सेवक मंडल : आगरा।

(८) वेद प्रचारार्थ प्रान्त १८ मंडलों में विभक्त है। वेद प्रचार सप्ताह में ७ दिन प्रत्येक समाज में कथा होती है।

(९) शुद्धि तथा दलितोद्धार सभायें।

(१०) भगवान् दीन आर्य भास्कर प्रेस सभा की निजी सम्पत्ति है। इसकी लागत ६१४३॥।-) है।

(११) सभा का मुखपत्र आर्य मित्र साप्ताहिक हिन्दी ४४ वर्ष से चल रहा है।

(१२) झगड़ों के निर्णयार्थ सभा की एक न्याय सभा है।

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा

(१) यह सभा १८८८ ई० में स्थापित हुई थी। इसका मुख्य स्थान अजमेर है। इस सभा में २०५ आर्य समाजें प्रविष्ट हैं।

(२) संपत्ति—अजमेर नगर में सभा की भूमि और मकान हैं जिनका मूल्य तीन चार हज़ार रुपये होगा। दयानन्द सरस्वती भवन लगभग ३० हज़ार रुपये की इमारत सभा की देख रेख में है।

(३) इस सभा में ७ वैतनिक तथा ४० अवैतनिक प्रचारक हैं।

(४) इस सभा का मुखपत्र आर्य मार्तण्ड साप्ताहिक हिन्दी है।

(५) आर्य समाजों द्वारा शुद्धि और दलितोद्धार का काम होता है।

(६) सभा से संबन्धित आर्य समाजों की अनेक पाठशालायें और स्कूल हैं। गुरुकुल चित्तौड़ एक प्रबंधकर्त्री सभा के आधीन काम करता है। अजमेर, मुरार और इन्दौर में समाजों के अनाथालय हैं। वनिता आश्रम अजमेर, जयपुर इन्दौर आदि में हैं

आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार

(१) आरभ में बिहार और बंगाल की सम्मिलित सभा थी जो १८९९ ई० में स्थापित हुई थी। २८ मार्च १९२६ ई० को बिहार को इस संयुक्त सभा से प्रथक करके ८ मई १९२६ को उसकी प्रथक रजिस्ट्री कराई गई।

(२) इस सभा का मुख्य कार्यालय बांकीपुर पटना में है और १५८ आर्य समाजें इस में प्रविष्ट हैं। कार्यालय की इमारत मुनीश्वरानन्द भवन नाम से प्रसिद्ध है।

(३) इस सभा की देख रेख में निम्न संस्थायें काम करती हैं :—

(१) डी० ए० वी० कौलिज सीवान।

(२) डी० ए० वी० हाई स्कूल दानापुर, सीवान, गोपाल गंज (सारन), तथा झरिया (मानभूमि)

(३) दयानन्द हाई स्कूल मीठापुर (पटना)

(४) वेदरत्न विद्यालय मुस्तफ़ापुर (पटना)

(५) गुरुकुल वैद्यनाथ धाम (संथाल प्रगना), हरपुरजान (सारन), ब्रह्मचर्याश्रम देवघर (संथाल परगना), गपारा शाहाबाद।

(६) अनाथालय दानापुर, मूंगेर तथा मोतीहारी।

(७) प्राइमरी पाठशालायें :—संस्कृत पाठशालायें ३, आर्य कन्या पाठशालायें ८, तथा हरिजन पाठशालायें ७।

(८) वनिता आश्रमः—विहार प्रान्तीय हिन्दु वनिता आश्रम।

(९) आर्य समाजों के उत्सव प्रतिवर्ष १२५ से १५० तक होते हैं। उन सब का प्रबन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा करती है।

(१०) सभा हरिहर क्षेत्र आदि प्रान्त के बड़े बड़े मेलों में धर्म प्रचार करती है।

(११) ग्राम प्रचार द्वारा ग्रामों में आर्य समाज का संगठन हो रहा है।

(१२) संथाल, भील, उरांव, डों आदि जंगली जातियों में प्रचार का प्रबंध है। ये जातियां यहां लाखों की संख्या में हैं।

(१३) सभा की वार्षिक आय १० हजार रुपये है और लगभग इतना ही व्यय है।

(१४) सभा के वैतनिक उपदेशक ८ और अवैतनिक उपदेशक २३ हैं जिनमें दो देवियां भी हैं।

(१५) आर्य कुमार सभायें तथा आर्य वीर दल भी प्रान्त में काम करते हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यदेश व विदर्भ--

(१) यह सभा २७ दिसम्बर १८९९ ई० को नरसिंहपुर में स्थापित हुई थी इसका मुख्य कार्यालय सदर बाजार नागपुर में है। १२५ समाजें इस सभा में प्रविष्ट हैं।

(२) संपत्ति—अचल संपत्ति का मूल्य लगभग एक लाख रुपया और चल संपत्ति लगभग १० हजार के है।

(३) गुरुकुल होशंगाबाद तथा डी० ए० वी० स्कूल नागपुर सभा के आधीन हैं।

(४) चार प्रचारक सभा की ओर से काम करते हैं और ८ अन्य व्यक्ति प्रचार में सहायता देते रहते हैं।

(५) इस सभा का मुखपत्र आर्य सेवक मासिक है।

आर्य प्रतिनिधि सभा सिन्ध–

(१) यह सभा १९१९ ई० में स्थापित हुई थी। इसका मुख्य कार्यालय करांची सदर में है। ५० आर्य समाजें सभा में प्रविष्ट हैं। इस सभा के आधीन एक बाजीगर स्कूल लड़काना में है।

(२) सभा में तीन वैतनिक तथा १२ अवैतनिक प्रचारक हैं।

(३) सभा की ओर से मेला प्रचार तथा ग्राम प्रचार भी होता है।

(४) दलितोद्धार सभा तथा आर्यवीर दल भी स्थापित हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई—

(१) ३० दिसम्बर १९०२ में यह सभा स्थापित हुई थी। इसका कार्यालय आनन्द जिला खेड़ा में है। ९२ आर्य समाजें प्रविष्ट हैं।

(२) सभा की सम्पत्ति तीस हजार रुपये की है।

(३) आर्यप्रकाश प्रेस सभा का है उसकी इमारत ७१९८ रु० की है और लागत ९००० रु० की है।

(४) सभा की वार्षिक आय रु०४५३६।—) १० पाई है और इतना ही खर्चा है।

(५) बम्बई प्रदेश आर्य विद्या सभा इस सभा की ओर से स्थापित है जिसके आधीन निम्न संस्थायें हैं :—

१-बालमंदिर २-आर्य प्राथमिक पाठशाला, हाई स्कूल तथा विद्यार्थी आश्रम।

(६) सभा का मुखपत्र, 'आर्य प्रकाश' है जो गुजराती में निकलता है इसकी स्थिरनिधि १५००० रु० की है और ३७ वर्ष से निकल रहा है।

(७) इस सभा के ४ उपदेशक एक भजनीक वैतनिक तथा ७ अवैतनिक उपदेशक हैं जिनमें एक उपदेशिका भी है।

आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल व आसाम—

यह सभा १५ मार्च १९३० से स्थापित है। इसका मुख्य कार्यालय २४।२ कार्नवालिस स्ट्रीट कलकत्ता में है। इस सभा में ३०० आर्य समाजें प्रविष्ट हैं जिनके ४५० प्रतिनिधि हैं। इस सभा के आधीन आर्य विद्यालय, आर्य महाविद्यालय तथा आर्य कन्या विद्यालय भवानीपुर में हैं। इस सभा में २० उपदेशक तथा एक भजनीक है। ५० आर्य समाजों के उत्सव होते हैं। इस सभा में न्याय सभा तथा आर्य वीर दल की संस्थायें विद्यमान हैं। ग्राम प्रचार. दलितों की शुद्धि तथा पीड़ितों की सहायता के कार्य इस सभा की ओर से होते रहते हैं। एक वर्ष के दशांश की आय १०००) है।

आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद स्टेट—

यह सभा ४ अप्रैल १९३१ ई० को स्थापित हुई थी। इसका कार्यालय बेगम पेठ हैदराबाद में है। इस सभा में १९६ आर्यसमाजें प्रविष्ट हैं जिनके प्रतिनिधियों की संख्या ५५ है। इस सभा की अचल संपत्ति लगभग एक लाख रुपये की है और चल सम्पत्ति ३० हज़ार रुपये है। इस सभा का ८०००) की लागत का अपना प्रेस है तथा उसके आधीन कन्या गुरुकुल बेगम पेठ है। एक साप्ताहिक पत्र आर्य सन्देश हिन्दी में सभा की ओर से निकलता है। इस सभा में ३३ उपदेशक हैं, ५० समाजों के उत्सव हुये। अछूतों तथा विधर्मियों की शुद्धि होती रहती है। न्याय सभा तथा आर्य वीर दल स्थापित हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा मौरिशस–

१६२६ ई० में यह सभा स्थापित हुई थी, इसका कार्यालय पोर्टलूइस जैकब स्ट्रीट नं० २ में है। ३० आर्य समाजें इस सभा में प्रविष्ट हैं। इस सभा की अचल सम्पत्ति ३० हजार रुपये की है। इस सभा के ४ वैतनिक और ७ अवैतनिक उपदेशक हैं जिनमें एक देवी भी हैं। ५ कन्या पाठशाला तथा एक पुत्र पाठशाला इस सभासे संबंधित हैं। इस सभा का अपना श्रद्धानन्द प्रेस है जिसकी लागत तीन हजार है और उसका मुखपत्र आर्य वीर है जो हिन्दी और अंगरेजी में साप्ताहिक निकला करता है।

आर्य प्रतिनिधि सभा पूर्वी अफ्रीका–

यह सभा १६२० ई० में स्थापित हुई थी नैरोवी इसका हेड कार्टर है। इसकी सम्पत्ति ६ लाख शिलांग है। सम्मिलित समाजों के सभासदों की संख्या ५०० है। ६ अवैतनिक उपदेशक हैं। ४ समाजों के वार्षिकोत्सव हुये।

प्रादेशिक सभा लाहौर को छोड़कर उपरोक्त सभी प्रान्तिक सभायें सार्वदेशिक सभा में प्रविष्ट हैं। सार्वदेशिक सभा आर्य समाज के संगठन की शिरोमणि सभा है।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा–

यह १६०८ ई० में स्थापित और १६१४ में रजिस्टर्ड हुई थी। इसका मुख्य कार्यालय श्रद्धानन्द बलिदान भवन देहली है। सभा का मुखपत्र 'सार्वदेशिक' नामक हिन्दी मासिक है। इसकी सम्पति बैसाख सम्वत् २००० वै० के प्रारंभ में ३४६६३६।॥)। थीं। इसमें से २०६५००) की स्थिर निधि है। सभा की ओर से उड़ीसा में २, मद्रास प्रान्त में ४, संथालों में ३ उपदेशक काम करते हैं।

आर्य समाज की मुख्यतम सभा होने के कारण इस सभा को ऐसे समस्त काम करने पड़ते हैं जिनका साक्षात् या असाक्षात् किसी न किसी प्रकार समस्त समाजों अथवा समस्त देश पर, प्रभाव पड़ता हो। उनमें से कुछ का उल्लेख यहां किया जाता है।

श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा–

यह महोत्सव १६२५ ई० में मथुरा में हुआ था। समस्त मथुरा निवासियों की ही नहीं अपितु समस्त देश की दृष्टि में अभूतपूर्व था। विशाल आर्य नगर, जो समस्त डेम्पियर नगर और आस-पास की भूमियों, मकानों और बंगलों तथा कोठियों को लेकर बसाया गया था, १४ केम्पों में विभक्त था जिनमें एक कैम्प अफ्रीका तथा दूसरा देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर के लिये था। ३ लाख यात्री उत्सव में सम्मिलित हुये। प्रथम श्रेणी के डाक तथा तार घर, डाक विभाग को कैम्प में खोलने के लिये बाधित होना पड़ा था। पांच प्रान्तिक और एक मुख्य और विस्तृत बाजार बनाये गये थे। पांच बड़े बड़े मंडप सभाओं के लिये बनाये गये थे जिनमें एक बहुत बड़ा मंडप था जिसमें शताब्दी

कार्यालय सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा बलिदान भवन देहली

महोत्सव के मुख्य कार्य हुआ करते थे। पांच आयुर्वैदिक और तीन ऐलोपैथी के बड़े बड़े औषधालय खोले गये थे। जिनमें रोगियों के रहने का भी प्रबन्ध था। यह उत्सव सात दिन १५ से २१ फरवरी १९२५ तक होता रहा था। पांच जगह चारों वेदों से बड़े बड़े यज्ञ हुये थे। इस महोत्सव के प्रकरण में जो नगर कीर्तन हुआ था वह भी देशके इतिहास में अभूतपूर्व था। ऐसे महान् अवसर पर कुछेक ठोस कार्य भी हुये जिनका विवरण इस प्रकार है :—

(क) निश्चय हुआ कि तीनों आर्य सभायें (धर्मार्य सभा, विद्यार्य सभा तथा राज्यार्य सभा) बनाई जावें और उनके कर्तव्य इस प्रकार हों :—

धर्मार्य सभा—

१—उन सिद्धान्त मतभेदों पर, जो इस समय हों अथवा भविष्यत् में उत्पन्न हों विचार करके दूर करने के लिये प्रयत्नवान रहना। २-उन संदेहों और शंकाओं को दूर करना जो समय समय पर आर्यों में उत्पन्न हों। ३—विवादास्पद विषयों पर व्यवस्था देना।

विद्यार्य सभा—

१—संस्कृत और आर्य भाषा की पाठशालाओं की, चाहे वे पुत्रों की हों या पुत्रियों की, पाठ विधि बनाना, उनकी परीक्षा लेना और प्रमाणपत्र देना। २-शिक्षा संबंधी समस्त संस्थाओं का संगठन करना।

राज्यार्य सभा—

(क) आर्यों के राजनैतिक अधिकारों की रक्षा करना और कौंसिलों से आवश्यक कानून बनवाना।

(ख) निश्चय हुआ कि अछूतों को गायत्री मंत्र के साथ यज्ञोपवीत दिया जा सकता है

(ग) आर्य समाज में प्रवेश पद्धति हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सबके लिये एक हो।

(घ) निश्चय हुआ कि कोई भी विधुर, जिसकी आयु ४० वर्ष से अधिक न हो, इच्छा करने पर, किसी भी विधवा के साथ, आयु की समानता को दृष्टि में रखते हुये पुनर्विवाह कर सकता है।

(च) पर्व पद्धति बनाई गई जिससे प्रत्येक आर्य परिवार में, पर्व एक ही पद्धति से मनाये जावें।

(छ) सत्यार्थप्रकाश का संस्कृत अनुवाद प्रकाशित किया गया।

(ज) ऋषि दयानंद के ग्रंथों का एक शताब्दी संस्करण निकाला गया।

(झ) ओम् के झंडे के लिये निश्चय किया गया कि रंग गेरुआ और ओम् का चिह्न ॐ सूर्य के आकार के बीच में अंकित होना चाहिये।

(ट) दयानंद संवत् प्रचलित करने का आदेश देकर निश्चय किया गया कि शताब्दी महोत्सव के बाद उसकी गणना १०१ समझी जावे और उसका प्रारम्भ विक्रम संवत् के अनुसार किया जाया करे और उसी के अनुसार महीने भी हों।

(ठ) आर्य समाज के साप्ताहिक सत्संगों का क्रम निश्चय किया गया जिससे ये सत्संग, सब समाजों में एक जैसे ढंग से हुआ करें।

(ड) देशदेशांतर और द्वीपद्वीपांतर के प्रचारार्थ एक विभाग खोला गया।

(ढ) प्रकाशन विभाग की स्थापना की गई और उसकी ओर से कुछ ग्रंथ प्रकाशित भी किये गये।

(त) देश-देशांतर और द्वीप-द्वीपान्तर प्रचार के लिये धन संग्रह करके यह काम सार्वदेशिक सभा को सौंपा गया।

(थ) आर्य विवाह बिल के असेम्बली से पास कराने का निश्चय किया गया।

श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी टँकारा–

मथुरा शताब्दी सभा ने, ऋषि दयानन्द के जन्म-स्थान आदि का निश्चय करने के लिये एक डिपूटेशन काठियावाड़ भेजा। उस कमीशन की रिपोर्ट से विदित हुआ कि उनका जन्म मौरवी नहीं जैसा पं० लेखराम ने लिखा था किन्तु मौरवी राज्यान्तर्गत टंकारा नगर है जैसा देवेन्द्रनाथ मुकरजी ने निश्चय किया था और यह भी कि ऋषि दयानंद का बचपन का नाम मूलशंकर नहीं अपितु मूलजी दयाराम और उनके पिता का नाम अम्बा शंकर नहीं अपितु करसन जी त्रिपाठी था। ऐसा निश्चित होने पर बम्बई के प्रतिष्ठित पुरुषों ने जिनके अग्रगन्ता श्रीयुत विजय शंकर मूलशंकर थे, ऋषि दयानन्द के जन्म स्थान टंकारा में भी, शताब्दी का एक उत्सव करना निश्चिय किया। तदनुसार ७ से ११ फर्वरी १९२६ ई० तक यह महोत्सव टंकारा नगर में श्रीमन्त महाराज लखधीर सिंह जी मौरवी नरेश के सभापतित्व में होता रहा। काठियावाड़ के अनेक गण्य मान्य पुरुष, महाराजा साहिब श्री हमीर सिंह जी वीरपुर नरेश, श्री केसरी सिंह जी ठाकुर मोगर, दीवान रणछोर जी मौरवी राज्य, श्रीमान् मनुभा साहिब चेर आदि उपस्थित थे। आर्य समाज के गन्य मान्य सन्यासी और उपदेशक भी इस महोत्सव में सम्मिलित हुये थे। ५ दिन बराबर उत्सव की चहल पहल रही। एक विशाल नगर कीर्तन भी हुआ था। आगन्तुक नर नारियों ने ऋषि दयानंद के गृह और उस शिव मन्दिर को भी देखा जिसमें ऋषि को बोध हुआ और जहां प्रसिद्ध चूहे वाली घटना घटित हुई थी। उत्सव के दिन ही में टंकारा में आर्य समाज भी स्थापित होगया। मौरवी नरेश ने अपने भाषण में इस बात का अभिमान के साथ प्रकट किया कि ऋषि दयानंद का जन्म उनके राज्य में हुआ था। उन्होंने गर्व के साथ यह भी प्रकट किया कि उनके राज्य में, ऋषि दयानंद की शिक्षानुकूल अनेक वर्षों से गायों का वध करना निषिद्ध है। इतना ही नहीं किंतु ऋषि के

उपयोगी किसी भी प्राणि का वध यहां नहीं हो सकता। उन्होंने यह भी कहा कि इस कानून का प्रयत्न यहां बड़ी कट्टरता से किया जा रहा है।

११ फर्वरी १९२६ उत्सव के अन्तिम दिन के कार्यों में, एक कार्य यह भी था कि ऋषि दयानंद के संबंधियों तथा प्रत्यक्ष दर्शियों का परिचय कराया जावे। यहां दो व्यक्तियों का नाम लेना अनुचित न होगा।

(१) पोपटलाल—यह ऋषि दयानंद के सहोदरा भगिनी की तृतीय पीढ़ी की संतान हैं। इन्होंने टंकारा जन्म स्थान की पुष्टि करते हुये अभिमान के साथ यह भी कहा कि ऋषि दयानंद का जन्म गृह तथा उपर्युक्त शिव का प्रसिद्ध मंदिर अब भी हमारे ही घराने में है। (२) दूसरा व्यक्ति ऋषि दयानंद का बाल सखा इब्राहीम था। इसने अपनी ऋषि दयानंद के साथ की बाल क्रीड़ा की अनेक बातें सुनाईं।

सार्वदेशिक आर्य महा सम्मेलन—

यह सम्मेलन सार्वदेशिक सभा के निश्चयनुसार होना प्रारंभ हुआ। इसकी पहली बैठक देहली में, दूसरी बरेली, तीसरी अजमेर और चौथी शोलापुर में तथा पांचवीं पुनः देहली में हुई थी। सम्मेलन करने के उद्देश्य यह थे।

(१) आर्य जाति के धार्मिक तथा नागरिक अधिकारों पर होने वाले आक्रमणों के निवारण के उपाय सोचना।

(२) सरकार की धार्मिक नीति के संबंध में आर्य जाति की नीति का निर्णय।

(३) देश देशांतर और द्वीपद्वीपांतरों में आर्य संस्कृति की रक्षा तथा प्रचार के उपायों पर विचार।

देहली के सम्मेलन में रक्षा समिति तथा आर्य वीर दल की स्थापना हुई तथा स्वामी श्रद्धानंद के वध के संबंध में जो षडयंत्र था उसके पता न चलाने के संबंध में सरकार को दोषी ठहराया गया। शोलापुर के सम्मेलन में हैदराबाद सत्याग्रह करने का निश्चय किया गया था। देहली का दूसरी बार का सम्मेलन उस परिस्थिति पर विचार करने के लिये हुआ था जो सत्यार्थप्रकाश के प्रश्न पर आर्य जगत के सामने उपस्थित थी।

सत्यार्थ प्रकाश के विरुद्ध आन्दोलन—

ऋषि दयानंद की अमर कीर्ति सत्यार्थप्रकाश १८७५ ई० में राजा जयकृष्णदास द्वारा छपवाया गया था। उसका दूसरा संस्करण अनेक संशोधनों, परिवर्धनों तथा परिवर्तनों के बाद स० १८८३ ई० में छपा। इसकी प्रेस कापी स्वयं ऋषि दयानंद की शोधन की हुई थी। हिन्दी संस्करणों की ५ लाख से अधिक कापियां उसकी प्रकाशित हो चुकी हैं। इस ग्रंथ रत्न का अनुवाद बंगला, गुरमुखी, मराठी, गुजराती, तामिल, तैलगू, करनाटकी, उर्दू, संस्कृत, अंगरेजी, फ्रैंच और जर्मन आदि भाषाओं में हो चुका है।

सत्यार्थप्रकाश में महर्षि दयानंद जी महाराज ने विभिन्न मत मतान्तरों तथा धर्मों

की जो विशद आलोचना की है उससे चिढ़कर समय समय पर मुसलमानों की ओर से उसकी जब्ती के असफल प्रयत्न किये गये। अब देश की शान्ति और सुरक्षा के नाम पर भारत रक्षा विधान की आड़ लेकर सिन्ध सरकार ने सत्यार्थ प्रकाश के १४ वें समुल्लास के मुद्रण और प्रकाशन पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। इस प्रतिबन्ध को हटवाने के लिये माननीय श्री घनश्याम सिंह गुप्त की अध्यक्षता में सत्यार्थ प्रकाश रक्षा समिति का निर्माण हो चुका है। आर्य जगत् इस समय सत्यार्थ प्रकाश की रक्षा के लिये हर प्रकार का बलिदान करने को समुत्सुक हो उठा है।*

दयानन्द निर्वाण अर्ध शताब्दी अजमेर–

यह उत्सव अजमेर नगर में १४ से २० अक्तूबर १६३३ तक मनाया गया था। इस उत्सव करने का प्रस्ताव तो स्वर्गीय राजाधिराज सर नाहरसिंह जी शहापुराधीश ने किया था और परोपकारिणी सभा ने स्वीकार करके चाहा कि महोत्सव का रूप सार्वदेशिकार्य महोत्सव हो इसलिये सार्वदेशिक सभा भी इसमें सहयोग देवे तदनुसार सार्वदेशिक सभा ने प्रस्ताव को स्वीकार किया और पूरा पूरा सहयोग दिया। महोत्सव बड़ी सफलता के साथ समाप्त हुआ।

जन्म शताब्दी मथुरा की भांति इस अवसर पर भी भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त तथा उपनिवेशों से आकर आर्य जनता ने भाग लिया था। उल्लास से भरा हुआ बड़ा शानदार जुलूस, अजमेर के बाजारों में निकाला गया जो राजाभिनाय की कोठी पर, जहां ऋषि दयानन्द ने अपने नश्वर शरीर को त्यागा था, समाप्त हुआ। यहां भी नारायण स्वामी ने उस स्थान का महत्व बताते हुये वक्तृता दी थी। अनेक कार्यों के लिये १८ सम्मेलन हुये।

धर्मार्य सभा–

मथुरा जन्म शताब्दी के निश्चयानुसार धर्मार्य्य सभा का संगठन हुआ और यह सभा अब जीती जागती काम की सभा बनकर अनेक उपयोगी काम कर रही है।

आर्य विद्वत सम्मेलन–

धर्मार्य्य सभा की देखरेख में इस सम्मेलन का जन्म इसलिये हुआ कि सूक्ष्म और गलत सिद्धान्त संबंधी विषयों पर आर्य्य विद्वान प्रकाश डालते रहें। पहला सम्मेलन देहली में १६ से २८ अक्टूबर १६३२ ई० तक बड़ी सफलता के साथ समाप्त हुआ। इस सम्मेलन का समस्त व्यय, विद्वानों के मार्ग व्यय सहित, देहली के प्रसिद्ध ठेकेदार ला० ज्ञानचन्द जी आर्य्य ने दिया था। दुःख है कि इस उपयोगी सम्मेलन की बैठकें आगे न हो सकीं।

---

*सत्यार्थ प्रकाश का प्रश्न एक अत्यन्त महत्व पूर्ण प्रश्न हो रहा है। इस संबंध में एक विस्तृत लेख अन्यत्र दिया जा रहा है।

— सम्पादक

उपनियमों का संशोधन–

आर्य्य समाज के उपनियम जो ऋषि दयानन्द के समय में बने थे और जिनमें लिखा था कि वर्ष वर्ष के बाद आवश्यकतानुसार इनमें संशोधन होता रहे परंतु ५० वर्ष बीतने और संशोधन की आवश्यकता होने पर भी, इस ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया था। सार्वदेशिक सभा ने अंत में इस काम को अपने हाथ में लिया और ४ वर्ष के परिश्रम के बाद २६ जनवरी १९३५ को यह उपनियम समस्त आर्यों की एक विशेष सभा में, जो इसी उद्देश्य से बुलाई गई थी स्वीकार होकर काम में आने लगे हैं।

आर्य विवाह एक्ट–

मथुरा शताब्दी के निश्चयानुसार आर्य्य विवाह संबंधी कानून बनवाने का यत्न जारी रहा। अन्त में आनरेबिल बाबू घनश्यामसिंह M. L. A. Central के असीम परिश्रम से देश की केन्द्रीय असेम्बली से १९३७ ई० में स्वीकार होकर कानून बन गया और अब इस पर देश भर में अमल हो रहा है।

सार्वदेशिक पत्र–

इस मासिक का जन्म १९२७ ई० में हुआ था। अब यह एक उच्च कोटि का मासिक बन रहा है।

आर्य रक्षा-समिति–

इस समिति का जन्म देहली की आर्य्य कांग्रेस ने दिया था। इस समिति ने अनेक उपयोगी काम, आर्य्य वीरदल की स्थापना और नगर कीर्तनों की रुकावटें दूर करने आदि के संबंध में किये हैं, उनमें से एक काम का हम यहीं उल्लेख कर देना उपयोगी समझते हैं :

बहादुराबाद की दुर्घटना–

सहारनपुर जिले में यह बहादुराबाद है। २२ नवम्बर १९३० ई० की घटना है कि कप्तान गफ़ के सामने उसके फौजी सिपाहियों ने आर्य समाज मन्दिर में जाकर ओम् की पताका को उतार कर कुछ कागज जलाये और म० रामलाल उपमंत्री आर्य समाज को बुरी तरह से पीटा। इस मामले का बड़ा आन्दोलन हुआ। सार्वदेशिक सभा ने इस मामले को अपने हाथ में लेकर आन्दोलन में उत्तेजना पैदा की। गवर्नमेन्ट को विवश होकर समझौता करने के लिये बाधित होना पड़ा।

माफी और मुआविजा–

कमाण्डर-इन-चीफ की प्रेरणा से यू० पी० सरकार ने समझौते का काम अपने हाथ में लिया और समझौते की शर्तें न होने पर यू० पी० सरकार के १४-८-३१ के लिये राय बहादुर ठाकुर मशालसिंह द्वारा श्री म० नारायण स्वामी, पं० रास बिहारी तिवारी,

राय साहब गंगाराम, पं० रामलाल को नैनीताल में आमन्त्रित किया, दूसरी ओर से कर्नल ग्रेटन कप्तान गफ़ साहिब उपस्थित हुये। कप्तान गफ़ ने लेखबद्ध माफ़ी मांगी और २०० रु० मुआवजे के तौर पर पं० रामलाल को दिये। यू०पी० सरकार के चीफ सैक्रेट्री ने इसके बाद खद्दर का एक थैला नारायण स्वामीजी को भेंट किया इस थैले में आर्य समाज बहादुराबाद केलिये शुद्ध खादी का ओ३म् का झण्डा था जिसे महात्मा नारायण स्वामीजी ने बहादुराबाद जाकर समाज मन्दिर पर लगवाया। इस प्रकार मामला समाप्त हुआ।

हैदराबाद सत्याग्रह—

आर्य समाज की प्रगति का सिंहावलोकन अधूरा रह जायगा यदि हम यहां हैदराबाद आर्य सत्याग्रह का संक्षिप्त उल्लेख न करें। हैदराबाद (दक्षिण) की रियासत में वहां के आर्य (हिन्दुओं) के धार्मिक तथा नागरिक अधिकारों पर बहुत समय से कुठाराघात किया जा रहा था। दिन प्रतिदिन स्थिति बिगड़ती जा रही थी। पहले तो सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने सभी वैधानिक उपायों द्वारा वहां के आर्य (हिन्दुओं) के लिये इस आधारभूत अधिकारों को दिलाने के प्रयत्न किये। जब इन वैधानिक उपायों से समस्या हल न हो सकी तो आर्य समाज को सत्याग्रह का आश्रय ग्रहण करना पड़ा।

दिसम्बर १९३८ के अन्तिम सप्ताह में शोलापुर में आर्य महासम्मेलन किया गया तथा श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज की अधिनायकता में "सत्याग्रह समिति" का निर्माण किया गया। शोलापुर सम्मेलन के अवसर पर ही यह स्पष्ट कर दिया कि आर्यसमाज की मांगें साम्प्रदायिक नहीं हैं तथा ऐसी ही परिस्थिति यदि आर्यों के विरुद्ध किसी हिन्दु रियासत में पैदा होती तो भी इसी प्रकार सत्याग्रह का आश्रय लिया जाता। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया कि सत्याग्रह में पूर्ण रूप से सत्य तथा अहिंसा का पालन करना प्रत्येक सत्याग्रही के लिये आवश्यक होगा।

३० जनवरी १९३९ हैदराबाद के धर्मयुद्ध में एक स्मरणीय तिथि है जब पूज्य नारायण स्वामी जी महाराज ने सत्याग्रह के लिये प्रस्थान किया। स्वामी जी के कारावास जाने के उपरान्त निज़ाम सरकार का दमन-चक्र प्रबलता के साथ घूमा। आर्य समाज एक विकट परीक्षण में डाल दिया गया। "आर्य समाज मर गया है" ऐसी धारणा रखने वाले देशवासियों को आर्य समाज के इस युद्ध उत्तम संचालन और सब से बढ़कर आर्य समाज के संगठन की दृढ़ता को देखकर अपनी सम्मति बदलनी पड़ गई थी। सर्व साधारण हिन्दू जनता ने आर्यसमाज की विपत्ति को अपनी विपत्ति समझा, और उसके लिये हर प्रकार का त्याग किया।

अन्त में निजाम सरकार को झुकना पड़ा और २० जुलाई १९३९ ई० को सुधारों की घोषणा की गई। इसके सम्बन्ध में कुछ स्थितियों का स्पष्टीकरण होने के उपरान्त नागपुर में आर्य सार्वदेशिक सभा की अंतरंग ने निजाम सरकार की ८ अगस्त १९३९

की विज्ञप्ति को ध्यान में रखते हुए सत्याग्रह को बन्द करने की घोषणा करदी। इसके बाद १७ अगस्त १९३९ को समस्त आर्य सत्याग्रही निजाम राज्य की जेलों से मुक्त किये गये तथा सत्याग्रह सफलता पूर्वक समाप्त हुआ।

इस धर्म-युद्ध के मुख्य नायक श्री० स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी महाराज थे जो आरम्भ से अन्त तक शिविराध्यक्ष रहे। निम्न महानुभावों ने समय २ पर सत्याग्रह के सर्वाधिकारी के रूप में नेतृत्व किया :—

(१) श्री० महात्मा नारायण स्वामी जी, (२) कुंवर चांद करण जी शारदा (राजस्थान), (३) श्री० लाला खुशहाल चन्द्र (पंजाब), (४) श्री० राजगुरु पं० धुरेन्द्र शास्त्री (संयुक्त प्रांत), (५) पं० वेदव्रत (बिहार), (६) श्री० म० कृष्ण जी (पंजाब), (७) श्री० पं० ज्ञानेन्द्र जी (गुजरात) तथा श्री०विनायक राव (निज़ाम स्टेट)।

इस धर्मयुद्ध में १०५७९ सत्याग्रही जेल गये तथा ८८ वीरों ने जेल यातनाओं के कारण परलोक यात्रा की। उन हुतात्माओं की अमर नामावली ग्रन्थ में अन्यत्र दी गई है। इस धर्मयुद्ध में आर्य जगत् का लगभग ११ लाख रुपया व्यय हुआ।

ये कार्य प्रकट कर रहे हैं कि सार्वदेशिक सभा ने अपने कर्तव्यों का यथा संभव बड़ी सावधानी से पालन किया और कोई अवसर ऐसा जिससे आय समाज के यश को सदमा पहुंचा बिना कुछ किये, हाथ से जाने नहीं दिया।

उपसंहार —

आर्य समाज के विशाल इतिहास का, उपर्युक्त पृष्ठों में दिग्दर्शन मात्र कराने का यत्न किया गया है। यह बात किसी भी समझदार देशवासी से छिपी नहीं है कि आर्य समाज एक उन्नतिशील सुधारक समाज है। उसने जन्मकाल से धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी प्रकार की शिक्षायें देशवासियों को देकर उन्हें शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के पथ का पथिक बना दिया है। प्रसन्नता की बात है कि आर्यसमाज के इस सेवा कार्य की देशवासियों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की और कर रहे हैं। उसके अनाथालयों में सहस्रों असहाय बालक, बालिका और स्त्रियां आश्रय पा रही हैं। उसकी शिक्षा संस्थाओं द्वारा लाखों पुत्र और पुत्रियां शिक्षित हुये और बराबर होते रहते हैं। उसकी शिक्षा और उपदेश के बदौलत लाखों नर नारियों ने नशों का इस्तेमाल छोड़ा। बाल और वृद्ध विवाह छोड़ा, बाल विधवा विवाह ग्रहण किया। ब्रह्मचर्य के लिये लोगों के हृदयों में सम्मान का भाव पैदा किया, देशी वस्तुओं के अपनाने का भाव देश में पैदा हो गया। स्वदेशी राज्य की भी महिमा लोग समझने लगे। निदान कोई भी सुधार की लाइन ऐसी नहीं जिसमें आर्यसमाज की छाप न लगी हो। ऐसे उन्नत और प्रगतिशील समाज से प्रत्येक को लाभ उठाने का यत्न करना चाहिये और साथ ही अपना मूल्यवान सहयोग भी प्रदान करना चाहिये।

सत्यार्थ प्रकाश तथा उसके विरुद्ध प्रहार

(लेखक—साहित्यरत्न श्री धर्मवीर प्रेमी एम० ए०)

ओ३म व्यवात्ते ज्योतिरभूदप त्वत्तमो अक्रमीत ।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋ तिमप यक्ष्मं निदध्मसि ॥ अथर्व ८-१-२१

अथर्ववेद के इस मन्त्र में अंधकार के दूर होने तथा नवजीवन की ज्योति उदित होने का स्पष्ट संकेत किया गया है। वैदिक स्वाध्याय के अभ्यासी तथा वैदिक आदर्शों के अनुकूल जीवन बिताने वाले महानुभावों के अन्तर में एक अलौकिक आभा, उनके जीवन में एक ज्योति, एक जीवन-ऊषा का प्रकाश व्याप्त रहता है और उस प्रकाश में वह संसार के असत् और अंधकार से ऊपर उठकर उस ज्योति की दिव्यता के अनुभव से आनंद मग्न रहते हैं।

जिस समय तक आर्यावर्त के निवासियों का जीवन वैदिक आदर्शों के अनुकूल रहा तब तक उनका अन्तर और बाह्य सब एक महान् प्रकाश से परिपूर्ण रहा। जब यह वैदिक आदर्श हम भूल गये तो हमारा पतन भी आरम्भ हो गया। क्रमशः हम दासता के बंधन में बंधे और यह दासता सैंकड़ों वर्षों तक हमारा पल्ला पकड़े रही।

क्रांतदर्शी, युग निर्माता, आचार्य दयानंद का जिस समय आविर्भाव हुआ तो अत्यन्त शोक संतप्त हृदय से महर्षि ने उस मानसिक तथा शारीरिक दासता के बंधनों को पहचाना जिसमें परिस्थिति के वशीभूत होकर इस देश के निवासी पड़े हुये थे। महर्षि ने इस महत्वपूर्ण तथ्य को पहचाना कि इस मानसिक तथा शारीरिक दासता का कारण यही है कि अज्ञानान्धकार में डूबी हुई जनता धार्मिक अंधविश्वासों और मिथ्या धार्मिक कृत्यों के फेर में पड़ी हुई है। महर्षि ने निश्चय किया कि जब तक सम्प्रदायवाद के गढ़ को गिराकर भिन्न २ तथा परस्पर विरोधी मतमतान्तरों को नष्ट नहीं किया जायगा और गुरुडम के विरुद्ध अनथक प्रहार नहीं किये जायेंगे तब तक इस देश को मानसिक स्वतंत्रता दे सकना प्रायः असम्भव ही होगा। उन्होंने यह समझ लिया था कि सच्ची स्वतंत्रता का प्रारम्भ अपने आप स्वतंत्र रूप से विचार कर सकने के साथ होता है। अन्ततः महर्षि दयानंद ने जनता की सोई हुई विचार शक्ति को जगाने का दृढ़ निश्चय किया।

इसी निश्चय के अनुसार महर्षि ने अपने महान ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' का प्रणयन किया। फ्रेंच विचारक तथा उपन्यासकार रोम्यां रोलां ने महर्षि के इस सदुद्योग की प्रशंसा में लिखा था कि वह भारत के राष्ट्रीय संगठन तथा पुनर्निर्माण का अग्रदूत था। अमेरिका के प्रसिद्ध तत्वदर्शी एण्डरो जैक्सन डेविस ने लिखा—"आर्य समाज की भट्टी में एक आग सुलगाई गई है जिसका उद्देश्य सनातन व पुरातन आर्य धर्म को अपने स्वाभाविक

पवित्र रूप में लाना है। यह आग भारत के एक परम योगी, परमात्मा के वरद पुत्र, ऋषि दयानंद सरस्वती के हृदय में प्रगट हुई थी और एक उज्ज्वल तथा दीप्तिमय प्रकाश के साथ जल रही थी।" इस उज्ज्वल दीप्ति तथा प्रकाश से अनुप्राणित होकर महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश की रचना की। इस महान ग्रंथ ने अनेकों क्षुब्ध आत्माओं का जीवन संगी बन उन्हें मार्ग प्रदर्शन किया है। जेल-प्रवास के दिनों में अनेकों व्यक्तियों ने सत्यार्थ प्रकाश से जीवन और आत्मोन्नति के लिये प्रकाश प्राप्त किया है। यह कहा जा सकता है कि वैदिक धर्म नीति, समाज नीति, राजनीति की विशद व्याख्या करने वाला यदि कोई नवीनतम ग्रंथ लिखा गया है तो वह आर्य समाज के महान् संस्थापक महर्षि दयानंद जी महाराज की ओजस्वी लेखनी से लिखा गया, यह अनुपम ग्रंथ रत्न है।

महर्षि ने अनुभव किया कि देश का एक बहुत बड़ा भाग अपने अतीत गौरव से विमुख होकर पश्चिम के आदर्शों का अनुकरण करने लग रहा है। उन्होंने अपने क्रियात्मक जीवन से प्रगट किया कि पश्चिम की संस्कृति के रंग में अपने आपको रंग लेने के अर्थ अपने जन्मसिद्ध अधिकारों को भुला बैठना तथा मानवता के माप दण्ड से नीचे गिर जाना है, ऊपर उठना नहीं। इससे प्रेरित होकर सत्यार्थ प्रकाश में मत मतान्तरों की समीक्षा और ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना समाज के दोषों को बताने के बाद लिखा है कि—"आर्य समाज के साथ मिलकर उसके उद्देश्य के अनुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा, क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे भी होगा, उसकी उन्नति तन-मन-धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। इसलिये जैसा आर्य समाज आर्यावर्त्त देश की उन्नति का कारण है वैसा दूसरा नहीं हो सकता।" देश की इसी गिरी हुई राजनैतिक अवस्था के सम्बन्ध में महर्षि ने कितने दुःख के साथ लिखा—"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की कथा ही क्या कहना किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों से पदाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतंत्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत मतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।" (सत्यार्थ प्रकाश-अष्टम समुल्लास।)

इसी प्रकार से अन्य स्थानों पर हम देखते हैं कि सत्यार्थ प्रकाश में अपने देश आर्यावर्त के लिये एक ओर अखण्ड, स्वतंत्र तथा निर्भय राज्य का प्रतिपादन किया गया

है और दूसरी ओर एक 'अखण्ड, सार्वभौम, चक्रवर्ती साम्राज्य की कल्पना करते हुए सौ वर्ष की आयु दीन, हीन एवं पराधीन अवस्था से मुक्त होकर बिताने का आदेश किया गया है। यूं कहा जा सकता है कि राजनीतिक दृष्टि से यह दिव्य ग्रन्थ हर हिटलर के महान ग्रन्थ 'मीन कैम्फ' मेरा संघर्ष से भी बढ़ चढ़कर है।

सत्यार्थ प्रकाश को आर्य समाज का बाइबिल भी कहा जाता है। भारत में लाखों व्यक्ति नित्य प्रति इसका स्वाध्याय एक पवित्र धार्मिक ग्रन्थ के रूप में करते हैं। सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में ही उसकी रचना का उद्देश्य प्रगट कर दिया गया है। महर्षि ने लिखा है—"इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो जो सब मतों में सत्य सत्य बातें हैं वे वे सब में अविरुद्ध होने से उनको स्वीकार करके जो जो मतमतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उन उनका खण्डन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रक्खा है कि जब मत-मतान्तरों की गुप्त वा प्रकट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान अविद्वान सब साधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है, जिससे सबसे सबका विचार होकर परस्पर प्रेमी होके एक सत्य मतस्थ होवें।" इस प्रकार से सत्यार्थ प्रकाश में एक सत्य मत का प्रतिपादन किया गया है। इसके लिये महर्षि ने अपने सत्यार्थ प्रकाश में विविध विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। आरम्भ के दस समुल्लास रचनात्मक हैं जिनमें महर्षि ने इस सत्य मत के अन्तर्गत सभी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक विषयों को प्रतिपादित किया है तथा अन्तिम चार समुल्लास खण्डन मण्डनात्मक हैं। इनमें देश में प्रचलित मत मतान्तरों के मिथ्या विश्वासों और आचरणों की निर्भय समालोचना की गई है जिससे सर्व साधारण को मानसिक दासता और अज्ञान के अन्धेरे से निकाला जा सके।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि युग निर्माण तथा चतुर्मुखी प्रगति की भावना से प्रणीत यह दिव्य ग्रन्थ एक महान् प्रकाश स्तम्भ है जिसका निर्माण महर्षि दयानन्द ने सम्पूर्ण मानव समाज की उन्नति के लिये किया। सत्यार्थ प्रकाश में उस नवीन समाज का चित्र अंकित किया गया है जिसका निर्माण एक स्वतंत्र भारत अपनी सभ्यता और संस्कृति की अमूल्य आधार शिला पर करेगा। इस नवीन समाज के निर्माण के लिये जिस वैदिक दिनचर्या की आवश्यकता अनुभव होती है उसका विशद रूप में प्रतिपादन करने वाला यह ग्रन्थ एक दीपक के तुल्य है जिसके प्रकाश में कोई भी व्यक्ति आत्मोन्नति के प्रशस्त पथ पर बढ़ सकता है।

किन्तु परमात्मा की सृष्टि में एक पक्षी ऐसा भी है जो दिन के प्रकाश से भय खाता और आंख मून्दकर बैठ जाता है। ऐसे ही जीवन ज्योति और प्रकाश से भय खाने वाले मनुष्यों की संख्या भी कम नहीं। हठ, दुराग्रह, अज्ञान और स्वार्थ में फंसकर व्यक्ति कभी कभी उसी प्रकाश स्तम्भ को नष्ट करने के लिये उद्यत हो जाते हैं जिससे मिलने वाला प्रकाश उनकी जीवन नौका को विनाश की चट्टानों से टकराने से बचाये

रखता है। इसी नियम के अनुसार 'सत्यार्थ प्रकाश' को मिटाने के अनेकों प्रयास किये गये।

सत्यार्थ प्रकाश के विरुद्ध सब से पहला प्रहार राजनैतिक उद्देश्य से किया गया। १६०२ में इसकी जब्ती के लिये पहला विफल प्रयास एक हिन्दु सन्यासी अलाराम सागर ने किया। उसने सत्यार्थ प्रकाश से कुछ उद्धरण लेकर अपने एक ट्रैक्ट में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि आर्य समाज एक षड्यन्त्रकारी और राजद्रोही संस्था है। इलाहाबाद के जिला मजिस्ट्रेट मि० पी० हैरिसन की अदालत में मामला चला। मैजिस्ट्रेट महोदय ने अपने निर्णय में स्वीकार किया कि जो उद्धरण सन्यासी अलाराम ने दिये हैं उनमें राजद्रोह की कोई बू नहीं है। उनमें केवल इस बात पर दुःख प्रगट किया गया है कि कुछ धार्मिक तथा अन्य कारणों से भारतवासी पराधीन हो गये हैं। मैजिस्ट्रेट महोदय ने अपने निर्णय में लिखा कि स्वामी दयानन्द के लेखों में सरकार के विरुद्ध हथियार उठाने अथवा विदेशी राज्य को उखाड़ फेंकने के लिये प्रेरणा कहीं भी नहीं की गई है। उसमें तो केवल इस प्रकार के सुधारों के लिये प्रेरणा की गई है जिस से हिन्दु भविष्य में अपना शासन सम्भालने के योग्य हो सकें। अन्ततः मुकदमा खारिज हुआ और सन्यासी अलाराम से जमानत मांगी गई।

कुछ वर्षों के उपरान्त पार्लियामेंट के सदस्य सर वेलेण्टाइन चिरोल ने भी आर्य समाज तथा सत्यार्थ प्रकाश के विरुद्ध विष उगला और उन्हें राजद्रोह की प्रेरणा देने वाला प्रगट किया। सर वेलेण्टाइन चिरोल के पार्लियामेंट के सदस्य तथा प्रमुख पत्रकार होने के नाते स्वाभाविक रूप में ही उनकी बात का वजन होना चाहिये था। किन्तु उनके सभी प्रयत्न असफल रहे। १६०६ में सत्यार्थ प्रकाश को लेकर पटियाला दरबार ने वहां के ७६ आर्य समाजियों के विरुद्ध षड्यंत्र का एक संगीन मुकदमा खड़ा किया। उसमें सत्यार्थ प्रकाश को राजद्रोह का प्रचार करने वाली पुस्तक कहा गया। यह भी प्रयत्न अरण्य रोदन ही रहा।

साम्प्रदायिकता तथा धर्मान्धता के वशीभूत होकर भी सत्यार्थ प्रकाश की जब्ती के लिये समय समय पर प्रबल प्रयत्न किये गये। सत्यार्थ प्रकाश के चौदहवें समुल्लास में इस्लाम की जो आलोचना की है उससे चिढ़कर १६२६ के तंजीम और तबलीग़ के दिनों में पंजाब के मुसलमानों ने इसकी जब्ती की मांग की। उस समय हजारों आर्य समाजियों ने हस्ताक्षर करके अपना यह दृढ़ निश्चय घोषित किया कि वह सत्यार्थ प्रकाश की रक्षा के लिये हर प्रकार का बलिदान करने को समुत्सुक हैं। जब्ती की इस मांग का यदि सत्यार्थ प्रकाश या आर्य समाज पर कोई प्रभाव पड़ा तो यही कि सत्यार्थ प्रकाश की मांग बहुत अधिक बढ़ गई और बहुत थोड़े समय में ही एक लाख से अधिक प्रतियां लोगों ने लेकर पढ़ीं।

अब सिन्ध के मुस्लिम मंत्रिमण्डल की सलाह से २६ जून १९४३ को सिन्ध सरकार ने एक विज्ञप्ति द्वारा प्रगट किया कि सिन्ध सरकार सत्यार्थ प्रकाश की जब्ती के सम्बन्ध में विचार कर रही है। इस विज्ञप्ति ने आर्य जगत् में खलबली मचा दी। चारों ओर से सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा को इस सम्बन्ध में तार आने लगे और आर्य समाज की प्रतिनिधि सभा ने सिन्ध सरकार को इस सम्बन्ध में तार भेजकर उन परिणामों की ओर संकेत किया जो सत्यार्थ प्रकाश की जब्ती के कारण हो सकते हैं। ८ जुलाई १९४३ की सिन्ध सरकार की इस घोषणा से कि सिन्ध सरकार इस पुस्तक के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करना चाहती आर्य जगत् ने एक सन्तोष की सांस ली।

किन्तु जून १९४३ में सिंध से उठी हुई इस आवाज की गूंज लाहौर में अगस्त १९४३ में पंजाब मुस्लिम लीग के तत्वावधान में हुई एक सभा में सुनाई पड़ी जबकि भारत सरकार और मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों की सरकारों से यह अनुरोध किया गया कि वह सत्यार्थ प्रकाश के चौदहवें समुल्लास को जब्त करने के लिये क़दम उठावें। करांची में दिसम्बर १९४३ में मुस्लिम लीग का जो अधिवेशन हुआ उसमें बाकायदा सत्यार्थ प्रकाश की जब्ती की मांग को मुस्लिम लीग की मांग बना लिया गया। सच तो यह है कि मुस्लिम लीग को अपने रास्ते में अकेला आर्य समाज ही सबसे बड़ा रोड़ा दिखाई पड़ता है। सत्यार्थ प्रकाश की जब्ती की मांग इसी रोड़े को उखाड़ फेंकने के उद्देश्य से की गई है।

सत्यार्थ प्रकाश की जब्ती के लिये धार्मिक रूप में जब जब आवाज उठाई गई तो यही कहा गया कि ऋषि दयानन्द ने उसमें मुसलमानों के विरुद्ध कठोर और तीखी भाषा का उपयोग किया है और उसमें इस्लाम के प्रवर्तक के लिये गालियों का प्रयोग किया गया है। इस बात में कहां तक सत्य है इसका पता तो इसी बात से लग जाता है कि अब तक सत्यार्थ प्रकाश पर कभी आंच नहीं आई। फिर सच्ची समालोचना कोई गाली नहीं। किसी भी समाज सुधारक को यदि अपने से पूर्व प्रचलित बुराइयों का खंडन करना है तो वह उन्हें लोरियां गागा कर नहीं कर सकता। उसके लिये तो उसे सोते हुये समाज को एक बारगी झकझोर देना होगा। उसे डाक्टर के नश्तर की तरह बीमार के फोड़े को चीर कर सारा गन्दा तत्व एक बारगी ही निकाल देना होगा। समाज सुधारक के लिये समझौते की गुंजाइश नहीं होती। महर्षि के इसी गुण पर मुग्ध होकर मैडम ब्लैवैट्स्की ने अपनी पुस्तक 'भारत की गुफ़ाएं तथा जंगल' में लिखा था कि शंकराचार्य के बाद से दयानन्द के समान बुराइयों का इतनी निर्भीकता से खंडन करने वाला नहीं हुआ। महर्षि ने अपने समय में प्रचलित मत मतान्तरों की पूर्ण रूप से आलोचना की है और जनता के सामने उन्हें उनके वास्तविक रूप में खोल कर रख दिया है जिससे वह स्वयं अपनी विचार शक्ति के द्वारा यह निर्णय करलें कि कौन वस्तु उनके

लिये ग्राह्य है और कौन नहीं। यह समालोचना मुसलमानों को अप्रिय लगती है। उनकी अवस्था उस व्यक्ति जैसी है जो स्वयं शीशों के महल में बैठकर दूसरों पर पत्थर फेंकता रहे और बदले में यह आशा करे कि दूसरे उस पर पत्थर नहीं फेंकेंगे। जिस कुरानशरीफ में ४४ प्रकार की भिन्न भिन्न गालियां कुरान पर ईमान न लाने वालों के लिये ४१७ बार प्रयोग की गई हैं उसी कुरान के अनुयायी दूसरों की पुस्तकों में इस्लाम के प्रवर्तक के लिये गाली होने का शोर मचाते हैं और आज तक वह न तो गाली शब्द की परिभाषा कर सके और न उन गालियों की कोई सूची ही बनाकर दे सके जो उनके कथनानुसार सत्यार्थ प्रकाश में मुहम्मद साहब के लिये प्रयोग की गई हैं।

इस प्रकार के मुसलमानों की अवस्था उस फल वाले के समान है जो अपने सड़े गले फल ग्राहक पर जबरदस्ती लादने का प्रयत्न करता है और जब उन फलों के कोई दोष बतावे तो बिगड़ खड़ा होता है। इसी भावना से प्रेरित होकर सिन्ध के किसी मौलवी ने सिन्ध सरकार को इस बात की धमकी दी कि यदि वह सत्यार्थ प्रकाश को ज़ब्त नहीं करायेगी तो सारे भारत के मुसलमान इस सम्बंध में सत्याग्रह करने को विवश होंगे।

सत्यार्थ प्रकाश के विरोधी आन्दोलन की प्रतिक्रिया करने के लियेतथा अपनी शक्ति और दृढ़ संगठन का परिचय देने और आर्य जगत् को पथप्रदर्शन करने के उद्देश्य से २०, २१, २२ फर्वरी को देहली में वंग केसरी डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी के सभापतित्व में पंचम आर्य सम्मेलन हुआ। इसमें आर्य जगत् के वयोवृद्ध नेताओं ने अपने त्याग और अनुभव के बल पर आर्य जगत् का पथप्रदर्शन किया तथा युवकों के अदम्य उत्साह ने विरोधियों को जता दिया कि उनको छेड़ना मानो सांप की बांबी में हाथ डालना है। स्व० सर अकबर हैदरी के इस कथन की सत्यता कि "आर्य जन्म से ही धर्म युद्ध करने वाले हैं, उन्हें छेड़ना और उत्तेजित करना बुद्धिमानी नहीं" इसी समय प्रमाणित हुई। सबने चकाचौंध होकर उस जीवन और जागृति को देखा और पहचाना जो इस शिथिल दिखाई देने वाले समाज में वास्तव में प्रच्छन्न रूप में विद्यमान थी।

आर्य सम्मेलन के पश्चात् सत्यार्थ प्रकाश की रक्षा का प्रश्न सार्वदेशिक सभा तथ समस्तआर्य जगत् की प्रगति यों का मुख्य लक्ष्य बन गया। ७ मई १९४४ को समस्त आर्य जगत् में सत्यार्थ प्रकाश दिवस मनाया गया। इस अवसर पर सत्यार्थ प्रकाश के पाठ और प्रवचन हुए तथा सत्यार्थप्रकाश-निधि के लिये धन एकत्र किया गया। इसी बीच में करांची की जिला जेल के पुस्तकालय से सत्यार्थ प्रकाश की प्रति हटा दी गई। सिन्ध के गवर्नर के पास इस अनुचित कार्य के प्रति विरोध भेजा गया किन्तु सरकार अभी तक अपने रुख पर दृढ़ है।

इधर सत्यार्थ प्रकाश के सम्बन्ध में वैधानिक रास्ते से समस्या सुलझाने का प्रयत्न किया जा रहा था उधर लाहौर के चौक मती में २५ मई की रात को १२ बजे कुछ धर्मान्ध मुसलमानों ने उर्दू सत्यार्थ प्रकाश के फार्मों के बंडल को जला डाला। जब अमर शहीद स्व० परमानन्द जी उन फार्मों की रक्षा के लिये आगे बढ़े तो किसी ने उन पर अत्यन्त निन्दनीय और कायरतापूर्ण ढंग पर घातक आक्रमण किया। इस घटना से न केवल सारे आर्य जगत् में क्षोभ और रोष उत्पन्न हो गया बल्कि उसकी निन्दा तो समझदार मुसलमानों तक ने की। युवक परमानन्द बलिदान हो गये किन्तु हमारे विरोधियों का यह विश्वास की वह ऐसे कुकृत्यों द्वारा हमें हतोत्साह कर सकेंगे निर्मूल रहा। आर्य जगत् द्विगुणित उत्साह के साथ अपने कर्तव्य पथ पर जुट गया। साथ ही लाहौर में मुसलमानों की ओर से उर्दू सत्यार्थ प्रकाश के प्रकाशकों के विरुद्ध दो मुकदमे चलाये गये जिनमें कहा गया कि १४वें समुल्लास से मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचती है— और मांग की गई कि उसे जब्त कर दिया जावे।

सिन्ध की सरकार ने यद्यपि ८ जौलाई १९४३ को यह घोषित कर दिया था कि वह सत्यार्थ प्रकाश के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करना चाहती किन्तु उसके १६ मास बाद भारत रक्षा विधान की आड़ लेकर शान्ति और सुरक्षा के नाम पर सिन्ध सरकार ने अपने प्रान्त में सत्यार्थ प्रकाश के १४वें समुल्लास के प्रकाशन और मुद्रण पर प्रतिबंध लगा दिया। इस प्रतिबन्ध की देश के प्रायः सभी बड़े २ व्यक्तियों ने जिनमें मुसलमान और सनातन धर्मी भी सम्मिलित हैं तथा प्रसिद्ध २ समाचार पत्रों ने घोर निन्दा की और उसे भारत रक्षा कानून का दुरुपयोग बताया। ७ नवम्बर १९४४ को भाई परमानंद जी ने केन्द्रीय धारा सभा में उस संबंध में एक काम रोको प्रस्ताव भी उपस्थित किया। श्री० सरदार सन्तसिंह, श्री० लालचन्द्र नवल राय, श्री अनङ्ग मोहनदास तथा श्री० सर चन्दावरकर ने प्रस्ताव के समर्थन में भाषण देकर सरकार के इस अनौचित्य का खूब भण्डा फोड़ किया। इस अवसर पर असेम्बली की कांग्रेस पार्टी ने धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा के मौलिक सिद्धांत के इस प्रश्न पर तटस्थ रहकर अच्छा नहीं किया। उनकी इस स्थिति को निंदनीय समझा गया।

१९ नवम्बर १९४४ को देहली में आर्य नेताओं की एक महत्वपूर्ण कांफ्रेंस हुई जिसमें माननीय बा० घनश्याम सिंह गुप्त की अध्यक्षता में सत्यार्थ प्रकाश रक्षा समिति का निर्माण किया गया। इस समिति ने पूर्ण उत्साह के साथ अपना कार्य आरम्भ कर दिया है और वह वैधानिक उपायों द्वारा इस प्रतिबन्ध को हटवाने के लिये प्रयत्नशील है। इधर ज्यों २ इस प्रतिबंध के हटने में देर लग रही है त्यों त्यों आर्य जगत् में बेचैनी बढ़ रही है और चारों ओर से यह मांग उठ रही है कि सत्याग्रह का शीघ्र से शीघ्र आश्रय लिया जावे। 'जोश की जो लहर आर्य जगत् में इस प्रश्न को लेकर दौड़ी हुई है

और जो स्थान स्थान पर होने वाले लगभग प्रत्येक समाज व संस्था के उत्सव के साथ सत्यार्थ प्रकाश सम्मेलनों के अवसर पर दृष्टिगोचर होती है वह श्लाघनीय और उत्साह-वर्द्धक है। प्रतीत होता है कि सरकार आर्यों को परीक्षण में डालकर धार्मिक इतिहास में बलिदान और आत्मोत्सर्ग का एक और अनूठा अध्याय जुड़वाना चाहती है'।

सत्यार्थ प्रकाश रक्षा समिति के अध्यक्ष जहां इस प्रतिबंध को वैधानिक प्रयत्न से हटवाने के लिये कोई उपाय छोड़ना नहीं चाहते वहां आर्य जाति को भी आवश्यकता पड़ने पर तैयार रहने के लिये आदेश दे चुके हैं। इसके लिये नियमित फार्म भरवाये जा रहे हैं। आर्य जाति ने अपना दृढ़ निश्चय प्रगट कर दिया है और वह सत्यार्थ प्रकाश का एक समुल्लास तो क्या एक शब्द भी अनुचित रूपसे जब्त न होने देंगे। आर्य दधीचि की सन्तान हैं, उस दधीचि की जिसकी अस्थियों से इन्द्र का वज्र बना था। वह बस करना नहीं जानता जब तक उसका उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। आज भी अनेकों दधीचि आर्य जगत् में वर्तमान हैं जो अपना सर्वस्व बलिदान देने में पीछे नहीं रहेंगे।

दयानन्द

(लेखिका—श्रीमती सावित्री देवी "प्रभाकर", मेरठ)

हुआ चमत्कृत विश्व, अरे यह कौन ? वीरवर संन्यासी ?
किसकी भीषण हुंकारों से, कांप उठी मथुरा, काशी ?
यह किसका गर्जन, तर्जन है कौन उगलता ज्वाला है ?
किसकी वाणी में से निकली आज धधकती ज्वाला है ?

सकल ज्ञान-विज्ञान-विभव का, जिसके भीतर सार भरा।
सद्-अभिलाषाओं का जिसमें, लीन हुआ उद्यान हरा॥
लेकर विश्व-विजयिनी प्रतिभा, देवदूत बन कर आया।
तम-रजनी का तिमिर हटा कर, विमल चन्द्रमा मुस्काया॥

नाना-धर्म, सम्प्रदायों का, भीषण तांडव होता था।
हंस हंस कर हिन्दू समाज, अपना बल; पौरुष खोता था॥
झूठे झगड़ों में फंसने से; धर्म, कर्म; का ध्यान न था।
अपने वैदिक धर्म पुरातन, का कुछ भी अभिमान न था॥

सभी भूल में पड़े मूल को; समझ न कुछ भी पाते थे।
घोर अविद्या के गहरे सागर में गोते खाते थे॥
सीधा, सच्चा, मार्ग दिखाकर, एक ब्रह्म को बतलाया।
तम रजनी का तिमिर हटा कर, विमल चन्द्रमा मुस्काया॥

निर्भयता का बन प्रतीक, चल पड़ा वीर मतवाला था।
आन, बान, थी नई शान, उसका हर काम निराला था॥
वेदोक्त ज्ञान, युक्ति प्रमाण, उसके अकाट्य हो जाते थे।
करते जो उससे शास्त्रार्थ, सब ही परास्त हो जाते थे॥

मच गई दुंदुभि दूर दूर, उस वीर, बाल ब्रह्मचारी की।
उसके ऊपर श्रद्धा अगाध, होगई सभी नर नारी की॥
प्रभा हीन जग, दीप्तिमान कर, उजियाला बन कर छाया।
तम रजनी का तिमिर हटा कर, विमल चन्द्रमा मुस्काया॥

सत्य, साधना, संघर्षण में, अपना जीवन झोंक दिया।
योग, त्याग, तप से, कौशल से, करुणा क्रन्दन रोक दिया॥
मिटा दिया सब मिथ्याडंबर, असत-जाल, छल छन्द मिटा।
तर्क शास्त्र की तीव्र धार से, पोपों का पाखंड मिटा॥

सत्य-अर्थ-रवि के प्रकाश ने, दूर हटा दी अंधियारी।
सबके मानस में सुलगा दी, वेद-ज्ञान की चिनगारी॥
अद्भुत वेद प्रमाण, युक्तियां, देकर सबको समझाया।
तम रजनी का तिमिर हटा कर, विमल चन्द्रमा मुस्काया॥

कितना झेला कष्ट, सहा कितना संकट, कितनी पीड़ा।
जीवन भर दुख के सागर में, करता रहा अथक क्रीड़ा॥
पी पी तरल गरल के प्याले, खोने जन्म मरण निकला।
स्वार्थ त्याग कर, बलि वेदी पर सिर से बांध कफ़न निकला॥

चकाचौंध कर दिया विश्व को, ब्रह्मज्ञान की गरिमा से।
दीप्तिमान उज्ज्वल मस्तक था, ब्रह्मचर्य की प्रतिभा से॥
आर्य जाति की नौका खेने, ऋषिवर दयानन्द आया।
तम रजनी का तिमिर हटा कर, विमल चन्द्रमा मुस्काया॥

उनके पद चिन्हों पर चलते श्री नारायण स्वामी हैं।
उनके ही निर्दिष्ट मार्ग के, वे अविचल अनुगामी हैं॥
वीर, धीर, विद्या निधान, ये तेज-पुंज हितकारी हैं।
भक्ति भाव से वंदन करते, जिनका सब नर नारी हैं॥

अभी जिन्होंने प्रबल निजामी, दमन-चक्र को संहारा।
फिर से अब सरकार सिन्ध ने, आर्य जाति को ललकारा॥
आर्य जाति की सुन पुकार, रक्षा हित नारायण आया।
तम रजनी का तिमिर हटा कर, विमल चन्द्रमा मुस्काया॥

राष्ट्रीय जागृति और आर्य समाज

[लेखक—श्रीमान लाला रामनारायण जी बी० ए० रोहतक]

'आर्यसमाज एक विशुद्ध धार्मिक तथा समाज सुधारक संस्था है', 'उसका राजनीति से कोई भी सम्बन्ध नहीं'—इस प्रकार के विचार का पोषण करने वाला एक बहुत बड़ा वर्ग आर्य समाजियों में है। वह उसे राजनीति के क्षेत्र में जाते हुये, म्युनिसिपल बोर्डों तथा धारा सभाओं में सामूहिक रूप से चुनाव लड़ते हुए अथवा देश की प्रतिदिन की समस्याओं पर अपना निश्चित मत घोषित करते हुए नहीं देखना चाहते। किन्तु जिन्होंने आर्य समाज के महान् संस्थापक महर्षि दयानंद जी महाराज के ग्रन्थों का स्वाध्याय गम्भीरता के साथ किया है वह स्वीकार करेंगे कि महर्षि के सामने राजनीतिक प्रश्न प्रमुख रूप से विद्यमान था। देश में स्वशासन न होने के कारण ऋषि दयानंद को जो हार्दिक दुःख था उसे उन्होंने अकेले सत्यार्थ प्रकाश में ही कई स्थान पर व्यक्त किया है। अष्टम समुल्लास में आपने लिखा है—"अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है।" यह कोई एकान्त उद्धरण नहीं है। इसी प्रकार के अनेकों कथन यहां दिये जा सकते हैं।

आगे चलकर आपने लिखा है—"दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है।" हिंदुओं के जब दुर्दिन आये तो भारत पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुए। इस्लामी राज्य के आरम्भ काल से लेकर अब तक मुसलमानों ने जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया है उसकी कहानी रक्त से लिखी गई है। तैमूर ने स्वयं अपनी लेखनी से लिखा है, "हिन्दुस्तान पर हमला करने का मुद्दा (आशय) यह है कि काफिरों के खिलाफ जिहाद की जाय, और मुहम्मद साहब के फरमान के मुताबिक उनको सच्चे मजहब में परिवर्तित किया जावे और गलत ऐतक़ाद और बहुत से खुदाओं की नापाकीज़गी से इस जमीन को पाक किया जावे और मन्दिरों व बुतों को गिरा दिया जावे ताकि हम गाज़ी, मुजाहिद और खुदाके सामने सच्चे मज़हब के साथी और सिपाही कहला सकें।"

इसी मनोवृत्ति के अनुसार इस्लामी लश्कर ने भारत की आर्य जनता, संस्कृति, धर्म, पुस्तकालयों आदि पर जो भीषण अत्याचार किये उनको इतिहास आज भी प्रगट कर रहा है।

औरंगजेब ने अपने समय में मुस्लिम मनोवृत्ति का भयंकर परिचय दिया। इसका यह परिणाम हुआ कि एक ओर पंजाब में सिख एक धार्मिक सम्प्रदाय से युद्ध करने वाली सेना में परिणत हो गये। दूसरी ओर महाराष्ट्र में महाराजा शिवाजी ने हिन्दुओं का

संगठित करके मुगल साम्राज्य को छिन्न भिन्न करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। दुर्गादास राठौर, छत्रसाल बुन्देला आदि वीरों ने भी इस देश को स्वतंत्र करने का भरसक प्रयत्न किया। इन सबका यह परिणाम हुआ कि इस्लामी सत्ता क्षीण हुई और हिन्दु अथवा आर्य राज्य फिर से स्थापित होने लगा।

इसी बीच में अंग्रेज व्यापारी के रूप में भारत में आ चुके थे। उधर मुसलमानी नवाबों में और इधर पेशवाओं आदि में जो आपस के झगड़े चल रहे थे उनसे लाभ उठाकर और अपनी कूटनीतिज्ञता के बल पर अंग्रेजों ने धीरे धीरे भारत पर अधिकार जमाना शुरू किया। लार्ड डलहौजी के समय तक अंग्रेजों के पैर भारत में जम चुके थे। १८५७ ई० के पश्चात् महारानी विक्टोरिया ने भारत के शासन को संभाला।

ब्रिटिश सरकार ने अपने राज्य कार्य को सुगमता से चलाने के लिये फारसी को उड़ा दिया और शरीअत के स्थान में एक नया फौजदारी कानून बना दिया। काजी अलग कर दिये गये, उनके स्थान में न्यायालय बने। इनका मुसलमानों को बड़ा दुःख हुआ परन्तु उनमें से विचारशील व्यक्तियों ने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश सरकार अब जाने वाली तो है नहीं। इसलिये मुसलमानों ने अंग्रेजों को अपने अनुकूल बनाने का यत्न किया। मुसलमानों के प्रसिद्ध नेता सर सैयद अहमद ने इस क्षेत्र में बहुत काम किया। इसकी पुष्टि उनके निम्न कथन से हो जाती है:—

"इङ्गलिश नेशन हमारे मफतूह (विजित) मुल्क में आई, मगर मिस्ल एक दोस्त के, न कि बतौर एक दुश्मन के। हमारी इच्छा है कि हिन्दुस्तान में इङ्गलिश हकूमत सिर्फ एक जमाने दराज तक ही नहीं बल्कि इटर्नल (चिरस्थायी) होनी चाहिये। .... हमारी यह आरजू अंग्रेजों की भलाई या उनकी खुशामद की वजह से नहीं है बल्कि अपने मुल्क की भलाई व बेहतरी के लिये है।"

इस प्रकार से भारत में अंग्रेजों और मुसलमानों की एक दूसरे से मिलने की नीति चलती रही। दूसरी ओर महर्षि स्वामी दयानन्द और आर्य समाज के प्रचार और कार्य ने आर्य अर्थात् हिन्दू राष्ट्रीयता के अन्दर नये जीवन का संचार करना आरम्भ कर दिया। सत्यार्थ प्रकाश में स्वामी जी ने लिखा—"जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।" आगे आपने बतलाया कि—"भिन्न भिन्न भाषा, पृथक पृथक शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। इसलिये जो कुछ वेदादि शास्त्रों में व्यवस्था व इतिहास लिखे हैं उनका मानना भद्र पुरुषों का काम है।"

इस कथन में स्वराज्य का ध्येय, उसका लाभ और उसकी प्राप्ति के साधन अंकित हैं। आर्य समाज ने इसको क्रियात्मक रूप देने के लिये कार्य आरम्भ किया। पश्चिमीय शिक्षा की बढ़ती हुई लहर पर वैदिक छाप लगाने के लिये सरकारी विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित विद्यालय खोले। साथ ही जातीयता को प्रोत्साहित करने वाली शिक्षा के प्रचारार्थ गुरुकुल प्रणाली भी जारी की। यह एक ऐसी चीज थी कि जो शासक वर्ग की दृष्टि से ओझल न हो सकती थी। आर्य समाज की इन प्रगतियों से सशंकित होकर एक बार पंजाब के लैफ्टीनेंट गवर्नर सर लुई डेन ने कहा था:—

"जो संस्था आज धार्मिक तथा सामाजिक सुधार का उद्देश्य रखती है, क्या यह सम्भव नहीं है कि वही अपने उचित आदर्शों से विमुख होकर एक ऐसी राजनैतिक संस्था में परिवर्तित होजाय जिसका ध्येय सरकार के प्रति वफ़ादारी से मेल न खाता हो"।

इस प्रकार के विचारों ने कुछ समय के लिये आर्य समाज को विदेशियों की दृष्टि में खटकने वाली वस्तु बना दी। फलस्वरूप आर्य समाज को दबाने के लिये अनेकों प्रयत्न किये गये। इस मनोवृत्ति का दिग्दर्शन पार्लियामेंट के सदस्य तथा पत्रकार सर वेलेण्टाइन चिरोल के निम्नलिखित कथन से हो जाता है:—

"The whole drift of Dayanand's teachings is far less to reform Hinduism than to rouse it into active resistance to the alien influences which threatened, in his opinion, to denationalise it. Hence the outrageously aggressive tone of his writings wherever he alludes either to Christianity or to Mohammedanism."

अर्थात्—दयानन्द के उपदेशों का सारा झुकाव हिन्दु धर्म को सुधारने की ओर उतना नहीं है जितना कि उसे विदेशी प्रभावों के विरोध में एक क्रियात्मक शक्ति का रूप देने की ओर है, क्योंकि उनकी सम्मति में यह विदेशी प्रभाव हिन्दु राष्ट्रीयता को आघात पहुँचा सकते हैं। इसीलिये उनके लेखों की शैली इतनी कठोर है, विशेषकर जब वे ईसाइयत अथवा इस्लाम का उल्लेख करते हैं।

आर्य समाज का वह दल जो सरकारी नौकरियों या अन्य किसी प्रकार भी सरकार से सम्बन्ध रखने के लिये इच्छुक या बाधित थे और जो यह समझते थे कि शिक्षा प्रचार और सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये सरकार का सहयोग आवश्यक है उन्होंने हर प्रकार से प्रयत्न किया कि आर्य समाज के सम्बन्ध से राजनैतिक संस्था होने का संदेह भी दूर हो जाय।

परन्तु ऐसे भी कुछ सज्जन थे जो आर्य समाज में बहुत सी अन्य बातों के अतिरिक्त राजनैतिक पुट को देखकर सम्मिलित हुए थे। एक समय ऐसा आया कि ऐसे सज्जनों के लिये आर्य समाज में कोई स्थान न रहा और वह या तो स्वयं ही पृथक् होगये

या कर दिये गये। इसके साथ ही साथ आर्य समाज में से शुद्धि और शास्त्रार्थ जैसे आवश्यक कार्य शिथिल पड़ गये।

इस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में कांग्रेस, मुसलमान तथा अंग्रेजी सरकार तीन दल अपना अपना काम करने लगे। कांग्रेस ने स्वतंत्रता के लिये प्रयत्न किया, मुसलमानों ने अपनी उन्नति के लिये अधिक से अधिक मांगें उपस्थित कीं और सरकार ने इस बात का यत्न किया कि कांग्रेस की शक्ति बढ़ने न पाय। मुसलमानों की तरफ से एक तरफ तो कांग्रेस के साथ मिलकर अधिक से अधिक अपनी मांग स्वीकार कराने का यत्न होता रहा और दूसरी तरफ मि० जिन्हा ने पाकिस्तान का प्रश्न उपस्थित कर दिया। इस प्रकार आज की भारतीय राजनीति बड़ी जटिल बनी हुई है।

आर्य समाज की स्थिति और कर्तव्य—

आर्य समाज ने केवल अपने ही अधिकारों की रक्षा नहीं की किन्तु समय समय पर हिन्दुओं पर होने वाले अत्याचारों के रोकने का भी पूर्ण यत्न किया है। आर्य समाज का ध्येय वैदिक संस्कृति की रक्षा करते हुये संसार भर में वैदिक धर्म प्रचार करना, तथा आर्य बनाना है। हमारे इस दृष्टिकोण से कांग्रेस या मुसलमान किसी प्रकार भी सहमत नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में हमको अपनी सब प्रकार से ही रक्षा करनी है। हमारे जो भी नागरिक अधिकार हैं उनकी रक्षा करना एक राजनैतिक पहलू बन जाता है। हमारी राजार्य सभा का आशय ऐसे ही अधिकारों की रक्षा करना है।

हम मुसलमानों के दृष्टिकोण को उनके ही भाषणों और लेखों के आधार पर प्रगट करना चाहते थे परन्तु विस्तार भय से उन उद्धरणों को न देते हुये यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि वर्तमान मुस्लिम राष्ट्रीय नेता भी सर्व प्रथम अपने धार्मिक उत्थान तथा मुसलमानों के हित का राग अलापते हैं उसके पश्चात् हिन्दुस्तान की राजनीति की चर्चा करते हैं। हम इस बारे में केवल इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि केवल आर्य समाज का ही एक ऐसा जीवित जागृत सगठन है जो न्माययुक्त रूप में सही पहलू को उपस्थित करने का प्रयत्न करता है।

आर्य समाज को अपने अन्य सामाजिक, शिक्षा सम्बन्धी तथा धर्म प्रचार आदि कार्य के साथ साथ अपने नागरिक अधिकारों की पूर्ण रूप से रक्षा करनी चाहिये तथा मुसलमानों के अनुचित राजनैतिक दृष्टिकोण को जन साधारण के सम्मुख प्रगट करते रहना चाहिये जिससे हिन्दुओं, आर्यों के अधिकारों पर कुठाराघात न होने पावे।
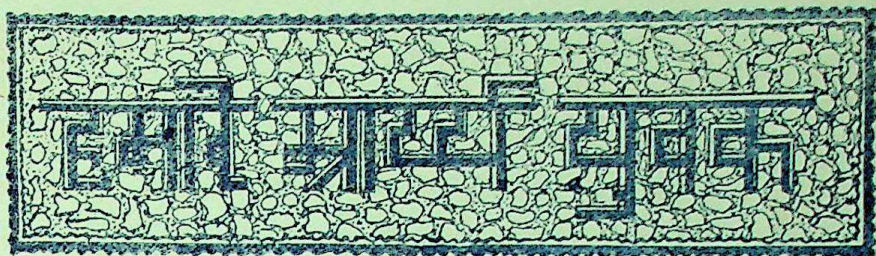
(लेखक—विश्वम्भरसहाय प्रेमी मंत्री अ० भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद्)

"आर्य कुमार आर्य जाति के प्राण हैं"। स्वर्गीय ला० लाजपतराय जी के इन शब्दों में गम्भीर रहस्य और महत्व छिपा हुआ है। आर्यसमाज ने अपने प्रारम्भिक जीवनकाल में इस बात का पूरा ध्यान रक्खा कि उसके कार्यों में योग देने के लिये अधिक से अधिक युवक आगे आयें। इसमें कोई सन्देह नहीं उस आर्य सामाजिक काल में सभी प्रान्तों में उत्साही आर्य युवक किसी न किसी रूप में आर्य समाज के कार्य को प्रगति दे रहे थे। स्वर्गीय ला० लाजपतराय, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए०, अमर शहीद पं० लेखराम जी, महात्मा मुन्शीराम जी, स्व० महात्मा हंसराज जी आदि उस युग के क्रान्तिकारी आर्य युवक थे। उस समय आर्यसमाज के कर्णधार यह अनुभव करते थे कि भारत के नवयुवकों को अधिक से अधिक आर्यसमाज में प्रविष्ट किया जाय।

संख्या में कम होते हुए भी आर्यसमाज अपने अभ्युत्थान के कारण अपनी धाक सारे भारत में बैठा चुका था। इसकी सफलता का विशेष कारण उस समय के क्रियाशील आर्ययुवक थे। वे बड़े से बड़े कार्य में जुट जाते थे। उन्होंने आर्य समाज के लिये अपने आपको न्यौछावर किया हुआ था।

आर्यसमाज भी उस समय इस बात के प्रयत्न में था कि अधिक से अधिक युवकों के हृदय पर आर्यसमाज की छाप लगा दी जाये जिससे भविष्य में वे आर्यसमाज को अधिक से अधिक सगठित करने और वैदिक धर्म का प्रचार करने में सहायता दे सकें। सहायता ही क्यों? वे स्वयं आर्य समाज के कार्य की बागडोर अपने हाथों में लेकर ऋषि दयानन्द के महान् कार्य की पूर्ति कर सकें। कुमार जीवन ही मुद्रित होने वाली आयु है। जैसा ठप्पा उस समय हृदय पर लगता है, वैसा ही भविष्य में जीवन का झुकाव हो जाता है।" इस सिद्धान्त के अनुसार आर्य कुमार अपने हृदय पर अच्छा ठप्पा ही लगाने की चेष्टा करते थे और आर्य समाज उस ठप्पे को लगाने का पूर्ण यत्न करता था।

उस समय आर्य कुमार के मस्तक पर आर्यत्व झलकता था। उसमें तेज था, ज्योति थी। शरीर में बल था और हृदय में काम करने की लगन। उसका लक्ष्य ऊंचा था और भावनायें शुद्ध प्रबल। वह संसार के विघ्न बाधाओं को पार करने के लिये शक्ति संकलित करना अपना मुख्य उद्देश्य समझता था। उसका शरीर और आत्मा उसके जीवन के लिये कलंक रूप न थे किन्तु वह इन दोनों शक्तियों के आधार पर भारतवर्ष की बिगड़ी स्थिति को ऋषि दयानन्द के दृष्टि कोण के अनुसार बदल देना चाहता था।

ऐसे कर्मण्य आर्य युवकों ने संगठित कार्य करने का विचार किया। सन् १९०६ में रावलपिण्डी के कुछ उत्साही आर्य कुमारों के हृदय में क्रिश्चियन नवयुवकों के संगठन के समान आर्य युवकों के संगठन का विचार उत्पन्न हुआ। श्री प्रो० सुधाकर जी एम. ए. वर्तमान मंत्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, श्रीयुत बलभद्र जी तथा प्रो० सिद्धेश्वर जी एम. ए. ने आर्य कुमारों के संगठन की योजना बनाई। प्रो० सुधाकर जी को ईसाई युवक दल वाई. एम. सी. ए. के संगठन का कुछ ज्ञान था। इन्हीं के साथ २ संयुक्त प्रान्त में स्व० श्री डा० केशवदेव जी भी आर्य युवकों के संगठन पर विचार कर रहे थे। स्वर्गीय डा० शास्त्री उन दिनों बनारस में वैद्यक करते थे तथा "नवजीवन" पत्र का सम्पादन करते थे। उपरोक्त तीनों सज्जनों ने एक कार्य क्रम बना कर डा० केशवदेव जी की सेवा में भेज दिया। उन्होंने प्रो० सुधाकर जी के विचारों का समर्थन किया। इस प्रकार इन चार महानुभावों ने आर्यकुमार परिषद् की नींव डाली।

उपरोक्त तीनों सज्जनों ने बनारस में डा० केशवदेव शास्त्री से मिलकर आगे का कार्य क्रम भी निश्चित किया। उस समय यह भी निश्चय किया कि रावलपिण्डी में आर्य कुमार सम्मेलन किया जाय। काशी से एक अपील भी प्रकाशित की गई।

रावलपिण्डी के सम्मेलन के सभापति डा० केशवदेव जी शास्त्री बनाये गये। आपने अपने भाषण में आर्यकुमारों को बड़ी उत्तेजना दी।

डा० केशवदेव जी ने इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया कि भारत भर में आर्य कुमार सभाओं का संगठन हो और आर्य युवक जहां भी आर्यसमाज काम कर रही हैं, उनके नेतृत्व और नियंत्रण में आर्यकुमार सभायें स्थापित करें।

हम यहां पर यह बात प्रगट कर देना आवश्यक समझते हैं कि आर्यसमाजों ने आर्य कुमार सभाओं को बहुत कम प्रोत्साहन दिया। कहीं कहीं पर यदि उत्साही आर्य कुमारों ने अच्छा कार्य किया तो भी आर्यसमाज ने उनको कोई प्रोत्साहन न दिया। इस कारण यह यदि स्पष्ट रूप में कह दिया जाय कि आर्य समाज ने आर्य कुमारों के अलग संगठन में प्रोत्साहन न देकर भूल की, तो कुछ अनुचित न होगा।

आर्यकुमार परिषद् के पुराने कर्णधार—

सब से पहिले भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद् के कार्य का संचालन ला० अलखमुरारी जी ने किया। आप ६ वर्ष तक प्रधान मंत्री पद पर कार्य करते रहे। कार्यालय सहारनपुर में रहा खेद है कि जहां परिषद् का इतना काम हुआ वहां आज आर्यकुमार सभा तक नहीं। इस के पश्चात् कार्यालय अजमेर चला गया और सम्वत् १९७१ में इसकी रजिस्ट्री करादी गई। देशभक्त कुंवर चांदकरण जी शारदा ने मंत्रीत्व संभाल कर बहुत कार्य किया। १८ अक्टूबर १९१२ ई० को पंजाब केसरी ला० लाजपतराय जी के सभापतित्व में सहारनपुर में तृतीय सम्मेलन बड़ी धूम धाम से हुआ। उसमें गुरुकुल कांगड़ी के सर्व प्रथम स्नातक श्री पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति और उनके भाई श्री

हरिश्चन्द्र जी विद्यालंकार भी सम्मिलित हुए और कालिज तथा गुरुकुल के आर्ययुवकों ने सम्मिलित रूप में वैदिक धर्म प्रचार के कार्य को प्रगति देने का प्रयत्न किया। लालाजी के नेतृत्व में देशभक्ति और धर्म दोनों को साथ साथ प्रगति देने का उद्योग किया गया। १९१३ ई० में चौथा आर्यकुमार सम्मेलन देहली में श्री महात्मा मुन्शीराम जी के सभापतित्व में हुआ। देश, जाति और समाज की उन्नति का विशेष रूप से आर्यकुमारों ने व्रत लिया।

अजमेर में हुये पांचवें सम्मेलन के सभापति स्व० आचार्य रामदेव जी ने तो कुमारों में अपूर्व जीवन ज्योति प्रकाशित की। आपकी आशायें बड़ी प्रबल थीं उन्हीं के अनुकूल आपने घोषणा की—

'आर्य कुमारो! मैं चाहता हूँ कि आप लोग जी जान से कोशिश करें और वैदिक धर्म को संसार भर में फैलावें। सेंटपाल के गिरजे पर ओ३म् का झण्डा फहरावें, बर्लिन के बाजारों में वेद के मन्त्रों का गान हो, मक्के की मस्जिद में संसार को प्रकाशित करने वाला हवन हो।" बात तो बहुत ऊंची कही गई। वैदिक धर्म को विश्व में फैलाने की भावना तो अति उत्कृष्ट थी, परन्तु इसके लिये तो महान् क्रांति की आवश्यकता थी और आज भी है। इसमें संदेह नहीं कि आज विश्व भर में किसी न किसी रूप में ऋषि दयानन्द का पवित्र नाम पहुँच गया परन्तु कार्य तो अभी शून्य के बराबर ही है। अभी तो उपरोक्त भावना की पूर्ति के लिये हमारे पास कुछ भी साधन नहीं। जो थे उनकी भी हमने संभाल करनी छोड़ दी। अमूल्य सम्पत्ति जो आर्य कुमारों के रूप में आर्यसमाज को प्राप्त हुई थी, हमने उसको भी तो सुरक्षित नहीं रक्खा। आवश्यकता इस बात की है कि स्वर्गीय आचार्य जी की पवित्र भावना को समझकर हम यत्न करें कि ऐसे पुनीत कार्य के लिये आर्य कुमारों की संगठित सेना हो जो संसार में वैदिक धर्म का सन्देश पहुँचा सके।

अमृतसर के छटे आर्य कुमार सम्मेलन के अवसर पर श्री पूज्यपाद स्वामी सत्यानन्द जी महाराज ने अपने उपदेशों की रस गंगा दूसरे ही रूप में प्रवाहित की। आपने आर्य युवकों को प्राचीन श्रेष्ठ आर्य सभ्यता का पाठ पढ़ाया और उनको साहसवान, कर्तव्य परायण, धर्मात्मा आर्य कुमार बनने की प्रेरणा की।

इसी प्रकार से उत्साह और प्रगति के साथ १९२० के मिर्जापुर सम्मेलन तक परिषद् का कार्य चलता रहा। मिर्जापुर में श्रीमान् पं० गंगाप्रसाद जी एम० ए० (वर्तमान रिटायर्ड चीफ जज टीहरी) के सभापतित्व में सम्मेलन तो हो गया परन्तु कार्यालय अस्तव्यस्त हो जाने से कार्य कुछ न हो सका। २ वर्ष तक शिथिल गति चल रही थी। १९२० ई० के सम्मेलन के उपरान्त परिषद् का कार्यालय लेखक के पास आ गया। उन्हीं दिनों कालापानी से भाई परमानन्द जी के छूटने की चर्चा चल रही थी। सोचा गया कि परिषद् का सम्मेलन मेरठ में श्री भाई परमानन्द जी के सभापतित्व में किया जाय। सम्मेलन धूमधाम से हुआ। परिषद् के प्रधान मन्त्री श्री डा० युद्धवीर सिंह जी देहली चुने गये और कार्यालय देहली में चला गया। मेरठ में उसी अवसर पर स्व० बा० घासीराम जी

एम० ए० के प्रयत्न से वैदिक धर्म विशारद परीक्षाओं की एक योजना भी बनाई गई जो बाद को एक विस्तृत रूप धारण कर गई जिसके द्वारा इस समय तक दस हज़ार से अधिक आर्य कुमार और कुमारियों ने वैदिक साहित्य का अध्ययन करके बहुत लाभ उठाया है।

डा० युद्धवीरसिंह जी ने परिषद् के कार्य को निरन्तर २४ वर्ष से प्रगति दी है। इसके लिये अपनी बहुत शक्ति लगाई है। आपके उद्योग से परिषद् का 'आर्यकुमार' पत्र भी काफी समय तक निकला। आपने भारत भर की कुमार सभाओं को संगठित करने और नई कुमार सभायें खोलने का जो प्रशंसनीय कार्य किया है, वह भुलाया नहीं जा सकता। वे धुन के पक्के, कर्मवीर और उत्साही आर्य हैं।

इस अवसर पर यह बात उल्लेखनीय है कि पूज्यपाद महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज ने आर्यकुमारों के संगठन पर सदैव ध्यान रक्खा है। स्वामीजी महाराज ने जून सन् १९२३ में बारहवें आर्यकुमार सम्मेलन का सभापतित्व करते हुए इस बात पर विशेष बल दिया था कि आर्य कुमार सभाएं स्थान स्थान पर खोली जायं और उन सबका आर्य कुमार परिषद से सम्बन्ध हो। स्वामी जी महाराज के अपने शब्दों में ही हम वह आदेश प्रगट कर देना आवश्यक समझते हैं जो उस समय उन्होंने आर्य कुमारों को दिया था—

"कुमारों को यह वर्ष इतने उत्साह, पुरुषार्थ और सुकर्मण्यता से व्यतीत करना चाहिये कि उन्हें अपने प्रत्येक सदिच्छित् कार्य में सफलता हो और वह सफलता उनमें उत्साह और साहस की मात्रा इतनी उत्पन्न कर देवे कि जिससे आगामी सम्मेलन दूने तिगुने उत्साह से संगठित किया जा सके। गिनती में वे कार्य जिन्हें कर्तव्य बनाना चाहिये केवल दो हैं—एक वैयक्तिक आचारोन्नति' द्वितीय, सामाजिक कर्तव्यपालन। प्रथम की पूर्ति के लिये कुमारों को नियम से संध्या, स्वाध्याय और सत्संग करना चाहिये; रात्रि में सोने से पूर्व अपने दिन भर के कार्यों पर एक दृष्टि डालकर यदि कोई भूल हुई हो तो उसको दूर करने का निश्चय कर लेना चाहिये। सामाजिक कर्तव्य पालन के सम्बन्ध में स्थानिक, प्रान्तिक और भारतवर्षीय कुमार परिषद् के निश्चयों को कार्य में परिणत करना चाहिये और स्थानिक सभा के सदस्यों की संख्या कम से कम दूनी कर लेने का यत्नवान होना चाहिये।" इस सम्मेलन पर परिषद के भवन निर्माण के सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था। पूज्यपाद स्वामी जी महाराज की यह अभिलाषा थी कि यह भवन शीघ्र से शीघ्र निर्मित होजाय।

लेखक यह निश्चय से कह सकता है कि स्वामी जी महाराज आर्य कुमारों की कठिनाई को दूर करने और उनको प्रोत्साहन देने में सदा प्रयत्नशील रहे हैं और वे आर्य कुमार सभाओं के उत्सवों पर जहां तक हो सका है सम्मिलित होकर आर्य कुमारों की प्रगति को उन्नतिशील करने में पूर्ण सहायक हुए हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथा में आर्यकुमार सभाओं की आवश्यकता पर अपने हृदय के उद्गार स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार प्रगट किये हैं—

"आर्य कुमार सभाओं की उपयोगिता की ओर आर्य समाज ने बहुत थोड़ा ध्यान दिया।

उसी का फल यह है कि आर्य कुमार सभाओं को जिस प्रकार फलना फूलना चाहिये था वह हालत उनकी दिखाई नहीं देती। उनको उन्नत अवस्था में पहुँचाने की ओर अवहेलना करना मेरी दृष्टि में एक अपराध है।"

स्वामी जी महाराज के इस प्रकार के उद्गार होते हुए भी अब तक आर्य कुमारों को बहुत कम सहायता प्राप्त हुई है अभी दो मास पूर्व एक उत्तरदायी आर्य सज्जन की आर्य मित्र में यह सूचना पढ़ कर हार्दिक दुःख हुआ कि आर्य पुरुषों को अपने बच्चों को अलग आर्य कुमार सभा में भेजने की आवश्यकता नहीं किन्तु उन्हें अपने साथ आर्य समाज में लाना चाहिये। मैं ऐसे व्यक्तियों को अपनी कुछ पंक्तियों द्वारा यह बताने का यत्न करूंगा कि आर्य कुमारों का अलग साप्ताहिक सत्संग के रूप में सम्मिलित होना उनके विकास के लिये कितना आवश्यक है।

परिषद् के उद्देश्य में यह स्पष्ट प्रगट किया गया है कि आर्य कुमारों तथा युवकों को ईश्वर, वैदिक धर्म तथा देश के सच्चे और क्रियाशील उपासक बनाया जाय।

उद्देश्य पूर्ति के साधनों में स्थान स्थान पर आर्य कुमार सभाओं की स्थापना करना तथा उनकी अभिवृद्धि उन्नति एवं संगठन में तत्पर रहना, धार्मिक तथा उपयोगी ग्रंथों की परीक्षायें नियत करना, सेवा भाव उत्पन्न करने के लिये उन्हें सेवा कार्य में लगाना, कुमारों की शारीरिक उन्नति के साधन जुटाना आदि कार्यक्रम सम्मिलित था।

आर्य कुमार परिषद ने १५० से अधिक भिन्न भिन्न प्रांतों में आर्य कुमार सभायें स्थापित कीं और उनको संगठित करके आर्य समाज के लिये योग्य क्रियाशील आर्य बनाने का कार्य किया। यद्यपि इस समय उन कुमार सभाओं की संख्या घट गई है परन्तु किसी न किसी रूप में सभी प्रान्तों में आर्य कुमार परिषद का कार्य चल रहा है।

धार्मिक परीक्षाओं के लिये किया गया कार्य तो स्तुत्य है। भारत का कोई प्रान्त ऐसा नहीं जहां परिषद की परीक्षा का कहीं न कहीं केन्द्र न हो। मैं यहां यह बात गौरव पूर्ण शब्दों में कह सकता हूँ कि अब तक इतना संगठित धार्मिक परीक्षाओं का कार्य आर्य समाज की किसी भी संस्था ने अपने हाथ में नहीं लिया। कुछ वर्षों से परीक्षार्थियों की संख्या करीब ३ हज़ार पहुँच गई है। इस समय ५० हज़ार से अधिक आर्य कुमार और कुमारियां धार्मिक पुस्तकों के स्वाध्याय का लाभ उठाते हुये परीक्षा दे चुके हैं। यदि प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने इन परीक्षाओं में कुछ सहयोग प्रदान किया होता तो इनकी प्रगति कुछ और ही होती और स्वाध्यायशील तथा आर्यसमाज के सिद्धान्तों से परिचित सदस्य मिलने में सहायता प्राप्त होती।

परीक्षाओं के सम्बन्ध में इतना कह देना आवश्यक है कि यह चार श्रेणी में विभाजित की गई हैं। सिद्धान्त सरोज तथा सिद्धान्त रत्न आरम्भिक परीक्षार्थियों के लिये हैं तथा सिद्धान्त भास्कर तथा सिद्धान्त शास्त्री अपेक्षाकृत अधिक योग्यता वाले विद्यार्थियों के लिये हैं। श्री पं० देवव्रत धर्मेन्दु जी इस समय परीक्षा मंत्री का कार्य बड़े परिश्रम के साथ कर रहे हैं।

परिषद् ने समय समय पर उन कुप्रथाओं के विरुद्ध सफल तथा क्रियात्मक आन्दोलन किये हैं जिनके कारण हिन्दू समाज जर्जरित होता जा रहा था। दहेज, तम्बाकू आदि कुप्रथाओं को अपने जीवन में से क्रियात्मक रूप से निकाल देने के लिये आर्य कुमार और आर्य युवक प्रयत्नशील बने। इन कुमार सभाओं का आर्य युवकों के जीवन पर कितना प्रभाव पड़ा है उसका महत्व वह कुमार भी जानते हैं जो आर्य समाजों में कार्य कर रहे हैं तथा उनके अन्य सहयोगी भी।

यहां यह प्रगट कर देना भी आवश्यक ही प्रतीत होता है कि आर्य कुमारों ने धर्म और देश की रक्षार्थ किये गये आन्दोलनों में व्यक्तिगत रूप से पर्याप्त संख्या में भाग लेकर अपने धर्म और अधिकारों की रक्षा की है और वे सदा कठिन से कठिन आपत्ति से युद्ध करने के लिये तत्पर रहे हैं।

आज ऐसे संगठन की आर्यसमाज आवश्यकता तो अनुभव करता है और यह बात भी बार २ दुहराता है कि आर्यसमाज को उत्साही कार्य करने वाले नवयुवक नहीं मिलते। इसमें दोष नवयुवकों का नहीं किन्तु उनको अपनी ओर आकर्षित करने वाले महानुभावों का है। यदि आर्य-समाजें इस बात को अनुभव करलें कि हमें अपने आर्यकुमारों को मार्ग प्रदर्शन करके संगठित करना है तो उन युवकों पर भी आर्य समाज का गहरा प्रभाव पड़ सकता है जो आर्यसमाज की परिधि से बाहर के वातावरण में जीवन व्यतीत करते हैं। हम चाहते तो यह हैं कि हमारे युवक हृष्ट, पुष्ट, सदाचारी, संयमी और स्वाध्यायशील हों परन्तु इस बात की पूर्ति के लिये साधन जुटाना और प्रयत्न करना हम दूसरों पर ही छोड़ते हैं। छोटे २ बच्चे हाथ अपने पैरों पर खड़े हो जांय और उन्हें किसी प्रकार की कोई सहायता प्रदान न की जाय। इससे आर्य समाजों को नये सदस्य प्राप्त नहीं हो सकते और न आर्यसमाज में कोई नया जीवन ही आ सकता है।

कुछ कठिनाइयां—

कुमार आन्दोलन की सफलता के मार्ग में कुछ कठिनाइयां भी हैं। सबसे बड़ी तो यह है कि उनकी सदस्यता उन कुमारों और युवकों में से प्राप्त होती रही है जो प्रायः हाई स्कूलों और कालिजों में पढ़ने वाले हैं। अधिकतर जुलाई से मार्च तक तो यह कुमार सभा के साप्ताहिक सत्संगों में आते रहते हैं, उसके बाद परीक्षा की तैयारियों में लग जाते हैं और फिर छुट्टियों में या तो अपने अपने घरों को चले जाते हैं अथवा अन्य कहीं भ्रमण आदि को चले जाते हैं। इस प्रकार से ३-४ मास तक साप्ताहिक सत्सगों तक के होने में कठिनता अनुभव होने लगती है। फिर नये सिरे से सदस्य बनाना, नव निर्माण करना एक कठिन कार्य ही है। यदि प्रत्येक आर्य समाज वा सदस्य कुमार सभाओं को अपने संरक्षण का अधिकारी तथा अपने बच्चों के भविष्य जीवन के लिये उपयोगी समझें तो यह समस्या हल हो सकती है।

दूसरी कठिनाई यह है कि प्रायः सभी स्थानों में कुमार सभाओं के अपने स्वतन्त्र भवन नहीं। जब तक आर्य समाजें स्वयं इस बात को अनुभव न करलें कि हमें हर प्रकार की सुविधाएं

आर्यकुमारों को देनी चाहियें तब तक आर्यकुमार सभाओं का कार्य नियम पूर्वक चलना कठिन है।

गत पांच वर्षों के राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्य पर दृष्टि डाली जाय तो इस बात का अनुमान हो सकता है कि उन्होंने इस संघ द्वारा कितनी बड़ी संख्या में हिन्दुस्तान भर के हिन्दू नवयुवकों को संगठित करने का प्रयत्न किया है। इसका मुख्य कारण हमारी सम्मति में यही है कि इन नवयुवकों को स्थान २ पर उनके विचारों से मेल रखने वाले प्रमुख व्यक्तियों का संरक्षण प्राप्त है इसी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यदि सार्वदेशिक सभा भारतवर्ष के आर्य नवयुवकों को प्रोत्साहन दे तो उनकी प्रगति बहुत कुछ बढ़ सकती है। आर्य वीर दल की योजना को ही यदि सार्वदेशिक सभा आर्य कुमार परिषद् द्वारा संचालित कराती तो उसमें अधिक सफलता प्राप्त होती।

इस सम्बन्ध में दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा पर आर्य कुमार सम्मेलन में इस बात पर विशेष विचार किया गया था और एक प्रस्ताव द्वारा आर्य कुमार स्वयं सेवक संघ स्थापित किया गया। परन्तु इस संघ का कोई विशेष संगठन न हो सका। स्व० डा० केशवदेव जी शास्त्री की उन दिनों यह हार्दिक इच्छा थी कि यह संघ एक विस्तृत रूप धारण करले परन्तु कार्यकर्ताओं तथा धन के अभाव के कारण परिषद् ने इस कार्य को अपने हाथों में न लिया।

वर्तमान स्थिति—

परिषद् की वर्तमान स्थिति पर कुछ पंक्तियां लिख देना भी हम आवश्यक समझते हैं। पिछले १९४२ के राजनैतिक आंदोलन के कारण कई वर्ष तक परषद् का कार्य शिथिल रहा। सितम्बर १९४४ में मुरादाबाद के कुछ उत्साही आर्यकुमारों के प्रयत्न से २८ वां आर्यकुमार सम्मेलन देशभक्त श्री महात्मा खुशहालचन्द जी के प्रधानत्व में बड़े समारोह के साथ हुआ।

महात्मा जी ने आर्य युवकों को बड़े ज़ोर दार शब्दों में धर्म, देश और जाति की सेवा करने का संदेश देकर प्रोत्साहित किया और उनको सत्यार्थप्रकाश सम्बन्धी आन्दोलन में बड़ी से बड़ी बलि देने के लिये भी तत्पर रहने की प्रेरणा की। सम्मेलन ने खुले अधिवेशन में एक प्रस्ताव द्वारा यह घोषणा की कि भारतवर्ष के आर्यकुमार सत्यार्थप्रकाश की हर प्रकार से रक्षा करेंगे और अवसर आने पर इसके लिये बड़े से बड़ा कष्ट सहन करने में पीछे नहीं रहेंगे।

परिषद् के जीवन प्राण डा० युद्धवीर सिंह जी यदि आज जेल के सींकचों से बाहर होते तो इसमें कोई सन्देह ही नहीं कि परिषद का कार्य और अधिक संगठित तथा विस्तृत होता। फिर भी धार्मिक परीक्षाओं का पिछले वर्षों की अपेक्षा अधिक प्रचार और विस्तार हुआ है। बिहार प्रान्तीय आर्य कुमार परिषद ने जो कार्य किया है वह सराहनीय है। पंजाब प्रान्त में भी कुछ आर्य कुमार सभाएं और स्थापित हुई हैं। इस प्रकार परिषद का कार्य आर्य कुमारों के संगठित करने के लिये चल रहा है।

आज की कठिन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए आर्य समाज के विद्वान् इस बात को अनुभव करेंगे कि आज के नवयुवक कुमार और कुमारियां एक ऐसे पथ पर जा रहे हैं जो भारतीय

संस्कृति को भारी आघात पहुँचाने वाला मार्ग है। उस मार्ग से हटाने के लिये प्रत्येक आर्य को कोई न कोई यत्न करना ही चाहिये। युवकों के सन्मुख यदि उत्तम प्रकार के विचारों को रखने का यत्न किया जायगा तो उनकी प्रवृत्ति एक श्रेष्ठ मार्ग की ओर अग्रसर होगी। यदि उनके सन्मुख शुभ विचारों के प्रस्तुत करने का कोई कार्यक्रम ही न होगा तो वे दूषित प्रवृत्तियों के शिकार बनते रहेंगे। इस सम्बन्ध में स्व० ला० लाजपतराय जी ने जो चेतावनी आर्य समाजों को उस समय दी थी वही आज भी उपयुक्त ठहरती है। उन्होंने कहा था—"यदि आर्य समाजें देश के सार्वजनिक जीवन में अपना स्थान बनाये रखना चाहती हैं तो उन्हें एक क्रियाशील जीवन व्यतीत करना चाहिये। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ रहती हैं तो उन्हें इस बात पर शोक नहीं होना चाहिये कि उनकी उपेक्षा की जाती है। वास्तव में यदि वह अपने से अधिक जीवित और प्रगतिशील संस्थाओं द्वारा पिछड़ जाती है तो उन्हें आश्चर्य नहीं होना चाहिये।"

इसी प्रकार स्व० डा० केशवदेव जी शास्त्री ने कुमारों को प्रोत्साहन देते हुए कहा था "उठो और मनुष्य के कल्याण का व्रत धारण करो। आपकी सच्ची प्रेम भरी वाणी बड़ी बड़ी अट्टालिकाओं और दरिद्रियों की कुटियों में से अनेक दुखियों को बाहर लायेगी। पीड़ित नारी, युवक वृद्ध आपके करुणा भाव को देखकर आपकी शरण में आयेंगे।"

यदि आज भी करुणा पुकार को आर्य युवक सुनें और उसे दूर करने का यत्न करें तो भारत में एक उत्तम प्रकार का वातावरण बन सकता है।

"आर्यकुमारों के उत्साह भंग करने से आर्य समाज की क्षति होगी" इन शब्दों में सार है। "आर्यकुमारों की उन्नति के लिये आर्यसमाज के संचालकों को पूर्ण यत्न करना चाहिये।" इन शब्दों में एक विशेष चेतावनी दी है। आर्यकुमार परिषद् के सम्मेलनों के सभापति पद को सुशोभित करने वाले श्री नारायण स्वामी जी पं० गंगाप्रसाद जी एम० ए०, भाई परमानन्द जी, पं० इन्द्र जी, देशभक्त ला० देशबन्धु जी, रायसाहब सेठ मदनमोहन जी, पं० रामचन्द्र जी देहलवी, पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय, पं० बुद्धदेव जी, महात्मा खुशहालचंद जी, डा० परमात्माशरण जी आदि विचारशील विद्वान आर्यकुमारों को प्रोत्साहन देकर उन्हें मार्ग प्रदर्शन कर सकते हैं। इन सब महानुभावों के उद्योग से तो आर्यकुमार सारे भारत में अपना विस्तार कर सकते हैं। अन्त में हम आशा करेंगे कि अपने आर्य युवकों के लिये आर्य समाज के नेता, संचालक, हितैषी सहायता प्रदान करने में कोई त्रुटि न रक्खेंगे।

हस्त लिखित सत्यार्थ प्रकाश

(लेखक—श्री अलखधारी जी, मुरादाबाद—प्रधान, आर्य समाज पटियाला)

स्वर्गीय राजा जयकृष्ण दास जी की कोठी (दीवान का बाजार, मुरादाबाद) में मैंने उनके पौत्र कुमर सर जगदीश प्रसाद जी, के० सी० आई० ई० की अनुमति से २७ अक्टूबर १६४४ शुक्रवारको सत्यार्थप्रकाश की हस्तलिखित प्रति का अवलोकन किया। पूर्वार्द्ध में १० समुल्लास और ५१४ हस्त लिखित पृष्ठ हैं। उत्तरार्द्ध में ४ समुल्लास और ५६५ पृष्ठ हैं, परन्तु उत्तरार्द्ध के ३७४ से ३७७ तक (४ पृष्ठ) गुम होगये हैं। ११ वें समुल्लास में आर्यवर्त देश के धर्मों के विषय का वर्णन है। बारहवें समुल्लास में जैन व बौद्ध ग्रन्थों पर समालोचना की गई है। १३ वें समुल्लास में कुरान के विषय अथवा मुसलमानों के मत का वर्णन है। १४वें समुल्लास में बाइबिल तथा ईसाई मत के सम्बन्ध में सम्मति प्रगट की गई है। पूर्वार्द्ध के ५१४ हस्तलिखित पन्नों पर कहीं २ स्वामी जी के हाथ के संशोधन मिलते हैं। परन्तु उत्तरार्द्ध में स्वामी जी के हाथ का संशोधन देखने में नहीं आया।

इस सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण सन् १८७५ में छपा था। मुख पृष्ठ इस प्रकार है :—

अत सत्यार्थ प्रकाश श्री स्वामी दयानन्द रचित, श्री राजा जयकृष्णदास बहादुर, सी० एस० आई० की आज्ञानुसार मुन्शी हरवंशलाल के अधिकार से Star Press (स्टार प्रेस) मौहल्ला रामापुर (बनारस) में छापी गई। सन् १८७५ ई० में पहिली बार १००० प्रति मूल्य ३) प्रति।

इस छपे हुये सत्यार्थप्रकाश में ४०७ पन्ने हैं और पहिले १२ समुल्लास सम्मिलित हैं। हस्त लिखित सत्यार्थ प्रकाश का सम्पूर्ण पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के पहिले १८६ पन्ने इस छपी हुई पुस्तक में शामिल हैं। इस्लाम तथा ईसाई मत सम्बन्धित समुल्लास नहीं छापे गये थे। इस आदि सत्यार्थ प्रकाश की हिन्दी भाषा और प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश की भाषा में कुछ अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय तक स्वामी जी को हिन्दी बोलने का अभ्यास पूरा २ नहीं हो पाया था।

हस्त लिखित प्रति के उत्तरार्द्ध पृष्ठ १८७ से प्रारम्भ होकर ३६२ (कुल १७५) पृष्ठ तक इस्लाम मत व कुरान का वर्णन व समालोचना अंकित है। आरम्भ में हजरत मौहम्मद साहिब का जीवन चरित्र है तथा अरब देश की तत्कालीन परस्थिति का वर्णन है। प्रथम के १२ पन्नों में भूमिका ही है। सूरे और सिपारे की विभक्ति और उनका मक़सद विस्तार पूर्वक प्रकट किया गया है। पृष्ठ १९९ से कुरान शरीफ़ की आयतें

शुरू होती हैं और उन पर समालोचना की गई है। इस सत्यार्थ प्रकाश में जो समालोचना अंकित है वह प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश से बहुत भिन्न प्रतीत होती है। श्री स्वामी जी ने इस समुल्लास में यह भी लिखा है: -

"जितना हमने लिखा है इसका यथावत सज्जन लोग विचार करें। पक्षपात छोड़कर तो जैसा हमने लिखा है वैसा ही उनको निश्चय होगा।"

"यह कुरान के विषय में जो लिखा गया है सो पटना शहर ठिकाना गुरहट्टी में रहने वाले मुंशी मनोहर लाल जो कि अरबी में भी पंडित हैं उनकी सहायता से और निश्चय करके हमने लिखा है। अधिक विचार सज्जन लोग अपनी बुद्धि से करलें।

जीवन वृत्तान्त—

इस पुस्तक में ऋषि ने अपना कुछ जीवन चरित्र भी वर्णन किया है, जो इस प्रकार है:—

"मैंने अपने घर में कुछ वेद का पाठ और विद्या पढ़ी नर्वदा तट में दर्शन शास्त्रों को पढ़ा। फिर मथुरा में श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती दण्डी जी से पूर्ण व्याकरण आदि विद्या का अभ्यास किया।"

"दण्डी स्वामी बड़े विद्वान् थे। उनके पास रहकर सब शंका समाधान किये।"

"फिर मथुरा से आगरा नगर में दो वर्ष तक स्थित की। वहां आर्य मुनियों के सनातन पुस्तक और नवीन पुस्तक बहुत मिले उनको विचारा फिर ग्वालियर में स्थित की। वहां भी जो जो पुस्तक मिलीं उनको विचार किया। ऐसे ही देश देशान्तरों में भ्रमण किया। जहां २ जो पुस्तक मिली उनका विचार किया।"

"यदि कहीं मुझको शंका रह जाती थी उनका स्वामी जी से यथावत् उत्तर पाया। "पुस्तकों के देखने के बाद एकान्त में जाकर विचार किया। अपने हृदय में शंका और समाधान किये।" "दीर्घ काल तक एकान्त देश में निवास करके योग और ब्रह्मचर्य द्वारा बुद्धि को शुद्ध निर्मल और एकाग्र चित्त कर स्वाध्याय और आन्दोलन के पश्चात् ऋषि के हृदय में यह ठीक २ निश्चय होगया कि वेद और अन्य शास्त्र जो ऋषि मुनियों ने प्राचीन काल में रचे थे वही सत्य धर्म का प्रतिपादन करते हैं।"

"उन ग्रन्थों में कोई असम्भव या अयुक्त कथा नहीं है। जो कुछ उन शास्त्रों में लिखा है वह सत्य पदार्थ विद्या है और संसार के सब मनुष्यों के वास्ते हितोपदेश है। इन प्राचीन ग्रन्थों के पढ़ने के बिना मनुष्य को यथार्थ ज्ञान होना दुर्लभ है। इसलिये इन ग्रन्थों को अवश्य पढ़ना चाहिये।"

आदर्श दिनचर्या-

आर्य गृहस्थी नर नारियों व अन्य सब मनुष्यों के हितकारक की किस प्रकार दिनचर्या होनी चाहिये इस सम्बन्ध में भी ऋषि ने इस पुस्तक में बहुत कुछ प्रकाश डाला

है। उनके आदेशानुसार एक प्रहर (३ घन्टे) रात्रि रहे तब उठ बैठना चाहिये। शौच आदि क्रिया से निवृत होकर कुछ भ्रमण शुद्ध देश में करें जहां २ शुद्ध वायु हो।

एकान्त देश में जाकर गायत्री मंत्र आदि का अर्थ सहित विचार करके परमेश्वर की स्तुति करें।

फिर प्रार्थना करें कि "हे परमेश्वर आपकी कृपा से हम पवित्र हों और धर्म तथा अच्छे गुणों के ग्रहण करने में सदैव तत्पर रहें। आपकी कृपा ही से जो अच्छा होता है सो होता है। सब जीवों पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि मनुष्य मात्र आपकी आज्ञा से सद्गुण ग्रहण करें और आपके स्वरूप में ही विश्वास करके स्थित होवें।"

इसके पश्चात् उपासना करें। सर्व इन्द्रियों, प्राण व जीवात्मा को एकत्र स्थिर करके समाधिस्थ होकर अनन्त परमेश्वर के आनन्द में मग्न हो जावें। चिरकाल ऐसा परमेश्वर का ध्यान करें।

कनिष्ट बुद्धि वाला अग्नि होत्रादि कर्म काण्ड करे। मध्यम बुद्धि वाला योगाभ्यास करे। तीव्र बुद्धि अथवा शुद्ध हृदय हों सो विचार व ब्रह्म विद्या में तत्पर रहें जो ज्ञान काण्ड कहाता है, विवेक आदि जिसके साधन हैं।

कर्म काण्ड और उपासना काण्ड ज्ञान प्राप्ति के वास्ते ही हैं।

जब एक घंटा दिन चढ़ आवे उसके पीछे एक घंटा तक ग्रह सम्बन्धी और जो अन्य अपने करने का काम हो वह भी उसी समय करें जिस व्यवहार में जैसी प्रतिज्ञा करे उसको वैसा ही पूरा करे। प्रतिज्ञा हानि से, अर्थात् जैसा कहे वैसा न करने से मनुष्य के सब व्यवहार छिन्न भिन्न और नष्ट हो जाते हैं। जो व्यवहार जिस वक्त करने का हो उसको वैसे ही और उसी वक्त करे।

जितने पशु और पदार्थ अपने अधीन हों उनका यथावत् पालन करे। जितने कुटुम्ब के जीव हों या घर के पदार्थ हों उनकी यथा योग्य रक्षा करें।

घर के जितने काम हों वह सब स्त्री के ऊपर सौंपें और जो अपना व्यवहार हो वह धर्म युक्त करें, अधर्म से नहीं। दस बजे के समय भोजन करें। वैदिक शास्त्र की रीति से विचार और संस्कार करके जो जिसका व्यवहार हो उसको यथावत् करें।

जब दो घंटा दिन शेष रहे तब व्यवहार आदि कार्यों को छोड़ करके शारीरिक शौच आदि कर्म करें। एकान्त में जाकर परमेश्वर की यथोक्त स्तुति प्रार्थना व उपासना करें। जिसने अग्नि होत्रादि कर्म करना हो सो करें।

सूर्य से एक घंटा पहिले सायंकाल का भोजन करें। फिर एक प्रहर रात्रि जब तक न आवे तब तक व्यवहार का काम करें। फिर शयन करें। रात्रि शयन के लिये दो प्रहर (६ घंटे) का समय निश्चित किया है।

प्रत्येक मनुष्य को अपनी स्त्री व कुटुम्ब को सदैव प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना

चाहिये, अपने सन्तानों को विद्या आदि गुण ग्रहण कराने के वास्ते ब्रह्मचर्याश्रम और वीर्यादि की रक्षा करनी चाहिये। कपट और कूल को छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक मनुष्यमात्र से मिलाप रक्खे और एक दूसरे की सहायता करे। सबका हित चाहे। अहित किसी का न चाहे।

दीन और अनाथों का पालन करें। नित्य सत्पुरुषों के सत्संग से बुद्धि और नम्रता आदि गुणों का ग्रहण करें और उनका अभ्यास करें। कोई से हठ, दुराग्रह, अभिमान युक्त होकर वाद विवाद न करें।

वेद भाष्य और वेद विषयक साहित्य

[लेखक— श्री पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार, मीमांसा तीर्थ अजमेर]

महर्षि दयानंद ने प्राचीन संस्कृति को पुनः प्रवृत्त करने के लिये पौराणिक युग को परिवर्तन करके पुनः वैदिक युग को लाने की चेष्टा सर्व प्रथम की और उसका श्री गणेश सर्व प्रथम वेद भाष्यों से ही किया है। आर्य समाज के प्रवर्त्तक ने आर्य समाज को वेद प्राण बनाया है। हम इस लेख में आर्य समाज क्षेत्र में वेद भाष्य व वैदिक साहित्य का अनुशीलन करेंगे।

ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य—

ऋषि दयानंद ने जिस प्रकार के वेद भाष्य प्रस्तुत किये उनकी अपनी अद्भुत विशेषता है, ऋषि दयानंद अपने वेद भाष्यों से जहां जनता के बीच वैदिक संस्कृति का साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे वहां साथ ही शिक्षित और अशिक्षित जनता के बीच में अपने से पूर्व के भाष्यकारों के भाष्यों से फैले अनेक भ्रमों को दूर भी करना चाहते थे। यही कारण है कि उनकी भाष्य शैली अन्य भाष्यकारों से कहीं भिन्न है। यदि ऋषि दयानंद केवल भाष्य रचने के उद्देश्य से भाष्य रचते तो कदाचित् वे भी सायण, महीधर, उवट के समान कोरे टीकाकारों की शैली से अन्वय योजना के साथ २ पर्याय पद रखकर भावार्थ लिखते जाते, कई पक्ष दिखा देते, निश्चय से ऐसा करने से उनका भाष्य संस्कृतज्ञ पण्डित जन-समाज में बहुत भारी आदर पाता। यदि वे दार्शनिक शैली से वा अध्यात्म दृष्टि से व्याख्या करते तो वे एक अपूर्व आदर पाते। परन्तु ऋषि दयानंद के समक्ष ऐसा विचार-लक्ष्य लवलेश मात्र भी न था। आपने अपने भाष्य में सर्वप्रथम पद पाठ को दर्शाकर अनन्तर पदार्थ-भाष्य किया है अर्थात् संहिता क्रम से पढ़े वेद मन्त्र के पदों के पृथक् २ अर्थ संस्कृत में पर्याय दे देकर बतलाया है, फिर अन्वय योजना बतलाई है, इसके पश्चात् अन्वयानुसारी भाषार्थ किया गया है और इसके अनंतर भावार्थ दिया गया है।

भाषा में पदार्थ भाष्य करने वाले बादके पण्डितों ने अनेक स्थानों पर भाषा जिस

उत्तम शैली से बनानी चाहिए थी बनाने में सफलता प्राप्त नहीं की, इसी कारण अनेक स्थलों में जहां ऋषि दयानंद ने एक पद के अनेक अर्थ दर्शाए हैं, वहां उन उन पदों को भाषान्तरकारों ने स्पष्ट नहीं किया, और इसी कारण वह भाषान्तर पाठकों को अरुचिकारक, चमत्कार व योजना-रहित, भावबन्धन में ढीला सा जंचता है। ऋषि दयानंद के भाष्यों की भाषा का अवश्य इस ढंग पर परिष्कार होना चाहिये। इससे अनेक वैज्ञानिक रहस्य भी खुलने सम्भव हैं।

खेद है कि ऋषि दयानंद के भाष्य उनके जीवन काल में पूर्ण नहीं हुए और वेदों के अनेक विवादास्पद स्थल ऋषि दयानन्द की लेखनी से स्पष्ट नहीं हो सके। यद्यपि इस प्रकार की अनेक समस्याओं के सुलझाने का स्वल्प निर्देश ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में कर दिया है तो भी जब तक संदेह स्थलों पर पूर्ण परिष्कार नहीं होता शंका निवृत्त नहीं होती।

ऋषि दयानंद का दृढ़ विश्वास था कि आर्य सभ्यता का आधार वेद हैं, वेद के मंत्रों में पूर्ण ज्ञान है जिसके आधार पर समस्त मानव समाज आध्यात्मिक, सामाजिक, शारीरिक और मानसिक उन्नति कर सकता है। फलतः वेदों में आदर्श दर्शनशास्त्र (Philosophy), आदर्श धर्म शास्त्र या स्मृति अर्थात् ((Law), आदर्श कर्त्तव्य शास्त्र (Ethics) आदर्श भौतिक और रसायन विद्या (Physics & Chemistry), ज्योतिष Astronomy, चिकित्सा (Therapy) औदि युद्ध, राष्ट्र निर्माण समाज निर्माण आदि (Battle, Politics, and Sociology) अनेक विज्ञान पर्याप्त रूप में हैं। वे किस प्रकार हैं, इस बात को दर्शाने के लिये ऋषि दयानंद को पर्याप्त अवसर नहीं मिला, यदि ऋषि दयानंद भाष्य पूर्ति कर लेने के अनन्तर उस पर उहा पोह का अवसर पाते तो ऋषि की लेखनी से अपूर्व वैदिक साहित्य की उत्पत्ति होती, अभी समस्त आर्य जगत् के विद्वानों ने मिलकर के एकदशांश की भी पूर्ति नहीं की।

लोगों को धार्मिक ग्रंथों में वैज्ञानिक तत्वों का वर्णन कुछ अटपटा प्रतीत होता हैं, इसी कारण पौराणिक समस्त धार्मिक साहित्य में कहीं भी किसी प्रकार के विज्ञान व शिल्प की चर्चा नहीं के तुल्य है। इसी कारण शिल्पों का लिखित पठित समाज में प्रचा नहीं है, शिल्पी वर्गों में स्वाध्याय और शिक्षा का सर्वथा अभाव रहा। जिन शिक्षित सम्प्रदायों ने आजीविका के लिये शिल्प विज्ञान-कला कौशल को आश्रय दिया वे वंशतः ब्राह्मण वर्ग होकर भी उनको उस वर्ग से च्युत करने का यत्न किया गया। इसी कारण भारतवर्ष अनेक प्रकार की अवनतियों में गिरा और विमान, नौका, आदि अनेक प्राचीन कालिक उन्नत शिल्पों से सदा के लिये रहित हो गया। परन्तु ऋषि दयानंद ने फिर से इस विषय को वेद मंत्रों के आधार पर प्रगट किया। उनके भाष्य में अनेकों स्थान पर नौका, विमान, तार, विद्युत आदि का वर्णन मिलता है।

ऋषि दयानन्द की शैली से पद पदार्थ दर्शाते हुये अन्य भाष्यकार–

(१) स्व० पंडित तुलसीरामजी स्वामी मेरठ–आपने सामवेद का संस्कृत आर्य भाषा में भाष्य रचा।

(२) स्व० पं० आर्य मुनि जी–ऋषि की शैली से ऋग्वेद के ८ वें, ९ वें मंडलों का भाष्य किया। उपनिषदों, दर्शनों के भाष्य में आपका अधिक समय लगा।

(३) स्व०पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ– आपने ऋग्वेद के ७–८–९ मंडलों का आर्यशैली से भाष्य किया। आपने ओंकार निर्णय, त्रिदेव निर्णय, वैदिक इतिहासार्थ निर्णय ग्रन्थ भी रचे।

(४) स्व० पं० क्षेमकरण जी त्रिवेदी– अथर्ववेद का पूर्ण भाष्य आपका स्तुत्य प्रयत्न है।

(५) श्रीमान् पं० दामोदर सातवलेकर जी–आपने वेदों के विभिन्न विषयों पर पुस्तकें रची हैं। ऋग्वेद के पृथ्वी सूक्त का मराठी भाषान्तर किया है। आपने अपने स्वतंत्र विचारों का अधिक आश्रय लिया है।

(६) पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री वेद शिरोमणि–वेदों का वैज्ञानिक ढंग से भाष्य करने का आपका प्रयत्न सराहनीय है। आपने पं० प्रियव्रत जी के साथ मिलकर यजुर्वेद का हिन्दी अनुवाद किया।

(७) श्री पं० प्रियव्रत जी– आपने यम पितृ परिचय, वैदिक मनोविज्ञान, अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र आदि अनेकों ग्रन्थ रचे हैं।

(८) श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ–"वैदिक संस्थान" नाम की स्वतंत्र संस्था द्वारा आप लाहौर में वैदिक साहित्य लिखने व प्रकाशित करने का सराहनीय कार्य कर रहे हैं। वेदामृत, वैदिक धर्म, वैदिक स्वदेशभक्ति आदि अनेकों पुस्तकें आपने रची हैं।

(९) श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यालंकार– आपकी वैदिक पशु यज्ञ मीमांसा रचना विशेष महत्व की है।

(१०) श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार– आपने शतपथ ब्राह्मण के एक काण्ड का अनुवाद किया है। आपने देवयज्ञ, पचयज्ञ प्रकाश आदि पुस्तकें भी लिखी हैं।

(११) श्री पंडित भगवतदत्त जी बी० ए० रिसर्चस्कालर लाहौर– ऋषि दयानन्द के सिद्धांत आपके प्राण हैं। उनकी खोज व उनके विस्तार में आपका जीवन लग रहा है। 'ऋग्वेद के व्याख्यान' आपकी एक उत्तम अनुशीलनपूर्ण पुस्तक है।

(१२) श्री पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार मीमांसा तीर्थ--(लेखक) आपने

चारों वेदों का सरल भाष्य किया है जो १४ खण्डों में प्रकाशित हो चुका है।

(१३) श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु--यजुर्वेद भाष्य पर टिप्पणी रूप में आपने अनुभाष्य किया है।

(१४) स्वामी अभयदेव सन्यासी--वैदिक विनय ग्रन्थ आपका विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ है।

(१५) स्व० पं० चमूपति जी एम०ए०-आपने बहुत सा वैदिक साहित्य लिखा है।

(१६) श्री १०८ स्वामी नित्यानन्द जी विश्वेश्वरानन्द जी- आपने वेद संहिताओं की पदानुक्रमणियें प्रकाशित करने के लिये एक ट्रस्ट बना कर बड़ा कार्य किया है।

(१७) स्व० राज्यरत्न श्री आत्माराम जी अमृतसरी-संस्कार चंद्रिका आपका जीता जागता ग्रन्थ आर्य समाज का गौरव बढ़ाता है।

(१८) श्री० पं० शुद्धबोध जी तीर्थ-आप व्याकरण के सुयोग्य पंडित थे। आपकी 'तत्व प्रकाशिका' पुस्तक इस विषय का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(१६) श्री पं० नरदेव शास्त्री वेद तीर्थ--आपने 'ऋग्वेदालोचन' ग्रंथ लिखा है।

(२०) स्वर्गीय श्री० पं० भीमसैन शर्मा इटावा--आपका उपनिषत्त-समुच्चय ख्याति प्राप्त ग्रंथ है।

(२१) स्व० श्री पं० राजाराम शर्मा-आपने उपनिषदों का भाष्य करके ख्याति प्राप्त की।

(२२) श्री स्वामी भूमानन्द जी सरस्वती-आंग्ल भाषा में आपने बहुत सा वैदिक साहित्य लिखा है।

(२३) स्व० श्री स्वामी अच्युतानन्द जी--आपने चारों वेदों के सौ सौ वेद मंत्रों का संग्रह तैयार किया था।

(२४) स्वर्गीय श्री पं० रघुनन्दन जी शर्मा--'वैदिक सम्पत्ति' ग्रंथ आपके परिश्रम का फल है।

(२५) श्री महात्मा नारायण स्वामी जी--उपनिषदों की सरल व्याख्या आपका विशेष प्रयत्न है। आपका आत्म दर्शन ग्रंथ एक आध्यात्मिक ग्रंथ माना जाता है।

टिप्पणी-सुयोग्य लेखक द्वारा विस्तृत परिचय स्थानाभाव से नहीं दिया जा सका।

- सम्पादक

शुद्धि आन्दोलन

[लेखक—श्री देवप्रकाश जी प्रधान मंत्री शुद्धि सभा आगरा]

महर्षि दयानन्द के पुण्य प्रताप से भारतीय हिन्दू जाति जागृत हुई और उसने यह अनुभव किया कि जब तक ईसाई और मुसलमान होने से अपने भाई बहिनों को न बचाया जायगा और जो मुसलमान या ईसाई हो गये हैं उन्हें फिर से शुद्ध करके हिन्दू धर्म में प्रविष्ट न किया जायगा तब तक हिन्दू जाति सुरक्षित नहीं रह सकती।

सन् १६०८ ईस्वी की घटना है कि मद्रास प्रान्त में ईसाइयत प्रचार के अभिप्राय से "पादरी राबर्ट डोनो बीबी बस" एवं "पादरी आर० सी० बस चीसा" ने ब्राह्मण रूप बना और क्रमशः तत्त्व बोध गिरि स्वामी व बी राम मुनि नाम रख पीताम्बर, धोती पहिन, चन्दन लगा तथा सूर्य को जल चढ़ाकर लोगों से प्रथम संसर्ग पैदा किया, उस संसर्ग के उपरान्त जब परस्पर कुछ खान-पान का व्यवहार हो गया, तो पादरियों ने अवसर देख अपने ईसाई होने की घोषणा करदी फिर क्या था बात की बात में विप्र मण्डल ने एकत्र हो उक्त संसर्गित लोगों के जाति बहिष्कार की घोषणा करदी। बहिष्कृत समुदाय का नम्रतापूर्वक अपना बार २ हिन्दुत्व प्रगट करना भी अरण्य-रोदनवत् सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार बङ्गाल की प्रसिद्ध घटना है कि एक नवाब साहब ने स्वासिक चांवल बनवाये तदनन्तर पड़ोसी ब्राह्मणों से पूछा कि क्या आप लोगों ने आज चांवलों की सुगन्ध का अनुभव किया, उत्तर में हां पाया। इस पर नवाब साहब ने कहा कि चांवल हमारे उच्छिष्ट थे, अब तो तुम लोग मुसलमान होगये और जाति ने भी नवाब साहब के कथन की पुष्टि करते हुये उन्हें जाति च्युत मान लिया।

तृतीय घटना कश्मीर की है कि सिकन्दर-बुत-शिकन और उसके लड़के सुल्तान अलीशाह ने कश्मीर के हिन्दुओं को बलात यवन बनाया परन्तु जैनुलआबदीन ने उन हिन्दुओं को जो कि बलात् यवन किये गये थे पुनः हिन्दू धर्म में जा सकने का अवसर दिया, किन्तु हिन्दू-समाज ने उन्हें नहीं अपनाया, परिणाम स्वरूप आज वहां की ६० प्रतिशत जनसंख्या यवन है।

इस प्रकार की अनेक घटनायें इतिहास में अङ्कित हैं, अभिप्राय यह है, कि जो व्यक्ति (बल से, लोभ से, वञ्चना से अथवा मिथ्याभियोग से) किसी भी प्रकार धर्म्म च्युत होगया कि बस हिन्दू धर्म के दरवाजे उसके लिये बन्द होगये। आर्य समाज ने इस धर्म के रहस्य को समझा और उसका उपचार किया।

हुतात्मा श्री पं० लेखराम जी आर्य-मुसाफिर की ओजस्विनी एवम् प्रभावशाली वक्तृताओं से प्रभावित होकर कई मौलवी इसलाम को छोड़कर वैदिक धर्म की शरण में आये जिनकी सूची श्री० पण्डित जी ने कुल्लियात में दी है, इसी प्रकार आर्य समाज ने

भी स्थान २ पर धर्म-विमुख भाइयों को अपनाकर वैदिक धर्म में सम्मिलित किया इस कार्य को करते हुये उन्हें अपने ही भाइयों की ओर से भीषण कष्ट सहने पड़े जिनका स्मरण करने से हृदय कांप उठता है, ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्तों ने अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते हुये भी बड़ी दृढ़ता से इस पतित पावन शुद्धि को प्रचलित रक्खा।

आर्य समाज का शुद्धि कार्य बड़ा विस्तृत है, व्यक्तिगत शुद्धियों के अतिरिक्त सर्व प्रथम सामुहिक रूप से जो शुद्धियां हुईं उनमें जिला गुरुदासपुर, कांगड़ा, सियालकोट के डूमना और मेघ जातियों की थीं। इस शुद्धि के संचालक श्री रामभजदत्त जी वकील थे इन जातियों की शुद्धि का काम दीनानगर में संभवतः १९०८ में प्रारम्भ हुआ। १५००० के लगभग डोम और मेघ जाति के लोग शुद्ध होने के लिये स्थान २ से आकर एकत्रित हुये जो शुद्ध किये गये। जिला सियालकोट की शुद्धि के प्रमुख नेता श्री० लाला गंगाराम जी वकील थे। पौराणिक हिन्दुओं के तीव्र विरोध एवम् कठिनाइयों का सामना करते हुये आर्य समाज ने इस काम को अत्यन्त दृढ़ता से गतिशील रक्खा यहां तक कि तीनों जिलों में से दोनों जातियां पूर्णतया शुद्ध होती गईं। जिला सियालकोट से यह शुद्धि आन्दोलन जम्मू रियासत में फैला। वहां तो आर्य पुरुषों ने महान कष्ट उठाये। हुतात्मा श्री० आर्य वीर रामचन्द्र जी की हत्या जिस निर्दयता से की गई वह उन दुःखद घटनाओं का जीता जागता उदाहरण है। इसी प्रकार एक "मेघ" भाई को जिसे यज्ञोपवीत दिया गया था, जात्याभिमानी अत्याचारी हिन्दुओं ने यज्ञोपवीत तोड़कर यज्ञोपवीत के समान शरीर पर लोहे का दाग गरम करके दाग लगा दिया और कहा कि "अब तुम्हे हमने स्थायी यज्ञोपवीत दे दिया" इसी प्रकार के अनेकों कष्ट डूमना और मेघ जाति की शुद्धि में, आर्यों को हुये।

तदनन्तर जिला होशियारपुर के कबीर पन्थियों की शुद्धि श्री० लाला देवीचन्द जी के प्रयत्नों से हुई। शुद्धि के पश्चात् आर्यों ने रचनात्मक कार्य प्रारम्भ किया। परिणाम स्वरूप इन्हीं जातियों के लोग वकील, प्रिन्सिपल, मास्टर, डाक्टर, उपदेशक आदि बने और ये जातियां जिन्हें, हिन्दू छूना भी पाप समझते थे। आर्य समाज ने उन्हें मनुष्यता के अधिकार दिलाकर, सवर्णीय हिन्दुओं के सदृश्य अच्छे नागरिक बना दिये। इन शुद्धियों के अनन्तर, सबसे महत्त्वपूर्ण शुद्धि मलकाना आदि जातियों की है, ये जातियां यू० पी०, राजपूताना, मारवाड़, बरार, बड़ौदा, बलिया, गोरखपुर, भैड़ायच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, अलाहाबाद, बदायूं, बनारस, गुड़गांवा, मैनपुरी, एटा, इटावा, फरुखाबाद और समस्त अवध प्रान्त में बसी हैं। प्रान्तीयता तथा जातीय भेद के कारण ये विभिन्न नामों से प्रसिद्ध हैं। आगरा, मथुरा, भरतपुर, में मलकाना अलीगढ़ में "लालखानी" और "मलखाने" जयपुर, जोधपुर और बीकानेर आदि में "कायम खारी" बड़ौदा में "मूले इस्लाम" ब्यावर में "महिरावत" "रावत" इन नामों से

सम्बोधित किये जाते हैं। ये लोग राजपूत वंश से सम्बन्धित हैं, अलवर और भरतपुर में "मेटह" "लालदासी" मलकाने जोगी और भाट मेरठ और मुजफ्फरपुर में मुहयाल, जाट और गूजर गुड़गांवा में गूजर जाट, मलकाने। बलिया, गोरखपुर में भाट। मुरादाबाद और बरार में घोसी, भैड़ायच में जोगी और घोसी इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी इसी तरह की कई अन्य जातियां भिन्न २ स्थानों में हैं। इनके एक दो रिवाजों को छोड़कर बाकी सब रहन सहन के ढङ्ग हिन्दुओं के सदृश्य हैं।

शुद्धि का प्रारम्भ–सर्व प्रथम श्री पं० लेखराम जी आर्य मुसाफिर का आगरा में आगमन हुआ, उन्होंने आगरे के आर्य समाजियों का ध्यान इन लोगों की ओर आकर्षित किया, तथा आगरा आर्य समाज में कुछ व्यक्तियों को शुद्ध भी किया। तब से आर्य समाज आगरा ने आसपास के मलकानों से मेल जोल और संपर्क बढ़ाना शुरू किया। १६०१ के पश्चात् सवर्गीय श्री महात्मा हंसराज जी और पंजाब केसरी श्री लाला लाजपत राय जी ने कई बार श्री बाबू नाथमल जी को लाहौर से आगरा की ओर शुद्धि कार्य के लिये भेजा, और इसके अतिरिक्त स्वर्गीय लाला रामप्रसाद जी बी० ए० रईस शाहबाद ने श्री महात्मा जी के आदेशानुसार ३ वर्ष के लिये उपदेशकों के रूप में वेतन लेकर मलकाना शुद्धि के लिये कार्य किया। आगरा आर्य समाज ने १६०६ में गुथला निवासी मलकानों को स्थानीय आर्य समाज में शुद्ध किया, इसके पश्चात् स्वर्गीय श्री पं० भोजदत्त जी ने मलकाना शुद्धि का कार्य अपने हाथ में लिया और दीग आदि मलकानों के कई गांव शुद्ध किये। किन्तु उन हिन्दू राजपूतों ने शुद्ध हुये मलकानों को अपने सम्पर्क में नहीं आने दिया, अतः यह आन्दोलन आगे न बढ़ सका। इसी बीच में बंथरा के प्रसिद्ध ठाकुर बलवंत सिंह जी आनरेरी मजिस्ट्रेट हिन्दू धर्म में दीक्षित होने के लिये सहमत हुये, उन्होंने श्री बाबू नाथमल जी द्वारा श्री महात्मा हंसराज जी को संदेश भेजा कि यदि ईडन नरेश सर कर्नल प्रतापसिंह जी, हमारे यहां पधारें तो हम हिन्दू धर्म में, प्रविष्ट हो जायेंगे। किन्तु किन्हीं कारणों वश ऐसा न हो सका। आर्य प्रतिनिधि सभा यू० पी० की ओर से मलकानों में व्यवस्थित रूप से कार्य हो रहा था। फलतः बंथरा निवासी श्री ठाकुर बलवंत सिंह जी का उच्च परिवार श्री पं० भगवानदीन जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा यू० पी० द्वारा नियमपूर्वक शुद्ध होकर हिन्दू धर्म में दीक्षित होगया। आगरा आर्य सभाज और प्रतिनिधि सभा यू० पी० की ओर से एक ओर मलकाना जाति में और दूसरी ओर हिन्दू राजपूतों में कार्य जारी रहा। उधर मलाबार मोपला विद्रोह की अग्नि धधक पड़ी। मोपला लोगों ने जहां हिन्दुओं को लूटा, घर बार जला दिये। वहां हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाने का घृणित कार्य भी बड़े उग्र रूप से किया। जिसने मुसलमान होना अस्वीकार किया उनकी निर्दयता–पूर्वक हत्या करके उनके मृत शरीरों को अन्धकार–युक्त कूपों में डाल दिया गया। इस रोमाञ्चकारी दुर्घटना

से हिन्दुओं की आंखें खुलीं। हिन्दू अग्रगण्य नेताओं और विद्वानों ने बलात् मुसलमान बनाये गये हिंदुओं के विषय में व्यवस्थायें दीं कि ये लोग पुनः शुद्ध होकर हिंदू धर्म में सम्मिलित हो सकते हैं। आर्य प्रादेशिक सभा पञ्जाब की ओर से श्री महात्मा हंसराज जी की देखरेख में मालावार के बैठौर ठिकाने के आपत्ति-ग्रस्त हिंदुओं की सहायता और शुद्धि का कार्य आरम्भ किया। सभा के वर्तमान प्रधान श्री महात्मा खुशहाल चंद जी के साथ इस कार्य को संपादन करने के लिये कितने ही व्यक्ति लाहौर से गये। अन्न वस्त्रों की सहायता दी गई तथा मुसलमान बनाये गये। भाई बहिनों को पुनः हिन्दु धर्म में दीक्षित किया गया। चार हजार के लगभग हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में प्रविष्ट किया गया। इसके अतिरिक्त टीपू सुल्तान के समय में जो हिन्दू मुसलमान हो गये थे उनको भी शुद्ध करके हिन्दू बनाया गया। श्री महाराज सर नाहरसिंह जी शाहपुराधीश के सभापतित्व में हुये १६२२ के आगरा शुद्धि सम्मेलन में मलकाना आदि जातियों के साथ रोटी-बेटी आदि व्यवहार करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। इसकी सूचना लाहौर के केसरी में प्रकाशित की गई। बस फिर क्या था पञ्जाब और यू० पी० से मौलवियों के झुण्ड के झुण्ड आगरे के समीपवर्ती क्षेत्र में पहुंचने लगे और उन्होंने मलकानों को हर प्रकार से बहकाना आरम्भ कर दिया।

उधर पञ्जाब के बड़े २ नगरों में मौलवी मुल्लाओं की आग बरसाने वाली वक्तृताओं ने देश के अमन को खतरे में डाल दिया। आगरा आर्य समाज ने १३ फरवरी सन् १६२३ को भारत के विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों को निमंत्रित करके एक बृहद् अधिवेशन का आयोजन किया। यह अधिवेशन अमर शहीद श्री० स्वामी श्रद्धानन्द जी के सभापतित्व में हुआ। भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा की स्थापना करके कार्य आरम्भ करने का निश्चय कर दिया गया। सभा के प्रधान श्री० स्वामी श्रद्धानन्द जी और प्रधान मंत्री श्री० ठाकुर माधवसिंह जी बनाये गये। शुद्धि सभा की स्थापना के समय तक सैंकड़ों मुसलमान और मौलवी शुद्धि स्थल में आ पहुंचे।

श्री० पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी ने शुद्धि क्षेत्र को दो भागों में विभाजित किया। देहली केन्द्र का कार्य वे स्वयंमेव संचालन करते रहे और आगरा का केन्द्र श्री० पूज्य महात्मा हंसराज जी के सुपुर्द किया गया।

जहां मुसलमान मौलवी शतशः की संख्या में शुद्धि कार्य में बाधा डालने के लिये शुद्धि स्थल में पहुंचे थे वहां आर्य समाज और सनातन धर्म के शुद्धि कार्यकर्त्ता भी कम नहीं थे। शुद्धि कार्य के साथ २ शुद्धि सभा को कई सम्मेलन भी करने पड़े परन्तु वृन्दावन का महा सम्मेलन जो २६ मई सन् १६२३ को श्री० सर नाहरसिंह जी शाहपुराधीश की अध्यक्षता में हुआ जिसमें अवध और यू० पी० के कई बड़े २ राजा, जागीरदार, ताल्लुकेदार और ठाकुरों ने शुद्ध हुये मलकानों के साथ बैठकर दाल-भात खाया और पूर्णतया उनको क्षत्रीय बिरादरी में मिलाने का आश्वासन दिया। आर्य समाज

के नेताओं के साथ वृन्दावन के महासम्मेलन में सनातन धर्म के प्रमुख पण्डित, श्री० सत्याचरण जी शास्त्री, पं० गिरधर शर्मा जी चतुर्वेदी, स्वामी दयानन्द जी बी० ए०, पं० लक्ष्मीनारायण जी शास्त्री।

पं० यदुकुल भूषण स्वामी प्रकाशानंद जी, प्रिन्सिपल रघुवर दयाल जी व्याख्यान वाचस्पती पं० दीनदयाल जी और अन्य भी कई महानुभावों ने एक स्वर होकर मलकानों की शुद्धि का समर्थन किया।

यद्यपि कांग्रेस ने हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के कारण इसका विरोध किया परन्तु हिन्दुओं की शक्ति शुद्धि कार्य में उस समय पूर्णतया संगठित थी। अतः कांग्रेस को शुद्धि आन्दोलन बन्द करने में सफलता न मिली। मथुरा, भरतपुर, आगरा, अलवर, गुड़गावां, मेरठ, मुजफ्फरनगर, देहली, सहारनपुर, ग्वालियर, भैंड़ायच, मुरादाबाद, फर्रुखाबाद, एटा, इटावा, मैनपुरी, अजमेर, ब्यावर, अलीगढ़, बुलन्दशहर, बदायूं, गोरखपुर, सुल्तानपुर, बलिया, बड़ौदा आदि में बड़े समारोह से शुद्धि कार्य सफल हुआ।

ईसाइयों से सावधानी—आर्य समाज ने स्पृश्य जातियों को ईसाइयत से बचाने के लिए स्थान २ पर कार्य आरम्भ कर दिया। किन्तु जंगली जातियां आर्य समाज के क्षेत्र से दूर और दृष्टि से ओझल थीं। अतः आर्य समाज इन जातियों में न पहुंच सका। १९३७ के आरम्भ में मध्य भारत में भयङ्कर दुष्काल पड़ गया। सं० १९५६ के दुष्काल की भांति ईसाइयों की बन आई और उन्होंने भीलों को एक एक मन अनाज देकर ईसाई बनाया। स्वर्गीय महात्मा हंसराज जी के आदेशानुसार मैंने मध्यप्रान्त में जाकर भीलों के ईसाई होने के संबंध में जांच की, इसके साथ ही दानवीर श्री० सेठ जुगल किशोर जी बिरला का पत्र ५००० भीलों के ईसाई होने के बारे में शुद्धि सभा आगरा द्वारा मुझे मिला। इन दोनों महानुभावों के आदेश को पाकर मैं, मध्य भारत में आया और सैलाका स्टेट की रावटी तहसील को केन्द्र बना कार्य आरम्भ किया।

४ वर्ष के भीतर ही रावटी, बासिन्द्रा, बाजना, कुशलगढ़, खवासा, किशनगढ़, जामली, सारंगी, बावड़ी, बड़वेढ, बुड़ैला, रामपुर, बाछीखेड़ा आदि के लगभग पच्चीस हजार भील जो ईसाई हो चुके थे पुनः शुद्ध करके हिन्दु धर्म में दीक्षित कर लिये गये। बांसवाड़ा, थांदला, रम्भापुर आदि में भी कुछ शुद्ध हुये। भील जाति बड़ी विस्तृत जाति है। यह मध्य भारत, राजपूताना, मारवाड़, बम्बई, बड़ौदा, सी० पी०, बिहार आदि में बहुतायत से बसी हैं। दूसरे इलाकों में इनका नाम गौंड और संथाल भी कहा जाता है। रांची के क्षेत्र में पं० धर्मवीर विद्यालंकार ने संथाल जाति के सुधार का कार्य आरम्भ किया। इधर मध्य भारत में दयानंद सालवेशन मिशन की ओर से भील जाति में शुद्धि और सुधार का कार्य चल रहा है परन्तु शुद्धि के कार्य को पूर्णतया प्रगति देने की अत्यन्त आवश्यकता है।

पूज्यपाद श्री नारायण स्वामी जी—जीवन झांकी

[लेखक—श्री० प्रो० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री एम० ए०]

जन्म शिक्षा आदि—संसारमें ऐसा कौनसा क्षण है जिसमें किसी बालक का जन्म न होता हो ? वह भी एक क्षण था. सम्वत् १९२२ (ई० सन् १८६६) की वसन्त पंचमी का, जब अलीगढ़ जिले के अनजान कोने में एक बालक ने जन्म लिया था; कौन सोच सकता था कि वह बालक आर्य जाति का कुल तिलक होगा और बुढ़ापे की अवस्था में आर्य संस्कृति और आर्य गौरव की शिक्षा के लिये हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी मुस्लिम सल्तनत को चुनौती देकर कारागार में प्रवेश करेगा और आर्य जाति अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता के फूल उसके चरणों में चढ़ायेगी।

पूज्य स्वामी जी का जन्म तो अलीगढ़ के जिले में हुआ, जहां उनके पिताजी सर्विस में थे, परन्तु उनके पूर्वजों का घर शृंगारपुर जिला जौनपुर में था और वे बनारस राज्य में प्रतिष्ठित राजपदों पर रहते आये थे। स्वामी जी की आरम्भिक शिक्षा कुछ फारसी अरबी की और कुछ अंग्रेजी की हुई थी। छोटी ही आयु में उनके पिताजी का देहान्त होगया, इसलिये उनकी शिक्षा का क्रम टूट गया और उनको कलक्टरी में नौकरी करनी पड़ी। नौकरी या सांसारिक व्यवसाय में पड़ने के बाद जहां और लोगों का जीवन विकास समाप्त हो जाता है, वहां स्वामी जी के विषय में यह कहा जा सकता है उनके जीवन का वास्तविक विकास, संसार रूपी विश्व विद्यालय में वास्तविक शिक्षा का प्रारम्भ उसी समय से होता है। उन्होंने उस विद्यालय में बहुत सी भारी २ किताबें नहीं पढ़ीं परन्तु जीवन कला को (Art of living) जो कि सुन्दरतम कला है उसे ढूंढ निकाला। स्वामी जी का जीवन बहुत अंश तक आर्य समाज के पिछले ५०-६० वर्षों का इतिहास है और इस दृष्टि से हमारे लिये रोचक है, परन्तु उससे बढ़कर हमारे लिये शिक्षाप्रद और लाभदायक इसलिए है कि वह चरित्रबल के विकास का एक ज्वलन्त दृष्टान्त हमारे सामने प्रस्तुत करता है। एक व्यक्ति जिसको पारिवारिक वैभव प्राप्त न हुवा हो, जिसको उच्च शिक्षा भी न मिली हो वह केवल चरित्र बल के विकास से कितने गौरवपूर्ण उच्च पद पर पहुंच सकता है, उसका इससे बढ़कर नवयुवकों के लिये क्या दृष्टान्त हो सकता है ?

स्वामी जी की सर्विस मुरादाबाद में थी। वहां पर उनका सम्पर्क आर्य समाज के एक सभासद् म० हरसहाय सिंह से हुआ जिससे उन्हें आर्य समाज के नियमों और सिद्धान्तों से परिचय हुआ और उसके बाद जब सत्यार्थ प्रकाश पढ़ा तो उनका आर्य-समाज के सिद्धान्तों में दृढ़ विश्वास होगया। उसी समय वे आर्य समाज के सभासद् हो गये, अगले वर्ष ही वे आर्य समाज के उपमंत्री चुने गये। यह बात लगभग सन् १८९०

की है। उस समय से लेकर आज तक, आधी शताब्दी से ५ वर्ष अधिक हो गये। इस लम्बे समय में लगातार अनथक रूप से आर्य समाज की सेवा में स्वामी जी लगे रहे हैं।

आन्तरिक जीवन की साधना—स्वामी जी के जीवन के दो पहलू हैं। दोनों पहलुओं के विभाग का अलग २ इतिहास। एक उनका आन्तरिक व्यक्तिगत जीवन है जिसके समुन्नत करने की सतत चेष्टा उनके जीवन में लगातार रही है और जो आज ८० साल की आयु होने पर भी जारी है। यह हर्ष की बात है कि पूज्य स्वामी जी ने अपनी आत्म कथा लिखकर इस आन्तरिक जीवन की आध्यात्मिक साधना की झलक देखने का अवसर हमें दिया है अन्यथा केवल हम उनके बाह्य जीवन को देख पाते जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक सेवा और परोपकार से है। उनका यह बाह्य जीवन और उनके गौरवपूर्ण सार्वजनिक कार्य तो हमारे सामने हैं ही परन्तु उन महान् कार्यों का आधार वह स्रोत जहां से उनके लिये शक्ति प्राप्त होती है उनके आन्तरिक जीवन की साधना ही है जो हमारे लिये अत्यन्त शिक्षाप्रद है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्वामी जी का जन्म बसन्त पञ्चमी को हुआ। प्रत्येक बसन्त पञ्चमी स्वामी जी के लिये आत्म निरीक्षण का दिन रहा है जिस पर उन्होंने अपने जीवन निर्माण के महत्वपूर्ण संकल्प किए, और दृढ़तापूर्वक उनका पालन किया तथा संयम व तपस्या की शक्ति द्वारा बाधाओं को दूर किया। सन् १८६३ ई० में बसंत पञ्चमी के दिन उन्होंने अपने लिये दस नियम बनाये जिनका यहां उद्धृत करना अनुचित न होगा:—

(१) आर्य समाज के नियम और मन्तव्यों का दृढ़ता से पालन।
(२) ईमानदारी और परिश्रम से कमाये हुये धन का ही उपभोग।
(३) समस्त कार्यों के लिये समय-विभाग।
(४) यदि मांगना पड़े तो उससे मर जाना अच्छा है।
(५) स्त्री-व्रत।
(६) नाच, तमाशा, थियेटरों का देखना पाप है।
(७) जनता के साथ व्यवहार में निष्पक्षता।
(८) स्वाध्यायशील होना और हृदय को उच्च सेवा के भाव से भर देना।
(९) आरामतलब न होकर कठिन कार्य करने का अभ्यास।
(१०) जीवन का अन्तिम भाग केवल परोपकार में बिताना।

इन नियमों में वही बातें हैं जो वेद शास्त्र हमारे सामने रखते हैं, परन्तु फिर भी व्यक्तिगत भावना और परिस्थिति के अनुसार अपने लिये खास तौर से दस नियम बनाना, उनकी आन्तरिक आध्यात्मिक चेष्टा, सतर्कता और जागरूकता का परिचय देता है। हमारे सामने एक जीवन है जो लगातार उच्च आध्यात्मिक, परिपक्वता, प्रौढ़ता और

परिपूर्णता की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देता है। समय २ पर यह पता चलता है कि उन्होंने अपनी भूलों और त्रुटियों को बड़ी निर्दयतापूर्वक ढूंढकर, उनको स्वीकार कर उन्हें दूर करने के लिये दृढ़ संकल्प, पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त तक किये हैं। इसी साधन के फलस्वरूप उनको वह सत्यनिष्ठा प्राप्त हुयी है, जिस के दृष्टान्त कम पाये जाते हैं। मनुष्य जीवन की सत्यनिष्ठा की दो कसौटियां हैं :—

(१) धन सम्बन्धी पवित्रता।

(२) चरित्र की पवित्रता।

इन दोनों कसौटियों पर उनका जीवन विशुद्ध स्वर्ण की नाईं जाज्वल्यमान चमक रहा है। उनके चरित्र बल की शक्ति और सौरभ से उनका सारा जीवन ओतप्रोत है जिसका प्रकाश उनके जीवन में अनेक अवसरों पर हुआ है और कुछ घटनाओं का उल्लेख इस छोटे से लेख में भी आयेगा।

स्वामीजी का जीवन कठोर तपस्या और दृढ़ता का मूर्तरूप है। उनको देखते ही हमें पहाड़ की ठोस, अटल चट्टानों का ध्यान आ जाता है, वे इस्पात लोहे के समान कठोर मालूम पड़ते हैं फिर भी गृहस्थ जीवन के उस सुकुमारता-पूर्ण पहलू ने उनके हृदय का स्पर्श अवश्य किया था जो कि निःसन्देह मानव जीवन का एक आध्यात्मिक आदर्श है। सम्मिलित परिवार की प्रथा के अनुसार विवाह के बाद पांच वर्ष तक वे अपनी पत्नी से अलग रहे थे। १८९७ ई० में उनके क्रियात्मक पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ हुआ। उसके विषय में वे लिखते हैं:—

"विवाह के बाद अब तक गृह पत्नी के साथ न रह कर मैंने अपने को गृहस्थ होते हुए न केवल गृहस्थ के सुखों से वंचित रखा किन्तु एक सुशिक्षित और सती साध्वी देवी की सत्संगति से भी अलाभान्वित रखा।

गृहस्थ जीवन के सुखों के साथ २ उनका ध्यान सती देवी की उस संगति की ओर है जो एक मनुष्य के जीवन को निःसन्देह ऊंचा उठाती है, यदि गृहस्थ जीवन का वास्तविक जीवन सामने हो।

जीवन का समय विभाग—यह नहीं हो सकता कि ऐसा व्यक्ति जो सच्चे कलाकार के समान जीवन की आध्यात्मिक सौन्दर्य साधना कर रहा था अपने सारे जीवन के लिये कोई निश्चित समय विभाग न बनाता। यों तो समय विभाग आश्रम मर्यादा में बना ही हुआ है, परन्तु अपने जीवन का समय विभाग आधुनिक युग और व्यक्तिगत परिस्थिति के अनुसार उन्होंने अपनी २६ वीं वर्ष गांठ के दिन निम्न प्रकार से बनाया था:—

२३ वर्ष की आयु में उनका विवाह हुआ था। उन्होंने निश्चय किया कि २० वर्ष गृहस्थ आश्रम रखा जावे और उसके बाद १० वर्ष वानप्रस्थ आश्रम में रहकर सन्यास आश्रम की तैयारी की जावे और उसके बाद तैयारी हो जाने पर सन्यास आश्रम में

प्रवेश। जैसा कि हम आगे देखेंगे स्वामी जी ने दृढ़तापूर्वक इस समय विभाग का पालन किया।

सार्वजनिक जीवन—उपर्युक्त आन्तरिक साधना और संयम से स्वामी जी को वह शक्ति प्राप्त हुई जिससे उन्होंने सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में इतना कार्य किया है जो एक व्यक्ति तो क्या, कई अच्छे २ समाज सेवक मिलकर भी अपने पूरे आयुष्य में शायद उतना काम कर सकेंगे। आर्य समाज के कार्य क्षेत्र का कोई ऐसा विभाग नहीं है जिससे उनका सम्बन्ध न रहा हो या जिसमें उनकी कुछ देन न हो। बहुत से क्षेत्रों के तो वे संचालक ही नहीं बल्कि संस्थापक हैं। आर्य समाज (स्थानिक कार्य) प्रतिनिधि सभा, सार्वदेशिक सभा, शुद्धि सभा, गुरुकुल, डी० ए० वी० कालेज, जन्म शताब्दी, निर्वाण अर्द्ध शताब्दी, सत्याग्रह आदि सभी संस्थाओं और प्रमुख घटनाओं से उनका सम्बन्ध रहा है। आर्य समाज के इतिहास में दो घटनायें सर्वोपरि जाज्वल्यमान स्वर्ण पृष्ठों पर अङ्कित हैं जो निःसन्देह आर्य जाति की गौरवगाथा के रूप में गिनी जायेंगी:—

(१) मथुरा की जन्म शताब्दी।

(२) हैदराबाद का सत्याग्रह।

इन दोनों के सर्वेसर्वा सूत्रधार, संचालक, संयोजक पूज्य स्वामी जी महाराज ही हैं फिर यह कहने की जरूरत नहीं रहती कि आर्य समाज के इतिहास में उनका कितना महत्वपूर्ण और गौरवपूर्ण स्थान है।

आर्य समाज का स्थानिक कार्य—जैसा ऊपर आ चुका है, १८६० में उन्होंने आर्य समाज में प्रवेश किया और कुछ दिन बाद ही वे मुरादाबाद आर्य समाज के प्रमुख कार्यकर्ता अधिकारी हो गये। उनके उद्योग से आर्य समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। समाज के शानदार उत्सव होने लगे, आर्य सभासद् बढ़े और कितनी ही शुद्धियें हुईं। परन्तु सबसे मुख्य बात यह है कि उनका कार्य-काल उस समय भी एक झलक दिखाता है, जिसे आर्य समाज के इतिहास में स्वर्णकाल कहा जायगा, जिस समय एक आर्य समाजी अपनी सत्यनिष्ठा, सदाचार और परोपकार के कारण सब मनुष्यों में अलग पहिचाना जाता था, जिसके विषय में प्रसिद्ध जर्मन फिलासफर ड्वायसनपाल (Duessen Paul) ने अपनी भारत यात्रा में लिखा है कि यदि कहीं कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई दे जो सबकी सेवा के लिये तत्पर हो, जिसकी आंखों में प्रेम और सहानुभूति भरी हो तो समझ लो कि वह आर्य समाजी है। स्वामी जी एक सच्चे आर्य के समान सार्वजनिक प्रत्येक क्षेत्र में लगे हुए थे। यदि कोई भूखा मर रहा है तो उसके लिये रोटी का प्रबन्ध, यदि कोई विद्यार्थी विद्या के लिये तरस रहा है तो उसके लिये पढ़ाई का प्रबंध, यदि कोई असहाय रोगी पड़ा है तो उसके घर जाकर सुश्रूषा और तीमारदारी, यदि

आर्य-मनीषी, कुल-पति
श्री० नारायण प्रसाद जी
(१९१२ में गुरुकुल वृन्दावन में)
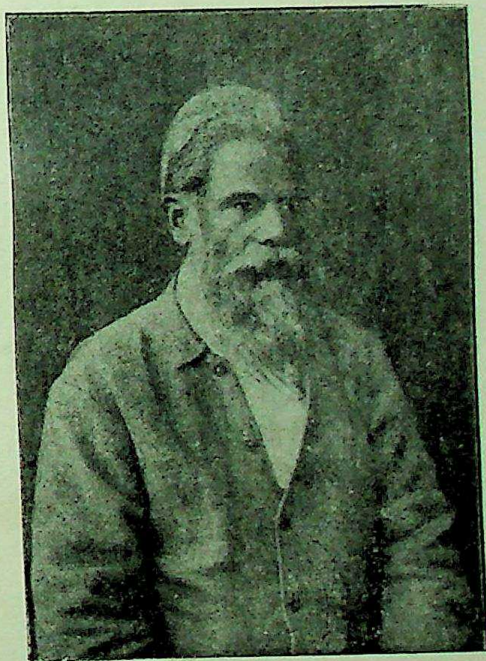
स्वाध्याय, योगाभ्यास तथा आश्रम धर्म के प्रतीक
श्री० पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी
(१९२२ में वानप्रस्थ अवस्था का चित्र)

कहीं प्लेग का प्रकोप हो और जबकि घर के लोग भी किसी को छोड़कर भाग जायें तो भी प्राणों की बाजी लगाकर सेवा करने का व्रत यह उस समय के आर्य समाज के अधिकारियों के कार्य थे। उस युग में चुनाव, वोट और संस्थाओं के झगड़े न थे और सबसे बढ़कर यह था कि मुरादाबाद के कोने २ में यह बात गूंज रही थी कि कलक्टरी अदालत में साधारण पेशकार पद पर एक आर्य है जिसके लिये रिश्वत में स्वर्ण के चमकते टुकड़े मिट्टी के टुकड़ों से बढ़कर नहीं हैं। स्वामी जी की यह चरित्र पवित्रता ही उनके गौरव-पूर्ण जीवन का आधार है।

आर्य प्रतिनिधि सभा– संयुक्त प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा के निर्माताओं में स्वामी जी का प्रमुख स्थान है। वे सात वर्ष तक सभा के मंत्री रहे। सभा की रजिस्ट्री कराने में उनका बड़ा हाथ था। प्रतिनिधि सभा के अन्तरंग सदस्य तो १८६१ में पहिली बार अन्तरंग सभा के बनने के समय से लेकर रामगढ़ जाने के समय तक लगातार २८ वर्ष रहे। वेद प्रचार समिति उनके अधिष्ठातृत्व काल में ही बनी और बहुत काल तक उपदेश विभाग के अधिष्ठाता रहे। 'आर्य मित्र' जो पहले 'मुहर्रिक' नाम से उर्दू में निकला था उसके वे प्रथम सम्पादक थे। फलतः प्रतिनिधि सभा का कोई ऐसा विभाग नहीं है जिस पर उनकी छाप न लगी हो।

गुरुकुल वृन्दावन—

गुरूकुल वृन्दावन के तो वे एक मात्र सूत्रधार, संचालक और सर्वस्व हैं। यदि एक ओर आर्य समाज के उषा काल में हरिद्वार के जान्हवी के तट पर स्वा० श्रद्धानन्द जी ने गुरूकुल कांगड़ी का सूत्रपात किया था तो दूसरी ओर वृन्दावन में कालिन्दी के तट पर श्री नारायण स्वामी जी ने संयुक्त प्रान्तीय गुरुकुल का उद्घाटन किया।

१८६६ ईस्वी में प्रतिनिधि सभा में गुरुकुल खोलने का प्रथम प्रस्ताव पूज्य स्वामी जी ने ही किया था और वे ही गुरुकुल के प्रारम्भ के लिए ३० हजार की धनराशि एकत्रित करने को सरकारी नौकरी से ६ मास की छुट्टी लेकर भीख की झोली डाल कर सब से पहिले निकले थे। जिस पर १६११ में फर्रुखाबाद के गुरुकुल को लेकर प्रतिनिधि सभा ने वृन्दावन लाने का निश्चय किया। उस समय भी उन्होंने नौकरी से लम्बी छुट्टी ली और बहुत दिन पहिले से ही वृन्दावन पहुंच कर गुरुकुल वृन्दावन को खड़ा किया। उस समय गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता स्व० पं० भगवान् दीन जी थे। उनके अधिक बीमार हो जाने पर उन्होंने गुरुकुल का कार्य संभालने के लिए लम्बी छुट्टी ली।

पारिवारिक जीवन का अन्त—

स्वामी जी का पहला पुत्र उत्पन्न होने के कुछ समय बाद ही मर चुका था। द्वितीय पुत्र का जन्म १६११ में हुआ। उसके प्रसव के बाद ही उनकी धर्मपत्नी का

देहान्त हो गया। धाय को रखकर पुत्र को पालने की चेष्टा की गई परन्तु वह जीवित न रह सका। इसके विषय में स्वामी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है:—

"इस प्रकार ३१ अगस्त १९११ को गृहपत्नी और पुत्र दोनों को खोकर मैं गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों से मुक्त हो गया। कैसी समय की विलक्षण गति है कि वही मेरा ४३वां वर्ष था जिसमें मैंने गृहस्थ छोड़ने का संकल्प कर रखा था। अन्तर इतना हो गया कि मैंने गृहस्थ को नहीं छोड़ा किन्तु गृहस्थ ने मुझे छोड़ दिया।"

अपूर्व आत्म त्याग

इसी के कुछ महीने बाद स्वामी जी वृन्दावन आगये जिसका कि ऊपर उल्लेख आ चुका है। गुरुकुल वृन्दावन का कार्य संभालने के लिए लगातार लम्बी छुट्टी लेते रहे, परन्तु जब ऐसा समय आगया कि आगे छुट्टी न मिल सके तो उनके आगे दो विकल्प थे:—

(१) या तो गुरुकुल छोड़कर कुछ दिन और नौकरी पूरी करके पैंशन लेकर फिर गुरुकुल आजावें।

(२) या स्वास्थ्य ठीक न होने का सार्टिफिकेट दाखिल करके पहिले ही पैंशन प्राप्त कर लें। थोड़े दिन के लिये भी गुरुकुल छोड़ने का फल यह होता कि वह नवजात पौधा झुलस कर मर जाता। इसलिए अवधि से पूर्व पैंशन लेने का ही रास्ता था। परन्तु 'अस्वस्थ' होने के बहाने के बिना पैंशन कैसे मिले? इसके विषय में उन्होंने कहा कि 'जब मैंने कभी प्रजा से बेइमानी करके धन (रिश्वत) नहीं लिया तो गवर्नमेण्ट से बेइमानी करके क्यों धन (पैंशन) लूं? ऐसी दशा में स्वामी जी ने दोनों विकल्प छोड़ कर नौकरी से त्यागपत्र दे दिया जिसमें थोड़े ही दिन के बाद पैंशन हो सकती थी। और इस प्रकार वह पैंशन का हक छोड़ दिया, जिसे प्राप्त कर इस समय तक उन्हें ३४ वर्ष तक पैंशन मिल चुकी होती। परन्तु उस वीर ने तो सत्य की दीक्षा सत्य के पुजारी दयानन्द से ली थी। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि इस त्याग की महिमा उस त्याग से बढ़कर जो कि कभी २ कोई २ व्यक्ति अपने सर्वस्व का दान कर दिया करते हैं क्योंकि यहां अस्वस्थ होने का झूठा सर्टिफिकेट देने से (जैसा सर्टिफिकेट बहुत बड़े २ प्रतिष्ठित आदमी केवल कचहरी आदि से हाज़री बचाने के लिये दे देते हैं) आजन्म मिलने का सवाल था, परन्तु सत्य की रक्षा के लिये उस पैंशन को तिलाञ्जलि दे दी। त्याग की यह सुन्दर गाथा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। गुरुकुल के लिए उन्होंने अपनी नौकरी छोड़ी और यहां तक कि आजीवन पैंशन का हक भी छोड़कर अपना जीवन अर्पण कर दिया पर फिर भी वे यह गवारा न कर सके कि गुरुकुल के भण्डार से चार रोटी भी बिना मूल्य दिए खालें। सारी नौकरी में जमा किए हुए कुल २०००) रु० उनके पास थे। उनको बैंक में जमा करके

उसके सूद १३) में अपने जीवन का निर्वाह करने का निश्चय कर लिया, जिसमें १०) रोटी के भण्डार में जमा हो जाते थे और ३) में दूध कपड़े आदि का खर्चा था। यह सरल सात्विकी गरीबी का निर्वाह त्यागभावना का बहुत ही हृदयस्पर्शी अद्भुत दृष्टान्त है।

गुरुकुल का कार्य १६११ से १६४६ तक—

आठ वर्ष तक गुरुकुल की सेवा कर उस संस्था को स्वामी जी ने ऐसी शानदार अवस्था तक पहुंचा दिया कि संयुक्त प्रान्त के आर्य जगत् का गौरव कहा जा सके। वे गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता ही न थे, बल्कि गुरुकुल के लिए धन लाने का बोझा भी उन्हीं के कन्धों पर था। गुरुकुल की अधिकांश इमारतें उन्हीं की बनवाई हुई हैं। १६१२ में उन्हीं के समय में पहिले दो स्नातक निकले जिनमें वर्तमान लेखक तथा श्री पं० द्विजेन्द्र नाथ जी थे. जिन्होंने बम्बई और संयुक्त प्रान्त में आर्य समाज के प्रचार में तथा साहित्य क्षेत्र में बहुत गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। गुरुकुल के सम्बन्ध में स्वामी जी की जो सबसे महत्वपूर्ण बात है, वह उनका दृढ़ नियन्त्रण और अद्भुत संयम का जीवन ही कहा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो सतयुग के किसी तपस्वी मुनि को कलियुग में गुरुकुल संचालन के लिए लाकर धर दिया गया हो। ब्रह्मचारियों की शारीरिक, मानसिक और आचरण की उन्नति करना अभी सतत चिन्ता का विषय था। जहां कहीं कोई विद्वान् मिले उसके द्वारा या स्वयं परिश्रम पूर्वक ग्रन्थों को पढ़ कर ब्रह्मचारियों की ज्ञानवृद्धि कराना यह उनकी धुन थी। वर्तमान लेखक को उनके चरणों में बैठ कर विद्या प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वह विश्वास पूर्वक कह सकता है कि यूनिवर्सिटी की अनेक परीक्षाओं को पास करने से भी संस्कृत में ही नहीं बल्कि अंग्रेजी और पाश्चात्य विषयों में भी उसे वह ज्ञान प्राप्त न हो सका जो उसे थोड़े से समय में गुरुकुल में प्राप्त हुआ था। गुरुकुल में रहते हुए जो ज्ञान पिपासा उत्पन्न होती थी वैसी इस लेखक ने कभी यूनिवर्सिटियों और कालेज के वातावरण में होते नहीं देखी। एक और बात लिखे बिना नहीं रहा जा सकता। स्वामी जी साधारणतया दृढ़ और कठोर स्वभाव के हैं, परन्तु बीमारी की अवस्था में स्वामी जी से जो पितृ स्नेह मिलता था, उसे हममें से कोई भी नहीं भुला सकता।

मुन्शी मनीषी महात्मा——

एक बड़ी महत्वपूर्ण बात लिखने से रह गई है। पूज्य श्री नारायण स्वामी जी का पहिला नाम श्री नारायण प्रसाद था, प्रचलित प्रथा के अनुसार पहिले वे मुन्शी नारायण प्रसाद के नाम से प्रसिद्ध थे, जिस समय वे गुरुकल वृन्दावन के मुख्याधिष्ठाता नियत हुए उसी समय से आर्य जगत् ने उन्हें 'मुन्शी' के स्थान पर 'मनीषी' की उपाधि

दी। मनीषी बड़ा गौरवपूर्ण वैदिक शब्द है जिसका अर्थ है मनन पूर्वककार्य करने वाला। गुरुकुल वृन्दावन में रहते हुए जब उनकी विद्या और आत्मबल की कीर्ति समाजों में फैलने लगी तो उनके नाम के साथ मनीषी के बदले आर्य जगत् में 'महात्मा' लिखा जाने लगा जिस प्रकार गुरुकुल कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के पुराने नाम को महात्मा मुन्शीराम कहा जाता था। जब सन्यास लेने के बाद उन्होंने अपना नाम नारायण स्वामी रखा, उसके बाद भी उनके नाम के साथ महात्मा शब्द जुड़ा रहा, जिसका प्रयोग विशेषकर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने प्रचलित किया था; एक बार स्वामी श्रद्धानन्द जी ने वर्तमान लेखक से कहा था कि 'स्वामी' शब्द तो श्री नारायण स्वामी जी के नाम में ही आजाता है, इसलिये आदरार्थक प्रारम्भिक उपपद 'महात्मा' उचित होगा इसलिये वे सदा 'महात्मा श्री नारायण स्वामी' लिखा करते थे।

गुरुकुल से विदा–

८ वर्ष गुरुकुल की सेवा करने के बाद अपने पूर्व निश्चित प्रोग्राम के अनुसार स्वामी जी ने १९१९ ई० में प्रतिनिधि सभा को नोटिस दे दिया कि वे साल के अन्त तक गुरुकुल छोड़ देंगे। १९१९ के दिसम्बर में गुरुकुलोत्सव के समय सारे संयुक्त प्रान्त के आर्यों की तरफ से प्रतिनिधि सभा ने स्वामी जी को मानपत्र अर्पण किया। उस समय संयुक्त प्रान्त का प्रत्येक आर्यवासी इस गौरव से उन्नत था कि उनके बीच ऐसा महान् तपस्वी उत्पन्न हुआ। परन्तु उस समय यह किसी को पता नहीं था कि स्वामी जी के जीवन का वह गौरवमय पृष्ठ अभी आयेगा जब सारी आर्यसमाज उन्हें अपना सरताज समझेगी और उनके चरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पण करेगी।

श्री नारायण आश्रम–गुरुकुल छोड़ कर अपना जीवन व्यतीत करने के लिये स्वामी जी ने नैनीताल जिले में हिमालय की एक सुन्दर घाटी में रामगढ़ नामक स्थान को चुना जहां उन्होंने अपना आश्रम बनाया। जब आश्रम बना ही था तो वर्तमान लेखक को ध्यान आया कि इस आश्रम का नामकरण भी होना चाहिये। उसने स्वामीजी से बिना कुछ कहे आगरे से एक संगमरमर के पत्थर पर 'श्री नारायण आश्रम' लिखवा कर उसे एक कोने में लगवा दिया। इस प्रकार आश्रम का नामकरण हो गया। आश्रम में रह कर स्वामी जी उग्र, साधना व जीवन व्यतीत करने लगे। वे रात को तीन बजे उठ कर अभ्यास करते थे, अपना खाना बनाना, बर्तन मांजना — यहां तक कि अतिथि सेवा आदि सब काम वे स्वयं करते। किसी भृत्य या शिष्य से अनेक बार आग्रह होने पर भी उन्होंने काम लेना स्वीकार न किया। दो वर्ष तक उन्होंने विशेषकर योगाभ्यास की साधना की। इस बीच में कई बार ऋषिकेश गये और कई योगियों के सम्पर्क में आये जिनमें से एक अपरिचित योगी से उन्हें बहुत कुछ लाभ हुआ।

आत्मदर्शन का प्रकाशन— रामगढ़ में स्वामी जी के एकान्त निवास और उनके दीर्घ कालीन स्वाध्याय के फलस्वरूप आत्मदर्शन नामक ग्रन्थ तैयार हुआ जिसका प्रकाशन श्री राजपाल जी लाहौर ने बहुत सुन्दर रूप में १६२१ में किया। यह स्वामी जी का लिखा बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसके बाद भी इसके दो तीन संस्करण छप चुके हैं। पहिला संस्करण वर्तमान लेखक की विस्तृत भूमिका के साथ छपा था।

सन्यास आश्रम में प्रवेश—

इतनी दीर्घ कालीन तैयारी के बाद या यों कहना चाहिये कि सारे जीवन भर में लगातार साधना के पश्चात् १६२२ ई० में आपने नियमपूर्वक सन्यास आश्रम ग्रहण किया और सन्यास के समय अपना नाम श्री नारायण स्वामी रक्खा। सन्यास आश्रम के संस्कार के समय उपस्थित एक व्यक्ति ने वर्तमान लेखक को बताया कि जब 'पुत्रै षणा और वित्तैषणा के त्याग का संकल्प आया तो उन्होंने धैर्य के साथ संकल्प कर लिया परन्तु 'लोकैषणा' के त्याग का संकल्प आया तो उनके चेहरे से प्रकट होता था कि उन्होंने कितनी दृढ़ता और आत्मिक शक्ति का उपयोग करते हुये आत्म निरीक्षण के साथ साथ उस संकल्प को किया।

ऋषि की जन्म शताब्दी—

अभी तक इस लेख में यह नहीं दिखाया गया है कि आर्य सार्वदेशिक सभा के निर्माताओं में स्वामी जी का प्रमुख स्थान है। प्रारम्भ में ही वे आठ दस साल सार्वदेशिक सभा के मंत्री रहे और उसके बाद लगभग १५ वर्ष तक सार्वदेशिक सभा के प्रधान रहे। इसलिये जिस समय सार्वदेशिक सभा की ओर से ऋषि की जन्म शताब्दी मनाने का विचार किया जाने लगा तो शीघ्र ही आर्यसमाज के नेताओं को दीखने लगा कि शताब्दी को सफलतापूर्वक मनाने के लिये श्री नारायण स्वामी जी से अधिक उपयुक्त कोई व्यक्ति नहीं हो सकता। इस लिये सर्व सम्मति से शताब्दी का कार्य का संचालन पूज्य स्वामी जी को ही सौंपा गया। सन् १६२५ में १५ फर्वरी से २१ फर्वरी तक मथुरा नगर में शताब्दी किस सफलता से और कैसी शान से हुई उसे आर्य जगत् कभी न भूलेगा। आर्य समाज के इतिहास में तो वह अपूर्व घटना थी, वह आर्य समाज के गौरव और प्रभाव के चरम उत्कर्ष का प्रदर्शन था। सारे भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों के सुदूरवर्ती कोनों से दो लाख से ऊपर आर्य भाई एकत्रित हुये थे। इतना बड़ा मेला बड़े बूढ़ों की स्मृति में कभी नहीं देखा गया था और फिर उस मेले में सतयुग की झलक, बिना पुलिस के पूर्ण नियन्त्रण, किसी अनाचार का प्रयास न हो, यह स्वर्गीय दृश्य बना रहा था कि दयानन्द ने आर्य जाति के जीवन में स्फूर्तिदायिनी विद्युत् भर दी है। जिन्होंने शताब्दी के उस दृश्य को देखा वह उनके जीवन की पुण्यतम स्मृति बनी रहेगी। शताब्दी के

अवसर पर मथुरा में जो आर्यों का जलूस निकला वह निस्सन्देह सारे भारत के जलूसों में अभूतपूर्व था। जिन्होंने उस जलूस को देखा वे यह आशा न कर सकते कि वे अब उस प्रकार का दूसरा जलूस देखेंगे।

शताब्दी पर स्वामी जी को मानपत्र–

शताब्दी उत्सव के अन्त में भारत और उपनिवेशों के समस्त आर्यों की ओर से स्वामी जी के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन के लिये मानपत्र दिया गया, जिसे राजाधिराज सर नाहरसिंह शाहपुराधीश ने पढ़ कर सुनाया था। आर्य समाज के इतिहास में यह मानपत्र सन्मान की सीमा कहा जा सकता है।

अपेण्डिक्स का आपरेशन–

शताब्दी के सम्बन्ध में अनथक कार्य करने का यह फल हुआ कि उसके कुछ दिन बाद स्वामी जी को ज्वर रहने लगा। अनेक चिकित्सायें हुईं परन्तु कोई लाभ न हुआ। अन्त में यह निश्चय हुआ कि यह दर्द अपेण्डिक्स के बढ़ जाने से है और उसका आपरेशन आवश्यक है। २६ अक्तूबर १९२५ को डाक्टर भाटिया के द्वारा लखनऊ में आपरेशन कराया गया। उन दिनों में यह आपरेशन काफ़ी ख़तरनाक समझा जाता था। इसलिये स्वामी जी के कतिपय श्रद्धालु भक्त लखनऊ पहुंच गये, वर्तमान लेखक भी उस अवसर पर वहां था। एकान्त में स्वामी जी से आपरेशन के विषय में कुछ चिन्ता पूर्ण शब्द जब लेखक के मुंह से अनायास ही निकल गये तो स्वामीजी ने जो शब्द कहे वह लेखक के हृदय पर आज तक अङ्कित हैं, उन्होंने बड़ी निश्चिन्तता के साथ कहा – "देखो यह तो बड़ी साधारण सी बात है। यदि आपरेशन से शरीर स्वस्थ हो जाय तो ठीक है पर यदि आपरेशन असफल हो तो भी यह ठीक ही है कि ऐसे रोगी अतएव निरुपयोगी शरीर को छोड़ कर नया शरीर धारण किया जावे" उस समय लेखक का हृदय भरा हुआ था पर इस उत्तर को सुन कर वह चकित दृष्टि से देखता रह गया।

हैदराबाद का सत्याग्रह–

स्वामी जी के सार्वजनिक जीवन की कितनी ही आवश्यक बातों का वर्णन बाकी है। इसलिये इस गौरवपूर्ण जीवन के सर्वोत्कर्ष की घटना हैदराबाद सत्याग्रह का उल्लेख मात्र करके इस संक्षिप्त कथा को समाप्त कर देना आवश्यक है। आर्य समाज के ही नहीं अपितु समस्त हिन्दु जाति के वर्तमान युग का सब से चमकीला पृष्ठ हैदराबाद के सत्याग्रह की कथा है। निस्तेज, निष्प्राण, हिन्दु जाति में दयानन्द ने अपने जादू से न जाने कौनसी स्फूर्तिदायिनी जीवन शक्ति भर दी थी। इसका ज्वलंत दृष्टांत हैदराबाद सत्याग्रह है। पीड़ित और दलित हिन्दुओं के अधिकारों की अवहेलना खुले तौर पर की जाती रही है और हिन्दू कायरता

के साथ उन अपमानों को सहते रहते हैं। निजाम की सरकार को क्या पता था कि इस वार जिनसे लोहा लेना है वे शताब्दियों के मुरझाये हिन्दू नहीं हैं प्रत्युत दयानन्द के ओज से ओतप्रोत आर्य वीर हैं जो प्राणों की बाजी लगाकर अपने आत्म सम्मान की रक्षा करना जानते हैं। हैदराबाद जैसे सुदूरवर्ती देश में जहां से उत्तरी भारत से पहुंचने में २५ और ३० रु० लगता हो, जेलों में आर्य सत्याग्रहियों की संख्या १५ हजार से अधिक पहुँच गई। दो दर्जन से अधिक शहीदों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी। भारत के आधुनिक इतिहास में आत्म बलिदान करने का ऐसा ज्वलन्त दृष्टांत दूसरा नहीं है। बहुधा लेखक के मन में प्रश्न उठता है कि इन अभूत पूर्व बलिदानों के लिये इन सत्याग्रहियों को और प्राणों की बाजी लगाने वाले इन हुतात्माओं को कहां से प्रोत्साहन मिला? कहां से उनको स्फूर्ति आई? इस प्रश्न के उत्तर में हमारे सामने उस वृद्ध सन्यासी की मूर्ति आ जाती है जिसने ७४ वर्ष की आयु में आर्य गौरव की रक्षा के लिये अपने पैरों में बेड़ियां पहनीं और जेल के आततायी कैदियों का बाना पहना। जब आर्य जगत् में यह समाचार पहुंचा कि उस आर्य जाति के कुल तिलक के पैरों में बेड़ियां लोहे के कड़े पड़े हुये और कैदियों की ड्रैस है तो आर्य जाति सिहर उठी। वीरोचित क्रोध से तिलमिला उठी। फिर वहां सत्याग्रहियों की न कमी थी और न प्राण देने वाली हुतात्माओं की। निज़ाम की सरकार ने घुटने टेक दिये और उस सत्याग्रह में आर्य समाज की शानदार विजय हुई।

श्री स्वामी जी ने हैदराबाद के सत्याग्रह के बाद अपने कार्य में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आने दी है। वृद्धावस्था का उनकी कर्मण्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे पूर्ववत् आर्य समाज की सेवा में दत्तचित हैं। आर्य समाज के प्रचार कार्य के अतिरिक्त स्थायी साहित्य में भी आपका सहयोग बढ़ रहा है।

गत वर्ष से 'सत्यार्थ प्रकाश रक्षा आन्दोलन' चल रहा है। तभी से आर्य जाति की आंखें उसी वृद्ध सन्यासी की ओर लगी हुई हैं। उनके मना करने पर भी सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली ने इस वर्ष उन्हें फिर सर्व सम्मति से अपना प्रधान निर्वाचित किया है। आर्य जाति की नौका के वे अनुभवी कर्णधार हैं।

अभिनन्दनम्

[श्री पं० धर्मदेवजी विद्यावाचस्पति सहायक मंत्री सार्वदेशिक सभा]

परोपकारे सततं प्रसक्तान्,
दान्तान् प्रशान्तान् सगुणैश्च कान्तान्।
सप्रश्रयं तानभिनन्दयामो,
नारायणस्वामि महात्मनो वयम् ॥१॥

धर्मप्रचारे जनतासुधारे,
लोकोपकारे किल दत्त चित्तान्।
तपोनिधीस्तानभिनन्दयामो,
नारायणस्वामि महात्मनो वयम् ॥२॥

अशीतिवर्षावधिमेत्य योगिनः,
प्रमोदमानान् परमे स्वरूपे।
वयं विनीता अभिनन्दयामो,
नारायणस्वामि महात्मनस्तान् ॥३॥

येषां प्रसिद्धोपनिषत्कथासौ,
श्रद्धालुवर्गाय मुदं ददाति।
समर्पयामः कुसुमानि भक्तेः,
श्रद्धास्पदेभ्यो मुदिताः समस्ताः ॥४॥

नेत्रग्रगण्यान् सकलार्य लोके,
ज्ञानाग्निना दग्ध समस्तपापान्।
नारायणस्यात्र यथार्थ भक्तान्,
नारायणस्वामि महात्मनो नुमः ॥५॥

वृन्दावनाचार्यपदे निषण्णान्,
विनायकान् दक्षिण धर्म युद्धे।
वचोऽमृतैस्तर्पयतः समस्तान्,
नारायणस्वामि महात्मनो नुमः ॥६॥

संप्रार्थयामो विनयेन नित्यं,
नारायणं तं करुणानिधानम्।
जीवन्तु वर्षाणि शताधिकानि,
नारायणस्वामि महानुभावाः ॥७॥

शोलापुर आर्य सम्मेलन के प्राण
श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज
(१९३८ में शोलापुर में लिया गया चित्र)
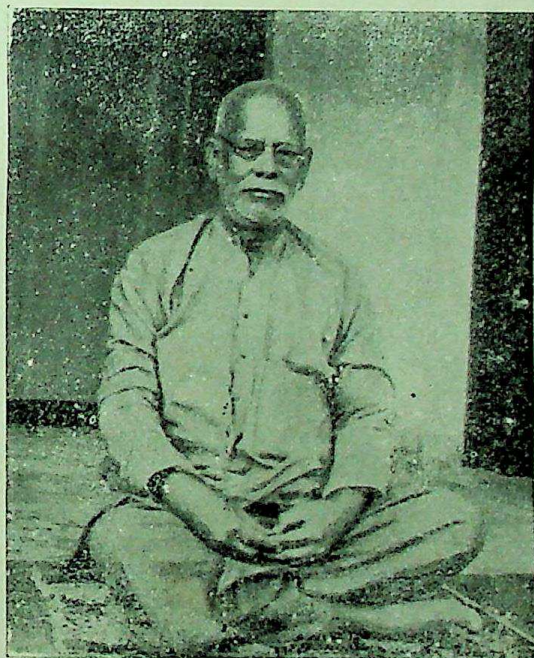
सत्य, अहिंसा के रक्षक, हैदराबाद धर्म युद्ध के अधिनायक
श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज
(१९४१ में हैदराबाद [illegible] में लिया गया चित्र)

उद्‌गार तथा श्रद्धाञ्जलि

श्रीमन्नारायण स्तवः

(लेखक—श्री हरिदत्त शास्त्री एम. ए. वेदाचार्य मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल ज्वालापुर)

(१)

प्रारम्भेऽनय दुन्नतिं गुरुकुलं वृन्दावनं यो वसन्,
तद्धित्वा बहुशः प्रधान पदवीं सर्वत्र चापद्गुणैः।
यत्सेवा कणिकाऽभिनन्दनमिदं ग्रन्थात्मना राजते ।
तं वन्दे यतवाग्घरिं यतिवरं "नारायण स्वामिनम्" ॥

(२)

नारायणार्पित मतिर्जनतां तदेक—
बुद्धयैव यो भजति भक्त-नरायणं सन्।
नारायणीयति च योऽधमरुद्धिकारे,
नारायणाभिधयतिं तमहं स्तवीमि ॥

(३)

यो लोक शोक शमनो जवनस्तपस्वी,
दीप्त्या प्रभाकर समोसमो मनस्वी ।
भाषासु भाषण विधौ च विरोधिहीनो
नारायणाभिधयतिं तमहं स्तवीमि ॥

* * * *

श्री कल्याणदास जे० देसाई बम्बई—

"पूज्य नारायण स्वामी जी के लिये मुझे अति आदर है। हम आर्य समाज के सन्यासियों में उनको उच्चतम कोटि में रख सके हैं। उनकी विद्या तो प्रसिद्ध है। आत्मदर्शन, उपनिषद् भाष्य इत्यादि उनकी लिखी हुई पुस्तकें इस विषय में प्रमाण रूप हैं। विद्या तो है ही परन्तु उसके साथ उनमें संयम, सहनशक्ति और तप का प्राधान्य है। काम क्रोध उनमें देखने को नहीं मिला। और धर्म के लिये बलिदान अपने को कर देना यह विशेष गुण उनमें पाया। हैदराबाद राज्य में धर्म की रक्षा के लिये जो अहिंसामय असहकार के रूप में धर्म युद्ध आर्य समाज ने छेड़ा था उसके अग्रगण्य व्यक्ति यही महात्मा पुरुष थे और मौत आ जाय तो भी उसकी फ़िकर न करके उन्होंने जो कार्य करके बताया वह चिरकाल उनको आर्यसमाज के इतिहास में उत्तम पद पर ही रख देगा। इसके सिवाय

एक शक्ति उनमें है, जो बहुत सन्यासियों में कम दीख पड़ती है, वह व्यवस्था शक्ति है। पद्धतिपूर्वक अथ से इति पर्यन्त कोई कार्य विचारपूर्वक करना और बारीक निगाह से छोटी से छोटी बात उस कार्य की पूर्ति के लिये ज़रूरी हो वह उनके ध्यान से बाहर नहीं जाती है। इसलिये वे योजक, व्यवस्थापक, यानि Administrator होने योग्य हैं और विशेष उनका नियमित आहार विहार उनको अति वृद्धावस्था में भी स्वास्थ्य दे रहा है। प्रभु ऐसे आत्मा को समाज के वास्ते दीर्घायु देवें यह प्रार्थना है। वानप्रस्थिओं और सन्यासियों के लिये उन्होंने जो स्थिर स्थान की योजना की है उसकी रजत जयन्ती के प्रसंग पर मैं स्वामी जी को उनके विद्या, पुरुषार्थ और तप के लिए धन्यवाद देता हूँ।

* * * *

श्री प्रो० ताराचन्द जी गाजरा करांची—

मैं महात्मा नारायण स्वामी जी के सम्पर्क में अनेक वर्षों से आया। वह त्यागी तपस्वी जीवन बिताते हैं। उनकी दिनचर्या कर्ममय है। वह मितभाषी हैं। जितना बोलते हैं, तोलकर बोलते हैं उनके प्रत्येक भाषण व लेख से स्वाध्याय की सुगन्ध आती है। एकान्त प्रिय होते हुए भी समाज हित या परोपकार की भावना का त्याग न करना उनकी अपनी विशेषता है।"

* * * *

श्री स्वामी अभेदानन्द जी पटना (बिहार)—

"समीपता से श्रद्धा बढ़ती गई" श्रद्धास्पद महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज के दर्शन का सौभाग्य सर्व प्रथम गुरुकुल वृन्दावन में एक वानप्रस्थ, तपस्वी और गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता की अवस्था में हुआ था। उसी समय यकायक मेरे हृदय में भान होने लगा कि यही महात्मा आर्य जगत् का सच्चे अर्थों में नेतृत्व करेगा। उसी समय स्वामी जी महाराज की गम्भीरता, धीरता और सहिष्णुता का प्रभाव अमिट रूप से मुझ पर पड़ा। मैं ज्यों २ स्वामी जी के समीप होता गया, मेरी श्रद्धा और भी बढ़ती गई। स्वामी जी महाराज की जीवनचर्या प्रत्येक व्यक्ति के लिये सुन्दर सोपान है। स्वाध्याय, संयम, संगठन-प्रियता और सिद्धान्त दृढ़ता स्वामी जी के जीवन के सुगन्धित पुष्प हैं। जिनकी सुरभि सर्वत्र प्रसारित होती आ रही है। आपका जीवन जिस प्रकार भी देखा जाये, उत्साह और आशापूर्ण है। ऊंचे आदर्शों को अपने जीवन में व्यवहृत करके, स्वामी जी ने आचार-विचार का माप दण्ड ऊंचा कर दिया है। प्रान्तीय सभा और सार्वदेशिक सभा को इतनी उन्नतावस्था में पहुँचा देने का श्रेय श्री स्वामी जी महाराज को ही है। स्वामी जी ने अपने उपदेश और कथाओं द्वारा अनेकानेक नास्तिक युवकों को आस्तिक बनाकर आर्य संस्कृति और सभ्यता का पक्का सेवक बना दिया है। ऐसे उदाहरण यहां बिहार प्रान्त के अनेक हैं। मुझसे लोगों ने कहा कि शिमले में स्वामी जी की कथा सुनी और वार्तालाप करके संतुष्ट हो, हम सच्चे आस्तिक होगये। सारा आर्य जगत् स्वामी जी महाराज का आभारी है। मुझे स्वामी जी से सन्यास की दीक्षा लेने और तत्सम्बन्धी उपदेश श्रवण

करने से सदा आत्मिक आनन्द प्राप्त होता रहता है। उनके गम्भीर विचार तथा अध्यात्मिक गूढ़ विवेचना का मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा है और मैं उनसे लाभ उठा कर अपने लिये एक प्रकार का सहायक आधार समझता रहा हूँ।

मैं परमात्मा से ऐसे त्यागी, तपस्वी महात्मा के दीर्घ जीवन की शुभ कामना करता हूँ जिससे वे आर्य जाति के पथ प्रदर्शक के रूप में मानव समाज का कल्याण करते रहें।

* * * * *

माननीय श्री घनश्यामसिंह जी गुप्त स्पीकर सी० पी० एसेम्बली—

महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज उन व्यक्तियों में से हैं जिनका छाप आर्यसमाज के इतिहास में चिरस्थाई रहेगा।

आपके जीवन की पवित्रता, निःस्वार्थता और सरलता कइयों को स्फूर्ति देती रही है और देती रहेगी।

सार्वदेशिक सभा के निर्माण में और उसको बलिष्ट बनाने में आपका विशेष हाथ रहा है। और इस समय भी आप उसके प्रधान पद को सुशोभित करते हुये उसकी उन्नति में प्रयत्नशील हैं।

इस पुनीत अवसर पर उनकी सेवा में मैं विनम्र श्रद्धाञ्जली समर्पित करता हूँ। परमात्मा उनको दीर्घायु दें।

* * * *

माननीय डा० सर सीताराम जी प्रेज़ीडेण्ट यू. पी. कौंसिल—

मुझे अपने जीवन में आर्यसमाज के अधिवेशनों पर श्री स्वामी दर्शनानन्द, श्री स्वामी श्रद्धानन्द तथा श्री स्वामी सत्यानन्द जैसे महापुरुषों के व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इन्हीं सज्जनों की शैली में श्री नारायण स्वामी जी भी हैं। सब से पहले श्री नारायण स्वामी जी की उपनिषदों पर कथा १५ वर्ष से अधिक हुए नैनीताल में सुनी थी। श्री नारायण स्वामी जी की विद्वत्ता, व्याख्यानशक्ति, सौम्य स्वभाव और वादवितंडा के अभाव का मुझ पर प्रभाव पड़ा। तदुपरान्त स्वामी जी ने हैदराबाद् संघर्ष में जो साहस तथा निर्भीकता दिखलाई उससे उनके प्रति आदर बढ़ गया। मेरठ-रामगढ़ में श्री नारायण स्वामी जी से कई बार साक्षात् हुआ। इस सम्पर्क से उनके प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा और भी विशेष होगई। स्वामी जी एक आदर्श सन्यासी हैं, गम्भीर, शान्त, उदार त्यागी, निर्द्वन्द्व, परोपकारी, सेवातन्मय, स्वाध्याय लग्न, स्थितप्रज्ञ,। परमात्मा उनको चिरंजीवी करें। ऐसे संन्यासी ही हमारी जाति और हमारे देश के सर्वस्व हैं।

* * *

श्री ला० देशबन्धु जी गुप्ता एम. एल. ए. डाइरेक्टर तेज देहली—

अभिनन्दन ग्रंथ के द्वारा श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज के चरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने का जो सुअवसर प्राप्त हुआ है, उसे हम गौरव की वस्तु समझते हैं। मुझे सबसे पहले श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा के पुण्य अवसर पर श्री स्वामी जी के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ था। उसके पश्चात् तो सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री पद पर कार्य करने, सदस्य के रूप में सभा की अन्तरङ्ग सभाओं में सम्मिलित होने, अन्य प्रकार से सभा के संचालन में भाग लेने तथा अन्य विविध सामाजिक सेवाओं के सिलसिले में, यह सम्पर्क बढ़ा और आज यह घनिष्ठता में परिवर्तित हो चुका है।

श्री स्वामी जी का व्यक्तिगत जीवन इतना ऊंचा और सामाजिक जीवन इतना विशद है कि आर्य समाज उसपर अभिमान करता है। स्वामी जी महाराज आर्य समाज के उस युग की बढ़िया यादगार है जिसे स्वर्ण युग के नाम से पुकारते हैं। वे उस नक्षत्र मण्डल (Galaxy) के एक चमकते सितारे हैं जिसकी चमक से आर्य जगत् ही नहीं वरन् देश का सार्वजनिक वातावरण आलोकित रह चुका है। स्वामी जी आर्य समाज के उन महापुरुषों में है जिन्होंने अपने चरित्र और निःस्वार्थ सेवा से आर्य समाज का निर्माण किया है। सचमुच वे आर्यसमाज की वर्तमान संन्तति के सर्वोच्च पथ-प्रदर्शक और आर्यसमाज के कर्णधार हैं।

स्वामी जी में प्रायः वे सब गुण पाये जाते हैं जो एक नेता में होने आवश्यक हैं। निरन्तर कई वर्ष पर्यन्त सार्वदेशिक सभा के प्रधान पद पर रहते हुये, सार्वदेशिक सभा और उसके द्वारा आर्य समाज का नेतृत्व करते हुये, उन्होंने अपने इन गुणों का उत्तम परिचय दिया है। सार्वदेशिक सभा को सजीव बनाने में स्वामी जी का सबसे बड़ा भाग है। मथुरा का जन्म शताब्दी महोत्सव संसार भर के आर्यों का सब से पहिला उत्सव था। उस उत्सव में आर्य जगत् को उनकी प्रबन्ध पटुता का बड़ा उत्तम परिचय मिला था। सहसा आर्यजगत ने उसी समय उन्हें अपना भावी नेता स्वीकार कर लिया था।

हैदराबाद का धर्मयुद्ध पहला संघर्ष था जिसे निरन्तर ६ वर्ष तक परिहार करते हुये, सार्वदेशिक सभा को हैदराबाद सरकार से छेड़ना पड़ा था। इस युद्ध के नेतृत्व का भार स्वामी जी महाराज के ऊपर छोड़ा गया था। प्रथम सर्वाधिकारी के रूप में उनकी जेल यात्रा ने आर्यजगत् में विद्युत् का कार्य किया था। हम लोग जिन्हें इस युद्ध के वाह्य संचालन का अलभ्य अवसर मिला था इस बात को भली भांति अनुभव कर सकते हैं। उन्हीं के नेतृत्व में इस धर्म युद्ध में विजय श्री प्राप्त हुई।

आज बड़े से बड़ा सम्मान देने और बड़ी से बड़ी आपत्ति का निराकरण करने के समय आर्य जगत् की दृष्टि स्वामी जी पर ही जाती है। इस बात से उनकी लोक प्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।

परमात्मा से प्रार्थना है कि वे अपनी असीम कृपा से श्री स्वामी जी को पूर्ण आयु प्रदान करें जिससे हम पर उनका साया देर तक बना रहे। इन कुछ शब्दों के साथ मैं अपनी विनीत श्रद्धाञ्जलि उनके चरणों में सादर अर्पण करता हूँ।

* * * *

श्री महात्मा खुशहालचंद जी आनन्द प्रधान आर्य प्रादेशिक सभा लाहौर—

एक मास के अज्ञात कारावास के पश्चात् आज ही लाहौर आकर नारायण ग्रन्थ के सम्बन्ध में समाचार मिला। मुझे दुःख है कि मैं पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी के सम्बन्ध में कुछ न लिख सका।

स्वामी जी का सारा जीवन आर्य समाज की सेवा के अर्पण रहा है। ऐसे महानुभावों के प्रयत्न, त्याग तथा तप ही से आर्यसमाज उन्नत हो रहा है। महात्मा नारायण स्वामी जी का जीवन हर प्रकार से आर्यसमाज के हरएक व्यक्ति के लिये अनुकरणीय है। मेरे हृदय में उनके प्रति विशेष श्रद्धा, भक्ति तथा प्रेम है।

* * * *

श्री प्रो० सुधाकर जी एम०.ए० मन्त्री सार्वदेशिक सभा—

पूज्य स्वामिन् !

आज के दिन आर्य जनता आपकी बहुमूल्य सेवाओं के बदले में आपको अभिनन्दन ग्रंथ भेंट कर रही है। परन्तु आपने पिछले साठ वर्षों से आर्य जगत् का अभिनन्दन किया है। आपकी सेवाओं का मूल्य कैसे लगाया जा सकता है ? उनका बदला कैसे चुकाया जा सकता है ?

महात्माओं के जीवन पर्वतों के समान विशाल होते हैं। पर्वतों का सौन्दर्य जैसे दूर से अनुभव होता है वैसे निकट से नहीं ! निकट पहुँचने पर तो उनके छिद्र दीखने लग जाते हैं। परन्तु हे स्वामिन् ! आपका जीवन दूर से और निकट से मुझे सुन्दर ही सुन्दर प्रतीत हुआ है। लगभग १२ वर्ष तक आपकी सेवा में तथा आपके सहयोग में मुझे सार्वदेशिक सभा की सेवाओं का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अतः निकट में रह कर मैंने आपके जीवन के सम्पर्क के प्रभाव को अनुभव किया है और मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि मैं ने आपसे बहुत कुछ सीखा और मैं उसके लिये आज हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। प्रभु आपको चिरकाल तक स्वस्थ रक्खें और आर्यसमाज और आर्यजगत् आप के उच्च और आदर्श जीवन से लाभ उठाता रहे।

* * * *

श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी महाराज—

प्रत्येक आर्य बच्चा श्री नारायण स्वामी जी के नाम से सुपरिचित है। जिसका जन्म आर्य समाज के लिये हुआ, जो समाज के लिये जी रहा है, जिसका प्रत्येक श्वास समाज की सेवा कर रहा है और जो समाज के लिये प्राणों को नित्य ही बलिदान करने के लिये तैयार है, जिसने आर्य समाज के नवशिशु को अपनी प्यारी गोद में बड़ी उमंग के साथ ८० वर्ष की आयु तक पाला पोषा है और सदा रक्षा की है उस पितामह को समाज के बच्चे स्वभावतः प्यार करते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आर्यसमाज के विभिन्न कार्यों में स्वामी जी का सहयोग ऐसी अभिन्नता से ओतप्रोत है कि 'नारायण स्वामी'' के जीवन और आर्यसमाज के इतिहास में भेद करना कठिन हो गया है। अपनी चिरकाल की निःस्वार्थ अनन्य सेवाओं के कारण स्वामी जी आज आर्यों के हृदय सम्राट बने हुये हैं। ८० वर्ष की अवस्था में भी आप एक युवक की तरह स्फूर्ति के साथ कार्य सम्पादन कर रहे हैं। आपने अपने नियम बद्ध जीवन और सदाचार से अनेक नवयुवकों में जान फूंक दी है और अनेक सन्यासियों की हृदय ज्योति अपनी ज्योति से देदीप्यमान करदी है। आर्य समाज स्वामी जी का प्राण है। स्वामी जी की जीवनी आर्यसमाज का इतिहास है। स्वामी जी के प्राण आर्य समाज के हैं। सोते और जागते आर्यसमाज की हित कामना ही आपको आनन्दित करती रहती हैं। स्वामी जी आर्यसमाज के प्राण और जीवन हैं। कठिनाइयां उपस्थित होने पर आर्य स्वामी जी की ओर ऐसी कातरता से दौड़ते हैं जैसे बालक माता की गोद में। शताब्दी महोत्सव, हैदराबाद सत्याग्रह, वृन्दावन गुरुकुल, उपनिषदों की कथाएं, सन्यासी सगठन, रामगढ़ आश्रम तथा हाईस्कूल स्वामी जी की असख्य सेवाओं में से कुछ चिरस्मरणीय स्मारक हैं। आपकी विद्वता का दूसरा विद्वान् इस समय क्षेत्र में नहीं है। स्वामी जी ने जितनी पुस्तकों का स्वाध्याय किया है, हम में से बहुतों को तो उनके नाम तक भी मालूम नहीं हैं। एक गरीब घर का बालक भी स्वाभिमान की मर्यादा रखता हुआ अपने निजी पुरुषार्थ और दूरदर्शिता और आत्मावलम्बन द्वारा किस प्रकार उच्च कोटि का नेता बन सकता है, इस बात का जीता जागता उदाहरण स्वामी जी की जीवनी है। महर्षि के बाद समाज का सच्चा सेवक स्वामी जी से बढ़कर दूसरा नहीं हुआ। समाज के कार्यों पर अपनी मोहर लगाने वाले नेताओं में स्वामी जी का नाम अग्रगण्य तथा चिरस्मरणीय रहेगा। स्वामी जी एक सच्चे आर्य, आदर्श सन्यासी, योगी, लगन के पूरे, साधन के पक्के, घड़ी की गति पर आचरण करने वाले, कर्मनिष्ट, स्थिर बुद्धि महात्मा, आर्यसमाज के सूक्ष्मदर्शी अद्वितीय विद्वान्, आचार्य तथा प्रपितामह हैं।

वृद्ध प्यारे नेता! आपके चरणों में श्रद्धाञ्जलि समर्पित है। गुरुदेव! आशीर्वाद दो कि हम सब आपके चरण छूने के अधिकारी तो हो सकें। भगवन्! हमारे वृद्ध सुयोग्य नेता को हमारे मध्य में चिरकाल तक स्वस्थ और आनन्दित रखने की कृपा करो! ओ३म् शम् !!

* * * *

श्री प० सुधाकर जी बेंगलोर--

नमस्ते भगवन् !

दीपावली का दिन था। दीपमालाओं से अमावस्या की रात के गहरे अन्धकार को दूर करने को आर्यों में उमंग उमड़ रही थी। भगवान् अंशुमाली के प्रतीची दिगम्भोनिधि में अस्त होने की सबको प्रतीक्षा थी।

सूरज डूबा ! साथ ही डूबा आर्यकुल दिवाकर ! दीपमालायें अंशुमाली के अभाव से उद्भूत तमो राशि के किंचित दूर करने का साधन तो बन सकती थीं; परन्तु महर्षि दयानन्द रूपी दिव्य आत्मिक सूर्य के अन्त से उत्पन्न होने वाली आध्यात्मिक तमिस्रा के निवारण का वे साधन नहीं हो सकती थीं।

आर्यों के हृदय प्रदेश में निराशा का घोर अंधकार फैल गया। पर तत्वदर्शियों ने कहा—"जीवन के बाद मरण है तो मरण के बाद जीवन भी जरूर है।"

× × ×

वह बात सच थी। आर्यों का भाग्य सूर्य आशा-किरणों को फैलाता हुआ आर्यावर्त की प्राची दिशा में फिर नज़र आया। जगत् ने इस बार उस सूर्य को स्वामी श्रद्धानन्द नाम से जाना। सचमुच उस तेजस्वी सूर्य ने आर्यावर्त के आकाश को अपनी दिव्य प्रभा से आलोकित कर दिया। निराश हृदयों में नव्य आशा का स्रोत फूट निकला। आर्यों ने कहा—"लो, हम जिन्दा हो गये।"

लेकिन, शाम को तो आना ही था; वह आकर ही रही। लोगों ने देखा—सांझ की लालिमा आसमान के पश्चिम दिग्भाग को रंग रही थी। पर, ओफ़ ! यह क्या ? भाग्य सूर्य भगवान् श्रद्धानन्द की छाती भी लालिमा उगल रही थी।

कहने वालों ने कहा—"आर्यों का सूर्य फिर अस्त हो गया।" तत्वदर्शियों ने अपना राग अलापना नहीं छोड़ा। उन्होंने कहा—'सूरज अस्त होता है तो फिर उदित होने के लिये ही है।"

× × ×

वे जो कुछ भी थे, तत्वदर्शी तो थे ही। उनकी बात ठीक न निकलती तो संसार-चक्र घूमता कैसे ? आर्य अपनी निराशा को दबाते हुए सूर्य-नारायण की बाट जोह रहे थे। आख़िर आर्य-जगत् के आकाश में लोगों ने देखा कि सूर्य-नारायण आ ही गया ! आर्यों में नव जीवन का संचार हुआ।

हे स्वामिन् ! हे नारायण ! आर्य जगत् को आभामय बनाने के लिए आपने क्या न किया ? अपनी आत्मिक किरणों से वेद-महासागर की दिव्य-जल की बूंदों को आकृष्ट करके, हम अज्ञानियों पर आत्म ज्ञान की वर्षा तो बरसायी ही; साथ २ भाग्यनगर के अत्याचारमय अधार्मिक अन्धकार को अपनी तेजस्विता से दूर भगा कर असहाय आर्य जनता पर साहस का प्रकाश फैला दिया; उनमें चेतनता फूंक दी।

हम पर आपके अनन्त उपकार हैं। हम आपके अत्यन्त ऋणी हैं। भगवन्! आज हम भविष्य की तो नहीं सोचते; वर्तमान में देदीप्यमान आपको देखते हैं। प्रभु परमात्मा से प्रार्थना है कि आप दीर्घायु हों; नीरोग और आत्माराम हों। आप अनन्तकाल तक ज्ञान वर्षा बरसाते रहें; हम उससे अपनी ज्ञान पिपासा बुझाते रहें।

अधिक क्या कहें? यही दो शब्द हमारे हृदय के अन्तस्थल से निकलते हैं—"नमस्ते भगवन्!"

* * * *

श्री लक्ष्मीदेवी जी आचार्या कन्या गुरुकुल सासनी—

श्री पूज्य नारायण स्वामी जी के ३० वर्ष से दर्शन व उपदेश सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है। जब से अब तक एक समान कार्य करने की गति पाई है, वह है गम्भीर जीवन। श्री स्वामी जी के प्रति पितावत प्रेम और शुभ जिज्ञासा दिन प्रतिदिन बढ़ती ही गई। कार्य क्षेत्र में किसी भी कठिन से कठिन कार्य में श्री स्वामी जी के परामर्श से सफलता ही प्राप्त हुई। कन्या गुरुकुल हाथरस को खोलने के लिये वर्षों बड़े २ समाज के नेताओं से विचार किया पर आजकल ही होता रहा। पूज्य स्वामी जी से एक बार ही विचार करने पर कुछ देर न लगी और तुरन्त पूज्य स्वामी जी से कर-कमलों द्वारा १६३१ ई० २६ जौलाई को सन्ध्या में गुरुकुल उद्घाटन होगया। और समय २ पर अपनी गम्भीर सम्मति देकर कन्या गुरुकुल को फलता फूलता बना दिया। आज आर्यसमाज के कार्य क्षेत्र में भी स्वामी जी ही समुद्र के समान हैं। हैदराबाद सत्याग्रह में आपने आगे बढ़ कर कष्टों को फूल बना दिया और साहस का बिगुल आर्य जगत में बज गया।

पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी से बलिदान के बाद आपने श्रद्धानन्द बलिदान भवन को ही ठहरने का मुख्य स्थान बना सार्वदेशिक सभा के कार्य को सम्भाला, यह है वीर भाव।

रामगढ़ जहां पूज्य स्वामी जी की कुटिया बनी है वहां शेर घूमते थे, उस स्थान को आज तपोवन बना दिया है। जो वहां जाता है पूज्य गुरुवर के दर्शन करके आत्म ज्ञान की कथा सुन हृदय तृप्त करता है और पहाड़ी पर चढ़ने की कुछ थकान हो जाती तो आश्रम में बैठकर पूज्य स्वामी जी के हाथ से लगाये हुए वृक्षों के मीठे २ फलों की प्रशादी पाकर क्षुदा तृप्त कर सुख पाता है।

२५ वर्ष पूर्व जब श्री स्वामी जी ने सन्यास की दीक्षा रामगढ़ की कुटिया पर ली थी तब मैं रामगढ़ गई थी। जाते २ थकान बढ़ी। मार्ग में सोचा अब कौन यहां आयेगा चलना विकट है। जब जाकर प्रातः उठकर देखा कुटिया कुछ बन चुकी थी फूल बूटे भी कुछ लग चुके थे नदी की धारा कल २ करती, कुछ अजीब तरह की छोटी २ वृक्षों की कुञ्जें, दोनों ओर से पहाड़ों के बीच में लम्बा सा पुल हरिद्वार का लक्ष्मन झूला सा नज़र आने लगा।

श्री पूज्य स्वामी जी के चरणों में बैठकर जो कथा से आत्म प्रशाद प्राप्त होता है वह एक अपूर्व साधन होता है। इस समय आर्य समाजों में ऐसे मनुष्यों की कमी है जो अपना जीवन

नियमानुसार बनाकर कार्य क्षेत्र में उतरें। इसके लिये आर्य सज्जनों को पूज्य नारायण स्वामी जी के जीवित जाग्रत जीवन से शिक्षा प्राप्त कर आदर्श बनने का व्रत लेना चाहिये। परम पिता परमात्मा हमारे पूज्य स्वामी जी को दीर्घायु करें। यह मेरी कामना है।

* * * *

स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज—

नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ की सर्व प्रकार से सफलता चाहता हूँ। कार्यवश कोई लेख नहीं भेज सका। श्री महात्मा नारायण स्वामी जी की ८० वीं वर्ष गांठ पर अपनी शुभ कामना भेजता हूँ।

श्री स्वामी जी का सारा जीवन आर्य समाज की सेवा का जीवन है। उन्होंने मन, वाणी, शरीर से आर्य समाज की सेवा की है। प्रत्येक आर्य को उनका अनुकरण करने का यत्न करना चाहिये।

* * * *

व्रजनन्दन सिंह (रायबहादुर) रिटायर्ड कमिश्नर एक्साइज़, विहार—

कुछ स्मरण

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज की महती कृपा जो २० वर्षों से मेरे ऊपर होती रही है, उसके लिये मैं उनका बड़ा ऋणी हूँ। आपकी कथा सुनने का सौभाग्य जबसे प्राप्त हुआ तब से आत्मा को आध्यात्मिक जगत् की झलक मिलने लगी और श्रद्धा में वृद्धि होने के कारण हृदय में उत्साह और आनन्द की मात्रा अधिकाधिक अनुभव होने लगी। तत्पश्चात् श्रीमान् की लिखी ईशोपनिषद् की व्याख्या हाथ में आई जिसे पढ़ कर आत्मा मुग्ध होगई। उस पुस्तक के स्वाध्याय से ऐसा अलौकिक आनन्द हुआ कि कुछ संदिग्ध स्थलों के स्पष्टीकरण के लिए मैं स्वामी जी महाराज के चरणों तक दिल्ली पहुँचा। आपने बड़े प्रेम से मेरी कठिनाइयों को समझाकर सन्तुष्ट किया। उसके बाद श्रीमान की बनाई अन्य उपनिषदों की व्याख्याओं से अधिकाधिक ज्ञान तथा आनन्द मिलता गया।

आपके आदर्श जीवन से प्रभावित होकर हृदय में बड़ी लालसा उत्पन्न हुई कि श्रीमान् के आश्रम में जाकर कुछ दिनों तक निवास करूं और शिक्षा ग्रहण करूं। मैं रामगढ़ गया, मेरी पूजनीया माता जी भी गईं। अत्यन्त प्रेम से स्वामी जी महाराज ने हम लोगों का अतिथि सत्कार किया और १५ दिनों तक नित्य उपनिषदों की कथा सुनाते रहे। दुर्भाग्य वश मेरे छोटे भाई (जो माता जी के साथ रामगढ़ आ गये थे) के बीमार हो जाने के कारण शीघ्र लौटना पड़ा, जिससे बहुत दुख हुआ; अन्यथा हम लोगों की हार्दिक इच्छा थी कि अधिक समय तक ठहर कर स्वामी जी

का अमृतोपदेश पान करते रहें। स्वामीजी के पवित्र जीवन और सरल उपदेशों ने मेरी माता जी के हृदय में भी, श्रीमान् के प्रति बड़ी श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न कर दी थी और अन्त समय तक स्वामी जी के उपदेशों को स्मरण करती हुई वह अपनी कृतज्ञता प्रकट करती रहीं।

समस्त बिहार प्रान्त पर स्वामी जी महाराज का बहुत बड़ा उपकार है। जब २ आवश्यकता पड़ी है आपने दौड़ कर इस प्रान्त के वैदिक धर्म प्रचार का मार्ग प्रशस्त किया है। बिहार बंगाल की आर्य प्रतिनिधि सभा १९२४ ई० तक सम्मिलित रही। दयानन्द जन्म शताब्दी के पश्चात् बिहार के आर्यों ने अपने प्रान्त में वैदिक धर्म प्रचार की विशेष प्रगति को बढ़ाने के लिये बिहार को बंगाल से पृथक् कर अपनी प्रतिनिधि सभा रजिस्टर्ड करायी इससे बिहार बंगाल के अधिकारियों और उपदेशकों में बहुत बड़ा मतभेद खड़ा हो गया। दोनों प्रान्तों के प्रचार कार्य में बाधायें उपस्थित होने लगीं। स्वामी जी महाराज की आज्ञानुसार दोनो प्रान्तों के आर्यों तथा उपदेशकों का सम्मेलन १९२५ के मई मास में, पटने में हुआ। पूज्य स्वामी जी ने, सार्वदेशिक सभा के प्रधान के अधिकार से दोनों प्रान्तों के कार्यों को सुगमता से चलाने के लिये दोनों प्रान्तों के विभाग पृथक् कर दिये। आगे चल कर बिहार की सभा स्वतन्त्र हो गई और पूज्य स्वामी जी का आशीर्वाद प्राप्त कर अपने प्रचार और संगठन के कार्य को विस्तृत करने लग गई।

१९३४ ई० में जब प्रकृति के प्रकोप से भयंकर भूकम्प के कारण बिहार का उत्तरीय भाग प्रायः विनष्ट होगया, सारे देश में हाहाकार मच गया, उस समय स्वामी जी ने दौड़कर आर्यों को प्रोत्साहन और साहस देकर आर्यसमाज का रिलीफ कार्य संगठित कराया। साथ ही साथ समस्त प्रान्त में घूम कर पीड़ित तथा सन्तप्त जनता को आध्यात्मिक उपदेशामृत प्रदान कर शान्ति और सन्तोष द्वारा उन्हें दुखसागर में डूबते हुए से उबारा।

१९३७ ई० में बिहार प्रतिनिधि सभा की प्रार्थना स्वीकार कर स्वामी अभेदानन्द जी के साथ प्रान्त के समस्त ज़िलों के केन्द्रीय समाजों का तूफानी दौरा श्रीमान् ने किया। प्रत्येक स्थान पर ज़िले भर के आर्य भाई एकत्रित होते थे। स्वामी जी ने इस दौरे में बिहार के आर्यों को प्रचार शैली और संगठन का मार्ग बताया और उनके वैयक्तिक जीवन के सुधार के लिये आवश्यक साधन बतलाये। जहां तहां आपस के मत भेदों को दूर किया और आर्यसमाज के नियमोपनियमों के अनुसार कतिपय समाजों में सभासदों और आर्यों की नामावली पृथक् बनवाई। स्वामी जी के इस दौरे ने प्रान्त में एक नवजीवन डाल दिया था। प्रचारकों और कार्यकर्ताओं को रचनात्मक कार्यशैली का सन्देश मिला और प्रान्त में बड़े उत्साह और प्रेम से वैदिक धर्म-प्रचार का कार्य बढ़ने लग गया।

रामगढ़ कांग्रेस के अवसर पर बिहार प्रतिनिधि सभा ने प्रचार का वृहत् आयोजन किया था। सभा की प्रार्थना स्वीकार कर श्री स्वामी जी महाराज ने एक सप्ताह का समय दिया। स्वामी स्वतंत्रतानन्द जी माननीय घनश्यामसिंह जी तथा पण्डित गंगाप्रसाद जी उपाध्याय के साथ नाना प्रकार के कष्ट सहते हुए प्रचार के कार्य में संलग्न रहे। भयंकर वृष्टि के कारण कांग्रेस प्रचार का कार्य बन्द हो गया। इस अवसर पर स्वामी जी को बड़ा ही कष्ट हुआ।

स्वामी जी ने आध्यात्मिक उपदेशों एवं प्रवचनों से प्रान्त तथा पटने की जनता का बड़ा उपकार किया है। बड़े २ लोगों पर अपना प्रभाव डालकर उन्हें आर्यसमाज के सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट किया है। जस्टिस कुलवन्त सहाय, जज, पटना हाइकोर्ट, सनातनी होते हुए भी स्वामी जी महाराज के व्याख्यानों को बड़ी श्रद्धा से सुना करते थे और अपनी सन्तुष्टि प्रकट करते थे।

स्वामी जी ने जो महान उपकार अपनी पुस्तकों, लेखों और उपदेशों द्वारा किया है उसके लिये संसार, विशेषकर आर्यजगत् सदा श्रीमान् का ऋणी रहेगा। ज्ञान और कर्म के सुन्दर मिश्रण का एक प्रत्यक्ष आदर्श अपने जीवन द्वारा जनता के समक्ष रखकर श्रीमान् ने यथार्थ गुरु का काम हम लोगों के लिये किया है और आत्मविश्वास की अत्युत्तम शिक्षा दी है। परमात्मा से प्रार्थना है कि हम लोगों के कल्याण के निमित्त स्वामी जी महाराज को वे दीर्घजीवी बनावें।

* * * *

अभिनन्दन-गान

(श्री पं० रघुवीरसिंह जी सिद्धान्त शास्त्री)

पद-वन्दन बहु बार करें हम।

दयानन्द—सत्पथ—अनुगामी
निरभिमान, निश्छल, निष्कामी
श्री श्री मन्नारायण स्वामी !
भक्ति-भाव उपहार करें हम।
पद-वन्दन बहु बार करें हम ॥१॥

गायें विमल सुयश नित नेता !
द्वापर, कलियुग, सतयुग, त्रेता
सत्याग्रह संग्राम विजेता !
हृदय सुमन बलिहार करें हम।
पद-वन्दन बहु बार करें हम ॥२॥

भाग्यनगर के भाग्य विधाता !
भग्नावस्था के निर्माता !
पावन परम प्रमोद प्रदाता !
प्रेम पुष्प बौछार करें हम।
पद-वन्दन बहु बार करें हम ॥३॥

नवयुग के आदर्श सुधारक !
आर्य वीर, अघपुञ्ज विदारक !
सत्य-सनातन-धर्म प्रचारक !
अभिनन्दन शत बार करें हम।
पद-वन्दन बहु बार करें हम ॥४॥

तेज-त्याग-तपमयी मूर्ति पर,
शील स्वभाव, मुदित आनन पर,
'नारायण' के चरण-कमल पर,
तन-मन-धन बलिहार करें हम।
पद-वन्दन बहु बार करें हम ॥५॥

* * * *

श्री मदन मोहन जी सेठ चीफ जस्टिस भरतपुर स्टेट—

संगठन सूत्र को दृढ़ करने वाले

वर्तमान आर्यसामाजिक युग में श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज आर्यसमाज के प्रमुख नेता हैं, आपका व्यक्तित्व महान् है, स्वाध्याय गम्भीर है, नेतृत्व त्रुटि रहित है। आर्यसमाज का कोई कार्य, कोई नवीन योजना बिना आपके परामर्श, आपकी अमूल्य सम्मति और सहयोग के सफल नहीं हो सकता।

विशेष बात यह है कि आप न केवल आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध दार्शनिक ही हैं अपितु कर्मयोगी भी हैं। आपके गहन आध्यात्मिक विचारों से—प्रवचनों से—हजारों अशान्त आत्माओं ने शक्ति लगाकर कल्याणमार्ग ग्रहण किया है।

आर्यसमाज की वैधानिक समस्याओं का जितना अनुभव आपको है, सम्भवतः उतना अनुभव अन्य किसी नेता को नहीं है। इसी प्रकार ऋषि दयानन्द प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तों का जितना मनन आपने किया है, उतना बहुत कम महानुभावों ने किया होगा।

सन् १९२५ ई० के फरवरी मास में मथुरा में 'दयानन्द शताब्दी' समारोह मनाया गया था। मैंने इससे कुछ वर्ष पूर्व 'आर्यमित्र' में जो उस समय आगरा से प्रकाशित होता था, दयानन्द शताब्दी मनाने का विचार प्रकट किया था—इस विचार से आर्यसमाज में चेतनता उत्पन्न हुई। उस समय किसी को आशा न थी कि वह विचार इतना कार्यरूप में सफल हो सकेगा। इस शताब्दी समारोह में लाखों नर नारी सम्मिलित हुये—समारोह ने आर्यसमाज को चार चांद लगा दिये और इस उत्सव ने आर्यसमाज की प्रतिष्ठा, यश और बल को प्रदर्शित किया।

बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि इस महोत्सव की सफलता का श्रेय श्री महात्मा नारायण स्वामी जी के अथक परिश्रम, लग्न और तपस्या को है। स्वामी जी महाराज को इस उत्सव के सम्बन्ध में इतना अधिक श्रम करना पड़ा कि जिसके कारण सप्ताहों तक वे बीमार रहे और उन्हें अपैन्डी साइटिस का आपरेशन कराना पड़ा।

मुझे श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज के साथ निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य उस समय से प्राप्त हुआ, जबकि मैं १९११ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त का मन्त्री निर्वाचित हुआ। मन्त्री पद का कार्य मैंने सात वर्ष किया। आरम्भ में मैं इस प्रकार के कार्यों में बिल्कुल नया था और स्वामी जी को सभा के कार्य संचालन का इतना अच्छा ज्ञान था कि अनेकबार मुझे, उन्हें सभा के कार्य संचालन में सहायता और परामर्श के लिये बुलन्दशहर आमन्त्रित करना पड़ा। उस समय उन्होंने जो मुझे व्यावहारिक ज्ञान, परामर्श और निर्देश दिये, वे हमेशा मेरे मार्ग प्रदर्शक रहे।

जिस समय मैं मन्त्री नियुक्त हुआ था। उस समय प्रान्त की विचित्र अवस्था थी, पंजाब में आर्य पुरुषों में गुरुकुल और कालिज पार्टी के परस्पर झगड़े का प्रभाव संयुक्तप्रांत पर भी पड़ रहा था—अनेक आर्यपुरुष झगड़ों के कारण सभा से उदासीन हो गये थे। स्वामी जी के परामर्श से यह विचार किया गया कि जो सज्जन उदासीन हो गये हैं उनके पास जाकर उन्हें आर्यसमाज के संगठन और सभा में लाने का प्रयत्न किया जावे। हम लोग प्रान्त के प्रमुख आर्यपुरुषों के पास गये। परिणाम यह हुआ कि युक्तप्रान्त के आर्य पुरुषों में विरोध और दलबादी उत्पन्न नहीं हो पाई और बहुत से आर्यपुरुष सभा के कार्यों में सहयोग देने लगे। मेरठ के श्री बा० घासीराम जी, कानपुर के श्री. बा० ज्वालाप्रसाद जी, लखीमपुर के श्री बा० सीताराम जी, लखनऊ के श्री पं० रासबिहारी जी तिवारी आदि की सेवायें तभी से सभा को प्राप्त हुईं।

सन् १९११ ई० में गुरुकुल को फरुखाबाद से वृन्दावन लाने का विचार हुआ। निश्चय हुआ कि १०,०००) रुपया एकत्र किया जावे। इस धन संग्रह के कार्य में श्री स्वामी जी महाराज ने विशेष यत्न किया। धन एकत्र होजाने पर गुरुकुल के कार्य संचालन का उत्तरदायित्व भी श्री महात्मा नारायण स्वामी जी पर आया। विरोधियों ने गुरुकुल वृन्दावन को आपत्तियों के भवर जाल में डाल दिया परन्तु स्वामी जी महाराज जैसे कुशल कर्णधार के होने के कारण ही गुरुकुल उन्नत होकर फलता फूलता गया।

आर्यसमाज की सेवा में सार्वदेशिक सभा का संचालन और हैदराबाद सत्याग्रह आदि अनेक महान कार्य श्री स्वामी जी महाराज की त्याग, तपस्या और बुद्धिमता के कारण सफलतापूर्वक सञ्चालित हुये हैं। जब कभी आर्यसमाज पर आपत्ति के बादल आते हैं—श्री स्वामी जी का परामर्श और नेतृत्व आर्यसमाज की रक्षा करता है।

ऐसे महापुरुष की जयन्ती के अवसर पर मैं श्रद्धाञ्जलि भेंट करता हूँ। हम सब की परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वे ऐसी कृपा करें कि स्वामी जी महाराज दीर्घायु हों और हमें उनका आशीर्वाद-नेतृत्व अधिक समय तक मिलता रहे।

* * * *

श्री शत्रुञ्जय, बिजुआ नरेश —

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी ने आर्य समाज की जो सेवायें की हैं उनका मूल्य नहीं लगाया जा सकता। एक तरह से उनका नाम और आर्य समाज एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। वे सदा के लिये एक दूसरे से मिल गये हैं।

वैयक्तिक जीवन में वे एक निःस्पृह, कर्मशील सन्यासी हैं। सौभाग्य की बात है कि हम लोग उनकी ८० वीं वर्षगांठ मना रहे हैं। परमेश्वर उन्हें दीर्घ जीवन दें यही प्रार्थना है।

* * *

श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय प्रयाग—

स्वामी जी के प्रति—

मुझे आज्ञा हुई है कि श्री पूज्य नारायण स्वामी जी महाराज की अस्सी वर्ष की जयन्ती के अवसर पर कुछ श्रद्धा के शब्द उनकी सेवा में उपस्थित करूं। प्रणाली तो यह है कि इसको श्रद्धाञ्जलि कहा जाय या श्रद्धा के फूल। परन्तु ऋषि दयानन्दोक्त सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुये मुझे यह दोनों शब्द उचित प्रतीत नहीं होते।

आर्यसमाज के लिये यह एक बधाई और अभिमान का अवसर है कि उसके एक उच्च नेता की अस्सी वर्ष की जयन्ती मनाई जा रही है। आर्यसमाज को सत्तर वर्ष होगये। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्यसमाज की स्थापना के समय स्वामी जी लगभग १० वर्ष के होंगे।

उन्होंने ऋषि दयानन्द के दर्शन नहीं किये। उस समय वह हाथरस में पढ़ते थे। ऋषिवर वहां पधारे और हज़ारों उनको देखने के लिये गये। परन्तु बिचारा 'नारायणप्रसाद' औत्सुक्य होते हुये भी मन मसोस कर रह गया क्यों? इसलिये कि एक सनातनी पंडित ने कह दिया था कि दयानंद धर्म का शत्रु है उसका मुंह देखना पाप है। श्री स्वामी जी ने जब इस घटना को वर्णन किया तो उनके चहरे पर शोक के चिन्ह थे। वह क्या जानते थे कि जिस मुख को देखना पाप समझ कर वह आज उसे देखने नहीं जा रहे उसी की कल्पना मात्र उनके जीवन को ज्योतिःस्तम्भ होंगी।

कहते हैं कि श्री पं० गुरुदत्त जी से किसी ने कहा कि ऋषि दयानन्द का जीवन चरित्र लिखिये। उन्होंने उत्तर दिया "लिख रहा हूँ"। बहुत दिनों पीछे किसी ने पूछा, "कितना लिख गया" उन्होंने कहा "ऋषियों के जीवनचरित्र कागज़ों पर लिखे नहीं जाते, जीवनों पर लिखे जाते हैं। मैं उसको अपने जीवन पर लिख रहा हूँ"।

पं० गुरुदत्त जी आरम्भ काल में ही चल बसे। वह एक कलिका थे जो पुष्पित होने से पूर्व ही मुरझा गई। हम कह सकते हैं कि यह कलिका कितनी सुन्दर थी, कितनी सुगन्ध युक्त थी। परन्तु थी तो कलिका ही। और कलिका ही रही। पूर्ण पुष्पित गुरुदत्त क्या होते कोई नहीं कह सकता। कवियों की कल्पना चाहिये कि इसका अनुमान कर सके। परन्तु हम कह सकते हैं कि पूज्य नारायण स्वामी जी ने ऋषि दयानन्द के जीवन चरित्र को अपने जीवन में लिखना आरम्भ किया और कौन कह सकता है कि वे सफल नहीं हुये। लाखों नर नारियों ने ऋषिवर के दर्शन किये होंगे और उनको इसके पश्चात् स्मरण भी नहीं रहा होगा कि ऋषि क्या थे। बालक नारायणप्रसाद ऋषि के दर्शन न कर सका। पास होते भी न कर सका। परन्तु पूर्ण युवा नारायणप्रसाद ने ऋषि के आत्मा के दर्शन किये और अपने जीवन को उसके अनुसार ढालना आरंभ कर दिया।

मैंने पूज्य स्वामी जी के दर्शन लगभग ४६ वर्ष पूर्व किये थे जब वह प्रतिनिधि सभा के उपप्रधान अथवा मंत्री थे और मैं वैदिक आश्रम अलीगढ़ में पढ़ता था। उस समय वह मुरादाबाद

की कलक्टरी में किसी पद पर थे। परंतु उनका अधिक समय आर्यसमाज के ही काम में व्यतीत होता था। यू० पी० प्रतिनिधि सभा के निर्माण और संगठन में उनका बड़ा हाथ रहा है और सार्वदेशिक का तो जन्म ही जिन लोगों के हाथों हुआ उनमें से स्वामी जी एक हैं। सार्वदेशिक सभा के वह पहिले भी स्तम्भ थे और अब भी वह ज्योति स्तम्भ हैं।

पूज्य स्वामी जी के जीवन का रहस्य है तप और त्याग। मैं जब कभी ऐसे मनुष्य पर दृष्टि डालता हूँ जिसका अनुकरण मुझे करना चाहिये तो मेरी दृष्टि श्री पूज्य नारायण स्वामी जी पर पड़ती है। मैंने कई बार यत्न किया कि उनके कुछ गुणों का अनुकरण करूं परन्तु सफलता नहीं हुई। दूसरा कारण मेरी स्वयं त्रुटियां हैं।

श्री स्वामी जी की कृतियां विश्वतोमुखी हैं। उनका साहस अपूर्व है। उनकी दिनचर्या तो आदर्श है। वह अपने जीवन को बनाना जानते हैं और जीवन भवन की हर एक ईंट को बड़े कौशल और परिश्रम से बनाते हैं। वह उच्च कोटि के प्रबन्धक हैं। उच्च कोटि के लेखक और उच्च कोटि के उपदेशक। शब्दों द्वारा उपदेश और जीवन द्वारा उपदेश। ऐसे उपदेशक विरले ही होते हैं। श्री स्वामी जी को हम ओरेटर नहीं कह सकते। संसार के साधारण ओरेटरों में भी उनकी गिनती नहीं है। मैंने उनके पचासों उपदेश सुने हैं। मेरे ऊपर उनका प्रभाव बड़े बड़े ओरेटरों के व्याख्यानों से अधिक होता है। वह वही कहते हैं जिसका अनुभव करते हैं। फोनोग्राफी ओरेटरी का उनमें नाम भी नहीं ? वह उपदेशक हैं लैक्चरार नहीं। मैं सोचा करता हूँ कि वह इतना भ्रमण करते हुये भी इतने ग्रंथ कैसे रच डालते हैं।

श्री स्वामी जी हैदराबाद सत्याग्रह के पहिले डिक्टेटर थे। उन्होंने तार द्वारा मुझे शोलापुर बुलाया। उस समय लोगों में एक भ्रान्ति फैली हुई थी। सत्याग्रह और सन्यासी, इनको जेल जाने का क्या अनुभव ! परन्तु जब मैं शोलापुर पहुँचा और स्वामी जी ने समस्त रियासत का नक्शा सामने रखकर स्कीम बनानी आरम्भ की तो मैं दंग रह गया। मुझे तो यह लगा कि यदि किसी भी युद्ध का नेतृत्व स्वामी जी करते तो उसमें भी सफल हो सकते थे।

स्वामी जी के जीवन का विश्लेषण किया जाय तो कोई अपूर्व बात दिखाई नहीं पड़ती। यदि उनके जीवन के अलग २ टुकड़े कर करके देखिये तो सब साधारण प्रतीत होंगे। परन्तु सब मिलाकर देखिये और उसका संश्लेषण कीजिये तो एक अपूर्व आभा प्रतीत होती है। उनके जीवन का समष्टित्व ही उनके बड़प्पन की कुञ्जी है। हम नहीं कह सकते कि वे क्यों बड़े हैं परन्तु हैं बड़े। बहुत बड़े। उनके बड़प्पन की बात लोगों के हृदयों से पूछिये। आर्यसमाज में आज वह एक अद्वितीय संज्ञा हैं।

अभी स्वामी जी महाराज के सामान्य वेद निर्दिष्ट जीवन का केवल ४/५ भाग ही है काया में है। हम यहां केवल यही प्रार्थना करते हैं—

गुरुवर त्वं जीव शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।

• • •

श्री गोपदेव जी प्रधान दक्षिण भारत आर्यप्रतिनिधि सभा मद्रास—

दक्षिण भारत में आर्यसमाज का प्रचार

सन् १९२७ की बात है कि श्री श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज धर्म वेदी पर बलि हो चुके थे। उस पवित्र आत्मा की स्मृति चिह्न के रूप में देहली में एक उपदेशक विद्यालय प्रारम्भ किया गया था। श्रीमती सार्वदेशिक सभा की ओर से उस समय श्री नारायण स्वामी जी महाराज सभापति के स्थान को अलंकृत करते थे। आपके ही शुभ संकल्प का स्थूल रूप यह उपदेशक विद्यालय था। विद्यालय के प्रधान भी आप ही चुने गये थे। इस विद्यालय का उद्देश्य था दक्षिण भारत अर्थात् मद्रास प्रान्त से कुछ विद्यार्थियों को बुलवाकर उन्हें वैदिक शिक्षा देकर उनके द्वारा समाज प्रचार करवाना।

समाचार पत्रों में जब इस बात का प्रकाशन हुआ तो आन्ध्रप्रान्त (तेलुगु) से मैं और तामिल, मलबार, करनाटक प्रान्तों से और तीन चार विद्यार्थी देहली पहुंच गये थे। हम लोग विद्यालय में प्रविष्ट किये गये। दक्षिण भारत से हम जितने भी आये सभी अनुपनीत अयज्ञोपवीत थे। यज्ञोपवीत धारण से जब हमें संस्कृत होना पड़ा तो मैंने श्री स्वामी जी महाराज से प्रार्थना की कि आप ही हमें यज्ञोपवीत देकर दीक्षित करें। श्री स्वामी जी महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक मेरी प्रार्थना स्वीकार की और निश्चित तिथि में यज्ञोपवीत देकर हम सब दीक्षित किये गये। इस तरह से श्री स्वामी जी महाराज मेरे गायत्री मन्त्र के उपदेष्टा गुरु हैं। यह मेरा अहोभाग्य है। आर्य जगत के प्रसिद्ध सन्यासी श्रीमती सार्वदेशिक सभा का प्रधान महान् तपस्वी, प्रसिद्ध योगी तथा जन-मनोहारी धर्मोपदेशक को गुरु पाकर कौन ऐसा पुरुष है अपने को धन्य न समझे।

श्री स्वामी जी महाराज एक वर्ष तक विद्यालय का संचालन और निरीक्षण करते रहे। अनन्तर यह उचित समझा गया कि विद्यार्थियों को लाहौर भेज कर विशेष रूप से शिक्षित बनाया जाय। फलतः हम सब लाहौर गये हमने वहां शिक्षा पाई। इस तरह हम शिक्षित होकर अपने २ प्रान्त में लौट कर यथा शक्ति समाज प्रचार कर रहे हैं।

इस से पूर्व भी सार्वदेशिक सभा ने गुरुकुल के स्नातक एक दो स्नातकों को भेज कर मदरास प्रान्त में समाज सिद्धान्तों को प्रचारित करने की चेष्टा की। परन्तु दक्षिण की भाषा तथा आचार विचारों से अपरिचित होने के कारण स्नातक विशेष सफल न हो सके। श्री स्वामी जी की उपर्युक्त प्रचार कार्य की प्रणाली ने सार्वदेशिक सभा के उद्देश को किसी हद तक सफल बनाया है।

मद्रास दक्षिण भारत आर्य प्रतिनिधि सभा—

जब हैदराबाद (निजाम) का आर्य सत्याग्रह सफलतापूर्वक समाप्त हो गया तो उस के पश्चात् श्री स्वामी जी महाराज की अध्यक्षता में मदुरा (मदरास) नगर में बड़े समारोह के साथ

आर्यन कांग्रेस की गई। उस वर्ष दक्षिण भारत का साधारण निरीक्षण करके आपने यह उचित समझा कि मद्रास प्रान्त में आर्य प्रतिनिधि सभा स्थापित की जाय। दक्षिण भारत प्रचार विभाग कार्याध्यक्ष श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय की सहायता से आपने प्रतिनिधि सभा की आयोजना की। मदुरा में हम सब कार्यकर्ता एकत्रित हुए। फलतः सभा का निर्माण हुआ। अधिकारी चुने गये कार्यालय का स्थान मद्रास आर्यसमाज निर्णय किया गया। बाद में प्रतिनिधि सभा रजिस्टर्ड कीगई। चार वर्ष से सभा यथोचित काम कर रही है। हां धनाभाव के कारण अभी वह इतनी प्रसिद्धि नहीं पा सकी जितनी और प्रांतीय सभायें। आशा है श्री स्वामीजी का शुभ संकल्प धीरे २ सफल होगा।

इस तरह श्री स्वामी जी महाराज का सम्बन्ध दक्षिण भारत के साथ बहुत कुछ है। श्रद्धेय कर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द महाराज ने दक्षिण भारत में विशेषकर मद्रास में आर्य समाज का बीजारोपण किया। उसी बीज को अंकुरित करके वृक्ष रूप धारण कराने में मेरे दीक्षित गुरु श्री नारायण स्वामी जी महाराज का शुभ संकल्प कार्य कर रहा है।

परमात्मा श्रद्धेय महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज को दीर्घायु प्रदान करें। यही मेरी शुभ कामना है।

* * * *

श्री डा० श्यामस्वरूप सत्यव्रत जी बरेली—

महात्मा नारायण स्वामी जी इस प्रश्न के उत्तर हैं कि मनुष्य कैसे एक साधारण अवस्था से एक उच्चतम अवस्था पर पुरुषार्थ, तपस्या और निरन्तर उद्योग से आरूढ़ हो सकता है।

मुझे पूज्य स्वामी जी का पहली बार दर्शन तब हुआ जबकि वह गुरुकुल वृन्दावन के मुख्याधिष्ठाता व आचार्य थे और आर्य प्रतिनिधि सभा यू० पी० की बैठक बरेली में हुई। उस समय भोजन के लिये निमन्त्रित सज्जनों में महात्मा नारायण प्रसाद जी भी थे। जब भोजन परोसा गया और परोसने के लिये आपके पास गया तो आपने भोजन के सब स्वादिष्ट पदार्थों को हटवा कर केवल एक शाक और कुछ रोटियां ही रक्खीं। बहुत पूछने पर आपने यह बतलाया कि आजकल आप एक शाक और रोटी ही अपने भोजन में लेते हैं। मैंने ऐसी प्रथायें हिन्दू यतियों और साधुओं में तो देखीं थीं पर एक आर्य सन्त में मैंने यह पहिली बार देखा और देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ मैंने भी अपने मन में इन्द्रियों को मारने की दृढ़ प्रतिज्ञा की।

दूसरी बार फिर मुझे महात्मा जी का दर्शन गुरुकुल वृन्दाबन में हुआ, जबकि मैं गुरुकुल सम्बन्धी कार्य में वहां गया हुआ था। दोपहर को गुरुकुल वृन्दाबन की गरमी से तपे हुये श्रीयुत् महात्मा नारायण प्रसाद जी के बगले में जब मैं उन से मिलने गया देखा कि महात्मा जी अपने बंगले से बाहर उस तेज धूप में बिना किसी छतरी और पेड़ के साये के धूप सेंक रहे हैं। मैं अचम्भे में रह गया और पूछा कि आप इस कड़ी धूप में घर से बाहर क्यों खड़े है। उन्होंने इसका तप की शिक्षा

देने वाला कैसा सुन्दर उत्तर दिया—"कमरे में व्याकुल कर देने वाली गरमी मुझको सता रही थी मैंने उचित यही समझा कि अगर मैं बाहर कुछ देर खड़ा रहा और धूप की कड़ाई को मैंने सहन कर लिया तो जब मैं अन्दर जाऊंगा तो मुझे उतनी गरमी न लगेगी"। फिर यह प्रश्न करनेपर कि आपने पंखा क्यों नहीं टंगवा लिया। उत्तर मिला कि यदि मैं पंखा टंगवाऊं तो ब्रह्मचारियों को मैं कैसे तपस्वी बनाऊं। इस घटना से उनकी तपस्या की महानता, कार्य शैली की उत्तमता और उनके सच्चे और वास्तविक जीवन को देखकर मेरे जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

तीसरी बार मैंने महात्मा जी को गुरुकुल वृन्दावन की शिक्षा मण्डली के साथ देखा। उस समय स्वामी स्वरूपानन्द जी जो बरेली में तहसीलदार रह चुके थे उनके साथ मिल कर डेपुटेशन के कार्य को सफल बनाने के यत्न में थे। मैं उनके कार्य चातुर्य पर मुग्ध हो गया। किस निरभिमानता, किस नियमप्रियता तथा किस कठिन परिश्रम से उन्होंने थोड़े काल में ही एक धनराशि जमा करली यह उनकी योग्यता और सिद्धि का ज्वलंत उदाहरण है।

एक बार वृन्दावन उत्सव के समय मैं वहां उपस्थित था। जहां पर उन्होंने एक स्मरणीय व्याख्यान दिया जिसमें उन्होंने बताया था कि किस तरह उन्होंने अपना जीवन प्रोग्राम बनाया है और किस तरह से वह पूरी सफलता को प्राप्त हुये। उन्होंने बताया कि जब मैंने गृहस्थारम्भ में यह संकल्प किया कि चालिस वर्ष की अवस्था में वानप्रस्थी बनेंगे। दैवयोग से उनकी धर्मपत्नी का उस समय देहान्त हो गया और उन्हें वानप्रस्थ जीवन की सुगमता प्राप्त हो गई। और जब वानप्रस्थ आरम्भ किया तो उसके लिये भी काल निश्चित कर दिया। वह भी ठीक समय पर ही पूरा हुआ। सच कहा है जो वीर, प्रभु के आश्रय में शुभ संकल्प करते हैं वे अवश्य ही पूरे होते हैं।

रामगढ़ विरक्ताश्रम में जहां मैंने उनके पुस्तकालय की सूची अपनी एक पुस्तक के कारण देखी मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उन्होंने कितनी अधिक सहस्रों के परिमाण में पुस्तकें जमा कर ली हैं और केवल जमा ही नहीं की हैं अपितु उनका गहरा अवलोकन भी किया है। दूसरे योग सम्बन्धी जानकारी करने पर पता लगा कि स्वामी जी ने कितना अधिक परिश्रम योग सम्बन्धी बातों की जानकारी तथा योग सम्बन्धी सिद्धि में किया है जिसका ब्यौरा मिलना कठिन है। आचार्य पतञ्जलि योग दर्शन के भाष्य में उन्होंने योग को सरल स्पष्ट और क्रमबद्ध बनाने में पूरी सफलता प्राप्त कर ली है।

स्वामी जी को मैंने गठिया, भयंकर ज्वर और अपैंडाइसिट्स के भयंकर व कठिनतम रोगों में कई बार कई महीनों तक ग्रसित देखा। कठिन से कठिन रोगों में भी उनको दुःख सहन करने में अत्यन्त सामर्थवान और धैर्य और विश्वास का धनी देखा। उस समय भी उनके दैनिक कार्यों में बहुत कम भेद आता था।

आर्यन कांग्रेस बरेली, मथुरा जन्म शताब्दि और हैदराबाद सत्याग्रह के अवसर पर मुझे उनकी अद्भुत बुद्धि अद्भुत परिश्रम और आश्चर्यजनक कार्य शैली का परिचय हुआ

जिसे मैं देखकर दंग रह गया। जहां लाखों हज़ारों की जन संख्या को सुप्रबन्ध में रखना उनकी हर प्रकार की रक्षा और उनकी प्रत्येक प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करना उन सब कार्यों की परम सिद्धि में आश्चर्यजनक प्रबन्ध का दिखाना स्वामीजी के प्रबन्ध का अद्भुत और सुन्दर उदाहरण है।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिध सभा तथा आर्य नगर और वानप्रस्थ आश्रम को एक जीवित संस्था के रूप में परिणत कर देना तथा उसका सुचारु और सुन्दर प्रबन्ध करना और उसको अपने अनुभवी नियन्त्रण में रखना और ठीक प्रकार बनाना उनका महान और अद्भुत कार्य है जो शायद चिरकाल तक स्थिर रहेगा।

मैं उनको एक आदर्श त्यागी तपस्वी, आदर्श कार्यकर्ता, योगी, मनुष्यों का सच्चा हितैषी और सेवक, अनुकरणीय नेता तथा अपने और अन्य परिवारों का सुधारक मानता हूँ। लोगों को समय न खोकर योग सत्संग और आत्मिक सुधार स्वामी जी से कर लेना चाहिये।

* * * *

प्रेम सुलभा यति—

मातृशक्ति और नारायण स्वामी

श्री स्वामी जी के दैनिक जीवन का अध्ययन करने से निश्चय होता है कि श्री भगवान ऋषि दयानन्द महाराज के बताये हुये आदर्श के अनुसार श्री स्वामी जी ने अपना जीवन ठीक उसी प्रकार बनाया है और यथाशक्ति उनके आदर्श को फैलाने का निरन्तर यत्न करते हैं। देव दयानन्द जी मन्त्र द्रष्टा ऋषि थे उन्होंने अपने दिव्य नेत्रों से दो महान शक्तियों को देखा जिस पर आर्य जाति की उन्नति निर्भर है। प्रथम शक्ति वेद ज्ञान और द्वितीय मातृशक्ति है। जगत में ज्ञान के प्रकाश का उदय करने वाला वेद है और मनुष्य जाति में जीवन ज्योति जगाने वाली निश्चित रूप से कर्तव्य पथ पर स्थिर रखने वाली मातृ शक्ति ही है। उनकी ऐसी निश्चित धारणा थी यह उनके ग्रंथों के देखने से निश्चय होता है।

हम देखते हैं कि महात्मा नारायण स्वामी जी भी इन्हीं दोनों शक्तियों के उत्थान के हेतु, वैदिक सभ्यता के प्रचारार्थ २४ घन्टे में से १५ घन्टे इनके सुधार की चिन्ता में प्रतिदिन व्यतीत करते हैं। अस्सी वर्ष की वृद्धावस्था में भी शान्ति से बैठकर विश्राम नहीं करते किन्तु एक नवयुवक के समान सुधार कार्य करने में लगे रहते हैं।

आपका जीवन उपनिषद मय है। स्वयं वेदान्त रस पान कर उपनिषदों की शिक्षा द्वारा अपने शिष्यों को अध्यात्म सुधा का रस पिलाते रहते हैं। इसका प्रमाण १० उपनिषदों का उनका भाष्य है।

आपके हृदय में मातृ शक्ति के लिये बड़ा मान है। नारी समाज के उत्सव के हेतु सदा अपने उपदेशों से जीवन शक्ति का संचार करते हैं। हरिद्वार में एक आर्य विरक्ताश्रम १९२९ में

स्थापित किया जिसमें विरक्त स्त्री पुरुष रहकर शान्तिमय जीवन व्यतीत करते हैं। इसके पूर्व आर्य विरक्त स्त्रियों के लिये कोई ऐसा सुरक्षित स्थान नहीं था, जहां वे शान्तिपूर्वक अध्ययन कर सकें। इस संस्था की स्थापना करके स्वामी जी ने नारी समाज का बड़ा उपकार किया है। कितनी ही दुःख से सन्तप्त देवियों ने आपके उपदेशों से शान्तिमय जीवन बना लिया है। आपके ओजस्वी ब्रह्म ज्ञान के प्रभाव से अपनी आत्मशक्ति को पहिचान जीव और प्रकृति के भेद को समझ प्रेम ने सुलभायती का रूप धारण किया। यथार्थ में आत्मा का सच्चा मित्र परमात्मा ही है उसकी मित्रता को पहिचानने पर चारों तरफ से आनन्द की वर्षा होती है।

ब्रह्मज्ञान का पथ प्रदर्शक गुरु होता है। जिसके जन्म जन्मान्तरों के पुण्य उदय होते हैं उसी को प्रभु कृपा से सच्चा ज्ञानी गुरु मिलता है जो ज्ञान प्रकाश से अज्ञान को नष्ट करके आत्म ज्योति को परमात्म ज्योति में मिलाने का मार्ग दिखा देता है। यही गुरु की महान कृपा है। अनुभव यह बतलाता है कि अध्यात्म विद्या के विद्यार्थी को प्रथम गुरु की कृपा का पात्र बनने के लिये सत्य को धारण कर मन वचन और कर्म से सत्याचरण करते हुए अपने को थका लेने की आवश्यकता है।

जब गुरु को निश्चय हो जाता है कि यह श्रद्धावान ब्रह्मज्ञान का विद्यार्थी है तब वह गुरु निज शिष्य पर अध्यात्म सुधा की वर्षा करता है। अपने कर्तव्य निष्ठ शिष्य के लिये गुरु के अन्दर से आशीर्वाद की धारायें निकल कर अज्ञात रूप से शिष्य के अन्दर प्रवेश करके उसकी आत्मशक्ति को बल प्रदान करती हैं। शिष्य निकट या दूर किन्तु गुरु की ज्ञान धारायें उसके अन्दर पहुँचती रहती हैं वह निर्भय कर्तव्य की ओर बढ़ता जाता है। अब प्रभु की कृपा का पात्र बनने का यत्न व अभ्यास करता है। जहां असावधान हुआ वहां श्रेष्ठ गुरु सावधान कर देता है। मैं अपने को धन्य समझती हूँ। ऐसे ब्रह्मचारी कर्मयोगी गुरु के चरणों में बैठकर वेदान्त का रस पीकर इस मानव जीवन को सफल करने के योग्य बन गई हूँ।

गुरु का प्रथम दर्शन—

जिस समय मैं आर्य कन्या पाठशाला मुट्ठीगञ्ज प्रयाग में मुख्याध्यापिका के पद पर कार्य करती थी, मुझे किसी प्रकार का आर्थिक संकट नहीं था। योग्यता के अनुसार मेरा समाज में सम्मान भी था। मेरे सादे जीवन को आर्य जन श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे परन्तु फिर भी मुझे शान्ति न थी। अपना भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता था। मैं अपने वैधव्य जीवन को दुःखमय समझकर भयभीत रहती थी। इसे केवल मैं ही जानती हूँ कि कितनी कठोरता और सावधानी से अपनी जीवन नौका चलाती थी। ठीक किनारे पर पहुँचने के लिये एकान्त में प्रतिदिन प्रभु से याचना करती थी। प्रभु की कृपा से १९२६ ई० में श्री पूज्य स्वामी जी आर्यसमाज चौक प्रयाग में इशोपनिषद् की कथा कर रहे थे। मैं भी नियम पूर्वक प्रति दिन कथा सुनने जाती थी उससे मुझे कुछ शान्ति मिली, मन में निर्भयता का संचार अनुभव होने लगा। हित चिन्तकों की प्रेरणा से दूसरे दिन महात्मा जी के स्थान पर एक हित चिन्तक के साथ दुःख रूपी रोग की औषधि पूछने के लिये गई। मेरा मन श्रद्धा

भक्ति और दुःख से लबालब भरा था। मैं वहां पहुँची, परन्तु कुछ न बोल सकी। बड़ी कठिनाई से मेरे मुख से यही शब्द निकले कि महाराज मैं विधवा हूँ, किस प्रकार से अपने जीवन को व्यतीत करूं कि इस घोर दुःख से बच सकूं? इस शब्द के साथ मेरे दोनों नेत्रों से अश्रु धारा बहने लगी, आगे कुछ न बोल सकी।

हित चिन्तक ने मेरे जीवन की कुछ प्रशंसा की। गुरु देव ने गम्भीरता पूर्वक मधुर शब्दों में कहा—"देवी जी आप सत्यार्थप्रकाश, ऋगवेदादि भाष्य भूमिका और पं० बद्रीप्रसाद जी का भाष्य उपनिषदों का स्वाध्याय करिये और नियम से आर्य विचार पूर्वक सन्ध्या हवन कीजिये। ईश्वर सब दुःखों को मिटाने वाला है। मैं नियम से स्वाध्याय करने लगी। उपनिषदों के स्वाध्याय और गायत्री जप से मेरे जीवन में प्रकाश उत्पन्न होने लगा।

१९२७ में गर्मी की छुट्टी रामगढ़ में व्यतीत करने की प्रबल इच्छा हुई। हित चिन्तकों की प्रेरणा से पूज्य महात्मा जी को स्वीकारी के लिये पत्र लिखा। मार्ग की कठिनाइयों के साथ स्वीकारी प्राप्त हो गई। मार्ग की कठिनाई को जानकर मैं भयभीत नहीं हुई। छुट्टी होते ही रामगढ़ की ओर चल पड़ी। बरेली पहूँचकर ज्ञात हुआ कि भुआली तक मोटर जाती है। भुआली से ८ मील पैदल चलकर दूसरे दिन रामगढ़ पहुँच गई। वहां पहुँच कर मुझे बड़ी शान्ति प्राप्त हुई।

सतसंग—

श्री नारायण आश्रम में ठीक २ बजे से सत्संग प्रारम्भ होता था जिज्ञासुओं की इच्छानुसार उपनिषद् का पाठ चल रहा था, उस समय वहां पर १२ सत्संगी थे जिसमें ७ पुरुष और ५ स्त्रियां थीं। सब अपनी २ पुस्तक लेकर ठीक समय पर पहुँच जाते थे। पुरुष स्त्री सब एक साथ ही बैठते थे वहां किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। पूज्य स्वामी जी कथा करते थे, सब ध्यान पूर्वक सुनते थे। कथा समाप्त होने पर शंका समाधान भी होता था। अन्त में कुछ फल बंटते थे। स्त्री पुरुष सब वहीं बैठकर फल खाते थे। श्री नारायणाश्रम में मैंने यह अनुभव किया कि ब्रह्म प्राप्ति में पुरुष स्त्री का मतभेद नहीं है। सृष्टि वृद्धि के लिये ही भेद है। इस समता का मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पूज्य गुरुदेव के प्रति मेरे अन्दर अगाध श्रद्धा बढ़ गई। मेरा जीवन प्रकाशित होने लगा।

सन् १९२८ से निरन्तर गर्मियों में रामगढ़ श्री नारायणाश्रम में रहकर उपनिषदें तथा गीता और दर्शनों का स्वाध्याय करती रही। साथ ही स्वामी जी के नियमित और पुरुषार्थमय जीवन का स्वभाविक प्रभाव पड़ता रहा। जिससे मेरे अन्दर निर्भयता बढ़ने लगी।

कर्मयोग की शिक्षा—

छान्दग्योपनिषद् पढ़ाते समय गुरुदेव ने विशेष बल पूर्वक निष्काम कर्म की शिक्षा दी। उनका जीवन उपनिषद्मय है। आप सर्वदा यही कहते हैं कि उपनिषदों की शिक्षा जीवन में लाने की चीज़ है। आपने २६-७-४० के पाठ में बहुत बल देकर कहा—'मनुष्य को प्राण दो प्रकार की

शिक्षा देता है। (१) बिना विश्राम लिये निरन्तर पुरुषार्थ करता कभी एक क्षण भी विश्राम न लेता (२) प्राण का अपना कोई स्वार्थ नहीं निःस्वार्थ कार्य करता है। किन्तु अन्य इन्द्रियों में अपना स्वार्थ होता है वे अपने विषय की व्यसनी होती हैं। परन्तु प्राण में अपना कोई व्यसन नहीं, वह सदा निष्काम कर्म करता है। उसकी अपनी कोई वासना नहीं।"

प्रश्न—मैंने कहा क्या ईश्वर साक्षात् का साधन भी निष्काम ही है ?

उत्तर—गुरुदेव ने कहा—सत्येन पन्था विततो देवयानः। सत्य पथ पर चलने वाले का मार्ग अपने आप खुल जाता है। उसे किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं होती। उसका मार्ग सदा स्वच्छ रहता है और फैला हुआ विस्तृत रहता है। उसके पथ में कभी रुकावट नहीं होती। परन्तु ईश्वर तक पहुँचते वही हैं जो साधन सम्पन्न होकर कामना रहित हो चुके हैं। वेदों, उपनिषदों और गीता आदि का यही निष्कर्ष है। सारी शिक्षा यही है कि स्वार्थ को त्याग निःस्वार्थ भाव से पुरुषार्थ करो।

प्रश्न—धारणा ध्यान समाधि भी तो ब्रह्म प्राप्ति का साधन बताया गया है। क्या इसके बिना भी भगवान् का साक्षात्कार हो सकता है।

उत्तर—गुरुदेव ने कहा कि यह सब वासना रहित निष्काम कर्म करने के साधन हैं। यदि निष्कामता नहीं आई तो चाहे जितनी समाधि लगाओ परन्तु ईश्वर प्राप्ति नहीं हो सकती। संसार में कार्य करते हुये किसी काम में अपना स्वार्थ नहीं रखना चाहिये। सदा स्वार्थ रहित होकर काम करनेसे ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

मुझे यह मार्ग अति सुगम ज्ञात हुआ मैं प्रसन्न हो गई इच्छा होती थी कि गुरु देव से कहूँ कि यह मार्ग बहुत सुगम है। परन्तु वाणी ने बाहर नहीं निकलने दिया किसी और समय के लिये स्मृति के कोष में संचित कर लिया। उस समय मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि अब मेरे सीखने के लिये कुछ शेष नहीं रहा। केवल प्राण की शिक्षा को धारण कर सत्य मार्ग पर चलना ही मेरा मुख्य ध्येय होगा यही मेरा निश्चित मार्ग है।

मेरे मन में यह विचार उठा कि आज तक कर्मयोगी गुरु के उपदेश को धारण कर अन्तरात्मा के आदेशानुसार हृदय शुद्धि का यत्न करती रहूँ। प्रभु की कृपा से बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हो चुकी है। अवश्य मेरा जीवन आनन्दमय होगा। इसी संकल्प विकल्प से मन में यह प्रश्न उठा कि जो आज तक हमारे भले बुरे कर्मों की रेखा अन्तःकरण में बन चुकी है वह किस प्रकार दूर की जा सकती है ? इसी प्रश्न को लक्ष्य में रख कर पाठ समाप्ति पर गुरुदेव से जिज्ञासा पूर्वक प्रश्न किया कि जो कर्म रेखायें बन चुकी हैं उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा ? वे किस प्रकार दूर की जा सकती हैं ?

उत्तर—गुरुदेव ने गम्भीर शब्दों में कहा कि निष्काम कर्म करने के अभ्यास से नई कर्म रेखायें नहीं बनती इसलिये पुरानी कर्म रेखायें स्वयं क्षीण हो जाती हैं। यथार्थ में कर्म रेखायें बनती ही तब हैं जब फल की इच्छा से कर्म किया जाता है। पाठ समाप्त हो जाने के कारण दूसरे दिन मैंने पूछा:—"स्वामी जी चित्त पर जो कर्म की रेखायें बन चुकी हैं वह

कैसे दूर की जा सकती हैं ? जैसे जीवन के आधे समय तक जो कुछ कर्म किया उसकी रेखायें बन चुकीं, उसका फल तो कर्ता को भोगना ही पड़ेगा ! फिर आधी आयु से वह निष्काम कर्म करने लगा किन्तु पहिली रेखायें तो उसके चित्त पर खिंची ही हैं ?"

उत्तर—गुरुदेव ने कहा कि यह बात नहीं है कि जो कर्म रेखायें खिंच चुकी हैं उनका फल नहीं भोगना पड़ेगा। फल तो अवश्य भोगना पड़ेगा ही परन्तु अब निष्काम कर्म की रेखायें प्रबलता से बनेंगी और पूर्व वासनायें क्षीण हो जायेंगी। जैसे जलती हुई अग्नि में घी डालने से अग्नि अधिक से अधिक प्रज्ज्वलित होती है इसी प्रकार पूर्व वासनायें नष्ट हो जाती हैं और नई वासनायें नहीं बनने पातीं, वासनायें जो हैं यही बन्धन का कारण बनती हैं। निष्काम कर्म किया ही इसलिये जाता है कि किसी प्रकार की वासना न बनने पावे। निष्कामता से ही सच्ची शांति की प्राप्ति होती है।

मैं अपने को धन्य समझती हूँ कि ऐसे विद्वान कर्मयोगी गुरु के सत्संग में रहकर वेदान्त का रस पान कर अन्धकारमय जीवन प्रकाशमय बन गया। दुःखमय जीवन आनन्दमय बनाकर आनन्द में विचरती हूँ।

श्री नारायणाश्रम—

श्री नारायणाश्रम मुझे स्वर्ग के तुल्य आनन्दमय प्रतीत होता है। गुरुदेव इसके केन्द्र हैं। उनके अन्दर से ब्रह्म ज्ञान की धारायें निकल कर आश्रम के वातावरण को ज्ञान की लहरों से भरती हैं। जो ब्रह्म विद्या के विद्यार्थी के चित्त पर विशेष रूप से अपना प्रभाव डालकर उसके मन को ब्रह्म ज्ञान और कर्म योग की ओर खींचती हैं। साथ ही प्राकृतिक सौन्दर्य भी हर्ष वर्धक हैं। आश्रम के कण कण से आनन्द की किरणें निकल रही हैं। वन पर्वत फूल फल पत्ते वृक्ष एक स्वर से प्रभु की महिमा गा रहे हैं। मुझे चारों तरफ से यही ध्वनि सुनाई दे रही है कि 'प्रेम' देख यह सारा विश्व हंस रहा है। इसमें कहीं दुःख की गन्ध नहीं है। तू ध्यान से देख ? सम्पूर्ण जगत् में दो ही प्रकार की धारायें सृष्ठि की आदि से अन्त तक एक रस बहती रहती हैं। (१) ज्ञानमय आनन्द धार। (२) अज्ञानमय दुःख धार। इन दोनों में नित्य सन्बन्ध है। प्रथम धार में विद्वान, त्यागी योगी जन ज्ञान नेत्रों से देख आनन्द को प्राप्त होते हैं और यह अनुभव करते हैं कि जगत रूपि शिक्षक ही परब्रह्म के दर्शन का साधन है। द्वितीय अज्ञानमय धार में अज्ञानी प्रति क्षण डूबते उतराते रहते हैं और अनेकों डूब कर अपने अमूल्य जीवन को नष्ट कर देते हैं।

'प्रेम' ज्ञान धार की पहिचान होती ही उनको है जो श्रद्धा पूर्वक सच्चे गुरु के उपदेशों को धारण कर सन्देह रहित हो कठोरताओं को धैर्यपूर्वक सहते हुये श्रेय मार्ग पर निर्भयतापूर्वक निरन्तर चलते रहते हैं जिन्होंने यह भली प्रकार जान लिया है कि जो देदीप्यमान ज्योति सूर्य में चमक रही है वही मेरे हृदय मन्दिर में विराजमान है; वही स्थिर भाव से ज्ञान धार में प्रति क्षण विचरता हुआ ओ३म् की प्रकाश मान किरण की धारण कर आनन्द मग्न रहता है ! उसके निकट जगत का कोई दुःख नहीं ठहर सकता। उसके प्रकाशमान जीवन से उसके निवास स्थान की चारों तरफ का वाता-

वरण आनन्द धार या ज्ञान धार की लहरों से जो उसके स्वांस द्वारा प्रति क्षण निकल कर फैलती रहती है उस स्थान को शान्तिमय बना देती है।

प्रभु आप की महान कृपा है कि आज मैं श्री नारायणाश्रम की शान्त आनन्दमयी लहरों में बैठी हुई शान्ति को अनुभव कर रही हूँ।

* * *

श्री मिहिरचन्द्र जी धीमान् प्रधान मंत्री बंगाल-आसाम आर्य प्रतिनिधि सभा—

महान् सन्यासी—

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि पूज्य नारायण स्वामी जी महाराज की ८० वीं वर्ष गांठ तथा 'नारायण-आश्रम' की रजत-जयन्ती के सुअवसर पर आर्य जगत की ओर से नारायण अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। चिर गुलामी के बन्धनों में पड़ी हुई भी भारतमाता ऐसी महान् आत्माओं को जन्म दे सकती है, जिन पर भारतवर्ष ही नहीं, विश्व को गर्व है। इस उजड़ी हुई फुलवाड़ी में अब भी कुछ ऐसे ही फूल लगे हुये हैं, जो कि प्राचीन ऋषि-मुनियों के समय की महक देते रहते हैं। ऐसे ही सुन्दर पुष्पों में हमारे आर्य जगत के सुप्रसिद्ध सन्यासी महात्मा नारायण स्वामी जी एक पुष्प हैं, जिनके तप त्याग ने आर्य जगत् को सुगन्धित कर रखा है। इस आर्य-जाति की विश्व को सबसे बड़ी देन चार आश्रमों की देन है। इन चार आश्रमों में भी सब से बड़ी देन सन्यास आश्रम की है।

मानव धर्म शास्त्र में जो सन्यासी के लक्षण लिखे हैं, उन पर इस शरीर को चलाना एक तलवार की धार पर चलना है। वैसे गेरुए वस्त्र पहने हुए सन्यासी आपको भारत के शहरों की गलियों में गंगा के घाटों पर और हिन्दुओं के तीर्थ स्थानों पर बहुत मिलेंगे, लेकिन सच्चा सन्यासी वह है जो पक्षपात रहित न्यायाचरण सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार सत्य भाषणादि से संसार को सुखी बनाता हुआ विचरण करे।

महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज उन सन्यासियों में से हैं, जो तप त्याग की साक्षात प्रतिमा है और वेदोक्त सन्यासियों के लक्षणों से विभूषित है। प्राचीन काल में भारत में सन्यासी कैसे होते थे, स्वामी जी उसका एक उदाहरण हैं। स्वामी जी आर्य जगत के मस्तिष्क हैं। यह उन्हीं की नीति परायणता और उत्सर्गता का परिणाम था कि आर्य-समाज एक शक्तिशाली मुस्लिम स्टेट के साथ अपने धर्म की रक्षा के लिये संघर्ष में जा सका, और जाकर उस धर्म-युद्ध में विजय प्राप्त कर सका। सर्व प्रथम अपने आप को पेश किया। हैदराबाद की जेल में जाकर बेड़ियां तक पहनीं। पाओं में बेड़ियां थीं, चेहरे पर दुष्टों को परास्त करने वाला तेज था और अटल विश्वास की आभा थी, आत्मा में सागर की गम्भीरता थी, निस्तब्धता थी। न क्रोध, न रोष और न ग्लानि कहीं

देखने को मिली। हृदय का निश्चय चट्टान की तरह अटल रहा। स्वामी जी के तप और त्याग से सारा आर्य-हिन्दू जगत उद्भासित हो उठा। लाखों में जीवन ज्योति विद्युत की तरह भरदी। हजारों आर्य सिर पर कफन को बांध कर भारत के कोने कोने से चल पड़े। एक तांता सा बन्ध गया। आखिर मस्तिष्क भी उद्भासित होने लगा। बेड़ियों की कड़ियां तड़क-तड़क कर टूटने लगी। सत्य की विजय हुई। आर्य-जगत् ने धर्म युद्ध में जय लाभ किया। इस समय सिन्ध सरकार ने जो सत्यार्थ प्रकाश पर प्रतिबन्ध लगा रखा है, उसे दूर करने के लिये सारे आर्य-जगत् की आंखें स्वामी जी की ओर टकटकी लगाये देख रही हैं, स्वामी जी के आदेश की प्रतीक्षा कर रही हैं, लाखों हथेली पर जीवन लिये बैठे हैं। उधर स्वामी जी बड़ी शान्ति से सिन्ध सरकार की लीला देख रहे हैं। यदि प्रतिबन्ध न हटाया, तो आर्य जगत् का पूर्ण विश्वास है कि स्वामी जी के आशीर्वाद से इस बार भी विजय आर्य समाज की ही होगी। भावी धर्म युद्ध की तैयारियां जोरों पर जारी हैं। स्वामी जी ने जो समाज की सेवा की हैं, वे सब इस छोटे से लेख में क्या लिखी जायंगी। वे सार्वदेशिक सभा के प्राण हैं, उसके जन्मदाताओं में हैं। वर्षों तक प्रधान पद पर सुशोभित होकर आर्य-समाज की सेवायें की हैं। स्वामी जी एक उच्च कोटि के विद्वान् हैं। दर्जनों पुस्तकें ऐसी हैं, जो आर्य-साहित्य और हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान रखती हैं।

परमात्मा से प्रार्थना है कि स्वामी जी 'जीवेन शरदः शतम्' और सूर्यस्य शतम् शतति। और आर्यजगत् एवं भारतवर्ष लाभ उठाता रहे।

* * * *

श्रीमती अक्षय कुमारी जी प्रभाकर–

सन् १९१७ की बात होगी–मेरी आयु ८–९ वर्ष की थी। श्री पूज्य नारायण स्वामी जी, जो उस समय श्री महात्मा नारायणप्रसाद जी, मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन के नाम और पद से प्रसिद्ध थे, बरेली पधारे। सौभाग्य से हम लोगों के निवास स्थान पर ही वे ठहराये गये। माता जी ने भोजन आदि सेवा का कार्य हम लोगों को सौंपा। उत्सव में अन्य उपदेशक भी आये हुये थे और स्वामी जी के साथ ही ठहरे थे। श्री स्वामी जी को देखकर मन में विचार आया कि उनका व्यक्तित्व अन्य सब व्यक्तियों से अलग था। उनकी सादगी और शान्ति ने मन पर अमिट प्रभाव डाला। व्याख्यान सुनने पर प्रतीत होता था कि वे जो कुछ कहते थे वह अन्तरात्मा से निकलता था। ज्ञात होता था कि उनके वचन और कर्म एक हैं।

उसके बाद तो श्री स्वामी जी के दर्शन प्रायः प्रति वर्ष होते रहे हैं। कहा जाता है कि अधिक परिचय से वस्तु का आकर्षण जाता रहता है उसके लिये प्रतिष्ठा कम हो जाती है, परन्तु श्री स्वामी जी के बारे में ऐसा नहीं हुआ। श्री स्वामी जी के जितने अधिक दर्शन किये गये, जितने

ही उनके व्याख्यान सुने गये और जितना ही उनके चरित्र के बारे में जाना गया उससे उतनी ही अधिक उनके प्रति श्रद्धा बढ़ती गयी। पिछले १०, १५ वर्ष में तो श्री स्वामी जी के आतिथ्य का विशेष सौभाग्य मिला है— सभी अवसरों पर उनके नियमित, एवं सीधे सादे जीवन ने अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है। शारीरिक कष्ट के रहते हुए भी यथाशक्ति दैनिक कार्यों को ठीक तरह करना, रहन-सहन भोजन आदि में उत्कृष्ट श्रेणी की सादगी का होना, स्वाध्याय आदि के व्रतों को पूरी तरह निभाना, निरभिमानता, सुजनता आदि श्री स्वामी जी के ऐसे गुण हैं जिनके लिये उनका जितना मान किया जाये कम है।

श्री स्वामी जी आर्यसमाज के लिये एक देन हैं और व्यक्तिगत जीवन के लिये एक आदर्श। उनका जीवन हम लोगों के लिये एक प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर सकता है।

परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वे श्री स्वामी जी को दीर्घायु करें।

* * *

श्री पं० मदनमोहन जी विद्यासागर वेदालंकार तेनाली मद्रास प्रान्त—

"चरित्रवान् संन्यासी"

आज से १५, १६ वर्ष पुरानी बात है, जब मैं गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की सूखी पहाड़ियों में 'विद्या सोमरस' पान किया करता था।

एक दिन सुना कोई 'महात्मा नारायण स्वामी' उपदेशामृत बरसाने आये हैं। सर्दियों के दिन थे, प्रातःकाल का ठिठुराने वाला समय, प्रार्थना के बाद उपदेश प्रारम्भ हुआ। ... उसके बाद न जाने कितनी बार उनका उपदेश सुना। कभी गर्मियों की रात को, कभी दुपहर को, कभी उत्सव पर। इन सब में एक न भूलने वाली बात मुझे अब तक याद है। प्रायः प्रत्येक भाषण या उपदेश में ग्रीक इतिहास में से एक उदाहरण लेकर उत्तम चरित्रवान् बनने की (रुखी सी) सारवती शिक्षा दी गई थी।

समय ने कुछ बरसों की लम्बी छलांगें भरली हैं। आज अँचानक एक दिन जब मुझे उन्हीं महात्मा के विषय में कुछ श्रद्धाञ्जलि चढ़ाने की सत्प्रेरणा धर्म द्वारा हुई तो मेरे सामने वे सबके सब उपदेश आ गए। उस समय शायद मैं 'चरित्र' का ठीक अर्थ न समझ सका हूँ, शायद हंसा भी होऊं। पर अब जब स्वयं 'गृहस्थपरिव्राट्' के रूप में जगत् के सामने हूँ मैं इसकी महत्ता को ठीक तरह से समझ सका हूँ। वह विशेष पदार्थ है, जिसका निर्माण प्रयत्नपूर्वक करके ही 'मानवप्राणी' पशु से अपने को भिन्न रखता है। 'आहार निद्राभय मैथुन' तो 'सहजप्रवृत्ति' है। इन पर नियन्त्रण रखने का नाम 'चरित्र' है। पशु नहीं कर सकता, जो प्राणी करता है उसे 'चरित्रवान्' मनुष्य कहते हैं।

-यही उनकी सुषुम्ना नाड़ी है, जिस पर उनका सारा जीवन केन्द्रित है। अपने को उन्होंने अधिक से अधिक चरित्रवान् बनाने की कोशिश की है। मैंने उनका आत्मचरित पढ़ा है। यह सहसा जीवन में आकस्मिक परिवर्तन की कहानी नहीं। यह तो धीरे २ आत्मविकास की निदर्शना है।

संसार में धीरे २ चलने वाला यात्री यदि स्थिर अंगदयुग रक्खे, जो किसी से उठाये न उठे, तो उसकी सफलता अवश्यम्भावी है। वह कभी गिर नहीं सकता, पीछे मुड़ नहीं सकता। तीव्र गति, अस्थिर पग असफलता का बुलावा है। हमारे चरित्रनायक की 'मन्द स्थिर अंगं वाली गति' हमारे लिये सफलता का पाठ पढ़ाने वाली है। महात्मा नारायण स्वामी जी का स्थान आर्य समाज में उत्तरोत्तर दृढ़ होता जा रहा है। वे उन पुरुषों में से नहीं जिनका 'जमाना' चला जाता है। उनका गौरव अब पहले से भी बहुत अधिक बढ़ गया है।

इसीलिये आर्यसमाज ने जब २ किसी आन्दोलन को चलाने का विचार किया तो हम इन्हीं को उसका प्रमुख नेता पाते हैं क्योंकि इसी प्रकार के व्यक्ति सफल संचालक हुआ करते हैं।

संसार में लाल वस्तुवें नाना हैं। कई केवल लाल पॉलिश से रंगी हैं। कई अन्दर बाहर दोनों तरफ से लाल की तरह लाल हैं। न जाने कितने सन्यासी हैं। भारत देश तो संन्यासियों का अजायबघर है। कुछ मनफटे, कुछ दिलजले, कुछ मारखाये, कुछ उधार खाये (दिवालिये), कुछ नागे और न जाने कितनी किस्में! अधिकांश तो गेरुआ वस्त्र मात्र धारी हैं। उनमें संन्यासी के गुणों को ठहरने का अवकाश ही नहीं। परन्तु श्री स्वामी जी महाराज इन सबके अपवाद हैं। स्वयं प्रकाशमान हैं प्रकाशित करने वाले हैं।

मनुष्य का गुण मननशील है। संन्यासी मनुष्य का गुरु 'काम्य कर्म त्यागी, मननधर्मी, व्यक्ति है जो कि श्री स्वामी जी महाराज में चरितार्थ होता है। कई साधु तो समझते हैं कि चलो लाल कपड़े पहिने और स्वाध्याय से छुट्टी मिली। श्री स्वामी जी महाराज का जीवन 'तपः स्वाध्याय मय' है। उन्होंने आर्यसाहित्य माला में कुछ अच्छे २ मोती पिरोये हैं, उनका निश्चय है कि अंगुली के अन्तिम स्पन्दन तक वे कुछ लिखते ही जावें।

कई समझते हैं कि गेरुआ वस्त्र पहिनते ही निठल्ले बैठने का लाइसेन्स मिल जाता है। यदि हम अपने चरित्रनायक के जीवन को ध्यानपूर्वक देखें तो सर्वथा उलटा पाते हैं। काषाय वस्त्र पहिनते ही 'कर्मण्यता' का बिगुल बजता सुनाई पड़ता है। सोता सिपाही जैसे वर्दी पहनते ही लड़ने को तय्यार रहता है, काषाय वस्त्र भी ठीक उसी प्रकार जीवन संग्राम की सूचना है। मैंने बहुत से संन्यासी देखे हैं। अधिकांश ने तो ....। परन्तु आपको हम सदा काम करते पाते हैं। लिखाई का काम है, पर निष्काम बुद्धि से।

वह देखिये एक धनी आर्य अपने 'अदिव्य प्रासाद' में पड़ा है। मोटर हैं, नौकर हैं, ...यह हैं,

वह है ......। आप जाइये कुछ काम के लिये। जवाब मिलता है 'फुरसत नहीं'। सब साधन होते हुये भी (कुर्सी से उठने की) फुरसत नहीं। सामने 'दिव्यकुटीर' में एक भव्य सन्यासी है, जिस पर किसी संघ विशेष की कोई जिम्मेदारी नहीं। कोई ठेका हाथ में नहीं। साधन पास नहीं। कमण्डल है, लाठी है। महाराज! हां! हैं!? तैयार हूँ चलो। आर्यसमाज में स्पष्ट दिखाई देने वाली इन दो प्रवृत्तियों से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं।

काम करने की फुरसत उन्हीं के पास है, जिनका प्रत्येक क्षण काम के भार से लदा है। निठल्लों के पास फुरसत हो कैसे? वह भी तो वहां नहीं ठहरना चाहती। क्योंकि उसमें भी कलंक का टीका ही उस समय पर लगता है।

पार्टीबाज़ी दलबन्दी ने जितना नुकसान दुनिया को पहुँचाया है, उतना और किसी बात ने नहीं। दुर्भाग्य से आर्यसमाज को भी इस कीड़े ने बुरी तरह खाया। इसकी रामबाण औषध उत्तम-सन्यासी थे। आर्य समाजी मार्का सन्यासियों में से बहुत सारे इस कीड़े लगने के ज्वलन्त उदाहरण बने हैं। परन्तु जो चार सन्यासी इस कीड़े के नाश की दवाई हैं, उनमें से हमारे चरित्र नायक का भी प्रमुख स्थान है। इसके लिये मैं अक्सर श्री स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज का उदाहरण दिया करता हूँ। वे तो कार्यालय में इसी डर से घुसते नहीं थे कि शायद कहीं उसकी हवा न लग जावे। सिगरेट भी न पीना और उसके धुयें से भी दूर रहना।

कोई भी संघ कोई भी जाति जिन महापुरुषों के सहारे चला करती है उनमें से आप एक हैं। आर्य समाज के दृढ़ संगठन में आपका न भूलने योग्य स्थान है। कुछ लोग विस्तारक होते हैं और कुछ संगठक। मैं श्री स्वामी जी महाराज को उत्तम संगठक के रूप में देखता हूँ। श्री स्वामी सर्वदानन्द जी, श्री स्वामी दर्शनानन्द जी, श्री स्वामी गणपति जी आदि प्रचारक थे, परन्तु श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज व श्री नारायण स्वामी जी महाराज ऋषि के प्रचार के संगठक हैं, कार्य को उत्तम रूप से चलाने वाले हैं।

हमारा भी उनके चरणों में नम्र नमस्कार है।

* * * *

श्रीमान् डा० इन्द्रसैन जी नई देहली-

स्वामी जी का महान् आदर्श—

आश्रम का विचार तथा आश्रम शैली का जीवन भारतीय संस्कृति की एक मौलिक वस्तु है। आध्यात्मिक खोज जो भारतीय पुरातन युग की अमर शोभा है, आश्रम विचार से घनिष्ठ सम्बन्धित है। श्री स्वामी जी का आश्रम बनाकर आत्म चिन्तन और स्वाध्याय के लिये रहना सहना

भारतीय संस्कृति के परम सत्य को जीवन में चरितार्थ करने का पुनीत प्रयास था। इस अर्थ में आश्रम का बनाना और २५ वर्ष के सफल जीवन के बाद रजत जयन्ती उत्सव मनाना एक प्रकार की सांस्कृतिक घटना ही है।

स्वामी जी से निकटता में मैं तब आया जब मैं सन् १९३१ में सगृहस्थ गर्मी की छुट्टियों के लिये आश्रम में जाकर रहा। उसके बाद दो वर्ष विदेश में अध्ययन के छोड़कर मैं हर साल ही रामगढ़ जाता रहा। पूरे तीन महीने वहां रहा करता। और इन वर्षों में स्वामी जी के इस समीप सम्पर्क ने मुझे जीवन की उन्नति के लिये जो प्रेरणा दी वह शब्दों में नहीं कही जा सकती। उनका विशाल सौम्य तटस्थ-भावपूर्ण प्रसन्न स्वरूप मेरे लिये व्यवहार के अनेक आदर्शों का सजीव मूर्तिमान रूप बन गया था उनको देखना अथवा उनको स्मरण करना बार बार उन आदर्शों की चेतावनी तथा प्रेरणा थी।

मनोविज्ञान के विद्यार्थी होने से मुझे मानवी व्यक्तित्व में रुचि भी विशेष है। मैं सदा ही कुछ गम्भीर भाव से महान् व्यक्तियों का अध्ययन करता हूँ। यह अध्ययन मैंने सब अध्ययनों में अधिक रोचक पाया है।

श्री स्वामी जी का जीवन मेरे लिये आध्यात्मिक जिज्ञासा और समाज सेवा का 'साक्षात् सुन्दर समन्वय स्वरूप है। मध्य काल में आत्मा के जिज्ञासु प्रायः समाज और कर्म का त्याग ही किया करते थे। वह इन दोनों को असंगत मानते थे। समाज और संसार में रहते हुये परमात्मा को पाना सम्भव नहीं था। आश्चर्य की बात यह है कि इस युग के आचार्यों ने गीता के स्पष्ट कर्मवाद को भी सन्यासवाद का ही अर्थ दे दिया था। ऋषि दयानन्द ने इस विचार का उचित निराकरण किया और धर्म की मौलिक प्रेरणा से सारे समाज का पुनः निर्माण करने का भगीरथ प्रयत्न किया। श्री नारायण स्वामी जी इस ही प्रेरणा से प्रेरित हुये और एक सच्चे जिज्ञासु की तरह उसे उन्होंने जीवन में चरितार्थ किया।

स्वामी जी के जीवन का यह सजीव समन्वय, आध्यात्म अथवा धर्म और समाज सेवा विषयक, मैं बहुत ही महत्व का मानता हूँ। आधुनिक समय में इसका महत्व और भी अधिक है हमारी समाज सेवा आजकल अधिकाधिक सामाजिक संगठन तथा सामाजिक बल और प्रभाव के विचारों से प्रेरित होती जा रही है। इसकी प्रेरणा वास्तव में हमें लेनी आत्मा और परमात्मा से चाहिये।

स्वामी जी के व्यक्तित्व में आध्यात्मिक जिज्ञासा और समाज सेवा के साथ में एक और तीसरी मौलिक प्रेरणा बड़े प्रबल रूप में मौजूद है। वह है विद्याभ्यास। स्वतन्त्र स्वाध्याय से कोई कितनी विद्या और ज्ञान उपार्जित कर सकता है। इसका एक आश्चर्यजनक दृष्टान्त स्वामी जी में कोई देखले। स्वामी जी के पुस्तकालय में बैठकर तथा उन से अनेक प्रकार के विषयों पर बात करके मैं बार बार आश्चर्यान्वित हो गया हूँ कि कितने ही विषयों तथा विज्ञानों का स्वामी जी ने अध्ययन कर

रक्खा है। इन तीन मौलिक महान प्रेरणाओं का स्वामी जी के जीवन में समन्वय तथा संघर्ष उपस्थित है! स्वामी जी को एकान्त में रह कर पढ़ना तथा लिखना बहुत ही प्रिय है।

अपने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्वामी जी की अभ्यास शैली को मैं इच्छाशक्ति के विकास का प्रयत्न अनुभव करता हूँ। चरित्रबल और संकल्प तथा इच्छाशक्ति स्वामी जी के व्यक्तित्व के मुझे मूल प्रेरक भाव प्रतीत होते हैं। स्वामी जी को यह कभी स्वीकार्य नहीं होता कि किसी काम में हाथ डाला जाय और फिर उसे अधूरा छोड़ दिया जाय।

स्वामी जी प्रत्येक कार्य को ही बड़े क्रम और नियम से करने के पक्षपाती हैं। प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक कार्य साफ हो, सुथरा हो, एक एक अंग में पूरा हो, यह बात स्वामी जी के प्रत्येक व्यवहार में देखने में आती है। अधूरा, अधकचरा काम उन्हें बड़ा नापसन्द है। फिर प्रत्येक कार्य समय के अनुसार हो। स्वामी जी की दिनचर्या किस नियम और क्रम से चलती है यह जिन्होंने उन्हें क्रियाशील नहीं देखा उनके लिये उसे कल्पना में लाना कठिन होगा।

मैं स्वामी जी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट करता हूँ। परमात्मा उनको दीर्घजीवी करें।

* * * *

श्रीमान् लब्भूराम जी नैयड़, आनन्दाश्रम लुधियाना—

श्रद्धा के फूल

३६ साल की पुरानी बात है जबकि मैं गुरुकुल कांगड़ी के लिये धन संग्रह करते २ अपने पुराने मित्र स्वर्गीय पं० विष्णुलाल जी एम. ए. मुन्सिफ सम्भल ज़िला मुरादाबाद की सेवा में जाता हुआ रास्ते में मुरादाबाद प्रिय मित्र बाबू ब्रजनाथ जी वकील के गृह पर ठहरा। बातों २ में मैंने उनसे निवेदन किया कि यदि यहां भी कुछ धन गुरुकुल के लिए हो जाय तो अच्छा है! इस पर बाबू जी ने कहा कि आप मुन्शी नारायण प्रशाद जी मन्त्री आर्य समाज मुरादाबाद से मिलें वे बड़े सज्जन हैं। मैं बिना संकोच उसी समय श्री मुन्शी जी के स्थान पर उनकी सेवा में पहुँचा। इस पर मेरा अभिप्राय सुनते ही मुन्शी जी ने स्वयं अपने बटुए में से निकाल कर गुरुकुल कांगड़ी को कुछ धन दिया और मेरी प्रतिज्ञा की सफलता के लिए आशीर्वाद दिया।

श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज आर्यधर्म की मूर्ति हैं। आपके जीवन में धर्म कर्तव्य और नीति के सभी अंगों का पूर्ण विकास है।

जो अनथक पुरुषार्थ व तपस्या स्वामी जी महाराज ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली को उच्च शिखर पर लाने के लिए और दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा को सफल करने व गुरुकुल वृन्दावन को भली भांति चलाने में की वह किसी से छिपी नहीं। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि

सभा देहली के लगातार आठ साल तक मन्त्री रहकर सभा को इस उच्च अवस्था तक पहुँचा देना आपके ही अनथक पुरुषार्थ का फल है। आप जब कार्य में लग जाते थे जो अपने कर्तव्य पालन में तन, मन की सुध भूल जाते थे। कर्तव्य पालन में ऐसे मग्न रहते थे कि खाना तक भी याद न रहता था।

उपदेशक विभाग के अधिष्ठाता रहकर यू. पी. प्रान्त में वेद प्रचार के कार्यविभाग का संचालन करते रहे। यह सब महान कार्य आपके सच्चे त्याग के आदर्श हैं।

आपके ऐसे गुणों के प्रभाव से न केवल गुरुकुल के ब्रह्मचारियों पर ही गहरा असर पड़ा किन्तु कोई भी व्यक्ति जो आपके चरणों में उपस्थित हुआ वह प्रभावित हुए बिना न रह सका।

आदर्श विचार शक्ति कुछ ऐसी प्रबल थी कि हरएक कार्य में आपको सफल बनाती थी। यही कारण था कि आपके उच्च अधिकारी आपसे प्रसन्न थे।

जब मुरादाबाद में शुद्धि आन्दोलन ज़ोरों पर था तो एक मित्र ने मुन्शी नारायणप्रशाद जी से आकर कहा कि आपको बिरादरी से पृथक् करने का विचार हो रहा है। मुन्शी जी ने जवाब दिया कि मैं ऐसा करने पर उनको धन्यवाद दूंगा। परन्तु उनको एक बात जान लेनी चाहिये कि जो लोग अब तक मुझे अपनी बिरादरी का आदमी समझते रहे हैं वे ग़लती पर हैं। मैं आर्य हूँ वे अनार्य हैं। भला आर्य, अनार्यों की एक बिरादरी कैसे हो सकती है।

पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज की आदर्श, निःस्वार्थ सेवाएं आने वाली सन्तति के लिए दृष्टान्त बनी रहेंगी। जब आप जैसे उच्च व्यक्ति महर्षि दयानन्द के सच्चे भक्त आर्य समाज में विद्यमान हैं तब न जाने कितने युवक हृदय उनसे प्रभावित होंगे। आपने महर्षि के लगाये पौदे, आर्यसमाज रूपी वृक्ष को सींचने में अपना सर्वस्व निछावर कर दिया है। आपके पवित्र गुण सब नर-नारियों के लिये शिक्षादायक हैं।

आपके शुद्ध पवित्र जीवन को अपनी दृष्टि में रखते हुए आज हम सब आर्य नर-नारी आपका अनुकरण करें तो भी हमारा कल्याण है।

* * * *

श्री बहादुरराम जी मंत्री आर्य समाज रामगढ़--

कुछ संस्मरण

हम पर्वतीय प्रान्त के लोगों का, विशेषकर रामगढ़ निवासियों का यह परम सौभाग्य है कि आर्य जगत की विमल विभूति का लगातार २५ वर्षों से दर्शन कर रहे हैं। सामीप्य से उन के अमृतोपदेशों का लाभ उठा रहे हैं। उनके एक नहीं अनेक संस्मरण विद्यमान हैं और सदा रहेंगे। स्वामीजी की सर्वतोन्मुखी प्रतिभा विशाल है। उनका व्यक्तित्व अनुपम है।

उनका आदर्श उनका आत्म बल स्वाध्याय उनका गाम्भीर्य, उनकी धार्मिक भावना और उनकी प्रबन्ध पटुता अवर्णनीय हैं। स्वामी जी महाराज ने अदम्य साहस से अनथक परिश्रम से, आर्यजगत् में नवजीवन का संचार कर दिया है–यह सर्व विदित है, सर्व सम्मत है। स्वामी जी के ही प्रभाव से रामगढ़ जैसे देहात में भी आत्म बल, चरित्र बल और नैतिक बल की प्रबलता प्रस्फुटित होने लगी है।

जब स्वामी जी महाराज सन् १९२० में रामगढ़ में श्री नारायण आश्रम बनाकर योगाभ्यास करने लगे, उन दिनों भुवाली तक मोटर-यात्रा नहीं होती थी। लोग पैदल या अन्य सवारियों से पर्वत यात्रा करते थे। स्वामी जी काठ गोदाम से २१ मील रामगढ़ तक केवल ६ घंटे में चलकर पैदल ही पहुँच जाते थे जबकि पर्वतीय कष्ट सहिष्णु लोग भी इतना नहीं चल पाते हैं।

स्वामी जी महाराज के अपार साहस ने इस पहाड़ी प्रदेश के रहने वालों में जो वीरता और उत्साह के भाव उत्पन्न किये हैं वे वर्णन नहीं किये जा सकते। समय समय पर बड़े से बड़ी आपत्ति के आने पर स्वामी जी महाराज की सहायता की आवश्यकता पड़ी। उन्होंने निर्भीकता के साथ प्रत्येक कठिन से कठिन समस्या को सरल कर दिया। हम अपने महान तपस्वी के सदा कृतज्ञ रहेंगे।

स्वामी जी के आश्रम में जो सफल वाटिका है उसमें बड़े २ पत्थर तोड़कर क्यारियां पहाड़ के सीधे ढाल में निर्माण हुई हैं। स्वामी जी महाराज नियमित रूप से वाटिका का कार्य अब तक करते चले आते हैं। एक रोज एक बड़े पत्थर को लुढ़काने में स्वामी जी के हाथ की अंगुली पत्थर के नीचे दब गई और बुरी तरह कुचल गई। किन्तु स्वामी जी के माथे में शिकन नहीं देखा चेहरे में वही गाम्भीर्य विद्यमान था और वे बराबर वाटिका को फलता फूलता रखने का यत्न करते हैं।

स्वामी जी महाराज बच्चों से बड़ा प्रेम करते हैं। रामगढ़ के बच्चे राह चलते हुए स्वामी जी को चारों ओर से घेर लेते हैं, और नमस्ते की झड़ी लगा देते हैं, स्वामी जी भी कुछ रुक कर कुछ हंसकर उसी ढंग से उनका उत्तर देते हैं। बच्चे पहाड़ी जबान में जो कहते हैं स्वामी जी उसे खूब समझते हैं और खूब हंसते हैं। जब बच्चे आश्रम में जाते हैं तो उन्हें फल और मेवे वितरण करते हैं। सादर बच्चों को छोटे मोटे धार्मिक ट्रैक्ट प्रदान करते हैं। प्रतिवर्ष अपनी वाटिका के फल आड़ू, खुमानी वगैरा स्थानीय स्कूलों के बच्चों में बटवाने को भेजते हैं। यहां तक कि जब स्वामी जी हैदराबाद स्टेट की जेल में बन्द थे तब भी वे रामगढ़ के बच्चों को नहीं भूले। वहां से आश्रम के माली को पत्र लिखा कि वाटिका के सब फलों को स्थानीय स्कूलों के बच्चों को बांट दो। अपने उपदेश के प्रारम्भ में बच्चों को ही सम्बोधित करके उन्हें शिक्षा देते हैं। यह है स्वामी जी का 'वात्सल्य प्रेम'।

स्वामी जी का चरित्र, उनका प्रत्येक कार्य हमारे लिए आदर्श है। समीप से विशेष अनुभव व आनन्द प्राप्त होता है। भगवान से प्रार्थना है स्वामी जी दीर्घायु व शतायु हों।

* * * *

श्री पं० विनायकराव जी बैरिस्टर हैदराबाद राज्य—

"समयाभाव के कारण मैं अत्यन्त विनम्रपूर्वक क्षमा चाहता हूँ कि मैं कोई विस्तृत लेख न भेज सका। केवल परमेश्वर से प्रार्थना है कि पूज्य नारायण स्वामी जी महाराज दीर्घायु हों और वे आर्यसमाज का इसी प्रकार नेतृत्व करते रहें। उनकी ८० वीं वर्ष गांठ पर हार्दिक शुभ कामना स्वीकार कीजीये।

* * * *

श्री पं० नरेन्द्रदेव जी मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद राज्य—

पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज का महान् व्यक्तित्व आर्य समाज के भविष्य को उज्ज्वल और विकास तथा उन्नति के पथ पर ले जाने के लिये एक विशेष स्थान रखता है। आपका त्याग तथा बलिदान हम आर्यों के लिये अनुकरणीय तथा आदरणीय है। स्वामी जी की निःस्वार्थ सेवा अगली पीढ़ी के लिये दृष्टांत बनेगी और उनके पवित्र जीवन का प्रकाश कई युवकों के हृदय को आलोकित करेगा।

आपने आर्य समाज तथा उसके प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के कार्य पर अपने को न्योछावर कर रक्खा है। आपने अपनी कार्य कुशलता और बुद्धिमत्ता से आर्य समाज के संगटन को इतना सुदृढ़ बनाया है जिसका प्रमाण जनता ने हैदराबाद के आर्य सत्याग्रह के अवसर पर देख लिया है। आर्य सत्याग्रह यज्ञ के ब्रह्मा, त्यागमूर्ति महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज के महान् प्रयत्न के कारण ही हम इस धर्म युद्ध में विजय श्री को प्राप्त कर सके।

स्वामी जी की सेवायें धार्मिक तथा राष्ट्रीय जगत में निःसंदेह चिरस्मरणीय रहेंगी। मैं महान् व्यक्तित्व का पुजारी होने के कारण पू०म० नारायण स्वामी जी के चरण कमलों में उनके अशीति वर्षीय (८० वीं) वर्ष गांठ पर अपनी सद्भावना के पुष्प समर्पित करने का सौभाग्य प्राप्त करते हुये, आशा करता हूँ कि ईश्वर आर्य जगत के इस महान तपस्वी नेता का हमें दीर्घकाल तक नेतृत्व प्राप्त करायें।

* * *

श्रीमान् नारायण लाल जी बम्बई

पूज्य स्वामी जी के विषय में मैं क्या लिख सकता हूँ? स्वामी जी की सेवायें अवर्णनीय हैं। उन्होंने जो कार्य हैदराबाद सत्याग्रह में किया है वह एक ही कार्य ऐसा है जिसके लिये भारतवर्ष के लोग चिरकाल तक उनके ऋणी रहेंगे। हज़ार वर्ष के बाद यह पहला ही अवसर था कि जब एक संन्यासी ने अन्याय के विरुद्ध अपना हाथ उठाया और उसमें सफलीभूत हुए। उनके सभी उपकार कार्य प्रशंसनीय हैं।"

* * * *

श्री विद्यासागर जी दीक्षित हैडमास्टर श्री नारायण स्वामी हाई स्कूल रामगढ़—

महान् विभूति

परम पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज उस कोटी के राजयोगी हैं जिन्हें वे विभूतियां सिद्ध हैं जो संसार को चकित कर देने वाले कार्य करती हैं। परन्तु वे उनके द्वारा हाथ पर सरसों उगा कर संसार को चकित कर योगी पद पाकर संतुष्ट होना नहीं चाहते। उनका ध्येय है अध्यात्मवाद का प्रचार और सामाजिक सेवा।

पूज्य स्वामी जी ने अपना वाणप्रस्थ जीवन किसी एकान्त स्थान में व्यतीत करने के विचार से किसी पार्वत्य प्रदेश की खोज की। रामगढ़ उस खोज का फल था। कहने की आवश्यकता नहीं कि रामगढ़ उस समय रामगाढ़ कहलाता था और यहां भारी दलदल थी परन्तु उस दलदल को सुखाकर एक उत्तम स्थान बना लिया। स्वामी जी महाराज ने उसी एकान्त स्थान में अपने स्वाध्याय और अपनी तपस्या के लिये 'नारायण आश्रम' की स्थापना की। इस स्थान में स्वामी जी महाराज ने अपने स्वाध्याय के लिये एक विशाल वैदिक पुस्तकालय भी स्थापित कर लिया है।

नारायण स्वामी हाई स्कूल—

पूज्य महात्मा जी जिस समय निजाम राज्य में किये गये हैदराबाद सत्याग्रह में विजय प्राप्त करके रामगढ़ पधारे तो यहां की भक्त जनता ने अपने पूज्य देव से एक वरदान मांगा। "महात्मा जी हम यह चाहते हैं कि यहां पर हमारे बच्चों की शिक्षा के लिये एक हाई स्कूल हो जाय"।

इस भोली जनता को यह पता नहीं था कि हाई स्कूल के लिये कैसा स्थान और क्या साधन चाहियें। परन्तु इसमें इसका क्या दोष। स्वामी जी महाराज ने कहा "अच्छा"।

"अच्छा" कह दिया और हाई स्कूल होगया। पाठक कहेंगे कि हाई स्कूल तो शनैः शनैः जनता के पुरुषार्थ से बना होगा। नहीं किन्तु इस 'अच्छा' कह देने में स्वामी जी की स्वीकृति और उनका प्रोत्साहन निहित था और जनता का उत्साह, उसकी लगन और इच्छा।

निस्सन्देह जनता ने स्कूल के लिये दिल खोलकर अपना तन, मन, धन अर्पित कर दिया। परन्तु श्री नारायण स्वामी हाई स्कूल के जीवन में कई बार ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई कि हमारा सब पुरुषार्थ निष्फल होता हुआ दिखाई दिया। समस्या महात्मा जी के सम्मुख रक्खी गई। उन्होंने 'अच्छा' कह कर विदा किया। फिर प्रयत्न किया। शत्रु ने मित्र सम व्यवहार किया। उलझन सुलझन में परिणत हो गई। आश्चर्य न हो तो क्यों न हो।

मिडिल स्कूल के निरीक्षण के लिये इन्सपैक्टर महोदय आये। उन्हें रिकॉगनीशन के निमित्त वस्तु स्थिति अध्ययन करने के लिये आमंत्रित किया गया था। देख कर कहने लगे कि इस स्थान में अंग्रेज़ी स्कूल का स्वप्न देखना आकाश कुसुम की कल्पना करना है। समस्या महात्मा जी के सामने रक्खी गई। महात्मा जी ने फिर वही "अच्छा" शब्द दुहराया। इन्सपैक्टर महोदय को फिर निमंत्रित किया गया। इस बार उसी सज्जन ने स्कूल को रिकोगनाइज़ भी कर दिया और यह शब्द

लिखे 'मैं देखता हूँ कि इस स्कूल के पीछे कोई महान् शक्ति काम कर रही है"। जनता की मांग थी हाई स्कूल की और अभी मिडिल स्कूल ही हुआ है। जनता फिर मचलने लगी। फिर महात्मा जी के
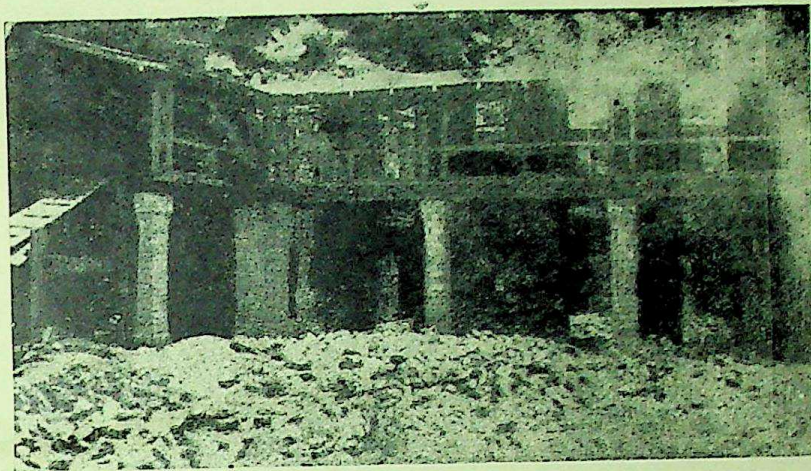
श्री नारायण स्वामी हाई स्कूल का अर्ध निर्मित भवन

दरबार में दुहाई की पुकार पहुँची। महाराज ! हमारे बच्चे मिडिल पास करके कहां जांय, वे तो यहीं पढ़ेंगे। मई का अन्त हो चुका, केवल जून का महीना शेष है। अभी मिडिल का रिकॉगनीशन मिले चार दिन भी पूरे नहीं हुए परन्तु भक्तों को इससे क्या ? स्वामी जी ने भी सरल स्वभाव के अनुसार कह दिया "अच्छा"।

हमारे तो खुदा इन्सपैक्टर महोदय ही ठहरे। उनके पास गये, गिड़गिड़ाकर अपना दुखड़ा रोया। देख कर आग बबूला हो गये और स्कूल को विध्वंस करने की धमकी दी। हम हिम्मत कब तोड़ने वाले थे ? हमारे पास था—महात्मा जी का "अच्छा" संबल। दूसरा साधन टटोला। शृङ्खला मिटती चली गई, विघ्न नष्ट होते चले गये। एक ही माह के अन्दर मिडिल स्कूल हाई स्कूल हो गया।
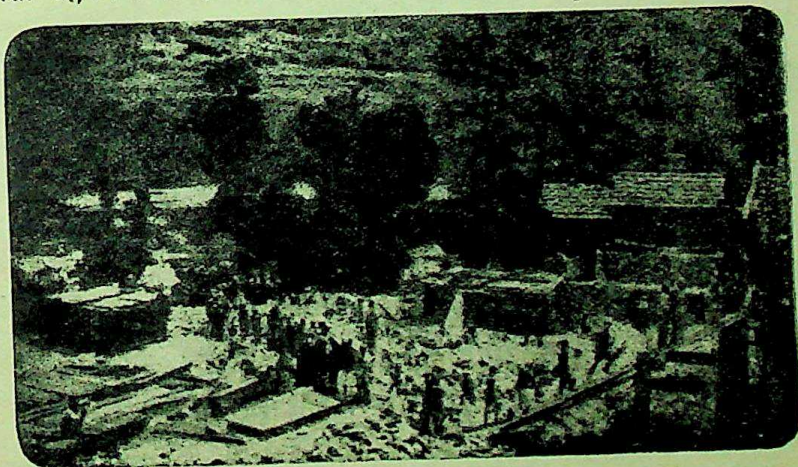
श्री नारायण स्वामी हाई स्कूल के विद्यार्थी
भवन निर्माण में सहायता देते हुए

जनता की इच्छा पूर्ण हुई और इतनी शीघ्र पूर्ण हुई जिसकी आशा भी न थी। परन्तु हाई स्कूल बिना आर्थिक सहायता के निर्जीव शरीर के समान था। नित नई आर्थिक कठिनाइयों की दीवार सामने खड़ी रहती थी। चिन्ता सदैव चिता से भी बढ़ कर शरीर दग्ध करती थी। महात्मा जी से फिर कहा गया, "महात्मा जी! आज यह आर्थिक कठिनाई, कल वह कठिनाई। महाराज हमने हाई स्कूल मांगा था न कि यह चिन्ताओं का घर। भगवन्! हमारी इस चिन्ता को दूर कीजिये। यह तो हमारे सब पुरुषार्थ को विफल किये देती है।"

महात्मा जी इस बार कुछ चिन्तित हुए। भक्तों ने प्रस्ताव रक्खा कि आपके दानवीर बिड़ला जैसे अनेक भक्त हैं जो शिक्षा में विशेष रुचि रखते हैं किसी एक ऐसे सज्जन की दया दृष्टि से ही बहुत कुछ कार्य सिद्ध हो सकता है। आर्थिक प्रश्न ऐसा कोई जटिल प्रश्न नहीं था कि जो किसी प्रकार सुलझ न सके। परन्तु महात्मा जी को शील संकोच ने आ घेरा कि जनता ने अनेक आपत्ति करने पर भी भक्ति भाव से प्रेरित होकर स्कूल का नाम श्री नारायण स्वामी हाई स्कूल रख दिया। अपने ही नाम के स्कूल के लिये किस प्रकार किसी को लिखें। शिक्षा विभाग ने केवल दो सौ चार रुपये की वार्षिक सहायता दी और अगले कई वर्ष तक अधिक देने में असमर्थता प्रकट की। कोई मार्ग नहीं दिखाई देता था।
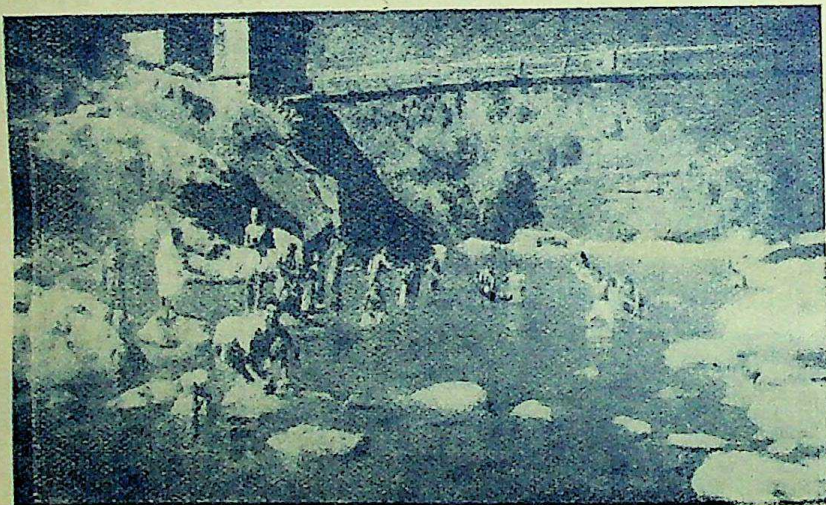
श्री नारायणस्वामी हाईस्कूल के विद्यार्थी स्नान करते हुये

स्कूल के व्यवस्थापक महोदय पं० राजेन्द्र नाथ जी मुत्तू ने स्वामी जी के सामने प्रस्ताव रक्खा, "भगवन्! कई बार शिक्षा विभाग को लिखा पढ़ी कर चुके परन्तु निराशा के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं हुआ। आप यदि आज्ञा दें तो एक बार फिर प्रयत्न किया जाय।"

स्वामी जी ने कहा "अच्छा एक बार और प्रयत्न करो"। प्रयत्न किया गया और इस बार वातावरण बदला हुआ मिला। जो इन्सपैक्टर बात तक नहीं करते थे, वे प्रेम पूर्वक मिले और बिना प्रयत्न किये ही सब कुछ देने को तैयार हो गये।

आर्थिक वर्ष के अन्तिम दिन ३०५८) रु० की आर्थिक सहायता घर बैठे प्राप्त हो गई। इसे चमत्कार न कहें तो और क्या कहें ?
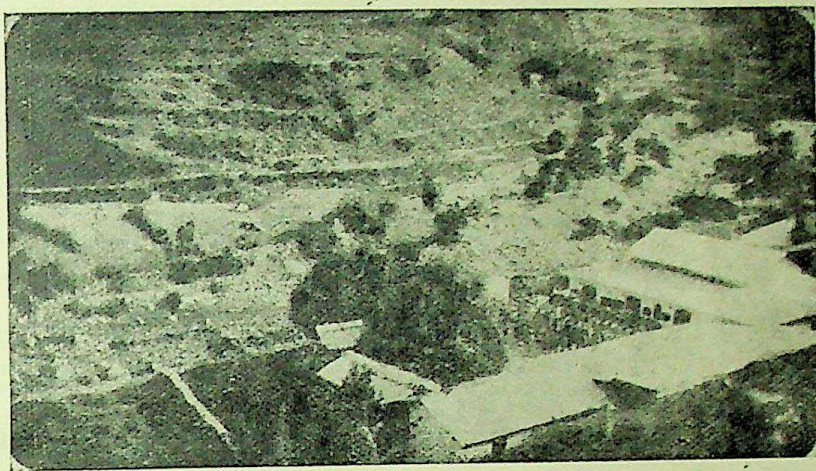
श्री नारायण स्वामी हाई स्कूल के विद्यार्थी व्यायाम करते हुये

श्री नारायण स्वामी हाई स्कूल की उन्नति के लिये सब प्रकार का यत्न किया जा रहा है। भवन निर्माण कार्य में समय २ पर विद्यार्थियों ने भी सहायता प्रदान की है। अभी भवन निर्माण के कार्य में बहुत कुछ कार्य करना है। स्कूल की उन्नति के लिये सब प्रकार का यत्न किया जाता है परन्तु सभी कार्यों में श्रद्धेय स्वामी जी का आशीर्वाद पहिले प्राप्त किया जाता है। गरीब पर्वतीय बालकों की शिक्षा के लिये किये गये इस प्रयत्न के लिये हम-सब स्वामी जी के चरणों में अपनी कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

* * * *

श्री स्वामी ज्ञानानन्द जी परिव्राजक—

मुझे इस समाचार से अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज की ८०वीं वर्षगांठ पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है और रामगढ़ में उनके नारायण आश्रम की रजत जयन्ती भी मनाई जा रही है।

स्वामी जी महाराज ने आर्य समाज की जो सेवायें की हैं वह प्रशंसनीय हैं। समय समय पर उन्होंने आर्यसमाज के गौरव की रक्षा की है। मथुरा जन्म शताब्दी के अवसर पर आपने जिस योग्यता के साथ कार्य का संचालन किया वह आर्य समाज के इतिहास में सदा अमर रहेगा। आपने अपने अनथक परिश्रम से सार्वदेशिक सभा का जो संगठन किया है वह भी ऐसा ठोस कार्य है जो आर्य समाज के गौरव को ऊंचा करने में सहायता प्रदान करता है।

इस अवसर पर सार्वदेशिक सभा के सम्मुख मैं विदेशों में वैदिक धर्म प्रचार के कार्य को प्रगति देने का विचार रखता हूँ। वैसे तो मैंने समय समय पर इस बारे में सार्वदेशिक सभा का ध्यान आकृष्ट किया है, परन्तु फिर भी गम्भीरता के साथ इस विषय पर सार्वदेशिक सभा को कोई योजना बनानी चाहिये।

मैं अपने भूमण्डल प्रचार के अनुभव पर यहां एक दो बातें प्रगट कर देना आवश्यक समझता हूँ। सब से पहिली बात विदेशों के लिये वैदिक साहित्य के तैयार करने की बात है। सार्वदेशिक सभा को शुद्ध और सस्ते वैदिक ग्रंथ अंग्रेज़ी भाषा में प्रकाशित करने चाहियें जिससे बाहर के देशों में आर्य समाज के सिद्धान्तों की जानकारी हो सके। हम जिन जिन देशों में प्रचारार्थ गये वहां सब से बड़ी कठिनाई यही अनुभव की कि लोगों को वैदिक साहित्य उनकी आवश्यकता के अनुसार न दिया जा सका।

दूसरी बात योग्य अनुभवी शुद्ध आचरण वाले उपदेशकों को प्रचारार्थ बाहर के देशों में भेजने की है। इसके लिये सार्वदेशिक सभा को उन व्यक्तियों के अनुभव से लाभ उठाकर कोई योजना बनानी चाहिये जिन्होंने विदेशों में वर्षों प्रचार कार्य किया है।

अन्त में परमात्मा से मेरी यही प्रार्थना है कि स्वामी जी को दीर्घायु प्रदान करें जिससे वे वैदिक धर्म की अधिक से अधिक उन्नति कर सकें।

* * * *

श्री बा० सीताराम जी एडवोकेट लखीमपुर खीरी—

मुझे पूज्य नारायण स्वामी जी महाराज से उस समय से परिचय है जबकि वे मुन्शी नारायण प्रसाद जी थे। मुन्शी जी मुरादाबाद में कलक्टरी के दफ्तर में सम्भवतः रीडरी के पद पर कार्य करते थे और उनके बारे में यह बात प्रसिद्ध थी कि उन्होंने अपने जीवन में किसी प्रकार की रिश्वत न ली। सरकारी नौकरी करते हुए भी वे आर्य समाज का बड़ा कार्य करते थे। यद्यपि वे सरकारी नौकरी करते हुए रिश्वत लेकर बहुत अमीर बन सकते थे परन्तु आर्य धर्म में प्रविष्ट होने के कारण ऐसा करना पाप समझते थे। उन्होंने अपने उत्तरदायित्व को निभाते हुए ईमानदारी का पूर्णतया पालन किया।

आपने आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त और गुरुकुल वृन्दावन की जो सेवायें की हैं वे आर्यसमाज के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेंगी।

गुरुकुल वृन्दावन के कार्य भार को छोड़ने के उपरान्त आपने अपनी शक्ति सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के संगठन में लगा दी। आप वर्षों सार्वदेशिक सभा के प्रधान पद को सुशोभित करते रहे। कुछ समय के लिये उसके कार्यभार को अन्य व्यक्तियों पर छोड़कर आप अध्ययन में लग गये, परन्तु सार्वदेशिक सभा को हर प्रकार का परामर्श देकर संगठित रखना आप जैसे महापुरुष

का कार्य था। अब फिर आपने सार्वदेशिक सभा के प्रधान पद को स्वीकार करके उसके कार्य भार को अपने ऊपर संभाल लिया है।

स्वामी जी के उपदेशामृत के पान करने वाले इस बात को भली भांति जानते हैं कि उनके विचार कितने दार्शनिक हैं और किस प्रकार वे अध्यात्मवाद की विचार धारा प्रवाहित करते हैं।

मैं नारायण आश्रम की रजत जयन्ती और स्वामी जी महाराज की ८० वीं वर्षगांठ पर अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट करता हुआ परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि स्वामी जी महाराज दीर्घायु हों और आर्य समाज उनके नेतृत्व में अधिकाधिक फूले फले।

* * * *

श्री पं० गणेशशंकर शास्त्री साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ—

श्रीयुत स्वामी जी के पवित्र दर्शन करके महर्षि कण्व एवं वशिष्ठादि महर्षियों का पुनीत स्मरण हो आता है। महाराज के आश्रम में—

"यत्र च तरवोऽपि सनियमा इव लक्ष्यन्ते, अन्यच्च परस्परमपहाय नैसर्गिकं विरोध कृतैकत्रसंस्थानाः वसन्ति पशुपक्षिणोऽपि"॥ इत्यादि प्राचीन आश्रमों की सी व्यवस्था दिखाई पड़ती है।

श्री पूज्य स्वामी जी महाराज के अध्ययन से मैं तो इस कोटि पर पहुँचा हूँ कि उन के हृदय में सर्वदा केवल मात्र यही एक चिन्ता रहती है कि मेरे पास अधिक से अधिक संख्या में जिज्ञासु लोग अपनी जिज्ञासा को लेकर आवें और उनकी जिज्ञासा यहां आकर शान्त हो।

पूज्य स्वामी जी महाराज की लेखमालाओं को पढ़ कर आत्मिक पुष्टि और शान्ति मिलती है। उपदेशों की कथाओं में तो मानो आप अमृत का ही पान कराते हैं। महाराज की कथा सुन कर सत्य कहता हूँ कि "नैषध" का यह श्लोक यदि इस प्रकार कह दिया जाय कि—

निपीय यस्य श्रुति तोषिकाः कथाः
तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि॥

तो अधिक सुन्दर और अत्यन्त संगत प्रतीत होता है महाराज साक्षात् सात्विक गुण की मूर्ति हैं। अन्त में प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि इसी प्रकार आश्रम की शताब्दी तथा सहस्राब्दी भी सफलता पूर्वक मनायी जाय और स्वामी जी का संरक्षण समाज पर इसी प्रकार सर्वदा बना रहे।

* * * * *

श्री रणवीरसिंह जी शास्त्राचार्य—

श्री स्वामी जी के पास जब जब रहने का सौभाग्य मिला है उस आनन्द को मेरी वाणी कहने में असमर्थ है। रामगढ़ में स्वामी जी के आश्रम में रह कर ८ वर्ष तक उनके उपदेशों से मैंने आध्यात्मिक लाभ प्राप्त किया है।

शारीरिक बल तो स्वामी जी के लगाये हुए अमृत फलों से प्राप्त हुआ और आत्मिक तृप्ति स्वामी जी के अमृत मय उपदेशों से हुई।

स्वामी जी महाराज के आश्रम में अनेकों बार कठिन से कठिन समस्या सुलझाने का अवसर प्राप्त हुआ है। उन्होंने सदैव स्नेह पूर्वक उन कष्टों विपत्तियों से बचने की सम्मति प्रदान की।

मैं उस पवित्र आत्मा की ८० वीं वर्ष गांठ पर श्रद्धापूर्वक अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट करता हुआ परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वे पूज्य स्वामी जी को दीर्घायु करें।

* * * *

सौभाग्य कुमारी विद्याविभूषिता प्रभाकर—

गुरुदेव! आज तुम्हारे सम्मानार्थ दो शब्द सुमन चयन करके लाई हूँ। आप के लिये क्या कहा जाय? सहस्र राशिमय मरीचिमालि को दीपक दिखाना कैसा?

आर्यजगत् के रत्न, आपकी अमर सेवा प्रत्येक आर्य के हृदय में है और रहेगी। आपका अतुलनीय उपकार लेखनी द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। आपका अदम्य उत्साह मानव मात्र के लिये अनुकरणीय है।

आधुनिक दधीचि, आपने सत्याग्रह का प्रथम अधिनायक बन कर सब के सम्मुख एक उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित कर दिया है। सत्याग्रह की विजय आपकी तपस्या का ही फल था। आपका अंग प्रत्यंग परहित में रत है।

रामगढ़वासी तपस्वी, आपने रामगढ़ की कुटिया को अपने चरण-रज से पवित्र कर दिया। वहां की वृक्षराजि तथा सुमनावलियां झुक झुक कर आपका यशोगान कर रही हैं।

श्रद्धेय देव, मैं आपके प्रति सादर श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हूँ। जगन्नियन्ता से प्रार्थना है कि हमारे वन्दनीय गुरु को चिरायु प्रदान करे।

* * * *

श्री रामचंद्र जी डिप्टी पोस्ट मास्टर उपमंत्री आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त—

महात्मा नारायण स्वामी जी एक आदर्श महान पुरुष हैं। मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी (पूर्व श्री जैनारायण जी पोस्ट मास्टर) आर्य समाजी नहीं थे। श्री नारायण स्वामी जी की सत्संगति से वैदिक धर्म में उनकी अटूट श्रद्धा उत्पन्न होगई। अप्रैल १९३८ को श्री स्वामी जी से हरिद्वार में उन्होंने दीक्षा प्राप्त करके सन्यास आश्रम में प्रवेश किया। उन्होंने श्री स्वामी जी के आदेशानुसार अपना सर्वस्व वैदिक धर्म प्रचारार्थ अर्पण कर दिया। ५००००) रु० की लागत से दयानन्द सेवाश्रम नामी विशाल भवन बनवाकर श्री स्वामी जी के कर कमलों द्वारा आर्य समाज बदायूं की भेंट कर दिया। इसके अतिरिक्त बदायूं श्मशान, धर्मशाला प्रसिद्धपुर, डी.ए.वी. कालिज

कानपुर तथा सरस्वती विद्यालय हाई स्कूल बरेली में एक एक कमरा बनवा दिए। अब भी तन, मन धन से निरन्तर वैदिक धर्म की सेवा में तत्पर रहते हैं। गत हैदराबाद सत्याग्रह में भी आप ३ मास जेल में रहे। ऐसे अनेक व्यक्तियों के जीवन श्री महात्मा नारायण स्वामी जी की कृपा से सफल बन चुके हैं। मैं महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज को उनकी ८० वीं वर्षगांठ पर हार्दिक शुभ कामना भेजता हूँ। परमात्मा उनको दीर्घायु प्रदान करें।

* * * *

श्री बा० व्रजनाथ मित्थल एडवोकेट मेरठ—

श्रद्धेय नारायण स्वामी जी महाराज वन्दनीय महापुरुष हैं। उनकी ८० वीं वर्ष गांठ के उपलक्ष में भेंट किये जाने वाले नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ के द्वारा मैं अपनी श्रद्धांजलि भेंट करते हुये हर्ष मानता हूँ।

मुझे सब से पहिले ऋषि दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा के शुभ अवसर पर स्वामी जी महाराज के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। इस अवसर पर की गई प्रदर्शिनी का कार्यभार मेरठ के कुछ व्यक्तियों पर सौंपा गया था, जिनमें स्व० बा० घासीराम जी तथा श्री विश्वम्भर सहाय जी प्रेमी भी सम्मिलित थे और मैं उस समिति का मन्त्री था। शताब्दी से कुछ दिन पहिले हम लोग कार्य में सहयोग देने के विचार से मथुरा पहुँच गये थे। उस समय यह अनुभव किया गया कि स्वामी जी महाराज सूर्य की किरणों के उदय होने से पूर्व शताब्दी के कार्य में व्यस्त हो जाते थे और जब रात्रि को सारा संसार गहरी निद्रा में पड़ा सोता था तब कहीं विश्राम पाते थे। आपके ही अनवरत परिश्रम का यह फल था कि शताब्दी महोत्सव बड़ी सफलता के सम्पन्न हुआ।

मुझे सन् १६२४ से १६२७ ई० तक श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त का मन्त्रित्व करने का अवसर प्राप्त हुआ। स्वामी जी महाराज इस अवधि में गुरुकुल वृन्दावन के एक प्रकार से सर्वेसर्वा थे। उन्हीं के परामर्श से गुरुकुल तथा आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्य संचालन होता था। आपने जिस योग्यता, तत्परता तथा परिश्रम के साथ गुरुकुल के कार्य को संगठित किया वह भुलाया नहीं जा सकता।

हैदराबाद के धर्मयुद्ध में आपने जो विजय प्राप्त की उससे समस्त आर्य जाति का आपने मस्तक ऊंचा कर दिया है। आर्य समाज के उत्थान के लिये आपने जो कष्ट उठाये हैं आर्य जाति उसके लिये सदैव आपकी ऋणी रहेगी।

सार्वदेशिक सभा को सुसंगठित करने तथा संसार भर में उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ा देने का श्रेय आप ही को प्राप्त है। बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी आर्यसमाज की दृष्टि आपके ही नेतृत्व पर जाती है।

परम पिता परमात्मा से मेरी यही शुभकामना है कि स्वामी जी महाराज दीर्घजीवी हों और इसी प्रकार से अपना नेतृत्व बनाये रक्खें।

आर्य जनों की तुम्हें बधाई ।

(श्रीमती विमला 'प्रभाकर' मेरठ)

वर्ष गांठ के शुभ अवसर पर,
भक्तिभाव की अंजलि भर भर,
'नारायण' के श्री चरणों पर,
भेंट कर रहे आज बधाई ।
आर्य जनों की तुम्हें बधाई ॥१

आर्य जगत् की ध्वजा-पताका,
आर्य गगन की मञ्जुल राका,
वेद-विवेचन जिसने आंका;
उसे आज है अतुल बधाई ।
आर्य जनों की तुम्हें बधाई ॥२

जय हो आर्य-धर्म के स्वामी,
आर्ष - ज्योति - रेखा अनुगामी,
जय हो वीर, धीर, निष्कामी,
आज तुम्हारे लिये बधाई ।
आर्य जनों की तुम्हें बधाई ॥३

धर्म-युद्ध के अविचल नेता,
सत्याग्रह संग्राम विजेता,
आर्य जगत् श्रद्धाञ्जलि देता,
देता है शत बार बधाई ।
आर्य जनों की तुम्हें बधाई ॥४

जय ज्योतिर्मय वैरागी की,
निश्चल, वीरव्रती, त्यागी की,
उपनिषदों के अनुरागी की,
जय हो उनकी, उन्हें बधाई ।
आर्य जनों की तुम्हें बधाई ॥५

तेज-पुञ्ज, कर्मठ संन्यासी,
वैदिक जीवन के अभ्यासी,
भव्य रामगढ़ के अधिवासी,
तुम्हें हृदय से आज बधाई ।
आर्य जनों की तुम्हें बधाई ॥६

*   *   *   *

श्री पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री वेदाचार्य मेरठ—

श्री श्रद्धेय नारायण स्वामी जी की अशीतिवर्षीय जयन्ती के शुभ अवसर पर आर्य जनता उनकी आर्य समाज की आदर्श सेवाओं के उपलक्ष में उनका जो हार्दिक अभिनन्दन कर रही है और उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण कर रही है इसे देख किस आर्य बन्धु का हृदय सरोवर आनन्द से उत्प्लावित न हो रहा होगा ? जिस महानुभाव ने अपने आधे से अधिक जीवन को आर्य जाति की निष्काम सेवा में, वैदिक धर्म के प्रचार एवं आर्य राष्ट्र के पुनर्निर्माण में हुत किया हो उनके प्रति आर्य जनता यदि अपना हार्दिक अभिनन्दन करे, अपना आभार प्रगट करे, अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पण करे तो यह परम स्तुत्य एवं उपयुक्त ही है। रामगढ़ के पवित्र आश्रम में चिरकाल तक अध्यात्मचिन्तन द्वारा आत्म बल प्राप्त कर आर्यसमाज के विस्तीर्ण मञ्च पर आपने वक्तृता एवं लेखन द्वारा जो अनुकरणीय सामाजिक सेवायें की हैं उनके लिये आर्य जगत् आपका चिरऋणी रहेगा।

आर्य संसार को आपके नेतृत्व में पूर्ण विश्वास है। आशा है जिस प्रकार हैदराबाद सत्याग्रह का आपने सफलता पूर्वक संचालन कर उसमें विजय श्री प्राप्त की थी उसी प्रकार आवश्यकता पड़ने पर सिन्ध के भावी सत्याग्रह का भी सफल नेतृत्व एवं अनुपम विजय का श्रेय भी आप जैसे तपः पूत मनीषी को ही प्राप्त होगा।

परम पिता से प्रार्थना है कि वह आपके द्वारा संस्कृति की अमूल्य सेवायें करने तथा ऋषि दयानन्द के संदेश को देश के कोने कोने में प्रसरित करने का सुयोग प्रदान करे तथा आपके अमूल्य जीवन को हमारे पथ प्रदर्शन के लिये दीर्घ जीवी बनावे।

श्री कुंवर चान्दकरण जी शारदा अजमेर—

"मैं श्रीमान् महात्मा नारायण स्वामी जी की ८०वीं वर्ष गांठ पर हार्दिक बधाई देता हूँ और परम पिता परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वह हमारे पूज्य नेता को स्वस्थ और आनन्द मंगल में रक्खें ताकि वे परम पवित्र वैदिक धर्म की अधिक सेवायें कर सकें। इस समय आर्यसमाज में श्री पूज्य स्वामी जी ही एक मात्र ऐसे नेता हैं जिनके पीछे सारा आर्य जगत् चल सकता है। उन्होंने हैदराबाद सत्याग्रह का नेतृत्व करके आर्यसमाज को विजयी बनाया, और आगे भी उनके नेतृत्व में जो सिन्ध हैदराबाद का सत्याग्रह होने वाला है उसमें भी आर्यसमाज विजयी होगा और हमारी परम पवित्र धर्म पुस्तक सत्यार्थप्रकाश की रक्षा होगी, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है। स्वामी जी का समस्त जीवन त्याग, तप और बलिदान का आदर्श जीवन है। मैं विश्वास करता हूँ कि उनकी ८०वीं वर्ष गांठ पर अभिनन्दन ग्रंथ भेंट कर आर्यजगत् की महान् सेवा होगी।

* * * * *

वैद्य भूषण पं० ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य 'अमृतधारा' लाहौर—

कीर्तिर्यस्य सः जीवति

श्री नारायण स्वामीजी महाराज प्रभु की कृपा से १०० वर्ष और इससे भी अधिक देखते, सूंघते, तथा उपदेश देते हुए स्वस्थ रहें, ऐसी मेरी भावना है। परन्तु वह जब तक आर्यसमाज का इतिहास क़ायम रहेगा—तब तक ही जीवित रहेंगे, क्योंकि जिसकी कीर्ति है, वह जीता है।

नारायण स्वामी जी ने अपने जीवन, अपने शुद्ध आचार, अपने परिश्रम, अपने उपदेश और अपने लेखों से आर्यसमाज का शिर ऊंचा किया है। आर्यसमाज पर उन्होंने अपने तन, मन, धन को न्योछावर किया है। भारत के समस्त आर्य नर-नारी उनका नाम श्रद्धा से लेते हैं। अभिनन्दन ग्रन्थ के द्वारा मैं भी अपनी श्रद्धाञ्जलि श्री चरणों में भेंट करता हूँ।

* * *

श्री पं० देवव्रत धर्मेन्दु, परीक्षा मन्त्री अ० भा० आर्य कुमार परिषद्—

सत्याग्रह संग्राम के अवसर पर मुझे कुछ समय तक श्रद्धेय श्री नारायण स्वामी जी के आदेशानुसार सेवा करने का अवसर प्राप्त हुआ था। उनके व्यक्तित्व, उनकी लगन तथा अनुपम त्याग से प्रभावित होकर मैंने समाज सेवा के कार्य के लिये प्रेरणा प्राप्त की है। मैंने स्वामी जी के वृद्ध शरीर में एक उत्साही युवक की आत्मा के दर्शन किये हैं। आर्य कुमारों को स्वाध्याय के लिये समय समय पर पूज्य स्वामी जी ने महान् प्रेरणा दी है।

मैं परम पिता से प्रार्थना करता हूँ कि वह उन्हें हमारा नेतृत्व करने के लिये चिरायु करे।

* * * *

श्री स्वामी व्रतानन्द जी आचार्य गुरुकुल चित्तौड़गढ़—

मुझे संवत् १९८४ के मध्य में श्रीमान् महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज से सन्यास लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सन्यास लेते ही उसी दिन श्री पूज्य गुरु जी के सन्मुख यह प्रतिज्ञा की कि "मैं आज से लेकर जन्मभर ब्रह्मचारी और सन्यासी रहूँगा और श्री गुरुकुल चित्तौड़गढ़ की स्थापना करके उसका सुचारु रूप से संचालन तथा उसकी उन्नति के लिये पूर्ण पुरुषार्थ करता रहूँगा।

जब मैं सन्यास लेकर लाहौर जाने वाला था तब मैंने श्री गुरु जी से पूछा कि मेरे लाहौर में जाने पर यदि माता पिता मुझे घर में रहने की प्रेरणा करें तो मुझे घर में रहना चाहिये या नहीं ? इस प्रश्न का जो उत्तर मुझे प्राप्त हुआ वह निम्नलिखित है—

'आप आर्यसमाज मन्दिर में ही रहें और वहीं शयन भी किया करें। परन्तु जब कभी आपके पिता जी आदि भोजन आदि के लिये बुलाया करें तब उनके समीप निर्मोहता पूर्वक चले जाया करें'। मैं इस आज्ञा का पालन उस दिन से लेकर आज तक लगातार करता रहा हूँ और आगे भी करता रहूँगा।

मैंने श्री गुरु जी को संवत् १९९९ में पत्र लिखा था कि आप मेरे महान् कल्याण के लिये एक उत्तम उपदेश लिखकर भेजिये। मैं आपके उपदेश के अनुसार अपने जीवन की उन्नति के लिये उत्साहपूर्वक उद्योग करूंगा। उन्होंने मेरे पत्र के उत्तर में जो उपदेश लिखकर भेजा था उसका भावार्थ यह है कि—

"आप ऐसा अभ्यास कीजिये जिससे आपका मन शिव संकल्प से परिपूर्ण हो जावे। क्योंकि जो आत्मा अपने लिये तथा अन्य जीवों के लिये मन के द्वारा कल्याणकारी संकल्प करता है, वह मोक्ष का भागी होता है और इसके विपरीत जो आत्मा अपने लिये तथा अन्य जीवों के लिये मन के द्वारा अकल्याणकारी संकल्प करता है वह बन्ध का भागी होता है।"

उनके उपदेश को पढ़कर मैंने उसे अपने जीवन में धारण करने का प्रयत्न किया। उन के उपदेश से मेरा महान् कल्याण हुआ है। मैं अपने पूज्य गुरु जी का सादर अभिनन्दन करता हूँ।

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि मेरे पूज्य गुरुजी आज आर्य जगत के अत्यन्त प्रिय नेता हैं। उनकी ८० वीं वर्ष गांठ पर शुभ कामना करता हुआ, परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वे उन्हें चिरायु करें जिससे वे अपनी अमृत वर्षा से करोड़ों भारतीय नर नारियों का कल्याण करने में सफल हों।

श्रीमान् ला० नारायणदत्त जी ठेकेदार नई देहली—

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के निश्चयानुसार श्री महात्मा नारायण स्वामी जी की सेवा में आयु के ८० वर्ष प्राप्त करने के उपलक्ष्य में उनकी सामाजिक सेवाओं के आदर स्वरूप नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। इस ग्रन्थ के लिये अपना सन्देश भेजने के लिये सम्पादक मंडल ने मुझे अनुरोध किया है। मैं और श्री स्वामी जी लगभग गत ३० वर्ष से समाज सेवा के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं और श्री स्वामी जी के साथ मेरा सामाजिक सम्बन्ध इतना घनिष्ट होचुका है कि यदि मैं यह कह दूं कि उसने पारिवारिक रूप ले लिया है तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसीलिये श्री स्वामी जी की प्रशंसा में कुछ लिखते हुये एक प्रकार का संकोच अनुभव होता है।

मैं सन् १९१३ के आस पास सार्वदेशिक सभा का सदस्य बना। इसके पश्चात् लगभग ५ वर्ष तक सभा के मन्त्री पद की सेवा मेरे सुपुर्द रही और सन् २१ या २२ से सभा के कोष विभाग का महान् उत्तरदायित्व तो मेरे वृद्ध कन्धों पर चला आ रहा है। इस काल में मैंने श्री स्वामी जी का अत्यन्त निकट से अध्ययन किया है और उसके आधार पर मैं बिना संकोच के कह सकता हूँ कि स्वामी जी महाराज में अनेकों उत्तम गुण हैं और उनका हृदय विशाल है।

श्री स्वामी जी उच्च कोटि के सन्यासी हैं और उनका जीवन एक आदर्श जीवन है। आर्यसमाज में आज स्वामी जी जैसी दूसरी हस्ती नजर नहीं आती। सचमुच स्वामी जी महाराज आर्यसमाज के लिये एक देन हैं और आर्यसमाज को इनके जीवन पर गर्व है। इन्हीं कतिपय शब्दों के साथ मैं स्वामी जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत करता हूँ।

* * * * *

श्री पं० विश्वबन्धु जी, श्री विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान लाहौर—

'नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ' की सफलता चाहता हूँ। कार्य में व्यस्त रहने के कारण कोई लेख न भेज सका। श्रद्धेय श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज की ८० वीं वर्ष गांठ पर मेरी शुभ कामना स्वीकार कीजीये।

* * * *

श्री पं० धर्मदेव जी दर्शनकेसरी अशोक आश्रम कालसी—

मैं स्वामी जी महाराज की ८० वीं वर्ष गांठ के अवसर पर अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट करता हुआ मंगल कामना करता हूँ कि प्रभु उन्हें शतायु नहीं चिरायु करे।

* * * *

श्रीयुत शिवचंद्र जी उपमंत्री सार्वदेशिक आ० प्र० सभा देहली—

हैदराबाद राज्य की समस्या के सिलसिले में श्री पूज्य स्वामी जी महाराज के चरणों में बैठकर कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। उस समय पूज्य स्वामी जी महाराज से मुझे अपने सेवा कार्यों में प्रोत्साहन तथा बहुमूल्य सुझाव मिलते रहे।

चरित्र संयम, दिनचर्या को ठीक रूप से व्यवस्थित रखना, विशाल स्वाध्याय ईश्वर विश्वास यह गुण श्री स्वामी जी महाराज के चरित्र में बहुमूल्य चमकते हुए रत्न हैं। यही कारण है कि उनकी ८० वर्ष की आयु होते हुये भी उनका मुख इस प्रकार चमकता है मानों उन्होंने अभी अपनी यौवन अवस्था में पदार्पण किया है। आर्यसमाज में चाहे आनन्दोत्सव मनाया जावे और चाहे कभी आपत्ति आवे श्री स्वामी जी महाराज को सदैव स्मरण किया जाता है और उनके हाथ में बागडोर दी जाती है। श्री स्वामी जी महाराज के उक्त गुणों में से यदि हम लोग एक गुण को भी अपनालें तो हम लोग अपने जीवन को बहुत कुछ उच्च बना सकते हैं।

प्रभु से प्रार्थना है कि श्री पूज्य स्वामी जी महाराज कम से कम शतायु को प्राप्त होवें तथा उनके उच्च जीवन तथा महान् गुणों से हम लोग स्फूर्ति प्राप्त करते रहें।

* * * * *

श्री साहू तोताराम जी कांठ (मुरादाबाद)—

पूज्यपाद नारायण स्वामी जी महाराज का इस ज़िले से विशेष सम्बन्ध रहा है। आर्य-समाज के कार्य को विस्तार देने के लिये जो महत्व पूर्ण परिश्रम उन्होंने किया था वह भुलाया नहीं जा सकता।

मैं स्वामी जी महाराज की ८० वीं वर्षगांठ के अवसर पर अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट करता हुआ परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वे स्वामी जी महाराज को स्वस्थ रक्खें और वे आर्यसमाज के गौरव को इसी प्रकार बढ़ाते रहें।

* * * *

श्री गजाधर प्रसाद जी रिटायर्ड गवर्नमेंट ऑडीटर, नानपारा—

पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी की ८० वीं वर्षगांठ का समाचार पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। स्वामी जी महाराज ने आर्य समाज की जो सेवाएं की हैं उनके लिये आर्य समाज उनका सदा ऋणी रहेगा। स्वामी जी महाराज के साथ आर्य प्रतिनिधि सभा यू० पी० तथा गुरुकुल वृन्दावन में काम करने के कारण मेरा गहरा सम्बन्ध रहा है। उन्होंने इन दोनों संस्थाओं का आर्य जगत् में बहुत आदर व मान बढ़ाया है। मैं इस पुनीत अवसर पर परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वह स्वामी जी महाराज को दीर्घायु प्रदान करें जिससे वह अधिकाधिक धर्म और समाज की सेवा करते रहें।

* * * *

* ओ३म *

आर्य्य समाज के नियम

१—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान् न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त निर्विकार, अनादि अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

अंतिम निवेदन

इन पंक्तियों के साथ 'नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ' की सामग्री समाप्त होती है। मुझे अत्यन्त खेद है कि कुछ लेखकों के लेख पूर्ण रूप में न आ सके। श्री० डा० सत्यप्रकाश एम०ए०, पी०एच०डी० का लेख अंग्रेज़ी में होने के कारण नहीं दिया जा सका। कुछ लेखकों ने ५० से २०० पृष्ठ तक के लेख भेज दिये। उनका केवल सामयिक, आवश्यक अंग ही दिया जा रहा है। कठिनाइयां अनेकों थीं। प्रारम्भ में सरकारी आज्ञा केवल २०० पृष्ठ तक छापने की थी। पुनः प्रयत्न करने पर २० मई को ४०० पृष्ठ तक छापने की स्वीकृति मिल गई। अब १० दिन के अन्दर २०० पृष्ठों का क्रम देकर छपवाने का प्रबन्ध करना और भी कठिन कार्य होगया। श्रद्धाञ्जलियां भी छपने के अंतिम दिन तक आती रहीं। इसी कारण उनका ठीक क्रम नहीं दिया जा सका। फिर भी ग्रन्थ के साथ पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज का शुभ नाम जुड़ा हुआ था। कठिनाइयों में भी मार्ग निकलता रहा। यह ग्रन्थ जैसा भी बन पड़ा है पाठकों के सामने प्रस्तुत है।

स्वामी जी महाराज के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करना सूर्य को दीपक दिखाना है। पूज्य स्वामी जी महाराज की मुझ पर विशेष कृपा रही है। दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा के अवसर पर उनकी सेवा और नियंत्रण में रहकर मुझे कुछ सेवा करने का अवसर प्राप्त हुआ। वैसे इससे पूर्व उनका साक्षात् आर्य कुमार परिषद के कार्यों के सम्बन्ध में कितनी ही बार हो चुका था। अन्त में आर्य समाज के विनम्र सेवक के नाते तथा स्वामी जी के कृपा भाजन के रूप में यही कहूँगा—

"हम हैं पुहुप तुम विटप हमारे हो।"

विश्वम्भर सहाय 'प्रेमी'

२५) रु० देने वाले सहायक सदस्यों की सूची

१—रायबहादुर श्री पं० गंगाप्रसाद जी रिटायर्ड चीफ़ जज टीहरी

२—रायसाहब श्री मदनमोहन सेठ चीफ़ जस्टिस भरतपुर

३—श्री ला० मनोहरलाल जी सर्राफ़ मेरठ शहर

४—श्री राधेलाल जी अग्रवाल कालबादेवी रामबाड़ी बम्बई

५—श्री व्रजनाथ जी मित्तल एडवोकेट मेरठ शहर

६—श्री साहू तोताराम जी कांठ ज़िला मुरादाबाद

७—श्री रा०सा० बा० मोतीलाल जी गवर्नमेंट एडवोकेट मेरठ

८—श्री ला० जगन्नाथ प्रसाद जी मित्तल फ़र्म ला० कस्तूमरीदास श्यामलाल केसरगंज मेरठ

९—श्री रायसाहब डा० श्याम स्वरूप सत्यव्रत जी बरेली

१०—श्री बा० गजाधर प्रसाद जी रिटायर्ड गवर्नमेंट आडीटर नानपारा ज़ि० बहराइच

११—आर्य समाज देहरादून

१२—श्री शत्रुञ्जय जी, बिजुआ नरेश (ज़िला खीरी)

१३—श्री ठा० कर्णसिंह जी छोंकर मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन

१४—श्री बा० रामचन्द्र जी रिटायर्ड एस०डी०ओ० देहरादून